श्रीदक्षिणामूर्तिसंस्कृतग्रन्थमाला–८२

पञ्चदशी

हिन्दी व्याख्या

प्रथम भाग

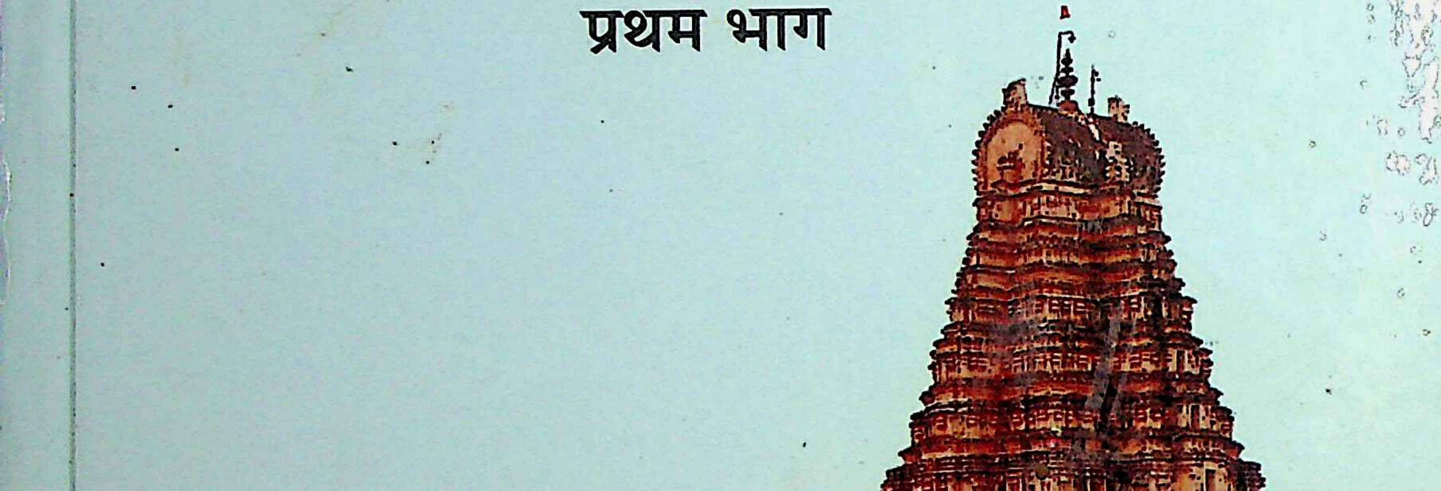

प्रकाशक

श्रीदक्षिणामूर्ति मठ प्रकाशन, वाराणसी

१०७

श्रीदक्षिणामूर्तिसंस्कृतग्रन्थमाला–८२

श्रीमद्विद्यारण्यस्वामिविरचित

पञ्चदशी

प्रथम भाग

१–५ प्रकरणात्मक

व्याख्याता

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्य महामण्डलेश्वर

श्री १०८ स्वामी महेशानन्द गिरि जी महाराज

प्रकाशक

श्रीदक्षिणामूर्ति मठ प्रकाशन

वाराणसी

-: प्रकाशक :-
श्रीदक्षिणामूर्ति मठ प्रकाशन
डी. ४६/६, मिश्रपोखरा
वाराणसी-२२१०१०
Web. : www.shankaramatha.org
Web. : www.dakshinamurtimathaprakashan.org

❑

प्रथम संस्करण
शङ्कराब्द : १२२७
विक्रमाब्द : २०७२
ईस्वी : २०१५

❑

© सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

❑

विविध भक्तों
द्वारा
धन-साहाय्यित मूल्य : ६५० रुपये मात्र (चारों खण्डों का)

अक्षर टंकण
शुभम प्रिंटर्स
आनन्द पर्वत, नई दिल्ली
ई-मेल : shubhamprinter74@gmail.com
M. : 9873696027

मुद्रक
महिम पत्रन प्राइवेट लिमिटेड,
5/161 सौंठ की मण्डी,
आगरा (उ.प्र.)

ॐ

विषय सूची

भूमिका v-xvi

प्रथम भाग

प्रथम	तत्त्वविवेक प्रकरण	...	१-१३८
द्वितीय	महाभूतविवेक प्रकरण	...	१३९-२५२
तृतीय	पञ्चकोशविवेक प्रकरण	...	२५३-३१८
चौथा	द्वैतविवेक प्रकरण	...	३१९-३९८
पञ्चम	महावाक्यविवेक प्रकरण	...	३९९-४०६

भूमिका

मानव धरती पर इकलौता प्राणी है जिसमें जिज्ञासा का असीम विकास तथा ज्ञान पाने की अथाह कोशिश सम्भव भी है और इन दिशाओं में निरन्तर वह प्रगति भी कर रहा है। सभी पदार्थ अपने मूलकारण को चरम गन्तव्य स्वीकारते हैं। जीव का मूल सर्वज्ञ सर्वशक्ति परमेश्वर होने से वह भी उस तक पहुँचने को उत्सुक है। प्राचीन से अर्वाचीन तक सभी का प्रयास इस ओर है। बाहरी विषयों के अनुसन्धाता भी यही आशा रखते हैं तो भीतरी वस्तु की खोज करने वालों का भी यही मानना है। आन्तरिक की स्पष्ट समझ के बिना सिर्फ़ बाहरी की जानकारी समग्रता के स्तर पर वैसी ही अधूरी है जैसी बाहरी को समझे बिना भीतरी की। बाह्य-आभ्यन्तर समस्त प्रपंच का प्रामाणिक बोध ही जिज्ञासा शान्त करने में सक्षम है। ऋग्वेद से ही प्रारम्भ होता भारतीय साहित्य इस तथ्य के प्रति सतत जागरूक रखता है कि ज्ञान एकांगी न रखा जाये। ऋषि-मुनि-आचार्यों ने दोनों दिशाओं में प्रकाश का विस्तार किया है। 'भारतीय' कहलाता कोई दर्शन नहीं जो एकांगी हो। सनातन धर्म की सभी परम्परायें इस पूर्णता को व्यक्त करती हैं। अविवेकपूर्ण धर्मसमतावादी शास्त्रविषयक अज्ञानवश ही वेदादि सच्छास्त्रों को अनर्गलप्रलाप-तुल्य पोथियों के समकक्ष रखने को तैयार हैं। वेदविद्या प्रत्यक्-पराक्, विषय-विषयी, ज्ञाता-ज्ञेय दोनों के ज्ञान के लिये तत्पर है, आधुनिक विद्याओं की तरह केवल विषयों में सीमित नहीं। पदार्थों के चिन्तन में वैशेषिक, प्रमाणचिन्तन में नैयायिक, वस्तुओं के प्रभाव के चिन्तन में सांख्य, मनोविषयक चिन्तन में योग, धार्मिक क्रियाकलापों या आचार के विषय में पूर्वमीमांसा जैसे एकाग्र हो प्रवृत्त हैं वैसे आत्मचिन्तन में वेदान्त समर्पित है। अपने-अपने प्रधान विषयों के अलावा अन्य सन्दर्भों में भी कुछ दृष्टिकोण सभी दर्शनों के हैं, अनात्म-विषयक कुछ विचार वेदान्तदर्शन के भी हैं। मुख्य सिद्धान्त से अविरुद्ध व्यवस्थायें सभी स्तरों पर मान्य हों यह दर्शन की सम्पूर्णता के लिये ज़रूरी भी है। दर्शन साधक के सारे आचार-विचार को निर्देश देता है अतः संसार-विषयक मान्यताएँ भी स्थापनीय होती हैं। वेदान्त अर्थात् उपनिषदों के अनुसन्धान से निश्चय होता है कि सब विषयों पर वेदान्त की विशिष्ट दृष्टि है। इस निश्चय को श्रीकृष्ण गीता में पुष्ट कर देते हैं एवं आचार्य श्री शंकर सुस्पष्ट करते हैं। उपनिषद्दृष्टिकोण हृदयंगम करने के लिये गीता-ब्रह्मसूत्र तथा प्रस्थानत्रयीभाष्य का अवलम्ब अनिवार्य है। व्याख्यानरूप होने से भाष्य किसी पद्धतिविशेष के स्पष्टीकरण में संलग्न नहीं हो पाता अतः भाष्यकार ने ही अनेक प्रकरण-ग्रन्थ रचे जो प्रक्रियाओं के उपस्थापक हैं। प्रक्रियावैविध्य वेदान्त की विशेषता है। अल्पश्रुत लोग प्रक्रिया और सिद्धान्त में अन्तर न समझने से प्रक्रिया में उलझे रह जाते हैं या उनमें से किसी का सहारा न लेकर सिद्धान्त आत्मसात् करने की कोशिश करते हैं किन्तु दोनों प्रयास असफल ही होते हैं। यत्किंचित् दृष्टिभेद सब प्रक्रियाओं में हैं फिर भी किसी एक के सहारे सिद्धान्त चित्त में स्थापित करना पड़ेगा फिर विभिन्न प्रक्रियाओं से उसे समर्थित करने के क्रम से

स्पष्टता आती जायेगी। पुरुषार्थ सिद्धान्तबोध से सम्पन्न होगा न कि प्रक्रियाबोध से एवं प्रक्रिया में त्रुटि से सिद्धांत भंग भी नहीं होता। अन्य वादी वेदान्तसम्प्रदाय की प्रक्रियाओं में दोष दिखाकर सिद्धान्तखण्डन के भ्रम में रहते हैं जबकि वेदान्ती प्रक्रियाओं को वास्तविक स्वीकारता ही नहीं कि उनके विरोध से हानि अनुभव करे। अतः आचार्य ने विभिन्न रीतिओं से तत्त्व-प्रतिपादन प्रकरणों द्वारा प्रकट किया।

भगवान् भाष्यकार के परमहंस सम्प्रदाय की महिमा रही कि इसमें उद्भट विद्वान् आचार्य निरन्तर उपलब्ध रहे जिन्होंने शास्त्र हृदयंगमकर उसे अधिकाधिक स्पष्ट करने के लिये सूक्ष्म विचार ग्रंथारूढ किया ताकि परम्परा सुलभ रहे। यह तथ्य है कि औपनिषद दर्शन छोड़कर षड्दर्शनी में अन्य किसी का समाश्रयण करता कोई सम्प्रदाय आज उपलब्ध नहीं। तत्तद् दर्शन में पारंगत होकर भी उसके अनुसार मोक्षलाभ में तत्पर होना कोई परम्परा नहीं स्वीकारती। क्रमशः श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठों की उपलब्धि ही यह सम्भव बना पायी कि श्रौत धर्म और दर्शन अद्यावधि साधकों को उज्जीवित रखता है। आचार्य-परम्परा में **श्रीविद्यारण्य स्वामी** का अतिशय महत्त्वपूर्ण स्थान निर्विवाद है। सूक्ष्मतम तत्त्व का स्थूलतम बिम्ब स्पष्टतम शब्दों में व्यक्त करना विद्यारण्यकी विशेषता है। फलतः उनकी **'पञ्चदशी'** वेदान्तबोध के लिये अनिवार्य एवं पर्याप्त अध्येतव्य कृति है।

आचार्य विद्यारण्य संस्कृतवाङ्मय में अत्यन्त प्रतिष्ठित एवं प्रभावी आचार्य हुए हैं। चौदहवीं (१३००-१३८७ इस्वी) शताब्दी के वैदिक दर्शन व धर्म के इतिहास में वे चिरस्मरणीय हैं। सामान्य युक्ति-दृष्टान्तों से क्लिष्ट दार्शनिक तथ्यों, प्रक्रियाओं का चित्रण करने में इनसे कुशल वेदान्ताचार्य दुर्लभ है। व्याकरण-मीमांसा-धर्मशास्त्र-तन्त्रशास्त्र-पुराण-ज्योतिष-वेदान्त आदि समस्त शास्त्रों में वे पारंगत थे तथा सर्वत्र अपनी छाप उन्होंने छोड़ी है। ऐतिहासिकों के अनुसार ईस्वी सन् १३८० से १३८६ तक वे शृंगेरी मठ के अधिपति रहे। उनसे पूर्व **श्री भारती तीर्थ** मठाधीश रहे थे एवं दोनों **श्री विद्यातीर्थ** के शिष्य थे। एक मान्यता है कि भारतीतीर्थ एवं विद्यारण्य पूर्वाश्रम से भी भाई ही थे एवं पहले छोटे भाई ने संन्यास लिया और भारतीतीर्थ बने तथा सन् १३३१ में बड़े भाई ने संन्यास लिया तो विद्यारण्य बने। आचार्य बलदेव उपाध्याय कृत 'आचार्य सायण और माधव' महत्त्वपूर्ण इतिहास-बोधक शोध है। वे पृ. १५० पर सन् १३७९ से 'दो-चार साल पहले', संन्यास ग्रहण किया यह मत रखते हैं। विद्यारण्य का पूर्वाश्रम का नाम **माधव** था। कुछ इतिहासज्ञ वेदभाष्यकार माधव को ही विद्यारण्य मानते हैं जबकि कुछ वेदव्याख्याता माधव और सायण को विद्यारणय के शिष्य स्वीकारते हैं। ऐसे ही कुछ की कल्पना है कि भारतीतीर्थ एवं विद्यारण्य दोनों शब्द एक आचार्य को विषय करते हैं, भले ही विद्यारण्य विशेषण हो। प्राचीन टीका 'पददीपिका' एवं तदनुसार मोडककृत 'पूर्णानन्देन्दुकौमुदी' का मानना है कि सप्तमादि प्रकरण भारती तीर्थ द्वारा रचित हैं। अनेक परवर्ती आचार्य इन प्रकरणों के उद्धरण भी विद्यारण्य के नाम से व्यक्त करते हैं। 'शिवतत्त्वरत्नाकर' सन् १७०८ के आस-पास रचा ग्रंथ विजयनगरसाम्राज्य-स्थापना में आचार्य के योगदान पर

प्रकाश डालता है। उस साम्राज्य के विवेचक सभी इतिहास ग्रन्थों में विद्यारण्य का महत्त्व सूचित है तथा शिलालेख, ताम्रपत्र आदि से समर्थित है। आचार्य उत्तम कोटि के उपासक भी रहे एवं अनेक गायत्री-पुरश्चरण उन्होंने सम्पन्न किये ऐसा प्रसिद्ध है।

आचार्य विद्यारण्य की रचनायें अनेक हैं। पंचदशी, विवरणप्रमेयसंग्रह, जीवन्मुक्तिविवेक, अनुभूतिप्रकाश, बृहदारण्यक वार्तिकसार एवं अनेक उपनिषदों पर दीपिकायें प्रायः निर्विवादरूप से उनके ग्रन्थ हैं। जैमिनीयन्यायमाला, पराशरमाधव, कालमाधव, माधवीय धातुवृत्ति, सर्वदर्शनसंग्रह एवं शंकरदिग्विजय भी मतभेद से इन्हीं की कृतियाँ हैं। वैयासिकन्यायमाला, दृग्दृश्यविवेक आदि भी इनके नाम से जोड़े जाते हैं। पुरुषार्थसुधानिधि आदि संग्रह एवं श्रीविद्यासम्बद्ध कुछ रचनाओं का भी आपसे सम्बन्ध प्रसिद्ध है। वेदान्त शास्त्र में आपकी कीर्ति पञ्चदशी से ही चिरस्थायी है इसमें संदेह नहीं। विद्यारण्य स्वामी के गुरु श्री **शङ्करानन्द सरस्वती**, श्रीविद्यातीर्थ एवं श्री भारती तीर्थ प्रसिद्ध हैं। विद्यातीर्थ संभवतः आपके दीक्षा गुरु रहे, शंकरानन्द से आपने वेदान्त शिक्षा ली तथा भारतीतीर्थ आप से पूर्ववर्ती पीठाचार्य रहे। तीनों गुरु अप्रतिम निष्ठावान् विद्वान् रहे फलतः विद्यारण्य स्वामी परिपूर्ण आचार्य बने।

पंचदशी की सबसे प्राचीन टीका **श्रीरामकृष्ण** द्वारा रचित **पददीपिका** है। टीकाकार को ग्रंथकार का शिष्य माना जाता है जिससे इस टीका में कहे भाव निर्विवाद मूलकार को अभिप्रेत हैं। श्रीरामकृष्ण का उद्देश्य विस्तार का बिलकुल न होकर मूल वचनों का अभिप्राय व्यक्त करना ही है। यह टीका पर्याप्त भी है एवं सर्वाधिक सम्मानित भी है। दूसरी व्याख्या **'पूर्णानन्देन्दुकौमुदी' अच्युतराय मोडक** की प्रशंसनीय कृति है। ये विद्वान् प्रायः दो सौ वर्ष पूर्व हुए एवं अद्वैतविषयक अनेक कृतियाँ इनकी प्रचलित हैं। कुछ का अस्तित्व इनकी ही रचनाओं में सूचित है जिनकी खोज अभी बाकी है। मोडकने यह मानकर व्याख्या की है कि अध्येता पददीपिका से ग्रंथार्थ समझ चुका है अतः मात्र वाक्यार्थ बताना इनका उद्देश्य नहीं, विशेष विचार ही व्यक्त करते हैं। अनेक स्थलों पर पाठविषयक टिप्पण महत्त्वपूर्ण हैं। प्रतिप्रकरण तात्पर्यविचार भी विशेष हैं। **लिंगन सोमयाजी**-कृत **'कल्याणपीयूष'** भी एक संक्षिप्त टीका है जो प्रायः अन्वयबोधक टिप्पण-सी है तथापि पाठादि की दृष्टि से उपादेय है। हिन्दी में **पीताम्बर पण्डित** की व्याख्या सर्वमान्य है, अन्य अनेक अनुवाद सुलभ हैं जो ग्रंथार्थ व्यक्त करने में सक्षम हैं। अन्य भाषाओं में भी अनुवाद एवं व्याख्यान हैं तथा आधुनिक दृष्टि से अनुसन्धानात्मक ग्रंथ भी हैं।

ग्रन्थ का कलेवर पन्द्रह प्रकरणों में विभक्त है इसे इसके 'पञ्चदशी' नाम से सूचित किया है। 'पञ्चाधिकानां दशानां प्रकरणानां समाहारः' इस तात्पर्य से शब्दव्युत्पत्ति समझनी चाहिये। प्रत्येक प्रकरण भी विशेष नामों से अंकित है तथा प्रायः ग्रंथकार प्रकरणनामोल्लेख से उद्धरण देते हैं। प्रकरणशः विषयसंग्रह भी बोधनीय है–

'तत्त्वमसि'-महावाक्य के अनुसार ग्रंथ का विस्तार नियोजित है। **प्रथम पंचक** तत् का, **मध्यम पंचक** त्वम् का तथा **अन्तिम पंचक** अभेदद्योती असि का व्याख्यान है।

सत्-चिद्-आनन्द क्रम से यहाँ वस्तु निरूपित है। जीवब्रह्म-अभेद के यौक्तिक उपस्थापन से ग्रंथारम्भ है एवं अवस्थाव्यतिरेक द्वारा अन्वयी स्वप्रकाश आत्मा को परमार्थ आनन्द सिद्ध कर मोक्ष का परिचय प्रथम तत्वविवेक प्रकरण में सुलभ करा दिया है। आत्मजिज्ञासा उपपन्न कर आवरक अज्ञान के द्वैविध्य से जीव-ईश्वरव्यवस्था स्पष्ट करी है। भूत-भौतिक बाह्य-आभ्यन्तर प्रपंच परमेश्वर से उत्पन्न बताकर विवेकार्थ पंचकोश सूचित करते हुए भाग-त्यागलक्षणा से महावाक्यार्थ व्यक्त किया है। लक्ष्यभूत वस्तु की निर्विकल्पता-सविकल्पता के प्रश्न का ही उन्मूलन तार्किक चातुर्य से आचार्य ने सुगमरीत्या सम्पन्न कर दिया है जो प्रसंग न्यायरसिकों के लिये सदा मनोहर रहा है। श्रवण-मनन-निदिध्यासन का स्पष्ट परिचय स्मर्तव्य है। अपरोक्षात्मा के बारे में परोक्ष ज्ञान भी असंभव नहीं और सार्थक भी है अतः उतना तो कम से कम सभी पाने का प्रयास करें यह प्रकरणान्त में सूचित है। इन सभी प्रकरणों को स्वतंत्र मानकर इनका तात्पर्यनिर्णय भी संभव है ऐसा अच्युतराय मोडक ने प्रदर्शित किया है। प्रत्येक प्रकरण पूर्ण तो है ही तथा अन्य प्रकरण भी बाकी से निरपेक्ष रहते हैं फिर भी इसे पंद्रह पुस्तकों का संकलन कहने में संकोच होता है क्योंकि विषययोजना ऐसी है कि प्रवाहभङ्ग प्रतीत नहीं होता। यत्किञ्चित् पुनरुक्ति भी सन्दर्भानुरूप अतः मधुर लगती है। अतः यद्यपि कोई भी प्रकरण शुरू में पढ़ें फ़र्क नहीं पड़ता, किसी के बाद कोई पढ़ें तब भी अन्तर नहीं आता तथापि ग्रंथकार के विन्यास-अनुसार अध्ययन ही सुकर है। अन्तिम पंचक तो एक प्रधान शीर्षक से निर्दिष्ट है अतः वहाँ क्रमादि का महत्त्व अधिक है।

द्वितीय है भूतविवेक प्रकरण। वेदान्त के अनुसार सारा प्रपंच महाभूतों का विस्तार है। जीव की उपाधि स्थूल-सूक्ष्म शरीर भी भौतिक ही हैं। आधुनिक वैज्ञानिक पुनः पुनः इस तथ्य को प्रकट कर रहे हैं कि शरीर-इंद्रियाँ-प्राण-मन वैसे ही भौतिक हैं जैसे बाह्य विषय। यद्यपि अनजान लोग इससे विचलित होते हैं तथापि श्रुति-स्मृति का भी यही मत रहा है। आत्मा की सद्रूपता जैसे बाह्य अर्थों में प्रकट होती है वैसे चिद्रूपता सूक्ष्मदेह में प्रकट होती है। प्राकट्य के लिये उपाधि अपेक्षित है एवं वह भौतिक ही है। अपरा प्रकृति भगवान् ने भी भूतात्मक कही है। मन-बुद्धि-अहंकार जिस मूल कारण अव्यक्त के विस्तार हैं वह भूतोपादान ही होने से भूतात्मक समझा जाये यह असंगत नहीं। कारण वस्तु अज्ञान एवं कार्य सारा प्रपंच भूत-भौतिक–यही दृश्यवर्ग की व्यवस्था मान्य है। इंद्रियों को भूतकार्य शास्त्र-युक्ति से समझना चाहिये (प्र. २ श्लोक. १७) कहकर आचार्य ने समझाया कि इंद्रियाँ अतीन्द्रिय होने से ऐन्द्रिय दृष्ट्या इन पर चर्चा निराधार है अतः इन पर शंका भी शास्त्र-युक्ति से ही उठ सकती है, समाधान भी उन्हीं से मिलेंगे। दृश्य एवं द्रष्टा का उपकरण बनता सारा जगत् द्वैत है अतः इसकी उत्पत्ति अद्वैत से ही संभव है। वर्तमान भौतिकी की दृष्टि से भी प्रायः यही तथ्य प्रकट हो रहा है। स्थूलमति के लिये अद्वैत-अंगीकार मानो समुद्र में डूबने जैसा है! तथापि शास्त्रनिर्भर विचार से वास्तविकता हृदयंगम होती है। अभिव्यक्ति में कठिनायी भाषा एवं श्रोतृसंस्कारों के प्रतिबंध से है अतः

विवेक-संस्कार और शास्त्रीय शब्दों के लाक्षणिक प्रयोग से समझना संभव हो जाता है। साक्षी से ब्रह्म को सहजता से समझाकर (२.४६) किया शक्तिवाद का स्पष्टीकरण अन्यत्र दुर्लभ है। विवेक निश्चय में परिणाम कैसे हो-यह साधकजिज्ञासा आचार्य ने श्लोक ७३ में समाहित की है जिससे प्रेरित हो अभ्यासी को मार्गदर्शन मिले। श्लोक १०१ में विलक्षण दृष्टिकोण प्रकट है जिससे अध्यात्ममार्गी पथभ्रष्ट होने से बचता है और साथ ही अनात्म-उपेक्षा को अपराध नहीं मानता। भारतीय अध्यात्म पर यह आक्षेप प्रसिद्ध है कि अनात्मा के प्रति तिरस्कार सामाजिक दायित्व से विमुखतारूप दोष है किंतु आचार्य ने इसका धार्मिक समाधान प्रदान किया। ज्ञानदार्ढ्य से जीवन-मरण के प्रति निरपेक्ष विद्वान् अन्य क्या दायित्व समझ भी सकेगा!

तृतीय है **'पञ्चकोशविवेक'**। शरीरत्रयविवेक और कोशविवेक-ये ही त्वमर्थशोधन की मुख्य प्रक्रियायें हैं। आचार्य ने विज्ञानमय-आनन्दमय को कर्त्ता-भोक्ता कहा जिससे एक ओर मनोमय-विज्ञानमयका भेद प्रकट हुआ और दूसरी ओर आनन्दमय की जाग्रदादि में उपलब्धि समझ आयी। तैत्तिरीयोपनिषत् में कोशों का वर्णन सुलभ है किन्तु मनोमय-आनन्दमय के स्वरूप को इस प्रकरण में उपनिषदनुरूप ही रखने का बंधन नहीं माना। सर्वसाधारण के लिये पञ्चदशीप्रोक्त स्वरूप ही सुगम एवं अनुभवानुसारी है तथा इसका अन्तर्भाव उपनिषद्-उक्त कोशों में सुसंगत है। आनन्दमयका वर्णन (३.९) ग्रन्थान्तमें आये आनन्द-विस्तार का बीज है। कोशातीत आत्मा का स्वप्रकाश अस्तित्व शास्त्र-युक्ति-अनुभूति से समर्थित है। ऐसे आत्मा को अनुभवाधीन समझना निरी जडता कही (श्लो. १९) है। 'स्वयम्' के आधार पर आत्मा का स्पष्टीकरण (श्लो २३) आचार्य श्रीशंकर ने ही उपस्थित किया था, विद्यारण्य स्वामी ने उसका विस्तार कर विषय सुबोध बना दिया है। श्लोक ३१ में 'यन्न किञ्चित्तदेव तत्' द्वारा बौद्धादि बहुत-से वादियों का मुख बन्द किया गया है। एक ब्रह्म का ईश्वर और जीव दोनों रूपों से उपलम्भ लौकिक दृष्टान्त से प्रकट कर (श्लो ४१) आचार्य ने समझा दिया कि श्रौतदृष्टि अत्यन्त सरल है क्योंकि सत्य का स्वभाव ही सरल होता है।

'द्वैतविवेक' नामक **चौथा** प्रकरण साधना के अभ्यास के लिये महत्त्वपूर्ण है। संसार से बँधा महसूस करता जीव यहाँ बताये सृष्टिभेद से समझ पाता है कि बँधने में वही प्रधान हेतु है। 'नन्दनवन' को 'दुःखालय' बनाने में सक्षम सृष्टि के रचयिता हम स्वयं हैं यह स्वीकार करना इस प्रकरण को आत्मसात् करने से संभव है फलतः व्यावहारिक स्वातन्त्र्य पाने में हम सक्षम हो जाते हैं। सृष्टि-प्रक्रियावैविध्य के बावजूद एकवाक्यता व्यक्त करना आचार्य की विशेषता श्लोक ३-९ में प्रकट है। मनोमयीसृष्टि को भूतमयी सृष्टि से पृथक् आज के विज्ञानानुसन्धाता यत्किंचित् समझें भी पर जनसामान्य इस ओर ध्यान देता नहीं जबकि इस तथ्य पर ध्यान दें तो प्रायः क्लेश, सामाजिक-पारिवारिक, मतभेद क्षीण हो सकते हैं। आर्थिक भेदभाव के प्रति वर्त्तमान लोग सहजता से सहिष्णु हैं, जन्ममात्र के आधार पर पिता की सम्पत्ति पर पुत्रादिका अधिकार 'अत्याचार' नहीं मानते, लौकिक

अवसरानुसार (न कि योग्यतानुसार) आजीविका स्वीकारने में शिकायत नहीं करते तथा वैतनिक विषमता की 'व्यवस्था' स्वीकारते हैं जबकि भारतीय परम्पराओं को भेदभावग्रस्त, क्रूर आदि ही कहते हैं। अन्तर जीवसृष्टि में है, मनोदृष्टि बदलने से उचित- अनुचित में व्यत्यास है। जैसे रंगभेद देखने में अक्षम चक्षु वाले से सातों रंग देखने में सक्षम व्यक्ति विवाद नहीं करता वैसे वास्तव में जीवसृष्टि के प्रसंगों में विवाद व्यर्थ है। श्लो. २७ आदि में मन का विषयाकार लेना भाष्यादिकार के वचन से बताया है जो न्यायादिशास्त्रियों को समझना चाहिये, अणु मन है के आग्रह से अपलाप आदरणीय नहीं जबकि मन के बढ़ने-घटने का वर्णन छान्दोग्यादि में सुलभ है और आनुभविक है। मानस जगत् की बन्धन- कारिता (श्लो. ३५) के बारे में आधुनिक मनोवैज्ञानिक भी सहमति रखते हैं। ऐसी स्थिति में भी बौद्धमत से अन्तर स्मर्तव्य है (श्लो.३६-७)। ईशसृष्टि के चलते योगमात्र मोक्ष के लिये पर्याप्त भी नहीं (श्लो. ३९)। शब्दविस्तार के प्रति असीम आदर और पूर्ण वैराग्य वैदिकों की (श्लो. ४४-४७) विशेषता है। जीवन्मुक्ति का महत्त्व (श्लो. ५२ आदि) विद्यारण्यस्वामी की दृष्टि में विशेष है, इस सन्दर्भ में इन्होंने एक स्वतन्त्र ग्रंथ भी रचा जो पंचदशीका मानो परिशिष्ट है–ऐसी प्रसिद्धि है। जीवन के दौरान न मिले तो मोक्ष भी स्वर्ग–सा होगा! मुक्त के आचार आदि पर भी आचार्य की टिप्पणी (श्लो. ५४-५७) उन सबको चौंका सकती है जो शास्त्रीयता को श्रेयस्कर के बजाये मजबूरी समझते हैं। स्वातन्त्र्य और स्वच्छन्दता का अन्तर पहचानने में यह विचार सहायक है। प्रकरणान्त में 'लभ्यते' से स्वानुभव व्यक्त कर आचार्य ने इस विषय में शंका का उन्मूलन ही कर दिया है।

पाँचवाँ 'महावाक्यविवेक' पञ्चदशी में सबसे संक्षिप्त प्रकरण है। ऋग् आदि वेदक्रम से वचनों का संग्रह किया है। इन महावाक्यों का ही व्याख्यान सारे ग्रन्थ में है अतः आचार्य ने यहाँ सूचनामात्र प्रदान की है। जिसने उपनिषदों में ससन्दर्भ इन्हें समझा है उसे सारी बात इतने से स्मरण हो जाती है तथा जिसे इस बारे में कुछ नहीं मालूम वह इन श्लोकों से परिचय पा लेता है। जैसे वैयासिक-न्यायमाला या जैमिनीयन्यायमाला महत्त्वपूर्ण ही हैं वैसे यह प्रकरण भी।

दीपप्रकरणों में **प्रथम 'चित्रदीप'** विद्यारण्यस्वामी की रूपककल्पना का अद्भुत नमूना है। चित्र और नाटक रूपकों के आधार पर प्रकरणों के नाम हैं अतः ग्रंथकार भी इन दृष्टान्तों का महत्त्व सूचित करते हैं। निर्विकार चिन्मात्र रहते ईश्वर-हिरण्यगर्भ-विराट् बनना, देवादि-कीटपर्यन्त जीव एवं सारा जड प्रपंच बनना सभी युक्तियुक्त प्रतीत कराने वाला चित्रदृष्टान्त साधक की अनेक वैचारिक समस्याओं का सरल समाधान करता है। उपाधियाँ जड रहते सजीव-निर्जीव का भेद (श्लो. ६) एवं आत्मगत बंधन (श्लो. ८) का उदाहरणानुसारी व्याख्यान सिद्धान्त हृदयंगत करा देता है। श्लो. ४५ में सार कह दिया जो सदा स्मर्तव्य है। बाध-अप्रतीति का अन्तर (श्लो. १३) समझे बिना जीवन्मुक्ति का विचार स्वीकार नहीं होता। इसी प्रकरण में आकाश-चातुर्विध्य (श्लो. १८) का वर्णन प्रमातृविभाग स्पष्ट करने में अनुपम है क्योंकि अवच्छेद-प्रतिबिम्ब दोनों वादों का इसमें योग्य सामंजस्य

है, दोनों के लाभ एकत्र हो जाते हैं, दोनों की कठिनाई दूर हो जाती है। भाष्यकार आदि की दृष्टि में इनमें से एक का आग्रह है ही नहीं अतः विद्यारण्यस्वामी का प्रतिपादन ही संगत है। दृष्टान्त के भेद से वादभेद की संकल्पना वैचारिक विश्लेषण में उपयोगी हो लेकिन साधक को रुचिकर होती भी नहीं। दोनों रीतियों से पृथक्-पृथक् शंकाएँ दूर होती हैं यह सर्वानुभूत है अतः दोनों उपयोगी हैं। श्लोक २५ में अविवेक को अविद्या कहा जिस सन्दर्भ को सावधानी से समझना चाहिये। पंचपादिका का 'अहंकारटीका'-सन्दर्भ इस प्रकरण के सहारे सुबोध हो सकता है। प्रकरण ३ में 'स्वयम्' की चर्चा की तरह यहाँ श्लो. ३७ आदि में भी विस्तार है जो प्रत्येक जिज्ञासु को खुद अनुसन्धान में प्रवृत्त करता है, स्वानुभूति की घोर उपेक्षा से बचाता है। अनुभव-श्रुति के सामंजस्य से ही श्रेयोलाभ है, केवल युक्ति पर निर्भर करना मूर्खता ही है (श्लो. ५८) जिससे बौद्ध अनात्मवादी बने (प्र. २ श्लो. ३१)। जीव-ईश्वर का विस्तृत विचार इस प्रकरण की विशेषता है। भाट्टों ने जड-बोधरूप आत्मा माना इसमें मीमांसक-साहित्य के अनुसन्धान से स्पष्टीकरण अपेक्षित है। ईश्वरविषयक निर्णय (श्लो. १२३) याद रहे तो लौकिक अनेक मतभेद उपशान्त हो जाते हैं। तापनीयोपनिषत् का प्रयोग विद्यारण्यस्वामी के लेख में सुलभ है अतः इस के पूर्वोत्तर-प्रसंग सम्प्रदाय में आदृत रहे होंगे यह संभव है। श्लोक १३० में मायाविषयक अनुभव-भेद साधक को स्वयं के स्तर पर दृश्यमिथ्यात्व के निश्चय का स्तर आँकने एवं विकास के लिये प्रयास करने में सक्षम बनाते हैं। इस बारे में संभवतः अन्य कोई मापदण्ड है भी नहीं। मायारूपता को पहचानने का अचूक नुस्खा श्लोक १४१ में स्पष्ट है जो वादियों के लिये भले ही कारगर न हो पर जिज्ञासु के लिये अत्यन्त उपयोगी है अन्यथा मिथ्यात्व-निर्धारण के प्रयास में ही शक्तिक्षय होता रहता है। श्लोक १४७ का प्रसंग स्पष्ट करता है कि भगवान् की सृष्टि में प्रत्येक घटना एवं व्यवस्था चमत्कार ही है जिससे यदि परमेश्वर पर निष्ठा न हो तो छोटे-मोटे आश्चर्यों से होगी इसकी क्या आशा की जाये! वेदोक्त ईश्वर के बारे में संक्षिप्त किन्तु स्पष्ट निर्णय श्लोक १५८ में सुलभ है। जगत्कारण-विषयक स्पष्टीकरण श्लोक १८८ आदि में द्रष्टव्य है। कुदाली-पर्यन्त ईश्वरोपाधिता की उपपत्ति कर (श्लो. २०८) ग्रन्थकार ने सनातन दृष्टि व्यक्त की है। श्लोक २१५ में भ्रान्तों से विवाद में न पड़ने की सावधानी दी है जो साधक के लिये स्मर्तव्य है। सांख्यादि से स्वतन्त्र औपनिषद सिद्धान्त अनुसन्धेय है (श्लो २२२)। अद्वैतभान के बारे में स्पष्टीकरण (श्लो. २४२ आदि) अन्यत्र दुर्लभ है। द्वैतमिथ्यात्वानुभव ही अद्वैतापरोक्ष्य है (श्लो. २५६)। इच्छा-कामना का भेद (श्लो. २६१-२) समझकर साधक सावधान रह सकता है। तत्त्वबोध क्षयरोग नहीं (श्लो. २७१) यों उपहास द्वारा आचार्य ने जीवन्मुक्ति का परिप्रेक्ष्य स्पष्ट किया है। वैराग्य-बोध-उपरम (श्लो. २७६ आदि) का संक्षिप्त एवं अत्यंत उपयोगी परिचय मुमुक्षु के लिए हितकर है जिसके अनुसार साधना से मोक्ष निश्चित है।

सातवें 'तृप्तिदीप' से भारतीतीर्थ की रचना प्रारम्भ होती है। गुरु-शिष्यों की अतिशय घनिष्ठता से भाषा-शैली आदि में कोई अन्तर आलक्षित करना कठिन है। कुछ विश्लेषक

दोनों नाम एक आचार्य को विषय करते हैं यह मानना चाहते हैं! भारतीय साहित्य, विशेषकर दर्शनशास्त्र, रचयिता की अपेक्षा रचना के महत्त्व से पहचाना जाता है। जो प्रतिपादित है वही विचारणीय है, किसने प्रतिपादन किया इससे कोई अन्तर नहीं आता। अनेक पारम्परिक ग्रन्थ अज्ञातकर्तृक या विवादितकर्तृत्व वाले होने पर भी निःशंक पढ़े-समझे जाते ही रहे हैं। इसी आधार पर पञ्चदशी को समझना प्रधान है, लेखकभेद विषयक चिन्तन महत्त्वपूर्ण नहीं। यह प्रकरण बृहदारण्यक (४.४.१२) के मंत्र की विशद व्याख्या के बहाने वेदान्त-रहस्य स्पष्ट करता है। जीव में अधिष्ठान भाग भी है (श्लो. ५ आदि) कहकर चेतन का बंधन व मोक्ष कहना संगत किया गया है। 'मैं' शब्द के त्रिविध अर्थ (श्लो. १० आदि) समझ लें तो अनेक शास्त्रीय प्रसंगों में भ्रान्ति से बच जाते हैं। 'दशमस्त्वमसि' दृष्टान्त के सहारे अपरोक्षविषयक अज्ञान, परोक्षज्ञान, अपरोक्षज्ञान–सभी अतीव सुग्राह्य बना दिये हैं (श्लो. २२ आदि)। अपरोक्षविषयक परोक्षप्रमा का इतना सुबोध उपपादन भी अन्यत्र दुर्लभ है। श्लोक ५३ में 'व्यक्ति-अनुल्लेख' का विचार गम्भीर है। विचार से व्यक्तिदर्शन कहकर (श्लो. ६३) आचार्य ने विचारमहिमा व्यक्त कर दी है। भाष्यकार-वचनों के उद्धरण इस प्रसंग में एकत्र कर पारम्परिकता स्पष्ट की गयी है। श्लोक ७९ में महावाक्य से भी परोक्ष ही ज्ञान स्वीकारने के आग्रही मत की हेयता समझाकर विवरणप्रस्थान का आशय स्पष्ट किया है। वृत्ति और फल–ये ज्ञानविषयक व्यवहार श्लोक ९१ आदि में अतीव सरल रीति से बताये हैं, परिष्कृत लक्षणों का भी अभिप्राय समझने के लिये यही प्रसंग उपयोगी होता है। शारीरक विचार से श्रवणादि का सम्बन्ध (श्लो. १०१ आदि) सूचित कर गौडब्रह्मानन्दोक्त इनकी तर्करूपता की भूमिका बनायी गयी है। 'ब्रह्माभ्यास' (श्लो. १०६) का ही शांकरपरम्परा में महत्त्व है, योगरीत्या ध्यानादि का नहीं। जनकादि दृष्टान्तों से बहिर्मुखता की अनुमति नहीं इसे स्पष्ट बताया (श्लो. १३०) है। संसारताप और वैराग्य का अंतर (श्लो. १४५) साधक को सान्त्वना देने वाली सूचना है। स्वेच्छादिभेद से प्रारब्ध का भेद (श्लो. १५८) भी याद रखे तो मुमुक्षु का जीवन काफी नियंत्रित रहेगा। श्लोक १७० में विवेकी को भोग के बारे में क्या सावधानी रखनी है यह स्पष्ट किया। श्लोक १९५ में समझाया कि भोग के मायने क्या हैं, विषय-उपयोग से वह कैसे पृथक् है। नश्वरता-दृष्टि दृढ होने पर भोगेच्छा की असम्भवता श्लोक २१९ में बतायी जिससे साधक इस बारे में अपनी दृढता परखता रहे। भोग्य एवं भोक्ता दोनों का अपलाप 'किं' और 'कस्य' से कहकर श्रुति ने विविदिषु को दोहरे आक्रमण के लिये प्रेरित किया है। निरंकुश तृप्ति पाने से पूर्व उस दिशा में चिन्तन से वैसे संस्कार बनाये जायें इसलिये श्लोक २५२ से प्रारंभ प्रसंग उपयोगी है। बहिर्मुखी लोगों के आक्षेपों से विचलन श्लोक २७१ आदि में बताये ढंग से सोचने पर असंभव हो जाता है। जगन्मिथ्यात्व के निश्चय से द्वैत की विक्षेपकता निरस्त होती है यह श्लोक २७९ में सोदाहरण प्रकट है। प्रकरण के नाम की सार्थकता समापन में व्यक्त हो गयी है।

'कूटस्थदीप' आठवाँ प्रकरण है जहाँ जीव-भाव के विवेक के लिये प्रभूत दिग्दर्शन

सुलभ है। स्थूल दृष्टान्त ढूँढ लेने में कुशल आचार्य ने दीवाल पर दोहरे सूर्यप्रतिबिम्ब का स्थल दिखाया जो सभी को प्रत्यक्ष है। 'ज्ञातता' के बारे में दर्शनान्तर के वर्णन जो स्पष्टता नहीं दे पाते वह इस प्रकरण के प्रारंभ में सरलता से मिलती है! पंचपादिका में साक्षी की सर्वज्ञता बतायी किंतु निष्कर्ष यहीं सुगम है। वार्तिक और उपदेशसाहस्री में अविवाद (श्लो. ११-२) दिखाकर याद दिलाया कि सन्दर्भानुसार एकवाक्यता की स्थापना के लिये ही विचार काम में लेना चाहिये, मतभेद खोजने के प्रयास श्रेयस्कर नहीं। इसी दृष्टि से श्लोक १५ में अनुव्यवसाय को अपनी व्यवस्था में स्थान दे दिया, नामान्तर से वह मान्यता वेदान्तानुसारी ही है यह सूचित किया। विषयों के सहारे विचार केवल शिक्षार्थ है, उसे देहादि में लागू करना मुख्य है यह श्लोक १७ आदि से द्योतित है। त्वमर्थ के कूटस्थ स्वरूप को ही शास्त्र ब्रह्म बताता है। क्या विचारणीय बिन्दु है जिन्हें न समझने से संसार है यह संक्षेप में (श्लो. ५३) बताया है। साधक तर्कनिर्भर न रहे यह आचार्य ने श्लोक ६७ में स्पष्ट किया है। इसी ग्रन्थ में नहीं, सर्वत्र वेदान्त-साहित्य में तत्त्वाभिव्यक्ति के लिये विभिन्न प्रक्रियायें (तरीके) प्रयोग की गयी हैं जिन्हें अविरुद्ध जानने का आधार वार्तिकानुसार श्लोक ७३ में बताया है। इस प्रकरण के अभ्यास से कूटस्थ स्थिति अवश्य मिलती है।

'ध्यानदीप' नामक **नौवाँ** प्रकरण पञ्चदशी का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण वैचारिक योगदान वेदान्त सम्प्रदाय को है। ब्रह्मतत्त्व की उपासना की संभावना पर प्राचीन आचार्यों का ध्यान नहीं गया लेकिन पंचदशीकार ने इस बात को शास्त्र-युक्ति से समर्थित कर साधकों का मनोबल अतीव सम्पुष्ट बनाया। संवादी-विसंवादी भ्रान्तियों का विचार अन्य मतों में भी गृहीत है लेकिन ब्रह्मोपासना के लिये इसे प्रयोग करना आचार्य की अपूर्व मौलिक सोच है। मूर्तिपूजा के समर्थन में भी यह सन्दर्भ उपयोगी है (श्लो. ११)। काकतालीय होकर भी यह विश्वसनीय ढंग है (श्लो. १२)। प्रकरण ७ में जो 'व्यक्ति' के अनुल्लेख की चर्चा थी उसी का परामर्श यहाँ श्लोक १५ आदि में है। प्रत्यग्भाव व्यक्तिरूपता है यह श्लोक १८ में सूचित है। परोक्ष एवं अपरोक्ष में विभिन्न प्रतिबंधक यहीं श्लोक ३१ में बताये हैं, अन्यत्र सुलभ नहीं। विचार भी साधना होने से परलोक में भी सफल होगा। भूतादि त्रिविध प्रतिबन्ध सरलता से (श्लो. ३९ आदि) समझाये गये हैं। श्लोक ५४ में ब्रह्मोपासना का अधिकारी बताया है। निर्गुणोपासना-विषयक संभव आक्षेपों का समाधान आचार्य ने सहजता से कर दिया है। 'पञ्चीकरण'-प्रकरण के महत्त्व पर आचार्य की दृष्टि पहुँची है (श्लो. ६५)। ब्रह्मसूत्रोक्त न्यायों के अनुसार उपास्यवर्णन श्लोक ६८ आदि में मिलता है। ध्यानी और तत्त्वज्ञ का अन्तर भी मान्य ही है (श्लो. ८८)। श्लोक १२० में भी यह भाव द्रष्टव्य है। साधनों की क्रमिक श्रेष्ठता सनातन दृष्टि का वैशिष्ट्य है। ब्रह्मोपासनोपयोगी अभ्यास अमृतबिन्दु आदि उपनिषदों से ही ग्राह्य है (श्लो. १२८) पतंजलि आदि पर निर्भर रहना अपेक्षित नहीं। श्लोक १५१ आदि में 'आत्मगीता' उद्धृत है पर यह ग्रन्थ अभी तक देखने में नहीं आया। श्लोक १५५ में उत्साहित किया है कि

अनुभव न होने पर भी ब्रह्मास्मि-चिन्तन सफल ही होगा। इस प्रकरण से समझ-बूझकर ध्यान करे तो साधक ज़रूर ब्रह्मलाभ करेगा।

'नाटकदीप' नामक **दसवाँ** प्रकरण नाटक के आधार पर वेदान्त समझाने में अनुपम है। दीपों के प्रवाह में यह अंतिम भी है। अहंकार का द्वैरूप्य चित्रदीप (श्लो. ३७ आदि) की तरह यहाँ श्लोक ६ आदि में समझाया गया है। विवेकाभ्यासार्थ ये सन्दर्भ याद रखना श्रेयस्कर हैं। 'श्रुतिसारसमुद्धरणम्' में भी इस विषय पर सूक्ष्म चर्चा है किन्तु पञ्चदशी की सरलता अनुपम है। श्लोक ११ में नाटक दृष्टान्त का परिचय दिया गया है। साक्षी को 'ग्रहण' करने की उत्सुकता को आचार्य ने श्लोक २४ में शान्त कर दिया है! प्रमाण नहीं 'व्युत्पत्ति' या समझ की ज़रूरत है जो वेदादि से सुलभ है यह प्रकरणान्त में कहकर आधुनिक 'बुद्धिमानों' को चुनौती दी है।

अन्तिम पाँच आनन्द प्रकरणों का इकट्ठा नाम 'ब्रह्मानन्द' है जिसमें **पहला 'योगानन्द'** प्रकरण पंचदशी में ग्यारहवाँ है। जीव का प्रयोजन आनन्द है, साधना का फल आनन्द है अतः प्रेरक एवं प्राप्तव्य होने से आनन्द प्रमुख है। पूर्णता, व्यापकता में ही आनन्द है, भेद या परिच्छेद भयादि-दुःखहेतु ही है। श्लोक ११ में आनन्द के तीन भेद कहे हैं। श्लोक ८७ में वासनानन्द और प्रतिबिम्बानन्द भी कहेंगे; श्लोक ९८ में निजानन्द भी कहेंगे; आत्मानन्द का उल्लेख प्रकरण १२ में (श्लो. ४) आयेगा; प्रकरण १३ की समाप्ति में अद्वैतानन्द कहा गया है, इस प्रकार आपाततः अनेकविध आनन्दों का उपन्यास है। पञ्चदशीटीकाकार रामकृष्ण ने प्रकरण ११ श्लोक ८७ में इस पर विस्तृत स्पष्टीकरण उपलब्ध कराया है। त्रैविध्य प्रधान है, अन्य भेदों का इन्हीं में अन्तर्भाव है। आनन्द आत्मा का स्वरूप है यह वेदान्तों की मर्यादा है। अनात्मा परिच्छिन्न होने से स्वरूपतः सुख होना असम्भव है (श्लो. २१)। अद्वैत की सुखस्वरूपता श्लोक २३ आदि में कहे ढंग से हृदयंगम करना जरूरी है तभी वेदान्त साधना रुचिकर होगी। आत्मरूप आनन्द स्वप्रकाश है (श्लो. ३२)। सुषुप्ति में दुःखाभावमात्र स्वीकारने वाले वादियों को आचार्य ने श्लोक ३९ आदि द्वारा प्रबोधित किया है। श्लोक ४३ आदि में एवं श्लोक ८६ आदि में समझाया कि विषयों में सुख कैसे प्रतीत होता है। यह रीति वेदान्त-प्रक्रिया की विशेषता है तथा सुखानुभूति को सविषय बना पाती है। अन्य दर्शन विषय तो मानते हैं रसगुल्ले आदि को, उनसे उत्पन्न सुख का विषय मानने के लिये उनके पास कुछ नहीं! सुख एक भान आवश्य है अतः इसे आकार किसी से लेना ही होगा, भान या बुद्धि स्वयमेव तो निराकार है। सुख कोई वस्तु हो तभी वह भान को सुखाकार बनाये। औपनिषद दर्शन में वह वस्तु आत्मा है। आत्मा की सुखरूपता में सुषुप्तिसुख प्रमाण है (श्लो. ४९)। ब्रह्म को न केवल विज्ञान वरन् आनन्द भी श्रुति ने कहा (श्लो. ६१)। श्लोक ६२ आदि में पिघले-जमे घी का अपूर्व उदाहरण द्रष्टव्य है। इस विषय पर मधुसूदन, गौडब्रह्मानन्द आदि ने भी काफी विचार किया है। अविद्यावृत्ति व अन्तःकरण वृत्ति के भेद की चर्चा श्लोक ६६ में बोद्धव्य है। सुषुप्ति के आनन्द में प्रमाण रूप से वासनानन्द श्लोक ७४ में कहा। श्लोक ८५ में

समझाया कि विषयापेक्षा के बिना होता सुख ब्रह्मानन्द की वासना ही है। स्वप्रकाश तो ब्रह्मानन्द है जो विषयानन्द व वासनानन्द संभव बना देता है (श्लो. ८८)। उदासीन स्थिति का निजानन्द (श्लो. ९५) सर्वानुभूत है जिसे वासनानन्द ही समझ सकते हैं। श्लोक १०० में ब्रह्मानन्द बताया है। श्लोक ११३ में 'यच्चितस्तन्मयो मर्त्यः' कहकर आचार्य ने चित्त की शुद्धता का महत्त्व प्रकट कर दिया है। श्लोक १२८ आदि में विद्वान् की स्थिति का वर्णन मार्मिक है।

बारहवें 'आत्मानन्द' में सामान्य व्यक्ति के लिये उपदेश है। बृहदारण्यक के मैत्रेयी-प्रसंग के आधार पर यहाँ वर्णन सुगम बनाया है। श्लोक २१ आदि से प्रेम का स्वरूप स्पष्ट किया जो अन्यत्र सुलभ नहीं। गौण-मिथ्या-मुख्य भेद से आत्मत्रैविध्य संक्षेप में श्लो. ३९ आदि में समझाया है। प्रिय एवं द्वेष्य के निर्धारण का आधार श्लोक ५४-५५ से समझना चाहिये। बृहदारण्यक १.४.८ के 'रोत्स्यति' का श्लोक ६४ में रमणीय व्याख्यान है। श्लोक ८१ आदि में विवेक को योग-तुल्य प्रभाव वाला बताया है।

'अद्वैतानन्द' तेरहवाँ प्रकरण है। यहाँ आनन्दरूप ब्रह्म की अद्वैतरूपता प्रकट की है। उससे जगत् की अभिव्यक्ति शक्ति से संभव है जो शास्त्र से समर्थित है। पंचदशी में योगवासिष्ठ के प्रभूत वचन एकत्र हैं जिससे पता लगता है कि आचार्य उसे कितना सम्मान देते हैं। श्लोक १४ से २७ तक इकट्ठे ही अनेक श्लोक रखे हैं। शक्तिविषयक वर्णन द्वितीय प्रकरण (श्लो. ४६ आदि) की तरह यहाँ भी महत्त्वपूर्ण है। कार्य-आश्रय दोनों से शक्ति का भेद उदाहरण से (श्लो. २९) स्पष्ट हो गया है। कार्य की अनिर्वचनीयता अतीव सुग्राह्य ढंग से श्लोक ३३-३६ में प्रकट है। वाचारम्भण अर्थात् वाणी पर आलम्बित का भाव श्लोक ४१-४२ में विलक्षण रीति से उपपादित है। श्लोक ५१ में परिणामवाद का अभ्युपगम सूचित करता है कि साधक को सिद्धान्त स्थापित करने में तत्पर रहना है, दृष्टान्तों में नहीं उलझना है। परिणाम के ढंग को संक्षेपशारीरक में भी 'पूर्वभूमि' के रूप में माना है। एक के ज्ञान से सबका ज्ञान, इसका तात्पर्य श्लोक ५४ से शुरूकर जैसा समझाया वैसा सभी अध्येताओं को याद रखना हितकर है। श्लोक ७३ में स्पष्ट किया कि क्यों आनन्द आत्मस्वभाव है जबकि दुःख नहीं। द्वैत अवज्ञा के योग्य है (श्लो. ८१) अत एव ब्रह्मपरता ही उचित है। श्लोक १०१ से शुरू प्रसंग प्रायः सभी साधकों की जिज्ञासा को दूर करने के लिये सक्षम है।

चौदहवाँ 'विद्यानन्द' प्रकरण है। इसके चार स्तर हैं जिनका विस्तार प्रकरण में बताया। आत्मा का शोक से सम्बन्ध समझाने के लिये श्लोक ६ आदि में विशेष ढंग अपनाया है। तृप्तिदीप की तरह यहाँ भी बृहदारण्यक के श्लोक (४.४.१२) पर आधारित चिन्तन है। सर्वकामाप्ति-प्रदर्शनार्थ विविध श्रुतिवाक्य संकलित किये (श्लो. १८ आदि) हैं। कामना से आहत न होने पर स्वच्छ सुख का लाभ स्पष्ट किया गया है। श्लोक ३५ आदि से सर्वकामाप्तिविषयक अलग दृष्टिकोण भी समझाया है। तृप्तिदीप से विषयसाम्यवश समापन में वहीं के श्लोक दुहराये हैं।

'विषयानन्द' पन्द्रहवाँ प्रकरण है। क्रम से सूचित है कि विद्यापरिपाक की समाप्ति के अभिप्राय से इसे समझा जाये। शान्तवृत्तियाँ ही सुख को अभिव्यक्त करती हैं। श्लोक १७ में प्रिय-मोद-प्रमोद समझाया है। तथापि वैराग्य में सर्वाधिक सुख बताया है। ब्रह्मध्यायी के लिये विशेष उपदेश श्लोक २५ आदि में द्रष्टव्य है। ध्यान से ज्ञानस्थिरता में सहायता मिलती है। इस तरह ग्रंथान्त में साधक को ज्ञानदार्ढ्य के लिये प्रेरित किया है।

वेदान्तशास्त्र के अध्ययन की परम्परा में पञ्चदशी सर्वाधिक आवश्यक एवं रुचिकर तो है ही, जितनी वेदान्तसिद्धान्त की समग्रता इसमें मिलती है उतनी किसी एक ग्रंथ में नहीं–यह कहने में संकोच नहीं है। शैली अतीव सुबोध तथा सटीक उदाहरणों से भरपूर है। इस पर अनेक संस्कृत टीकायें एवं हिंदी व्याख्यान सुलभ हैं, अन्य भाषाओं में भी इसे अनुवाद आदि से विस्तृत किया है। तथापि ग्रंथ की गरिमा के अनुरूप 'प्रसन्न-गम्भीर' एवं सीधे ही हृदय को भीतर तक छूने वाली प्रामाणिक विशद व्याख्या नितान्त अपेक्षित थी। आचार्य महामण्डलेश्वर **श्री १०८ स्वामी महेशानन्द गिरि जी** महाराज के मन में इस ग्रंथरत्न पर ऐसे व्याख्यान की रचना का संकल्प होने पर ईस्वी सन् २००४-६ में उन्होंने इस पर अपने चिन्तन प्रकट किये। इस कार्य में मध्य में शल्यक्रिया-प्रयुक्त व्यवधान भी आया पर यत्किंचित् सुविधा होते ही उन्होंने यह कार्य यथावत् सम्पूर्ण किया। कुछ प्रकरण स्वामी महानन्द गिरिजी ने आशुलेख से लिपिबद्ध किये तथा अधिकतर को पट्टलेखों के माध्यम से सुनकर श्री महेश पचौरी एवं श्रीमती वीणा पचौरी ने लेखरूप में उपस्थित किया। इन तीनों के घोर परिश्रम से ही यह व्याख्यान मुद्रणयोग्य बना। अन्य अनेक भक्तों ने विविध ढंगों से यह प्रकाशन सम्भव बनाया है।

महाराज श्री जी के व्याख्यानों का वैशिष्ट्य किसी से छिपा नहीं! ग्रंथकार से मानो तादात्म्य स्थापित कर साधिकार ग्रंथार्थ सोपपत्ति हृदयंगत कराना एवं साधक अपने जीवन में उसे कैसे उतारे इस के लिये दिशा-निर्देश देना उनकी महिमा रही। दुरूह विषय का भी उनका उपस्थापन अत्यन्त रुचिकर बना ही रहता है। ग्रंथमात्रका अर्थ नहीं, उसके बहाने वेदान्त का सार निरन्तर उपलब्ध कराना उनका ध्येय रहा। गीताव्यख्या 'श्रीकृष्ण सन्देश' की तरह यह पञ्चदशी-व्याख्या भी निरुपम है इसमें संशय का लवलेश नहीं। इसके नियमित अध्ययन से प्रत्येक जिज्ञासु वेदान्त शास्त्र के सारे रहस्यों से अवगत तो होगा ही, आत्मकल्याण के लिये प्रयत्नशील होने में उसे अपूर्व ऊर्जा प्राप्त होगी यह निश्चित है। सभी आस्तिक आचार्य श्री के प्रसाद रूप इस ग्रंथरत्न से जीवन्मुक्ति का लाभ लें यही भगवान् श्रीदक्षिणामूर्ति से प्रार्थना है।

भगवत्पादीय
स्वामी पुण्यानन्द गिरि
आचार्य महामण्डलेश्वर

श्रीविश्वनाथ संन्यास आश्रम्
दिल्ली।
संवत्सरारम्भ २०७२

ॐ

पञ्चदशी

प्रथम
तत्त्वविवेक प्रकरण

श्री स्वामी विद्यारण्य की लिखी हुई पंचदशी वेदांत का प्रकरण ग्रन्थ है जिस की ऐसी विशेपता है कि प्रायः सभी प्रान्तीय भापाओं में भी इसका अनुवाद हुआ है। संस्कृत में तो व्याख्यायें हैं ही। रामकृष्ण की व्याख्या प्रधान है जो ग्रन्थकार के शिष्य थे। यह व्याख्या संक्षिप्त है परन्तु सब चीजों को स्पष्ट करने के लिए बहुत अच्छी है। अच्युतराय की व्याख्या अत्यंत विद्वत्तापूर्ण है परन्तु उसके अन्दर प्रौढ विचार काफी आ गये हैं। आन्ध्र के एक विद्वान् लिंगन सोमयाजी ने भी एक टीका लिखी है। इस ग्रन्थ को पञ्चदशी कहते हैं क्योंकि पन्द्रह प्रकरणों का यह संग्रह है। प्रत्येक प्रकरण अपने में पूर्ण है अर्थात् एक प्रकरण को समझने के लिए दूसरा प्रकरण पढ़ा हुआ हो, ऐसा जरूरी नहीं है क्योंकि ये इस ढंग से लिखे गये हैं कि जितनी बात कहनी है वह सब एक जगह पर (एक प्रकरण में) कह दी गई है। इसलिये कुछ प्रकरणों में पुनरुक्ति दीखेगी; कि जो पहले कहा है, उसी को फिर कहते हैं! कई जगह पर तो उन्हीं श्लोकों को भी लिख दिया है; लेकिन वह इसलिये किया गया है कि प्रत्येक प्रकरण अपने में स्वतंत्र हो सके।

इसको लिखने वाले अत्यंत महत्त्वपूर्ण व्यक्ति हैं। चौदहवीं शताब्दी में इनका लौकिक दृष्टि से सबसे पहले काम था कि जो थोड़ी सी जमीन के मालिक थे उनको लेकर बड़े भारी हिन्दू राज्य, विजयनगर साम्राज्य की स्थापना की। एक विशेपता इन्होंने रखी कि अंतिम अधिकार के रूप में विरूपाक्षेश्वर महादेव की स्थापना की, कि वे ही वहाँ के असली अधिपति होंगे। इन विरूपाक्षेश्वर महादेव के अन्तर्गत ही बाद में करीब तीन सौ साल तक विजयनगर साम्राज्य बहुत अच्छी तरह से चला। यूरोप के अनेक विदेशी यात्रियों ने उसके वैभव और सुव्यवस्था की बड़ी प्रसंशा की कि वहाँ कोई भी चोरी करना जानता ही नहीं था! विजयनगर साम्राज्य की स्थापना हुई तो सबसे बड़ा काम धर्म की दृष्टि से किया कि चारों वेदों के ऊपर, वेद के मन्त्र और ब्राह्मण दोनों भागों पर अतिविस्तृत सायण भाष्य का निर्माण किया। परवर्ती काल में जब अंग्रेजों ने वेदों का अनुवाद करना शुरू किया, तब विल्सन और मैक्समूलर दोनों ने यह माना कि यह ठीक है कि कहीं-कहीं उन्हें सायणोक्त अर्थ ठीक नहीं

लगता लेकिन यह भी ठीक है कि वह भाष्य न होता तो वेदार्थ कुछ समझ ही नहीं सकते थे। उन्होंने यह भाष्य चाहे अकेले लिखा या कई विद्वानों के साथ मिलकर के लिखा–दोनों माना जाता है क्योंकि उस समय उस साम्राज्य के कई बड़े-बड़े विद्वानों को वहाँ बुलाया गया था। इन्होंने व्याकरण, ज्योतिष और स्मृतियों पर भी लिखा है, और भी अनेक ग्रन्थ हैं जिनके अन्दर धर्म और मोक्ष विषयक विषयों को एकत्रित किया है। संगीत के अनेक विद्वानों ने अपने ग्रन्थों में इनके मतों का उल्लेख किया है इससे पता लगता है कि ये संगीतज्ञ भी अच्छे थे परन्तु संगीत पर इनकी कोई स्वतंत्र पुस्तक नहीं मिली है।

इनके एक भांजे, अहोबल पण्डित बड़े भारी विद्वान् हुए हैं। उन्होंने अपने व्याकरण, ग्रंथ में मंगलाचरण करते हुए लिखा है

'वेदानां भाष्यकर्त्ता विवृतमुनिवचा धातुवृत्तेर्विधाता
प्रोद्यद्विद्यानगर्यां हरिहरनृपतेः सार्वभौमत्वदायी।
वाणी नीलाऽहिवेणी सरसिजनिलया किंकरीति प्रसिद्धा।
विद्यारण्योऽग्रगण्योऽभवदखिलगुरुः शंकरो वीतशंकः।।'

विद्यारण्य स्वामी ने सारे वेदों के मंत्र-ब्राह्मणों पर भाष्य लिखा, व्यास जी के ब्रह्मसूत्रों पर विवरणरूप वैयासिक न्यायमाला लिखी जिसके प्रारंभिक श्लोक में पूर्व पक्ष और दूसरे श्लोक में सिद्धांत को कहा है, व्याकरण पर धातुवृत्ति लिखी, विजयनगर राज्य के अन्दर हरिहर राजा को सार्वभौम राजा बनाया। जिनकी वेणी या बाल सर्प की तरह सुन्दर है, जो कमल पर वास करती हैं, वे सरस्वती इनके कहने के अनुसार चलती रहीं। इन्होंने अनेक गायत्री पुरश्चरण पहले किये थे कि भारत में हिन्दू साम्राज्य की स्थापना हो जहाँ वैदिक सम्प्रदायों के विद्वानों को संरक्षण मिले, परन्तु उस समय इनके ऊपर गायत्री की कृपा नहीं हुई। जब इन्होंने पता लगाया तो मालूम चला कि पूर्व जन्म का कोई ऐसा कर्म था कि इस जन्म में इनको वह सिद्धि नहीं हो सकती थी। उसके बाद इन्होंने संन्यास लिया। संन्यास लेना नया जन्म होता है। संन्यास लेते ही भगवती आई और कहा 'वरदान माँगो।' आचार्य हँस पड़े कि 'मैं जब कुछ करना चाह रहा था, जिस समय तुम्हारी शक्ति का प्रयोग करता, तब तो तुम आई नहीं और अब मैं पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा छोड़ चुका हूँ अतः मुझे कुछ नहीं माँगना है।' भगवती ने कहा 'मेरा आना व्यर्थ नहीं होगा। और कुछ नहीं माँगते हो तो मैं तुम्हारी जिह्वा पर रहूँगी। तुम जो लिखोगे वह अप्रतिहत होगा'। विद्यारण्य स्वामी की सारे विद्वानों में सबसे पहली पूजा होती थी।

संन्यास लेने के बाद जब इनके गुरु शंकरानन्द जी का शरीर शांत हुआ तब इन्हें वहाँ के पीठाधीश्वर शंकराचार्य पद पर बिठाया गया। शृंगेरी में सात साल तक गद्दी पर रहे। ऐसा वहाँ के लेखों के अन्दर वर्णित है। सरस्वती की कृपा के कारण शास्त्र में इन्हें कहीं कोई संदेह नहीं था। शास्त्र में इनकी अप्रतिहत गति थी। इसलिये संन्यास के बाद इन्होंने

पञ्चदशी, विवरण-प्रमेयसंग्रह आदि लिखे जो वेदान्त के आधार ग्रन्थ हैं। सबसे बड़ी उपनिषद् बृहदारण्यक के ऊपर विशाल दीपिका रची और उससे भी ज्यादा, वारह हजार श्लोकों के वार्तिक का भी इन्होंने संक्षेप किया। विवरण-प्रस्थान को इन्होंने विवरणप्रमेयसंग्रह में पुष्ट किया और वार्तिक-प्रस्थान को बृहदारण्यकवार्त्तिकसार में पुष्ट किया। पञ्चदशी में इन्होंने सभी का सुन्दर समन्वय करते हुए संग्रह किया है और इतने सरल दृष्टांतों के द्वारा बताया है कि साधारण व्यक्ति भी इसको अच्छी तरह से समझ सके।

नियम है कि ग्रन्थ समाप्त हो सके और उसका प्रचार-प्रवर्द्धन हो सके, इसके लिये मंगलाचरण किया जाता है। इसलिये पहले मंगलाचरण करते हैं–

नमः श्रीशङ्करानन्दगुरुपादाम्बुजन्मने।
सविलासमहामोहग्राहग्रासैककर्मणे।। १।।

विलास-समेत महामोहरूप ग्राह का ग्रास करना प्रधान कार्य है जिनका उन श्रीशंकरानन्दनामक गुरु के चरणकमल को प्रणाम है।

सबसे पहले गुरु को नमस्कार करते हैं। गुरु-नमस्कार के व्याज से इस ग्रन्थ में क्या विषय होगा और उसे समझने का क्या फल होगा, वह भी बता देते हैं। श्री शंकरानन्द नाम वाले गुरु के चरणकमलों को नमस्कार है। वे चरण-कमल हैं तो बहुत नरम दीखने वाले, क्योंकि कमल को बहुत नरम माना जाता है तथापि वे करते क्या हैं? महामोह है कि सबको जानने वाला मैं अपने आप को नहीं जानता! सब चीजों को तो मैं जानता हूँ, पर मैं क्या हूँ यह नहीं जानता। किसी चीज को ठीक प्रकार से नहीं जानना मोह है। 'मुहु वैचित्ये'से शब्द बना मोह अर्थात् अविवेक। परन्तु जानने वाले को ही नहीं जानना महामोह है। मैं अपने को नहीं जानता इसलिए आगे सारे संसार का विलास सामने आ जाता है। सारे दुःखों का, जन्म-मरण के चक्र का, सभी का मूल कारण है कि मैं अपने को नहीं जानता। इसी से ये सारी चीज़ें पैदा होती हैं। यही विलास सहित महामोह है इसलिये इसे घड़ियाल, ग्राह या मगर कहते हैं। गुरु जी के चरण-कमल कैसे हैं? इस ग्राह को मुँह में लेकर लीन करना ही उनका एकमात्र कर्म है, अर्थात्, कार्य के साथ जो कारण अज्ञान है उसको निवृत्त करने में वे समर्थ हैं और वही उनका एक कर्म है।

गुरु का नाम शंकरानन्द है ही, विद्यारण्य स्वामी उन्हीं के शिष्य थे। शंकरानन्द स्वामी भी बड़े प्रसिद्ध विद्वान् हुए हैं। इनका सबसे बड़ा ग्रन्थ आत्मपुराण है जो इनकी स्वतंत्र कृति है। उसमें इन्होंने अनेक उपनिषदों का बड़ा विस्तृत और रोचक व्याख्यान किया है। उपनिषदों की दीपिकाएँ भी इन्होंने लिखी। गीता पर भी इनकी बड़ी सुन्दर और विस्तृत व्याख्या है। ब्रह्मसूत्रों पर भी इनकी वृत्ति है। इस प्रकार प्रस्थानत्रयी (तीनों प्रस्थानों) पर इनका लिखा हुआ भाष्य के बाद प्रथम व्याख्यान है। ऐसे शंकरानन्द स्वामी के यह शिष्य थे। उनका स्मरण करना तो ठीक ही है, परन्तु इसके द्वारा कुछ और बात भी कह देते हैं:

शंकर में शम् मायने कल्याण। जो कल्याण करने वाले हैं उनको शंकर कहते हैं। परमेश्वर ही गुरुरूप से कल्याण करते हैं। कल्याण करने वाला परमेश्वर ही है। इसलिये आगमों के अन्दर बताया है।

'परिपक्वमला ये तानुत्सादनहेतुशक्तिपातेन।
योजयति परे तत्त्वे सदीक्षयाऽऽचार्यमूर्तिस्थः।।'

आचार्य की मूर्ति में स्थित हुए जो भगवान् दक्षिणामूर्ति हैं वे ही परम तत्त्व में स्थित करते हैं। गुरु क्या है? ज्ञान ही गुरु है। 'गु' शब्द का अर्थ अंधकार और 'रु' शब्द का अर्थ प्रकाश होता है। अन्तःकरण के अंधकार (अज्ञान) को नष्ट करके जो प्रकाश करता है वही गुरु कहा जाता है। इसलिये न शरीर गुरु है और न केवल अंतःकरण गुरु है। अंतःकरण के अन्दर विद्यमान जो ब्रह्मज्ञान है वही अज्ञान अंधकार को दूर करके प्रकाशित करता है। आचार्यमूर्ति के अन्दर स्थित जो यह ज्ञानस्वरूप दक्षिणामूर्ति हैं वे ही उस परतत्त्व, शुद्ध परब्रह्म परमात्मतत्त्व से हमको एक कर देते हैं।

सबको ही ऐसा क्यों नहीं कर देते? कहा कि जो परिपक्व-मल हैं, जिनके पाप पक गये हैं अर्थात् जिनके अंतःकरण में पापों को स्थान नहीं रह गया। कोई भी पाप कर्म ऐसा नहीं है जो उनके अंतःकरण में उस जन्म में फल दे। क्योंकि कर्म तो अनंत हैं इसलिये सारे कर्म ज्ञान के बिना कभी नष्ट नहीं होते। कर्मों में उसके पुण्य पाप सभी हैं। परन्तु जिस शरीर में ज्ञान होना है उसके अन्दर कोई पाप कर्म फल देने वाला नहीं रहना चाहिये। पाप कर्म के फल दो तरह के होते हैं : एक तो कर्म का फल सुख-दुःख जो परमात्मा के संकल्प से है। इसलिये प्रारब्ध कर्म अपना फल सुख-दुःख तो देगा ही। दुःख का कारण पाप और सुख का कारण पुण्य ही होता है। पाप और पुण्य दोनों के संस्कार हमको पुनः कर्म में प्रवृत्त करते हैं। हमने चोरी की, पैसा आया और हमको कोई पकड़ नहीं पाया। चोरी का फल दुःख तो होगा ही, परन्तु 'चोरी करने से चीज तो मिल जाया करती है' यह संस्कार हमको फिर से चोरी में प्रवृत्त करता है। कोई भी काम करने में हमारी प्रवृत्ति तभी होती है जब तदनुकूल संस्कार का उद्बोध हो। यह बात पुण्य-पाप दोनों के लिये है। हमने एक अनुष्ठान किया और उसमें सफलता मिल गई तो पुनः वैसे अनुष्ठान में प्रवृत्ति होती है। अनुष्ठान किया और सफल नहीं हुआ तो मन में होता है कि इसे करने से कोई फायदा नहीं, इसलिये फिर उसमें प्रवृत्ति नहीं होती। इस तरह कर्म के दो फल हैं–एक तो सुख-दुःख और दूसरा संस्कार के द्वारा पुनः प्रवृत्ति कराना। जहाँ तक सुख-दुःख को भोगने का प्रश्न है, उसे अन्यथा नहीं किया जा सकता। परन्तु जो संस्कार हैं, जो पुनः प्रवृत्ति कराते हैं, उन्हें विवेक और शास्त्र के ज्ञान के संस्कार बनाकर दूर किया जा सकता है। जैसे हमने चोरी की, सफलता मिली। परन्तु हमारे जो दूसरे साथी चोर थे, वे सभी पकड़े गये। हम नहीं पकड़े गये। तो भी संस्कार बनता है कि 'चोरी करने से सावधान रहो'। चोरी करने से हमको फायदा हुआ परन्तु उससे

प्रबल संस्कार हो गया कि पकड़े जाने पर जब पुलिस डण्डे मारती है तब बड़ी चोट लगती है। अपने साथियों को देखकर विपरीत संस्कार बनने पर भी चोरी के संस्कार हमें प्रवृत्त नहीं कर पाते। इस प्रकार विवेक और शास्त्र के संस्कार प्रबल हो जाते हैं तो पाप के संस्कार फल नहीं दे पाते अर्थात् प्रवृत्त नहीं कर पाते। एक संस्कार के प्रवाह को दूसरे संस्कारों के प्रवाहों से दबाया जा सकता है। संस्कार नष्ट हो जायेंगे यह नहीं कह रहे हैं, परन्तु वे हमें प्रवृत्त नहीं कर पायेंगे क्योंकि विपरीत संस्कार प्रबल हैं। इस स्थिति को परिपक्वमलता कहते हैं अर्थात् मल का परिपाक हो गया। जो ऐसे हैं उनके कल्याण के लिये, उनके पापों को उखाड़ फैंकने के लिये परतत्त्व में लगाते हैं। यह जो तत्त्वज्ञान है, 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य-वोध है, यह सबसे बड़ी शक्ति है जिससे सारे संस्कारों का उच्छेद हो जाता है। इसलिये परमेश्वर ही गुरुमूर्ति के अन्दर बैठे हुए हमको मुक्त करते हैं।

शंकर, कल्याण करने वाला यह ज्ञान ही है। यही वास्तविक कल्याण है। जो प्रिय हो उसे आनन्द कहते हैं। सबको जो प्रिय है वह परम आनन्द है। बाकी चीजों के बारे में तो मतभेद होता है; हमको रसगुल्ला अच्छा लगता है, तुमको तिलपापड़ी अच्छी लगती है। हमको बण्डी, तुमको स्वेटर पहनना अच्छा लगता है। अलग-अलग चीजें अलग-अलग व्यक्तियों को आनन्द देती हैं। परन्तु आनन्द तो सबको चाहिये और यह आनन्द आत्मरूप है। इसलिये बृहदारण्यक उपनिषद् में महर्पि याज्ञवल्क्य कहते हैं कि सबसे अधिक प्रिय अपना आत्मा ही है। आनन्द किस के लिये चाहते हो? आत्मा के लिये या अपने लिये ही चाहते हो। जो शंकर हैं वही आनन्द हैं अर्थात् ज्ञानस्वरूप परमेश्वर जो गुरुमूर्ति में स्थित हैं और आत्मा जो आनन्दरूप है, दोनों एक ही हैं। इस प्रकार से शंकरानन्द के द्वारा इन्होंने विपय बता दिया कि जीव-ईश्वर की एकता का प्रतिपादन करना ही इस ग्रन्थ का उद्देश्य है।

यह ज्ञान कैसा है? शंकर तो ज्ञानरूप हैं ही, लेकिन श्रीशंकर कहा; श्री अर्थात् ब्रह्मविद्या द्वारा वे हमारा कल्याण करते हैं। श्री का अर्थ लौकिक श्री भी हो सकता है। परमेश्वर कों 'रातिर्दातुःपरायणं' कहा है। सब प्रकार की धन-सम्पत्ति देने वाले परमेश्वर हैं। उपनिषदों में कहा है—'तस्माद् आत्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूतिकामः' आत्मज्ञानी की अर्चना-पूजा करने से सब प्रकार की धन-सम्पत्ति की प्राप्ति होती है। जो तो परिपक्वमल हैं वे उसके द्वारा ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं क्योंकि उस मूर्ति में परमेश्वर स्थित हैं और जो ज्ञान के अधिकारी नहीं हैं वे जिस चीज को चाहते हैं उस चीज को प्राप्त कर लेते हैं।

नमः का मतलब त्याग होता है, 'त्यागो हि नमसो वाच्यः'। उनके चरणकमलों को नमन है अर्थात् अहंकार का त्याग है। नमन मनुष्य को विनम्र बनाता है। जिसे अपने से श्रेष्ठ समझेंगे उसी को नमस्कार करेंगे। यह नमः भी दो तरह का समझना। अहंकारात्मिका वृत्ति में प्रतिफलित चेतन मेरा स्वरूप नहीं है। वरन् अहंकार का त्याग करके जो उससे उपलक्षित चिन्मात्र है वही मेरा वास्तविक स्वरूप है—इस प्रकार अहंकारात्मिका वृत्ति का त्याग ज्ञान के लिये जरूरी है। जब गुरु उपदेश देते हैं कि तुम ब्रह्म हो, तब स्वाभाविक प्रश्न सामने आता

है कि 'मैं देहादि वाला हूँ, ब्रह्म थोड़े ही हूँ! मैं इस शरीर, मन में रहने वाला हूँ।' गुरु के कहने पर कि 'तुम ब्रह्म हो' तुमको ज्ञान नहीं होता, मैं बने रहते हो। तुम 'मैं' नहीं अर्थात् अहंकारात्मिका वृत्ति नहीं हो। शरीर से लेकर अंतःकरण की वृत्ति (अहंकारात्मिका वृत्ति) पर्यन्त तुमको लगता है कि मैं हूँ, अतः समझते हो कि मैं ब्रह्म नहीं हूँ। सारी साधना तो इस असली 'मैं' में पहुँचने तक है। इसलिये आगे स्वयं कहेंगे कि सबसे बाह्य मैं तो शरीर है। शरीर के अन्दर प्राण, प्राण के अन्दर मन और मन में बुद्धि है। ये सब 'मैं' नहीं हूँ। इस प्रकार से धीरे-धीरे जिसे तुम 'मैं' समझते रहे हो, उसका जब त्याग करते हो तव यह विरुद्ध प्रतीति कि 'मैं ब्रह्म नहीं हो सकता' हटती है। परिच्छेदाभिमान के कारण ही 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा ज्ञान नहीं होता है। जब इन सब परिच्छेदों से अहंकारात्मिका वृत्ति हट जाती है और अनुभव होता है कि 'मैं' यह सब नहीं हूँ, तब आत्मस्वरूप में स्थिति हो जाती है। आत्मस्थिति हो जाना ही यहाँ प्रयोजन या उद्देश्य है।

गुरुचरण-रूप कमल की विशेषता बड़ी विचित्र बतायी। मगर (घड़ियाल) का चमड़ा इतना कड़ा होता है कि उसकी ढाल बनाई जाती है जिसे तलवार आदि नहीं काट सकती। कमल बड़ा कोमल होता है। मगर कमल को खा जाये, यह तो कहना बनता है परन्तु कमल मगर को खा जाये, यह नहीं बनता। यहाँ वह विपरीत घटना है, उनके जो चरणकमल हैं वे महामोहरूपी ग्राह को खा लेते हैं। ऐसी जो विपरीत बात होती है वह मनुष्य के अन्दर आश्चर्य पैदा करती है कि कैसे हो गया? भगवान् शंकर के एक भक्त बड़े भारी विद्वान् थे। एक बार भगवान् ने उनसे कहा कि 'तुम यदि संदेह करना छोड़ दो तो तुमको ज्ञान हो जाये। किसी भी चीज में संशय मत करो।' जैसे वसिष्ठ जी ने कहा है कि आकाश को टुकड़े होते गिरते देखो तो भी आश्चर्य मत करो, सूर्य उदय हो और फिर भी अन्धकार दीखे तो भी आश्चर्य मत करो क्योंकि माया में सब सम्भव है। इसलिये बड़े महाराज कहते थे कि यदि कोई कहे कि 'मैंने कान में ऊँट घुसते देखा,' तो यह मत कहो कि असंभव है। तुम यह पूछ सकते हो कि 'तुमने खुद देखा या नहीं?' और वह कहे 'मैंने देखा,' तो ठीक समझो, संशय मत करो क्योंकि इस माया के संसार में ऐसा कुछ नहीं जो न हो सके। यदि संसार सत्य होता तो इसमें कार्य-कारण-भाव होता। फिर भी, अत्यंत असम्भव चीज को देखकर आश्चर्य होता ही है। उक्त भक्त अभ्यास करने लगा कि यह तो परमेश्वर की माया है उसके संकल्प से कुछ भी हो सकता है। वह एक दिन किसी तालाब के पास बैठा था। ऊपर से एक पत्ता गिरा जो आधा पानी में और आधा जमीन पर था। पत्ता एक ही था, जो हिस्सा पानी में गिरा वह मेंढक बनकर उछल गया और जो जमीन पर गिरा वह चिड़िया बनकर उड़ गया। भक्त से नहीं रहा गया, संदेह हो गया कि यह कैसे हो गया! जैसे ही उसने फिर संदेह करना शुरू किया, दिव्य पुरुषों ने उठाया और एक गुफा में ले जाकर बन्द कर दिया। वहाँ उसने देखा कि पहले ही बहुत से लोग लटके हुए हैं। भक्त ने उनसे पूछा–'तुम लोग यहाँ कैसे लटके हो?' उन्होंने कहा–'हम सब संशय करने वाले हैं। तुमने भी जरूर संदेह किया

होगा, तभी यहाँ आ गये।' मनुष्य को कोई भी आश्चर्यजनक चीज देखने पर खट संशय हो जाता है कि कैसे हो सकता है। यहाँ विद्यारण्य स्वामी कहना चाहते हैं कि कभी भी आश्चर्य नहीं करो। चरण-कमल यदि मगर को खा लेते हैं तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। परन्तु क्यों ? क्योंकि न चरण सचमुच में कमल हैं और न महामोह सचमुच में मगर है इसलिये विद्या से अविद्या का उच्छेद हो जाता है इसी बात को इस प्रकार से कहा। यह भी एक बड़ा भारी आश्चर्य है। हम लोगों को दृढ संस्कार है कि कुछ करके कुछ मिलता है, बिना किये कुछ नहीं मिलता। यहाँ बिना किये ही मिलता है क्योंकि गुरु के हृदय में बैठा हुआ जो ज्ञानस्वरूप परमात्मा है वह बिना कुछ किये हुए ही हमारे अन्दर आ जाता है। ज्ञानसे अज्ञान का नाश होता है–इस बात को बताने के लिये यह उपमा दे दी गई।

कुछ लोग शंकरानन्द शब्द से केवल विषयादि का कथन मानते हैं, वह इसलिये ठीक नहीं, कि अगले श्लोक में कहेंगे कि 'उनके चरण-सेवकों ही के लिये प्रकरण है' जो तभी संगत है जब यहाँ गुरु का कथन हो। कुछ कहते हैं कि केवल निजगुरु का यहाँ स्मरण है। वह भी ठीक नहीं क्योंकि शंकरानन्द स्वामी की चरणसेवा करने वाले पचीस-पचास लोगों के लिये ही यह ग्रंथ उपयोगी रहा होगा, हमारे लिये व्यर्थ मानना पड़ेगा। अतः यही स्वीकारना उचित है कि इस श्लोक में गुरु शब्द से वह संकेतित किया जो श्रुति ने 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुम् एवाऽभिगच्छेत्' आदि से कहा है। जहाँ-जहाँ गुरु के अन्दर वह ज्ञान मौजूद है वहाँ-वहाँ उसका सेवन करना है। 'नमः' का मुख्य मतलब है कि अहंकार की वृत्ति का त्याग करना है, उससे उपलक्षणा नमन या नम्रता की तो है ही। इस प्रकार, ज्ञान देने वाले दक्षिणामूर्ति भगवान् शंकर आत्मस्वरूप से, आनन्दरूप से एक हैं, उन्हीं के चरणकमलों में नमन है।

चरण वे होते हैं जो चलते हैं, गुरु जी के दो पैर थे, लँगड़े तो थे नहीं! गुरु दो पैरों से चलते हैं: एक तो उनका शुद्ध रूप जिसमें वे स्थित हैं और दूसरा, उपदेश आदि के द्वारा जो प्रकट करते हैं वह भी उनका चरण ही है। क्योंकि यदि सविलास महामोह, सारे कार्यरूपी संसार समेत मूल अज्ञान हट जाये तो गुरु का यह शरीर भी गिर जायेगा क्योंकि अज्ञान का कार्य ही ये शरीर-मन हैं। तब गुरु-शिष्य का व्यवहार, उपदेश देना-लेना ही नहीं बनेगा। इसलिये दूसरा चरण लेशाविद्या है जिसके द्वारा यावत् प्रारब्ध मिथ्या भावना की दृढता के साथ यह सब प्रतीत होता है। अतः वह दीखने पर भी नहीं दीखने जैसा ही है। 'यह संसार सत्य है' यह भावना करके ही संसार चक्र चलता है। ठीक जिस प्रकार से पुराने लोगों को याद होगा कि बायोस्कोप आने से पहले तो थियेटर (रंगमंच) होता था, उसमें कोई पात्र अच्छा कार्य करता था तो ताली बजा कर कहते थे 'एक बार फिर से, एक बार फिर से' और पात्र दोबारा उसी कृत्य को करके दिखा देता था। यदि कोई बहुत बुरा, दुष्टता का काम करता था तो लोग गालियाँ देते थे। कोई-कोई जूता भी फैंक देते थे। प्रारंभ में जब सिनेमा देखने लगे तो उसी संस्कार से कोई अच्छा दृश्य हो तो ताली बजाकर कहते थे 'फिर

से करो,' लेकिन वहाँ क्या होना था! इसी प्रकार कोई दुष्टता बहुत अच्छी तरह करता था तो गालियाँ बकते थे जूता फेंकने लगते थे। लेकिन पर्दे पर तो उसका कुछ असर होना नहीं था क्योंकि वहाँ केवल एक पर्दा और रोशनी मात्र हैं। क्योंकि लगता था कि नट-नटी सामने हैं इसलिये वैसा कर देते थे। जहाँ नट हो वहाँ तो उसे जूता पड़ने पर खुशी होती है कि खेल इतना सच्चा लगा कि जूता फेंका। पर सिनेमा तो सर्वथा झूठा है। पैसा खर्च करके सिनेमा देखने जाते हैं परन्तु लोगों को पता है कि वहाँ कुछ नहीं है जिसे देख रहे हैं। ठीक इसी प्रकार से एक ब्रह्मशिला के ऊपर ये सब भेद फिल्म के चित्रों की तरह दीख रहे हैं। इसलिये अच्छे को देखकर 'फिर से ऐसा हो' यह भावना व्यर्थ है। बहुत बढ़िया रवड़ी का मालपुआ बन गया तो मन में होता है कि एक दिन और बनवायें, परन्तु जब पता है कि यह रबड़ी का मालपुआ कुछ भी नहीं है, प्रतीतिमात्र है, तो 'फिर से यह बनवायें' ऐसी प्रवृत्ति नहीं होती। इसी प्रकार पीठपर बहुत बड़ा फोड़ा निकल आया, यदि सच्चा फोड़ा है तो, 'फिर यह न हो' यह इच्छा होगी। परन्तु यदि बायोस्कोप में दीखने वाला फोड़ा हो तो 'यह न हो' ऐसी इच्छा नहीं होगी। अतः संसार को लेशाविद्या के समय देखते हुये भी 'मैं कर्त्ता-भोक्ता हूँ' ऐसी कोई वृत्ति नहीं होती। अंतःकरण के चित्रपट के ऊपर जो चित्र दीख रहा है, वह केवल दीख ही रहा है, है नहीं। ठीक उसी प्रकार से जगत् को वाधित समझते हुए शिष्य आदि के प्रति तत्त्वमसि वाक्य का उपदेश हो जाता है क्योंकि हृदय में वह ज्ञानरूप परमेश्वर मौजूद है।

अतः गुरु के दो चरण हैं—एक उनका शुद्धरूप है। उसकी सेवा शम-दम आदि से युक्त होकर श्रवण, मनन, निदिध्यासन हैं। यह शुद्धरूप की सेवा है। जो लेशाविद्यारूप दूसरा चरण है, उसकी सेवा है कि जो अद्वेष आदि गुण गुरुके अन्दर स्थिर हैं उन्हें शिष्य अपने में दृढ कर ले। ये दोनों ही सेवा करनी हैं। उनका अंतःकरण कमल की तरह कोमल है पर बड़ा भयंकर काम करने वाला है कि मगरमच्छ को खा जाता है! इसलिये शास्त्रकारों ने कहा है कि ऐसा गुरु 'वज्रादपि कठोराणि' फूल से भी ज्यादा नरम होता है पर वज्र से भी कठोर होता है। अविद्या का नाश करने वाले रूप में तो अत्यंत कठोर होता है परन्तु अन्यथा अत्यंत ही कोमल रहता है। दुःख-समुद्र के अन्दर पड़े हुए लोगों का उद्धार करने के लिये कोमल है। परन्तु इस संसार समुद्र को सुखाने के लिये शिष्य में शम, दम, उपरति, इत्यादि लाने के लिए अत्यंत कठोर कर्म भी करते हैं। शम, दम, उपरति इत्यादि करना शिष्य को बड़ा कठिन लगता है। कहता है 'कोई सरल मार्ग बताइये। इन्द्रियों का दमन आदि मत बताइये।' लेकिन गुरु कठोर होकर कहता है कि इनके बिना काम नहीं होगा यह सब तो करना ही पड़ेगा। दुःखवारिधि से निकालना चाहते हैं इसलिये कोमल तो हैं ही। इस प्रकार विद्यारण्य स्वामी ने यहाँ अत्यंत अद्भुत कार्य को दिखाते हुए गुरु की वन्दना की॥१॥

प्रथम श्लोक के अन्दर नमस्कारात्मक मंगलाचरण करते हुए जीव-ब्रह्मैक्यरूप विषय और मोक्षरूप प्रयोजन का निर्देश किया। अनुबन्ध-चतुष्टय में अब अधिकारी का निरूपण करना

बाकी बच गया। सम्बन्ध तो सब जगह प्रतिपाद्य-प्रतिपादक-भाव ही है। अर्थात् ग्रन्थ से जीव व ब्रह्म की एकता को बताया जायेगा इसलिये ग्रन्थ प्रतिपादक है और जीव-ब्रह्म की एकता प्रतिपाद्य है। संक्षेप से अधिकारी बताते हुए अवान्तर प्रयोजन भी बताते हैं

तत्पादाम्बुरुहद्वन्द्वसेवानिर्मलचेतसाम्।
सुखबोधाय तत्त्वस्य विवेकोऽयं विधीयते।। २।।

उनके चरणकमलद्वय की सेवा से निर्मल हुए चित्तवालों को आराम से समझ आये इसलिये यह 'तत्त्वविवेक' प्रकरण बनाया है।

तत् अर्थात् शंकरानन्द गुरु के दोनों चरण-कमलों की सेवा करने से जिनका चित्त निर्मल हो गया है, मलरहित हो गया है वे अधिकारी हैं। अंतःकरण के अन्दर मल और विक्षेपरूपी दोष के रहते हुए ग्रन्थ के द्वारा जिस बात को प्रतिपादित किया जा रहा है वह फलपर्यन्त ज्ञान की उत्पत्ति नहीं कर पाती। ज्ञान की उत्पत्ति सफल तब कही जाती है जब अज्ञान निवृत्त हो जाये। जब तक अज्ञान निवृत्त नहीं होता तब तक प्रतिपादन का प्रयोजन सम्पन्न नहीं होता। जिस प्रकार से यदि घड़ा निरन्तर हिल रहा है और पानी में मिट्टी है तो उसमें सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है परन्तु वह स्पष्ट रूप से प्रतीत नहीं होता। सूर्य की जगह अगर अपना प्रतिबिम्ब देखो तो उसमें मुख की छाया पड़ेगी परन्तु मुख का प्रतिबिम्ब अर्थात् मुख जैसा है वैसा प्रतीत नहीं होगा। अगर हजामत बना रहे हो तो कहाँ काटें यह पता नहीं लगेगा। छाया पड़ने पर भी प्रतिबिम्ब वह तब है जब उसमें बिम्ब का सही ज्ञान हो, बिम्ब के अनुकूल हो तब वह प्रतिबिम्ब है। छाया में मुख दीखता तो है परन्तु मुख जैसा है वैसा नहीं दीखता। इसी प्रकार सूर्य उसमें प्रकाशरूप दीखता है परन्तु जैसा सूर्य है वैसा मल और विक्षेप के कारण नहीं दीखता।

इसी प्रकार अंतःकरण में ब्रह्म का प्रतिबिम्ब देखना है। जैसे अंतःकरण में जब घट दीखता है तब वह घटाकार वृत्ति कही जाती है उसी प्रकार जब अंतःकरण में ब्रह्म की प्रतीति होगी तब वह ब्रह्माकार वृत्ति है। 'तत्त्वमसि' वाक्य के द्वारा उपदेश सुनने पर समल चित्त में व्यापक ब्रह्मरूपता या ज्ञानरूपता की प्रतीति नहीं होती, शब्द तो समझ में आ जाता है जिसे वाचनिक ज्ञान कहते हैं। जैसे हम अगर किसी से कहें, जो मारवाड़ का रहने वाला है, 'कड़ापाक संदेश अच्छा होता है, छैने से बनता है, उसके अन्दर शहद भरी होती है।' इन शब्दों से उसे कड़ापाक संदेश का ज्ञान तो हो जायेगा परन्तु कड़ापाक संदेश सचमुच में कैसा होता है, उसका क्या स्वाद है यह तो पता चलेगा नहीं। कड़ापाक संदेश सामने आये और वह उसको अपनी जीभ पर रखे, तब अंतःकरण की प्रत्यक्ष वृत्ति उस कड़ापाक संदेश के आकार की बनेगी और वह जैसा है ठीक वैसा ज्ञान उसे हो जायेगा। इसी प्रकार जब 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि रूप से ब्रह्म का उपदेश दिया जाता है तब कुछ पता तो लग ही जाता है, परन्तु ब्रह्म जैसा है वैसा पता नहीं लगता क्योंकि अंतःकरण की

ब्रह्माकार वृत्ति बनती नहीं। आगे इसी अध्याय में कहेंगे कि वह परोक्ष ज्ञान है। परोक्ष का मतलब धुँधला ज्ञान है। जैसे कोई व्यक्ति दूर हो तो तुमको पता लगता है कि वह आदमी है परन्तु चेहरा न दीखने के कारण स्पष्ट भान नहीं होता कि वह अनुक्रम है। देख तो अनुक्रम को ही रहे हो, और किसी को नहीं देख रहे हो। लेकिन मनुष्यरूप से देख रहे हो, अनुक्रमरूप से नहीं देख रहे हो। देख उसी को रहे हो परन्तु पहचान नहीं रहे हो। इसी प्रकार से ब्रह्म का परोक्ष ज्ञान है कि *वह* सर्वव्यापक है। अबाधित ज्ञानरूप आदि सब का पता लगते हुए भी 'यह मैं हूँ' ऐसी प्रतीति नहीं है। अतः उसे धुँधला ज्ञान कहते हैं जैसे मिट्टी घुले हुए और हिलते हुए घड़े के पानी में दीखता है कि यह चेहरा है परन्तु यह मेरा चेहरा है—ऐसी प्रतीति नहीं होगी। इसी प्रकार से जब सगुण का ध्यान किया जाता है, साकार का ध्यान किया जाता है तब वस्तुतः विष्णु-शंकर आदि शुद्ध चिन्मात्रस्वरूप हैं परन्तु उनका दर्शन करते हुए भी वे शुद्ध चिन्मात्रस्वरूप हैं यह पता नहीं लगता। यही पता लगता है कि हाथ-पैर वाले हैं, साँवले हैं, गोरे हैं आदि। विष्णु, शंकर का दर्शन भी ब्रह्मज्ञान ही है, परन्तु परोक्ष ज्ञान है क्योंकि 'यह मैं हूँ' ऐसी प्रतीति नहीं है।

अंतःकरण में धुँधलापन क्या है? जो हमारे पाप आदि के संस्कार हैं, वे सब मल हैं। पाप आदि के संस्कारों का रूप क्या है? राग-द्वेष आदि ही पाप आदि के संस्कारों का रूप है। पाप का संस्कार हमें किसी चीज से निवृत्त करता है और पुण्य का संस्कार हमें किसी चीज में प्रवृत्त करता है। जब तक प्रवृत्ति-निवृत्ति के संस्कार हैं, अर्थात् राग-द्वेष का मल है तब तक आत्मा का साक्षात्कार नहीं होता। राग-द्वेष आदि मिटने पर ही अंतःकरण में 'तत्त्वमसि' आदि से बोध हो सकता है। दूसरा दोष विक्षेप है। यदि मिट्टी वाले पानी के घड़े में फिटकरी डालें तो धूल बैठ जाती है। तब पानी साफ तो हो गया परन्तु चूँकि वह हिल रहा है इसलिये उसके अन्दर भी मुँह उतना साफ नहीं दीखता। पहले से तो अच्छा दीखता है परन्तु साफ फिर भी नहीं दीखता। हिलने का नाम ही विक्षेप है। 'क्षेप' का मतलब फेंकना होता है। अंतःकरण एक चीज पर स्थिर न रहकर दूसरी तरफ जाता-आता है। उस जाने-आने में कारण कई बार राग-द्वेष भी होते हैं और कई बार विषयों की उपस्थिति भी होती है। जैसे शोर सुनने की कोई इच्छा नहीं है, हम किसी काम में एकाग्र होकर बैठे हैं, किताब पढ़ने बैठे हैं, शोर सुनने की हमारे अन्दर कोई प्रवृत्ति नहीं होने पर भी शोर होता है तो सुनाई देता है।

कई लोग यह भूल से मानते हैं कि इच्छा होगी तभी शोर सुनाई देगा और इसलिये एकांगी प्रयास ही कर पाते हैं। चीज जैसी सामने मौजूद है, अंतःकरण से इन्द्रियों की प्रवृत्ति होने पर उसकी वैसी प्रतीति होगी ही। उस शोर से दूर चले जाओ तो, शोर सुनाई नहीं देगा। दूसरा तरीका है कि प्रत्याहार के द्वारा हम इन्द्रियों को बाहर जाने से रोक लें और शम के द्वारा अन्तःकरण को बाहर जाने से रोक लें। यह संयम है। संयम की ही तीन सीढ़ियाँ धारणा, ध्यान, समाधि हैं। दोनों प्रकार के साधन सामान्य साधक के लिये जरूरी होते हैं।

बाह्य विक्षेप के कारणों से भी दूर होना पड़ता है, परन्तु केवल बाह्य कारणों से दूर हो जाओ तो भी जब तक जाग्रदवस्था है तब तक इन्द्रियाँ तुम्हारे शरीर आदि में होने वाले परिवर्तनों को तो देखती ही रहेंगी। कहीं भी चले जाओ, आदमियों का शोर नहीं सुनाई देगा घोर जंगल में चिड़ियों का शोर सुनाई देगा। अतः दूर होना भी जरूरी है और अंतःकरण तथा इन्द्रियों की प्रवृत्ति को रोकना भी जरूरी है। अगर किसी साधक के अंतःकरण और इन्द्रियों को पूर्व संस्कारवशात् प्रत्याहार और यम का इतना सुदृढ अभ्यास हो गया है कि चाहे जितना शोर हो; उसे श्रोत्रेन्द्रिय नहीं सुनेगी, तो उसे दूर जाने की जरूरत नहीं है। परन्तु सामान्य साधक ऐसा होता नहीं है।

इस प्रकार, चित्त में होने वाले काम-क्रोध आदि मल जिसके निवृत्त हो गये हैं ऐसे निर्मल चित्त वाले को सरलता से ज्ञान के लिये यह प्रकरण है। यह इस प्रकरण का विशेष उद्देश्य बता दिया। सामान्य उद्देश्य तो है कि तत्त्व के बारे में कुछ न कुछ स्पष्ट बोध हो जाये। प्रश्न होगा कि जिनका चित्त शुद्ध हो गया है उनको उपनिषदों के वचनों से, ब्रह्मसूत्रों के विचार से ही ज्ञान हो जायेगा फिर इस किताब की क्या जरूरत है? इसलिये जरूरत है कि वह सब पढ़ने में परिश्रम ज्यादा करना पड़ता है। उतना बुद्धि का परिश्रम करने में कुछ लोग तो समर्थ ही नहीं हैं और कुछ लोग योग्य गुरु आदि की प्राप्ति न होने के कारण परिश्रम कर भी नहीं सकते हैं। सामर्थ्य होने पर भी ऐसे गुरु इत्यादि की उपलब्धि न हो परन्तु हो श्रद्धालु तो उस साधक को सरलता से समझाना इस प्रकरण का विशेष कार्य हो गया।

'तत्त्वस्य विवेकः' तत्त्वविवेक इस प्रथम प्रकरण का नाम है। पंचदशी में पन्द्रह प्रकरण हैं। इनमें प्रथम पाँच सभी विवेक प्रकरण ही हैं। इनमें तत्त्व का, महाभूतों का, पंचकोशों का विवेक आदि अलग-अलग अध्यायों में बतायेंगे। पाँच ही दीप प्रकरण और अंत में पाँच ही आनन्द प्रकरण हैं।

जिन्होंने शंकरानन्द गुरु के चरण-कमलों का सेवन करके अपने चित्त को निर्मल कर लिया है, उनके लिये यह ग्रन्थ है। यहाँ शंकरानन्द का अर्थ केवल विद्यारण्य स्वामी के गुरु को लें तो यह दूसरों के काम का नहीं रहेगा यह पहले ही बता दिया है, अतः यहाँ तत् पद से परमात्मा और आत्मा, शंकर और आनंद दोनों की एकता का अनुभव करने वाला श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ विवक्षित है। गुरु परमात्मास्वरूप है क्योंकि वेद कहता है कि 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्मरूप हो जाता है। ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म से अतिरिक्त कुछ नहीं है, शंकरानन्दरूप के दोनों चरण बता दिये थे : उसके शरीर आदि से प्रकट होने वाले अमानित्व आदि और अद्वेषादि धर्म उसका एक चरण हुआ एवम् दूसरा स्वरूपभूत चरण है जिसमें वह सदा चरण अर्थात् आचरण करता है, वह शुद्ध ब्रह्म है। श्रवण, मनन, निदिध्यासन उस चरण की सेवा है। इसलिये भगवान् सुरेश्वराचार्य ने कहा है–

'अमानित्वादिनिष्ठो यो यश्चाऽद्वेष्ट्रादिसाधनः।
ज्ञानत्मुपद्यते तस्य न बहिर्मुखचेतसः।।'

जो अमानित्वादि में नितरां निष्ठा वाला है और अद्वेषादि का अभ्यास करता है, उसका श्रवण-मनन आदि से काम हो जाता है। गुरु के चरण-कमलों की सेवा, परिचर्या करने से शिष्य को चित्तनिर्मलता प्राप्त होती है। निरन्तर उनके साथ रहने से उनके इन दोनों रूपों से परिचय हो जाता है। कर्म, उपासना आदि जितने बहिरंग साधन हैं वे गुरु-सेवा से गतार्थ हो जाते हैं। कर्म और उपासना के द्वारा दूर होने वाले मल और विक्षेप दोष दोनों गुरुसेवा से भी दूर हो जाते हैं। शास्त्रों में बताया है 'असंकल्पात् जयेत् कामम्' काम को जीतने का तरीका है कि संकल्प मत करो। मनु ने कहा—'काम जानामि ते मूलं संकल्पात् प्रभविष्यसि। नाऽहं संकल्पयिष्यामि तेन मे न भविष्यसि।' हे काम! मैं संकल्प नहीं करुँगा तो तू मूल-सहित नष्ट हो जायेगा। भगवान् ने भी इसीलिये गीता में कहा है 'ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते। संगात् संजायते कामः' हम विषयों का चिंतन करते हैं तो उनका संकल्प बनता है इसलिये अखबार, टेलिविजन, मैगजीन इत्यादि सबमें तीन-चौथाई हिस्सा ही है कि तुमसे कैसे विषय-चिंतन कराया जाये। यह मनुष्य को दुःखी करने का सरल उपाय है। पचास मोटरें दिखाओ और कहो कि इसमें यह-यह फायदा है तो उन्हें देखकर मन में होगा कि ऐसी मोटर हमारे पास भी होनी चाहिये। दिल्ली में कहते हैं कि जिसके पास कार नहीं वह बेकार है! 'क्रोधं कामविवर्जनात्' कामना से बचें तो क्रोध जीता जा सकता है। भिन्न-भिन्न दोषों को भिन्न-भिन्न प्रकार से जय करने के उपाय बताये हैं। अंत में कहा है 'एतत् सर्वं गुरोर्भक्त्या' काम, क्रोध आदि जितने विकार हैं, इन्हें मनुष्य प्रेमपूर्वक गुरु की सेवा करने से सरलता से जीत लेता है। इसका मतलब यह नहीं समझना कि सेवा करना सरल है! सेवा बड़ी कठोर साधना है। 'सेवाधर्मः परमगहनः' सेवा करना बहुत ही गूढ है। तुम्हारा मन कहता है छह बजे तक सोओ, गुरु जी कहते हैं कि 'हमे ढाई बजे नहाने के लिये गरम पानी देना।' ढाई बजे पानी पहुँचाने के लिये तुम्हें डेढ़ बजे ही उठना पड़ेगा। धीरे-धीरे अपने आप तुम्हारी कामना मिटती चली जायेगी। इसी प्रकार से सभी सेवा अत्यंत गहन होती है, उसी के द्वारा सब दोष जीते जा सकते हैं।

'सेवानिर्मलचेतसाम्' गुरु के चरणों की सेवा करके जिनका चित्त निर्मल हो गया वे अधिकारी हैं। श्रुति में कहा है 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा अनाशकेन' यज्ञ, दान, तप, वेदाध्ययन आदि सब विविदिषा को उत्पन्न करते हैं। गुरु-सेवाकी विशेषता है कि मुमुक्षा उत्पन्न करते हुए श्रवण, मनन, निदिध्यासन चूँकि उसकी सेवा के अन्तर्भूत हैं इसलिये अन्तरंग साधन भी सम्पन्न होता चला जाता है। यह कब तक करना है? भगवान् सुरेश्वर ने बताया है कि जिस प्रकार से बरसात का मौसम खत्म हो जाता है तो बादल बरस कर समाप्त हो जाते हैं, उनका फिर कोई प्रयोजन नहीं है। फिर बादल दिखाई भी नहीं देते क्योंकि सब बरस कर खत्म हो गये। इसी प्रकार गुरुसेवा से बुद्धि के अन्दर आत्मा को जानने की इतनी तीव्र इच्छा हो जाती है कि चित्त एकाग्र हो जाता है। दोष निवृत्त हो जाने पर तत्त्वमसि आदि का श्रवण करते हैं तो ज्ञान उत्पन्न हो जाता है।

कर्म तभी तक है, जो गुरु का दूसरा चरण है उसकी सेवा तभी तक है जब तक मन श्रवण-मनन के अन्दर निरंतर प्रवृत्त नहीं हो गया। अन्तःकरण की शुद्धि होने पर कम प्रयत्न से ही ज्ञान हो जाता है।

तत्त्व अर्थात् जो चीज जैसी है उसका स्वरूप। 'ॐ तत् सदिति निर्देशः ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः' ॐ तत् सत् तीनों परमात्मा के साक्षात् नाम हैं। इसलिये तत् पद परमेश्वर को बताता है। परमेश्वर के अन्दर एक तो तत्ता (तत्त्व) है जो उसका अपना स्वरूप है और दूसरा उसके अन्दर माया द्वारा रूप दीखते हैं। तत्त्व वह है जो उसका शुद्ध अधिष्ठानरूप है, अनारोपित वस्तु है। उस अनारोपित वस्तु का प्रतिपादन किस प्रकार कर सकते हैं? आरोपित वस्तु की निवृत्ति से ही अनारोपित वस्तु का प्रतिपादन हो जाता है। तत्त्व को बताना है 'नेति नेति' के द्वारा, जो आरोपित है उसको हटा करके। आरोपित को हटाना ही विवेक है। साधारणतः सत्य वस्तुएँ मिली-जुली हों तो उन्हें बीनकर पृथक् करना विवेक कहलाता है परन्तु वेदान्त में विवेक उससे भिन्न है क्योंकि यहाँ एक अनारोपित है और बाकी आरोपित हैं। एक पारमार्थिक सत्य है और बाकी केवल प्रातीतिक सत्य है। अतः इसे तत्त्व का विवेक कहा है। गुरु-सेवा के द्वारा चित्त को निर्मल करके श्रवण-मनन-निदिध्यासन के द्वारा अनारोपित वस्तु का साक्षात्कार हो जाता है अर्थात् आरोपित पदार्थों की निवृत्ति हो जाती है। उसे सरलता से समझा जा सके इसके लिये यह प्रयत्न है। इस प्रकार प्रथम दो श्लोकों में विषय, प्रयोजन और अधिकारी बता दिये तथा अधिकार-प्राप्ति का साधन भी बता दिया।।२।।

अब विवेक को बताते हैं–

शब्दस्पर्शादयो वेद्या वैचित्र्याज्जागरे पृथक्।
ततो विभक्ता तत्संविदैकरूप्यान्न भिद्यते।। ३।।

जाग्रत् में अनुभूयमान शब्द-स्पर्श आदि ज्ञेय विचित्र होने से परस्पर पृथक् हैं लेकिन उनसे अलग उनका ज्ञान एकरूप होने से अभिन्न है।

किस चीज को आरोपित मानना है और किस को अनारोपित मानना है? जो सर्वत्र एकरूप हो वह अनारोपित है और जो सर्वत्र अलग-अलग रूप से हो वह आरोपित है। जैसे घटाकाश, मठाकाश, महाकाश के अन्दर घट, मठ, तो बदलते रहते हैं और आकाश एकरूप है। बिना घट या मठ का नाम लिये हुए या बिना उनका विचार किये हुए घटाकाश-मठाकाश आदि का निरूपण नहीं होता इसलिए वे तत्त्व नहीं। इसी प्रकार जो वेद्य विषय, वेदन के विषय जानने के विषय हैं वे बदलते रहते हैं परन्तु *जानना* एक जैसा है। शब्द स्पर्श आदि वेद्य हैं। जो तुम जानते हो वे मूलभूत पंचमहाभूत ही हैं। या किसी शब्द को जानते हो अथवा छू कर स्पर्श जानते हो कि ठण्डा या गरम है आदि। यह मीठा है, यह खट्टा है, इस प्रकार से रस जानते हो। यह लहसुन खराब गंध वाला है अथवा यह गुलाब अच्छी गन्ध वाला है इत्यादि गन्ध जानते हो। अपने सारे ज्ञानों का यदि विचार करो तो पाँच महाभूत

ही ज्ञेय हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, ये पाँच ही वेद्य हैं। इनमें विचित्रता है, शब्द गन्ध नहीं, गन्ध शब्द नहीं, रूप रस नहीं, रस रूप नहीं। ये एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं, विचित्र हैं। जाग्रत् काल में ये सब भिन्न मिलते हैं। जाग्रत् काल का अर्थ समझ लेना : इन्द्रियों से जहाँ विषयों का ग्रहण करते हो वह जाग्रत् है। रूप, रस आदि का ग्रहण तो सपने में भी करते हो। स्वप्न में भी तुम्हें सुन्दर स्त्री दिखाई देती है। स्वप्न में बगीचे से बढ़िया सुगन्धि आती है। स्वप्न में भी मधुर गाना सुनाई देता है। परन्तु उन चीजों को तुम इन्द्रियों से ग्रहण नहीं करते हो। इसलिये चश्मा तो मेज पर खुला पड़ा है और स्वप्न में सभी का चेहरा साफ दीखता है! ऐसा नहीं है कि चश्मा भूल गये इसलिये चेहरा धुँधला दीख रहा हो। वेद्य तो वहाँ भी है परन्तु ऐसा नहीं है कि इन्द्रियों के द्वारा देखा जा सके। इन्द्रियों के द्वारा पाँच विषयों का ग्रहण जाग्रत् में होता है। जाग्रत् काल में बाकी सब विचार प्रत्यक्ष-मूलक ही होते हैं। अनुमान भी तभी करोगे जब कोई चीज प्रत्यक्ष हो। इसी प्रकार से वेद आदि सच्छास्त्र को भी जब सुनेंगे तभी कर्म या शास्त्रविचार करेंगे। जाग्रत् काल में प्रत्यक्ष ही प्रधान रहता है। इन्द्रियाँ तभी कार्यकारी होंगी जब तुम जाग्रत् में हो। ये पाँचों हमेशा अलग-अलग ही रहते हैं। शब्द का ज्ञान होता है, रूप का ज्ञान होता है, रस का ज्ञान होता है इत्यादि में *ज्ञान* में कोई फर्क नहीं है। जानना एक ही है, ज्ञान वैचित्र्य से रहित है, एकरूप ही है। इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण होने से इन्द्रियों के विषय विभिन्न हैं। इन्द्रियाँ अलग हैं इसलिये उनके विषय भी अलग हैं परन्तु ज्ञान में कोई भेद नहीं है। मोटे प्रस्तर-खण्ड या शिला के अन्दर राम की मूर्ति खोद देते हैं, रावण की भी मूर्ति खोद देते हैं। राम की मूर्ति धनुष-बाण चला रही है और रावण की मूर्ति में उसकी नाभि में बाण घुस रहा है। परन्तु शिला में तो कोई फर्क नहीं है! वह एक ही है। राम और रावण जिस प्रकार से खोदे गये हैं केवल उसको लेकर ही भेद है। इसी प्रकार से ज्ञानस्वरूप एक ही है। उसी पर आँख के द्वारा रूप मानो खोद दिया जाता है। क्योंकि जाग्रत् अवस्था के अन्दर विश्व और वैश्वानर की एकता है अतः तुम्हारी आँख बिना आदित्य के अनुग्रह के प्रवृत्त नहीं होती, आदित्य इन सब आँखों में बैठा हुआ है। जो वैश्वानररूप आदित्य है, उसके द्वारा शिला में रूप खोद दिया गया है। वही चूँकि आँख का अधिष्ठाता है इसलिये तुम्हारी व्यष्टि आँख रूप को ग्रहण करती है। रूपादि का भेद रहने पर भी ज्ञान की एकरूपता है।

ज्ञान के बारे में भी कहा जाता है कि 'अमुक ज्ञान पैदा हुआ, अमुक ज्ञान नष्ट हुआ,' परन्तु ज्ञान नष्ट हुआ–यह भी ज्ञान है या नहीं? यदि ज्ञान की उत्पत्ति-नाश को जानने के लिए अलग ज्ञान मानो तो फिर उसे जानने के लिये तीसरा, चौथा ज्ञान मानना पड़ेगा। यही तो अनवस्था होती है। अतः ज्ञान की एकता मानकर ही ठीक व्यवस्था बन सकती है। फिर ऐसी प्रतीति क्यों होती है? ज्ञान शब्द के दो अर्थ हैं। यहाँ आचार्य विद्यारण्य ने 'ज्ञान' शब्द का प्रयोग न करके संवित् शब्द का प्रयोग किया है। जब तुम्हारे अंतःकरण की वृत्ति घटाकार बनती है तब घटज्ञान होता है। इसलिये घटाकार वृत्ति एक तरह का ज्ञान हुआ। जैसे

घटवाला आकाश घटाकाश, मठवाला आकाश मठाकाश, यहाँ अलग चीजें तो घट-मठ हैं, आकाश अलग नहीं है इसी प्रकार घटाकार वृत्ति वाला होने से उसे 'घट जाना' कहा या ऐसी प्रतीति हुई। मठाकार वृत्तिवाला ज्ञान हुआ तो मठज्ञान मान लिया। परंतु ज्ञान की एकरूपता तो वैसी ही मौजूद रही। वृत्ति चूँकि उत्पत्ति और विनाश वाली होती है इसलिये उसके कारण प्रतीति हो जाती है कि ज्ञान उत्पन्न और नष्ट हुआ।

इस प्रकार एकरूप होने से ज्ञान अनारोपित है और शब्द आदि विभिन्न होने के कारण आरोपित हैं। उनके आकार की बनी हुई जो अंतःकरण की वृत्तियाँ हैं उनके कारण ज्ञान के अन्दर भी उत्पत्ति और विनाश की प्रतीति हो जाती है। ज्ञान हमेशा रहने पर भी दीखा तब *मठ का* ज्ञान हुआ, इसलिये ज्ञानमें उत्पत्ति-नाश की प्रतीति हो जाती है। इस प्रकार से संवित् की एक-रूपता जाग्रत् के अन्दर सिद्ध हो जाती है।।।३।।

तत्त्वविवेक अर्थात् अनारोपित और आरोपित दोनों को अलग-अलग करके प्रतिपादन करना। तीन ही अवस्थायें हर जीव को उपलब्ध हैं–जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति। जाग्रत् अवस्था वह है जिसमें हम इन्द्रियों से विषयों को ग्रहण करते हैं। बहिरिन्द्रियाँ वाहर की चीजों को जानती हैं। इन्द्रियों के बिना हमारा सम्बन्ध बाह्य जगत् के साथ नहीं होता। इसलिये जाग्रत् काल वह है जिसमें बाह्य जगत् के साथ हमारा सम्बन्ध होता है। बाह्य जगत् क्या है? इसे आगे बतायेंगे कि परमेश्वर अपनी माया शक्ति से जिन पदार्थों को बनाता है वे सारे बाह्य जगत् हैं। परमेश्वर पदार्थों को बनाता है तो उस बाह्य जगत् के साथ सम्बन्ध करने के लिये हमारे अन्तःकरण का भी निर्माण करता है, और इन्द्रियों का भी निर्माण करता है। बाह्य जगत् के साथ इन्द्रियों के सम्बन्ध का मतलब हुआ परमेश्वर की स्थूल सृष्टि के साथ सूक्ष्म सृष्टि का सम्बन्ध होना। हैं दोनों ही परमेश्वर की सृष्टि, परन्तु सूक्ष्म के साथ हमारा हमेशा 'मैं'रूप में सम्बन्ध रहता है और बाह्य जगत् के साथ मेरा-रूप से सम्बन्ध रहता है। स्थूल शरीर एक विचित्र चीज है जो बाह्य भी है और जिसके साथ 'मैं' का सम्बन्ध भी रहता है। इन्द्रियाँ बाह्य विषय को हमारे सूक्ष्म शरीर अंतःकरण के सामने उपस्थित करती हैं और अंतःकरण के साथ जो हमारा सम्बंध है उसके द्वारा आत्मा भी उसी अंतःकरण में प्रकाशित होता है। अतः अंतःकरण वह हुआ जहाँ दोनों का सम्बन्ध है। बाह्य जगत् के सारे पदार्थ रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श के अंतःपाती हैं। जो इन्द्रियाँ हमारे पास बाह्य विषय से सम्बंध करने वाली हैं वे इन्हीं चीजों को ग्रहण कर सकती हैं, इसलिए हमारी दृष्टि से ये ही विषय हो सकते हैं। पांचभौतिक सृष्टि में रूप रस नहीं, रस गन्ध नहीं है, गन्ध स्पर्श नहीं है, अर्थात् ये सब भिन्न-भिन्न हैं। आगे, रूप के अनन्त भेद भी एक-दूसरे से भिन्न हैं, भले ही हैं रूप के अंतःपाती। इसलिए उनका जो प्रतिविम्ब अंतःकरण में पड़ता है वह भी भिन्न-भिन्न है; रूप का प्रतिबिम्ब रूपाकार, रस का प्रतिबिम्ब रसाकार होगा। प्रतिबिम्ब अर्थात् उसकी वृत्ति बनना। जो ज्ञान का प्रकाश पड़ रहा है, वह वृत्तियों में एक ही है, ज्ञान में फर्क नहीं है विषयों में फर्क है। ज्ञान सर्वत्र ही रहता है, सब वेद्य विषय

अलग-अलग होते हैं, यह जाग्रत् की स्थिति बतायी। जाग्रत् में विषय बदलने वाले हैं और ज्ञानरूप विषयी एक ही है।

प्रश्न होता है कि इन्द्रियों के द्वारा स्वप्न में तो चीज़ें दीखती नहीं, वहाँ जो दीखता है, उसमें ज्ञान और विषय अलग नहीं होंगे? जाग्रत् में तो विषय विभिन्न इन्द्रियों से ग्राह्य हैं इसलिये आपस में अलग हैं, यह पहले सिद्ध किया। परन्तु स्वप्न के अन्दर तो जो घड़ा और कपड़ा दीखता है वे दोनों ज्ञानरूप ही हैं। उत्तर है कि ऐसा नहीं है। स्वप्न के अन्दर भी पदार्थ हैं। यह वेदांत की एक दृष्टि है जो हमेशा याद रखना; हमारे यहाँ, जो चीज दीखती है वह है। कैसे है—उसका विचार तो बाद में करेंगे, लेकिन जिस चीज का अनुभव हुआ वह चीज है। रस्सी में हमको साँप दीखा। साँप है तब दीखा, बिना हुए नहीं दीखा। कैसे है? उसी को बताते हैं—

तथा स्वप्नेऽत्र वेद्यं तु न स्थिरं जागरे स्थिरम्।
तद्भेदोऽतस्तयोः संविदेकरूपा न भिद्यते।।४।।

इसी प्रकार स्वप्न में संवित् एक ही है। परन्तु स्वप्न में वेद्य अस्थिर है जबकि जाग्रत् में स्थिर है। इसी से जाग्रत्-स्वप्न में परस्पर भेद है पर संवित् (ज्ञान) एकरूप ही है, वह भिन्न नहीं।

जैसे जाग्रत् के अंदर वेद्य अलग हैं, परन्तु ज्ञान एकरूप है, वैसे ही स्वप्न-काल में घट-पट आदि वेद्य हैं। फिर जाग्रत् की चीजों और स्वप्न की चीजों में क्या फर्क है? 'तुकार' से कहा कि इनका जाग्रत् से भेद है। स्वप्न में चीज स्थिर नहीं है, जाग्रत् में स्थिर है—इतना ही फर्क है। जाग्रत्-काल के अन्दर वेद्य स्थिर है। इसलिये श्रुति कहती है, 'न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्ति अथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते'। स्वप्न में न रथ है, न घोड़े हैं, न सड़क है, परन्तु न होने पर भी स्वप्नद्रष्टा उन्हें पैदा करता है। जो बाहर के रथ और रथयोग आदि हैं, वे तो हमारे जानने से पहले भी हैं और हम उन्हें नहीं जानेंगे तब भी रहेंगे। इसी को शास्त्रीय भाषा में कहते हैं कि वे अज्ञात सत्ता वाले पदार्थ हैं अर्थात् हम नहीं जानते तब भी रहते हैं। स्वप्न में ऐसा नहीं है। इसलिए वहाँ रथ को, घोड़ों को और सड़क को हम ही बनाते हैं। 'सृज' धातु का भाव है, जो हमारे में है उसको हम प्रकट कर देते हैं। हमारे अंतःकरण में जो संस्काररूप से रथ आदि हैं उन्हीं को हम स्वप्न में प्रकट कर देते हैं। वे रथ, जब तक हम देख रहे हैं तब तक तो हैं, जैसे ही हमारा देखना खत्म हुआ, वे नहीं हैं। ऐसे अस्थिर वे पदार्थ हैं। कई बार यह भ्रम होता है कि प्रातिभासिक पदार्थों को 'नहीं है' माना जाये, किंतु तथ्य है कि जब तक प्रतिभास है तब तक पदार्थ हैं। प्रतिभास के आगे-पीछे नहीं हैं, परंतु प्रतिभास-काल में हैं। स्वप्न में भी पदार्थों का तो भेद है, घट अलग है, पट अलग है, परन्तु उनका ज्ञान एक ही है, उसके अन्दर फर्क नहीं है। स्थिर और अस्थिर वेद्य को लेकर ही जाग्रत् व स्वप्न में भेद है। स्वप्न के पदार्थों का भी जो ज्ञान है

वह एकरूप ही है, जाग्रत् हो या स्वप्न, दोनों को जानने वाला ज्ञान अलग-अलग नहीं है, एक ही है। प्रतिभास से भिन्न काल में रहना–यह जाग्रत्-पदार्थों की विशेषता है और प्रतिभास से भिन्न काल में नहीं रहना स्वप्न-पदार्थों का विशेषता है। इसी को यहाँ स्थायी और अस्थायी कहा है। इनका मतलब ज्यादा देर रहना या कम देर रहना नहीं समझना! सामान्य भाषा में स्थायी का यही अर्थ प्रसिद्ध है, लेकिन ऐसी अस्थायिता तो जाग्रत् पदार्थ के अन्दर भी होती है। घड़ा वना और फूट गया, फिर स्थायी कैसे रहा? और सपने में भी गिलास में पानी डालने तक घड़ा रहता ही है। इसलिये स्थायी अस्थायी का मतलब ज्यादा देर या कम देर रहना नहीं है। भानकाल के आगे-पीछे भी रहना स्थायिता है और ज्ञान के आगे-पीछे नहीं रहना अस्थायिता है।

'एकरूपा' अर्थात् जाग्रत् में जैसा ज्ञान होता है वैसा ही स्वप्न में भी ज्ञान होता है। यदि ज्ञान में भेद होता तो स्वप्न-काल के अन्दर अन्य प्रकार का ज्ञान होता और जाग्रत् में अन्य प्रकार का होता। तब झट पता लग जाता कि हम स्वप्न में हैं। किंतु ऐसा कोई तरीका तुम्हारे पास नहीं है जिससे तुम निश्चित रूप से कह सको कि स्वप्न देख रहे हो। स्वप्न काल में तो वैसा ही दीखता है जैसा जाग्रत् होता है। स्वप्न से उठने के बाद यह पता लगता है कि स्वप्न के पदार्थ अब नहीं हैं। और जाग्रत् के पदार्थ जैसे छोड़कर हम स्वप्न में गये थे वैसे ही यहाँ मौजूद हैं, जहाँ बत्ती थी वहीं हाथ जाता है और बत्ती वहीं मिलती है। स्वप्न में ऐसा नहीं होता कि घड़े वहाँ छोड़ आये थे, इसलिये वापिस वहाँ देखना शुरू करें। स्वप्न और जाग्रत् के अन्दर ज्ञानरूपी प्रकाश तो एक जैसा ही है, संवित् एक जैसी है। 'एकरूपा' यह हेतुगर्भ विशेषण है अर्थात् एकरूप होने से संवित् एक ही है।।४।।

तीसरा अनुभव प्राणिमात्र को होता है सुषुप्ति का। जाग्रत् में परमेश्वर के बनाये हुए स्थिर विषयों का अनुभव है, स्वप्न में हमारे बनाये हुए अर्थात् अंतःकरण के संस्कारों से बनाये हुए विषय हैं, लेकिन सुषुप्ति के अन्दर तो कोई विषय नहीं हैं। विचार दृष्टि से वहाँ भी विषय बताते हैं–

सुप्तोत्थितस्य सौषुप्ततमोबोधो भवेत् स्मृतिः।
सा चावबुद्धविषयाऽवबुद्धं तत् तदा तमः।। ५।।

सोकर उठे को जो सुषुप्ति में रहे अज्ञान का पता चलता है, वह स्मृति है और याद उसी की आती है जो अनुभव किया हो अतः निश्चित है कि सुषुप्ति में अज्ञान अनुभव का विषय था।

जब जाग्रत् का अनुभव करते-करते इन्द्रियाँ थक जाती हैं तब स्वप्न में चली जाती हैं। जाग्रत् में मन और इन्द्रियाँ दोनों काम करती हैं। जब इन्द्रियाँ थक जाती हैं और मन थका नहीं है तब इन्द्रियों का काम तो बन्द हो जाता है, बाहर के पदार्थों से सम्बन्ध नहीं रहता, पर मन नहीं थका है इसलिये मन वहाँ काम करता है। मन जाग्रत् में भी काम करता है। इन्द्रियों ने रूप रस आदि को जाना, उससे जो हम विषय का ग्रहण करते हैं कि 'यह देवदत्त

है,' वह मन का कार्य है। देवदत्त के रूप आदि को तो आँख आदि से जाना परन्तु 'देवदत्त' को मन के कारण जाना। क्योंकि मन के अन्दर पड़े हुए संस्कार हैं कि इस प्रकार के रूप वाला देवदत्त है इसलिए निर्णय होता है कि मैंने देवदत्त को देखा। जिसके ऐसे संस्कार नहीं हैं वह यही पूछता है कि यह कौन है। कहने को हम कहते हैं कि 'हमने देवदत्त को आँखों से देखा,' लेकिन दूसरा भी तो आँख से ही देवदत्त को देख रहा है, पर उसे कहाँ पता चलता है कि यह देवदत्त है? देवदत्त को जानने के लिए संस्कार अपेक्षित हैं। मन ही जाग्रत् में काम नहीं कर रहा है, इन्द्रियाँ भी काम कर रही हैं। जाग्रत् के प्रत्यक्षभ्रमों में भी इन्द्रियों का योगदान रहता है। जाग्रत् काल में 'यह पड़ा हुआ है' इसको आँख ने देखा लेकिन उसको रस्सीरूप से नहीं पहचाना, इसलिये 'यह साँप है' ऐसा मन ने संस्कारों के कारण बनाया। जाग्रत् में भी जीव विषय बना रहा है परन्तु इन्द्रियों और मन दोनों के प्रयोग से बना रहा है। स्वप्न-काल में, चूँकि इन्द्रियाँ थक गई हैं इसलिये केवल मन ही बना रहा है।

जब मन थक गया, लीन हो गया, तब सुषुप्ति आ गई। मन और इन्द्रियों के द्वारा ही हम संसार के साथ सम्बन्ध वाले बनते हैं। मन और इन्द्रियाँ दोनों नहीं रहे तो हम अकेले ही रह गये, उसी का नाम सुषुप्ति है। सोकर उठे, अर्थात् जाग्रत् काल में आ गये। नींद में कुछ नहीं जान रहे थे, क्योंकि जानने वाला और जिसके द्वारा जाना जा सके वे मन और इन्द्रियाँ वहाँ नहीं थे। उठ गये अर्थात् जाग्रत् में आ गये। तब स्मृति आती है 'इतनी देर तक मैंने कुछ नहीं जाना।' जाग्रत् में स्मरण होता है कि मैंने कल मन्दिर देखा था। स्मृति कब होती है? जब मैंने कल मन्दिर देखा था तभी आज स्मृति होगी। यह नियम है 'या या स्मृतिः सा अनुभवपूर्विका' जिसका पहले अनुभव हुआ हो उसी का स्मरण होता है। जैसे स्मरण है मैंने मन्दिर देखा था, वैसा ही स्मरण है कि नींद में मैंने कुछ नहीं देखा था। इससे निर्णय होता है कि सुषुप्ति में 'कुछ नहीं' जाना था; इस 'कुछ नहीं' को *जानना* ही अज्ञान है। सुषुप्ति काल के अन्दर 'कुछ नहीं जानना'—यह जाना गया था। यही तम का बोध है। 'मैंने कुछ नहीं जाना था' इस स्मृति से पता लगता है कि *उस समय* मैं कुछ नहीं *जान रहा* था। सुषुप्ति काल में 'मैंने कुछ नहीं जाना' अर्थात् 'कुछ न जानने का' अवश्य ज्ञान हुआ था अन्यथा इस समय स्मरण नहीं होता। न जानने का ज्ञान—यह बात बड़ी विचित्र लगती है। परन्तु यह ज्ञान बता देता है कि ज्ञान दो तरह का है : ज्ञान नहीं था अर्थात् जो ज्ञान विषयों को जानता है वह तो नहीं था क्योंकि किसी विषय को नहीं जाना, परन्तु जो ज्ञान केवल विषयों को जानने वाला नहीं, वह वहाँ भी था। असल में वहाँ विषयाभाव है अर्थात् सुषप्ति-काल के अन्दर कोई विषय नहीं था इसलिये *विषय का* ज्ञान भी नहीं था।

ज्ञान के लिए हमारे कई साधन हैं। एक तो इन्द्रियों से ज्ञान होता है; आँख रूप को, कान शब्द को जानता है। गहरी नींद के अन्दर विषयों का ज्ञान था नहीं, इन्द्रियों से ज्ञान हुआ नहीं, इसलिये उसे प्रत्यक्ष कह नहीं सकते। ज्ञान के अन्य साधन अनुमान, अर्थापत्ति आदि, किसी-न-किसी चीज को प्रत्यक्ष से देखकर ही प्रवृत्त होते हैं। हमने पहाड़ पर धुआँ

देखा तब अनुमान होगा। जब वहाँ इन्द्रियाँ और विषय हैं ही नहीं तो लिंग आदि का भी ग्रहण नहीं है। इसलिये प्रत्यक्ष आदि के द्वारा जो ज्ञान होता है वह वहाँ है नहीं, उससे भिन्न ही ज्ञान है। वह एक-जैसा रहने वाला ही ज्ञान है। इसीलिये श्रुति कहती है–'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति' उस समय सद्ब्रह्मरूप से ही स्थिर रहता है। अज्ञान को जान रहे हो, इसीलिये उसको साक्षिरूप ज्ञान कहते हैं। यहाँ केवल अज्ञान के ज्ञान को कहा है परन्तु अन्यत्र शास्त्रकारों ने वहाँ सुख की स्थिति को माना है क्योंकि 'मैं सुख से सोया,' यह भी स्मरण होता है! और, 'कौन सुख से सोया'? 'मैं सुख से सोया' अर्थात् अहमर्थ भी वहाँ है। यह अंतःकरण-वृत्तिरूप अहं नहीं वरन् अविद्यावृत्तिरूप है। ये दोनों ही वृत्तियाँ यहाँ कही नहीं हैं लेकिन समझ लेना। जो एक-जैसा रहने वाला ज्ञान है वह अहमर्थ है क्योंकि 'मैं' रूप से प्रतीत होता है। इस ज्ञान और जाग्रत् स्वप्न के अन्दर जो पदार्थों का ज्ञान हो रहा था उसमें कोई फर्क नहीं है। सुषुप्ति-काल में अज्ञान को जाना गया। इस प्रकार जाग्रत् में स्थिर विषयों का, स्वप्न में अस्थिर विषयों का और सुषुप्ति में अज्ञानरूप विषय का ज्ञान होता है, इनमें विषयों का ही फर्क है, ज्ञान एक ही है–यह स्पष्ट हो जाता है।। ५।।

ज्ञान की उक्त अभिन्नता का निगमन करते हैं–

स बोधो विषयाद् भिन्नो न बोधात् स्वप्नबोधवत्।
एवं स्थानत्रयेप्येका संवित् तद्वद् दिनान्तरे।। ६।।

स्वप्न-ज्ञान की तरह सुषुप्ति-ज्ञान भी विषय-भेदवश ही भिन्न कहा-समझा जाता है, न कि ज्ञान-रूपता में कोई भेद है। इस प्रकार तीनों अवस्थाओं में ज्ञान एक ही है, ऐसे ही अगले-अगले दिन भी ज्ञान एक ही है।

सुषुप्ति काल में अज्ञान का ज्ञान है। वहाँ किसे जाना? अज्ञान को जाना। ज्ञान और अज्ञान तो कभी एक हो नहीं सकते, इसलिये सुषुप्ति काल का ज्ञान अपने विषय अज्ञान से भिन्न है लेकिन ज्ञान से भिन्न नहीं है। जाग्रत् काल के अन्दर स्थायी विषय हैं, स्वप्न काल में विषय अस्थायी हैं। विषयों के भेद से तो जाग्रत् व स्वप्न भिन्न हुए, परन्तु ज्ञान दोनों जगह एक है। उसी प्रकार से विषयों के ज्ञान के अभाव का ज्ञान विषयों के ज्ञान से भिन्न है। विषय अलग हो गये लेकिन ज्ञान अलग नहीं हुआ। जैसे जाग्रत्-स्वप्न का ज्ञान जाग्रत् और स्वप्न के विषयों के भिन्न होने से भिन्न है, ज्ञान एक ही है, इसी प्रकार से विषयों के अभाव का अर्थात् अज्ञान का जो ज्ञान है वह भी जाग्रत्-स्वप्न के ज्ञान से एक ही है। जो जाग्रत् में है वही स्वप्न में है, वही सुषुप्ति में है। हम लोगों के जो तीनों अनुभव हैं उनके अन्दर विषयों का भेद है, ज्ञान का भेद नहीं है, ज्ञान एक ही है। इस प्रकार जो हम लोगों के तीनों स्थान अर्थात् जाग्रदादि अवस्थाएँ रोज के अनुभव हैं, उन सब के अन्दर एक ही संवित् है। जैसे इन तीनों अवस्थाओं के अन्दर ज्ञान की एकरूपता है वैसे ही आज के जाग्रत् के विषय से कल के जाग्रत् के विषय अलग होंगे। आज का विषय है, ठण्ड पड़

रही है, कल का विषय होगा गर्म हवा चल रही है। विषयों के भेद के कारण ज्ञानों में भेद है, ज्ञान तो जैसा आज है वैसा ही कल भी है। जैसे आज और कल में ज्ञान का फर्क नहीं, वैसे ही पूर्व में चले जाओ तो सृष्टि का जो आदि क्षण और आगे चले जाओ तो प्रलय का जो अंतिम क्षण, उन सब के अन्दर संवित् एक ही है, उसमें कोई फर्क नहीं पड़ना है, विषय बदलते जायेंगे।। ६।।

संसार में जितने पदार्थ हैं वे एक-दूसरे से भिन्न हैं, परन्तु उन सबसे जिस ज्ञान का सम्बंध है वह एक ही है। वह ज्ञान जैसा जाग्रत् में एक है वैसा ही स्वप्न तथा सुषुप्ति में एक है, जैसा आज है वैसा ही कल परसों है। उसे सारे काल में एक समझाते हैं–

मासाब्दयुगकल्पेषु गतागम्येष्वनेकधा।
नोदेति नास्तमेत्येका संविदेषा स्वयंप्रभा।। ७।।

विगत एवं आगामी नाना प्रकार से बँटे महीने, साल, युग, कल्पों में एक स्वप्रकाश ज्ञान है जो न उदय होता है, न अस्त होता है।

तीस दिन बीतते हैं तो एक मास हो जाता है। जैसा चैत्र मास में ज्ञान है वैसा ही वैशाख मास में है। बारह मास होते हैं तो अब्द अर्थात् वर्ष हो जाता है। ज्ञान जैसा इस वर्ष में है वैसा ही दूसरे वर्ष में है। वर्षों को मिलाकर 'सत् युग' आदि युग हो जाते हैं। हरेक युग में ज्ञान वैसा ही है। फिर ब्रह्म कल्प, वराह कल्प आदि सब कल्पों में भी ज्ञान एक ही है। इस प्रकार से संवित् की काल से परिच्छिन्नता नहीं होती, यह स्पष्ट हो जाता है। गत अर्थात् आजसे पहले के दिन, मास कल्प आदि और आगे आने वाले मास, अब्द इत्यादि सब तो अनेक प्रकार के हैं। वराह कल्प ब्रह्मकल्प नहीं, ब्रह्म कल्प वराह कल्प नहीं है। इस प्रकार ये सब तो बदलते रहते हैं। प्रभव संवत्सर विभव संवत्सर नहीं है, वे भी सब अलग-अलग हैं, चैत्र वैशाख नहीं है, वे मास भी सब अलग-अलग हैं, इस प्रकार ये सब चीज़ें तो अलग-अलग अनेक प्रकार की हैं परन्तु उन सब में ज्ञान एक ही है।

चूँकि ज्ञान एक ही है इसलिये न उदय होता है और न अस्त होता है। उदय अर्थात् उत्पन्न नहीं होता है। 'उदेति' का प्रयोग इसलिये किया कि जैसे सूर्य स्थिर बना रहता है और हम लोगों को उदय होता हुआ प्रतीत होता है, वस्तुतः उदय नहीं होता। 'उत्' मायने ऊपर और 'एति' मायने जाता है। ऊपर को जाता है ऐसा प्रतीत होता है परन्तु सूर्य जैसा है वैसा ही है। इसी प्रकार ज्ञान जैसा है वैसा ही है। मास, अब्द इत्यादि बदलते रहते हैं इसलिये ज्ञान के अन्दर प्रतीति हो जाती है कि ज्ञान हुआ। प्रसिद्ध सूर्य के बारे में प्रतीति यह होती है कि सूर्य अब पैदा हो रहा है। सवेरा होता है तो कहते हैं 'यह बालसूर्य है,' जब शाम को सूर्य अस्त होता है तब कहते हैं 'सूर्य जीर्ण अवस्था में पहुँच गया'। परन्तु ऐसा होता नहीं है, सूर्य जैसा है वैसा ही रहता है। इसी प्रकार ज्ञान का न उदय होता है

अर्थात् ज्ञान न उत्पन्न होता है और न यह ज्ञान अस्त ही होता है अर्थात् ज्ञान नष्ट भी नहीं होता। नश् अदर्शने धातु है। सूर्य जब अस्त होता है तब हमको नहीं दीखता। सूर्य का दृष्टांत वैदिक दृष्टि से समझना; रात्रि में भी सूर्य की उपस्थिति वेदों में बताई है। यदि सूर्य रात्रि में न रहता तो उल्लू को कैसे दिखाई देता! रात्रि में उल्लू को सब चीजें दिखाई देती हैं तो किसी के प्रकाश में ही दिखाई देती हैं। इसलिये प्रकाश और सूर्य की उपस्थिति रात्रि में भी होती ही है इसलिये जब रात्रि में बच्चा पैदा होता है तब भी सूर्य की स्थिति नौवें, दसवें घर में आ जाती है। रात्रि में वह नीचे है इसलिये दीख नहीं रहा है। शाम से लेकर सवेरे तक सूर्य की स्थिति सातवें घर से बारहवें घर तक है। तब हम लोगों को सूर्य नहीं दीखता, अतः सूर्य नहीं है नष्ट हो गया—ऐसा लगता है। परन्तु जब वैदिक या आधुनिक दृष्टि से देखें तो, सूर्य हमें नहीं दीख रहा है, परन्तु है जरूर। इसी प्रकार, जिस समय हमको सुपुप्ति में लगता है कि कोई ज्ञान नहीं होता, तब भी विचार से सिद्ध होता है कि उस समय ज्ञान था, तभी उसकी स्मृति जाग्रत् काल में होती है। इसलिये ज्ञान भी न उत्पन्न होता है, न अस्त होता है।

'गत में उदय नहीं होता था' ऐसा कहना चाहिये था लेकिन 'है' शब्द का प्रयोग किया। आगे आने वाले के लिये भी भविष्य काल का प्रयोग होना चाहिये था, लेकिन यहाँ वर्तमान का प्रयोग किया है। जो चीज हमेशा होती है उसके लिये भी वर्तमान काल का प्रयोग होता है। उसी दृष्टि से यहाँ है। इसलिये 'उदय नहीं होता है' का मतलब हुआ कि वह पहले कभी नहीं था, ऐसा नहीं था। तार्किकों की भाषा में कह सकते हैं कि कभी भी इसका प्रागभाव नहीं है और ध्वंस नहीं है अर्थात् आगे भी कभी ऐसा नहीं होगा कि यह नहीं हो। न इसका प्रागभाव और न प्रध्वंसाभाव है। संवित् ऐसी क्यों है? उदय होने का मतलब है कि किसी समय न हो और फिर हो अर्थात् जो पहले न होकर फिर हो, उसी को कहेंगे कि यह संवित् पैदा हुई। उस समय संवित् नहीं है यह भी तभी सिद्ध हो जब संवित् हो, अन्यथा 'नहीं थी' यह कैसे कह सकते हो? तुमने उसका अभाव *जाना* तभी कह सकते हो कि 'नहीं थी' और जानोगे तो ज्ञान के द्वारा ही। इसी प्रकार संवित् आगे नहीं रहेगी, यह जानोगे तभी कहोगे और जानोगे तो संवित् रह ही गई!

संवित् को 'एका' कहा ताकि ज्ञानवानों के भेद से ज्ञानों में भेद का भ्रम न हो। जैसे विषय-भेद से ज्ञान भिन्न नहीं, वैसे जिन्हें हो रहा है उन आश्रयों के भेद से भी ज्ञान विभिन्न नहीं। सभी ज्ञाताओं को होने वाला भी ज्ञान एक ही है न कि विभिन्न। पुरुपभेद के बावजूद संवित् का भेद नहीं है। जैसे अवस्थाएँ ही बदली, न कि ज्ञान, वैसे अन्तःकरण ही अनेक हैं, न कि ज्ञान। 'एषा' अर्थात् यह प्रत्यक्षसिद्ध है। ज्ञान की सिद्धि सबको साधारण रूप से विद्यमान है। जैसे 'ज्ञान' शब्द का प्रयोग है वैसे ही ज्ञान जो व्यवहार होता है वह भी सब पुरुषों का एक जैसा ही होता है। इसलिये संवित् हमेशा एकरूप है और 'एषा' अर्थात् जैसे हमें प्रत्यक्षसिद्ध है वैसे ही दूसरे को भी प्रत्यक्षसिद्ध है। इस प्रकार, ज्ञान में काल का

परिच्छेद नहीं और पुरुषों का परिच्छेद भी नहीं है। ज्ञान सर्वव्यापक है तो दो पुरुषों के बीच में ज्ञान है या नहीं है? आकाश और दीवार के बीच में ज्ञान है या नहीं है? वहाँ ज्ञान की प्रतीति न होने पर भी ज्ञान है। ज्ञान *की* प्रतीति अंतःकरण में होती है। जहाँ अंतःकरण नहीं है, वहाँ प्रतीति नहीं है, परन्तु ज्ञान है अवश्य। हम चलकर जाते हैं तो ज्ञान सब जगह कायम रहता है, जहाँ-जहाँ हमारा शरीर और उसमें विद्यमान अंतःकरण जाता है वहाँ-वहाँ ज्ञान का प्रकाश होता जाता है। जैसे घट को यहाँ से वहाँ ले जायें तो रास्ते में आकाश रहता ही है, अतः आकाश की सर्वव्यापकता स्फुट हो जाती है, इसी प्रकार अंतःकरण जहाँ जाता है वहाँ सर्वत्र ज्ञान *का* उसके अन्दर प्राकट्य हो जाता है, अभिव्यक्ति हो जाती है, इसलिये देशगत परिच्छेद उसमें नहीं है। अतः संवित् का अत्यंताभाव भी नहीं है। तीनों ही अभाव इस संवित् के नहीं हैं। चूँकि ज्ञान एक ही है इसलिये अन्योन्याभाव की तो बात ही नहीं है।

ज्ञान करता क्या है? हर चीज का भासक है, हर चीज की प्रतीति कराता है। संवित् जो सब का भान कराती है, उसका भान कैसे होता है? जो घट-पट आदि को 'जानता' है उस ज्ञान का ज्ञान कैसे होता है? यदि कहें कि ज्ञान अपना ही प्रकाश कर देता है तो इसमें कर्तृ-कर्म-विरोध हो जाता है अर्थात् जो प्रकाश करने वाला वही प्रकाशित होने वाला नहीं हो सकता ऐसा तार्किक आदि को मान्य है। यदि दूसरा ज्ञान मानो तो 'एका' संवित् कहना नहीं बनेगा। किं च दूसरे ज्ञान को प्रकाशित करने वाला तीसरा आदि मानने से अनवस्था हो जायेगी। अगर कहो कि ज्ञान की प्रतीति ही नहीं होती है तो जगत् में किसी चीज की प्रतीति नहीं होगी! इसलिये कहा 'स्वयंप्रभा'। संवित् स्वयंप्रभारूप है, किसी दूसरे से यह प्रभा वाली नहीं होती।

'नोदेति नास्तमेति' से सूर्य का दृष्टांत दिया। सूर्य अपनी किरणों के द्वारा घट-पट आदि का प्रकाश करता है, सब चीजों को दिखा देता है। यदि वही किरणें वापस जाकर सूर्य को प्रकाशित कर दें तब तो कह सकते थे कि सूर्य अपनी किरणों के द्वारा प्रकाशित होता है, लेकिन ऐसी बात तो है नहीं। इसलिये यह नहीं कह सकते हैं कि सूर्य अपने आपको प्रकाशित करता है। इसलिये सूर्य सबको प्रकाशित करते हुए ही प्रकाशरूप होने के कारण 'प्रकाशित' या 'अप्रकाशित' नहीं है। सूर्य को छोड़कर बाकी चीजें प्रकाशित या अप्रकाशित हैं पर सूर्य न प्रकाशित है, न अप्रकाशित है। ज्ञान की ऐसी ही स्वप्रकाशता बताई। दूसरे से प्रकाशित न होते हुए अप्रकाशित न होना ही स्वप्रकाशता है। सूर्य का दृष्टांत स्वयंप्रभता के बारे में स्पष्टता ले आता है। यह संवित् स्वयंप्रभ है अर्थात् किसी से प्रकाशित, ज्ञात न होते हुए अप्रकाशरूप (अज्ञानरूप) नहीं है। इस प्रकार, संवित् सब कालों में, सब देशों में और सब व्यक्तियों में एक रहती है। यह हमेशा सद्रूप ही है और कभी भी अप्रकाशमान नहीं है। उपनिषदों ने इसलिये स्पष्ट रूप से बताया कि न परमात्मा जाना जाता है और न नहीं जाना जाता है। संवित् सद्रूप और चिद्रूप अर्थात् स्वयंप्रकाश है।। ७।।

अब संवित् की आनन्दरूपता सिद्ध करते हैं। ज्ञान हमेशा एक-जैसा है इसलिये सद्रूप

है, हमेशा है, सब जगह है, हर वस्तु में अर्थात्, हर पुरुष के अन्दर है। सत्-चिद्रूपता तो जल्दी समझ में आती है, इसकी आनन्दरूपता समझना ज़रा कठिन है। अन्त के आनन्द-प्रकरणों में इसका विस्तार करेंगे। यहाँ तो इसी आनन्दरूपता को संक्षेप में सिद्ध करते हैं–

इयमात्मा परानन्दः परप्रेमास्पदं यतः।
मा न भूवं हि भूयासमिति प्रेमाऽऽत्मनीक्ष्यते।। ८।।

यह ज्ञान आत्मा और सर्वाधिक आनन्द है, क्योंकि सर्वाधिक प्रिय है। 'ऐसा न हो कि मैं न रहूँ वरन् मैं बना ही रहूँ,' यों आत्मा के प्रति प्रेम अनुभूयमान है।

संवित् की आनंदरूपता कैसे सिद्ध करते हैं? आनन्द वह चीज है जो सबको प्रिय लगती है, और जो चीज प्रिय लगती है वह न रहे यह किसी को अच्छा नहीं लगता। दोनों बातें समझ लेना, पहली तो, जो चीज आनन्दरूप है वही प्रिय लगेगी। कोई भी प्राणी दुःख से प्रेम नहीं करता। कहोगे, लोग तपस्या करते हैं, मेवे की बढ़िया खिचड़ी बनी है परन्तु एकादशी का दिन है, नहीं खाते। किंतु ऐसा नहीं है कि उन्हें वह अच्छी नहीं लगती है। व्रत में न खाने के फलस्वरूप स्वर्ग में यथेष्ट खाने को मिलेगा–इस निश्चय से ही वे तप करते हुए भोगत्याग करते हैं। भोग से प्रेम न हो, ऐसा नहीं। जिस चीज में आनन्द की प्रतीति होती है उससे प्रेम होता है। कैसे पता लगे कि किस चीज से प्रेम है? 'यह चीज हमसे कभी भी दूर न हो' जहाँ ऐसी इच्छा हो, वहाँ पता लग जाता है कि उस चीज से प्रेम है। इसको आत्मा में घटा सकते हैं : अपना आत्मा हरेक को प्रिय है।

याज्ञवल्क्य महर्षि ने मैत्रेयी को उपदेश करते हुए यही प्रकार अपनाया। उन्होंने बताया कि लगता तो है कि पत्नी को पति प्रिय है परन्तु शादी करने के बाद पति रोज सवेरे उठकर पत्नी को दो चाँटे मारे, और वह जितना भी बढ़िया भोजन बना कर लाये, उठाकर फैंक दे, हमेशा गाली देकर बात करे, तो क्या वह पति प्रिय रह जाता है? पति की सेवा तो वह करती रहेगी क्योंकि उसमें कर्तव्यबुद्धि है कि पति की सेवा करेगी तो आगे जन लोक में जाकर उसे बहुत सुख मिलेगा। वहाँ से आकर फिर आदमी होकर पैदा होगी, लड़की नहीं बनेगी, इसलिये सेवा करती रहती है। किन्तु सुख उसे आगे मिलेगा, पति तो प्रिय नहीं रह गया। याज्ञवल्क्य महर्षि आगे कहते हैं कि पति को पत्नी बड़ी प्रिय है, परन्तु रोज सवेरे जली रोटी और शाम को जली दाल खिलाये; पति कहे कि घर साफ करो तो कहे 'साफ तो पड़ा है, तुम मारवाड़ में रहते हो, यहाँ तो धूल आयेगी ही, रोज-रोज कौन झाड़ू लगाये' इस प्रकार कठोर वचन बोले तो क्या वह पत्नी प्रिय रहती है? वह पत्नी का भरण तो करता रहेगा, पत्नी के प्रति वफादार भी रहेगा क्योंकि ऐसा करने से उसे स्वर्ग आदि की प्राप्ति होगी। वह भर्ता है, भरण का काम करेगा ही, परन्तु पत्नी प्रिय नहीं रहेगी। इसी प्रकार हीरे की अँगूठी पहनकर रेल में जा रहे हो। एक आदमी आकर बन्दूक दिखाकर कहता है 'यह मुझे

दे दो, नहीं तो गोली मारता हूँ,' तब क्या उसे अपने पास रखते हो या उसे देकर अपनी जान बचाते हो? जब तक हीरा सुख देने वाला था तब तक प्रिय था। जब दुःख देने वाला हो गया तब प्रिय नहीं रह गया। इसलिये पति, पत्नी, धन इत्यादि सबकी प्रियता तभी तक है जब तक हमको दुःख देने वाले नहीं हो जायें। इस प्रकार सब चीजें हमको अपने लिये प्रिय हैं। अतः आत्मा की आनन्दरूपता सर्वाधिक प्रेम का विषय होने से है। 'इयमात्मा' यह जो संवित् है यही आत्मा है।

एक शंका होती है कि आत्मा का विवेचन करते, संवित् या ज्ञान से क्यों प्रारम्भ किया? तत्त्व-विवेक में सीधे ज्ञान को क्यों लिया? समाधान है कि आत्मा के स्वरूप के विषय में भिन्न-भिन्न लोगों को भिन्न-भिन्न भ्रांतियाँ हैं। कोई शरीर को आत्मा मानता है, कोई इन्द्रियों को, कोई प्राण को, कोई मन को आत्मा मानता है, इत्यादि; इस प्रकार आत्मा के विषय में मतभेद हो जाता है। ज्ञान ऐसा है जिसके विषय में कोई मतभेद नहीं है, सब देश, सब काल, सब वस्तुओं में ज्ञान की एकरूपता सीधी समझ में आती है। अतः संवित् को इस प्रकार सत्चिद्रूप बताकर कह दिया कि संवित् ही आत्मा है।

सब चीजें अपने लिये प्रिय होती हैं अतः मैं, आत्मा, आनन्दरूप है, परानन्दरूप है। उसमें कारण दे दिया कि यह परप्रेमास्पद है। जो प्रेमास्पद होता है वह आनन्दरूप होता है। इसलिये आत्मा आनन्दरूप है। यह प्रेम स्वाभाविक है इसलिये परम आनन्दरूप है। दूसरी चीज़ें इसकी अपेक्षा करके प्रेमास्पद होती हैं अन्यथा इसको आनन्ददायक न होने पर भी चीजें प्रिय बनी रहतीं!

यह परप्रेमास्पदता कैसे पता लगती है? 'मा न भूवं हि भूयासम्' कभी ऐसा न हो कि मैं न रहूँ, मेरा अभाव कभी न हो यह स्थायी इच्छा सबकी है। सारे बड़े-बड़े अस्पताल, वैद्य इत्यादि, इसलिये हैं कि हम मर न जायें। दिल्ली के अन्दर बहुत से लोग कुतुबमीनार पर चढ़कर गिर कर मरते देखे जाते हैं, वे ऐसा किस लिये करते हैं? उनमें प्रायः दुःखी होकर मानते हैं 'मर जाऊँगा तो उस दुःख से छूट जाऊँगा'। जो बिलकुल कूदने को तैयार खड़ा है, उसी समय उसका मित्र कहे 'मत कूदना! जिसके वियोग में तू दुःखी है वह लड़की मान गई है,' तो फिर नहीं कूदता! लगता तो यह है कि वह *मरने* जा रहा है, पर वास्तव में मरने नहीं जा रहा, कोई-न-कोई दुःख है जिससे छूटने जा रहा है। 'कभी ऐसा न हो कि हम न हों, हमेशा हम रहें ही'—यह सभी चाहते हैं। जो चीज हमसे अलग कभी न हो—ऐसी लगे वह हम को प्रिय ही होगी और जहाँ प्रेम है वहाँ आनन्द है। जिसके साथ हमेशा रहना चाहें वह प्रेम का विषय अतः आनन्दरूप होता है। इस प्रकार से आत्मा की परानन्दरूपता सिद्ध की। ऐसी संवित् में देश-काल-वस्तु का परिच्छेद नहीं है। इसलिये संवित् ही आत्मस्वरूप है। इस से संवित् की सच्चिदानन्दता सिद्ध हो जाती है।

वेद में ऐसा वचन आता है 'आत्मा वै पुत्र नाम,' वहाँ लगता है कि पुत्र को ही आत्मा कहा है। परन्तु पुत्र को आत्मा इसलिये कहा है कि वह आत्मा की तरह प्रिय है। वह आत्मा

है–यह मतलब नहीं है बल्कि यह कि जैसे आत्मा प्रिय है वैसे पुत्र प्रिय है। प्रिय होने पर भी पुत्र *परम* प्रिय नहीं होता। जब अपने शरीर पर आपत्ति आती है, घर में जबर्दस्त आग लग जाती है, आदमी भागकर बाहर जाता है, बाहर पहुँच कर चिल्लाता है कि 'छोटा बच्चा अन्दर पड़ा हुआ है, कोई निकालो'। पूछो 'तुम क्यों नहीं उठा लाये?' प्रिय है इसलिये चिल्ला तो रहा है परन्तु चूँकि शरीर को अपना आत्मा समझता है इसलिये अपने शरीर को बचाने के लिये पहले भागा। ठीक इसी प्रकार धन आदि को भी अपने शरीर की रक्षा के लिये छोड़ देता है। जब तक शरीर को आत्मा समझता है तब तक स्थूल शरीर की रक्षा के लिये प्रवृत्ति करता है। जब शास्त्र के द्वारा जानता है कि 'यह स्थूल शरीर तो मर जायेगा, सूक्ष्म शरीर बना रहेगा और वह मैं हूँ,' तब एकादशी को भूखा रहकर स्वर्ग जाने की तैयारी करता है क्योंकि समझता है 'मैं ही स्वर्ग जाऊँगा'। इसलिये जिसे हमने 'मैं' समझा वही प्रिय हो जाता है। मेरा-भाव जहाँ है वहाँ भी मैं का संबंध है, इसलिये प्रियता है। मेरा बेटा चुनाव में खड़ा हुआ है और मेरे दुश्मन का बेटा भी खड़ा है, दोनों का एक जैसा सुन्दर स्वभाव, एक जैसी योग्यता है, दोनों में कोई फर्क नहीं है। एक जैसे हैं तो दोनों में से कोई भी चुनाव में जीते, प्रसन्नता एक जैसी होनी चाहिये, परन्तु होती नहीं है, क्योंकि शत्रु के पुत्र पर मेरेपने का भाव नहीं है। मैं से सम्बन्ध वाला वह नहीं है। कभी भ्रम हो जाता है तो शत्रु की लड़की प्रिय लगती है पर तभी तक जब यह पता नहीं लगता कि शत्रु की पुत्री है। वह पता लगते ही वही प्रिय नहीं लगती। इसलिये आत्मा की परप्रेमास्पदता अनुभव से सिद्ध होती है।

एक शंका रह जाती है कि आत्मा यदि सुखरूप है तो हम सुख के लिये विषयों की तरफ क्यों दौड़ते हैं? आत्मा हमारे पास है फिर भी हम विषयों की तरफ सुख के लिये ही दौड़ते हैं इससे पता लगता है कि आत्मा सुखरूप नहीं है। संस्कृत में कहते हैं 'अक्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्'। यदि अपने घर की छत पर मधुमक्खी का छत्ता लगा है तो क्या मधु लेने के लिये कोई पहाड़ पर जायेगा! इसी प्रकार यदि आत्मा ही सुख है तो फिर क्यों सुख लेने के लिये हम सवेरे से शाम तक आठ घण्टे काम करते हैं और ज्यादा 'ओवर टाइम' मिले तो ज्यादा खुश होते हैं कि पैसा आयेगा तो सुख होगा? आत्मा सुखरूप है और संवित्रूप होने से प्रकाशरूप भी है परन्तु इसके ऊपर आवरण है, इसलिये इसका भान नहीं होता। आवरण है तो प्रेमास्पद नहीं होना चाहिए और प्रेमास्पद नहीं होगा तो इसकी आनन्दरूपता सिद्ध कैसे होगी? प्रेमास्पद हो तभी आनन्द सिद्ध हो। प्रेमास्पद कब हो? जब उसकी आनन्दरूपता का पता हो। मान लो पाँच साल के बच्चे के सामने अठारह साल की अत्यंत सुन्दर लड़की खड़ी हो तो लड़की दीखती तो उस बच्चे को वैसी ही है जैसी बीस साल के जवान लड़के को दीखती है, लेकिन उस लड़की के प्रति उस बालक की कोई प्रेमास्पदता की प्रतीति नहीं है। उस औरत में है तो सुख जो बीस साल वाले जवान को देखकर प्रतीत भी हो रहा है परंतु औरत दीखने पर भी उसका वह सुख बालक की दृष्टि

में ढका हुआ है क्योंकि उसके अंदर उसको विषय करने के लिये जो कामुकता चाहिये, वह नहीं है। ठीक इसी प्रकार चूँकि आत्मा की तरफ हमारी वृत्ति की एकाग्रता नहीं है, इसलिये उसकी आनन्दरूपता हमें प्रकट नहीं है। हमारा मन आत्मा को एकाग्र दृष्टि से विपय करने में असमर्थ है और उसके बिना उसकी आनन्दरूपता प्रकट नहीं होगी। जैसे बच्चे में कामुकता नहीं है तो कामिनी में भी उसको कोई आनन्दरूपता की प्रतीति नहीं होगी इसी प्रकार जब तक चित्त की एकाग्रता न हो तब तक आत्मा में सुख प्रकट नहीं होता। इसीलिये शास्त्रों में कहा 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा अनाशकेन' इन सब के द्वारा विविदिषा उत्पन्न होती है। जब विविदिषा उत्पन्न होकर चित्त उसमें एकाग्र हो जायेगा तब वह सुखरूपता प्रकट हो जायेगी। परन्तु सुखरूपता उसमें हमेशा है ही।

इस विविदिषा का रूप क्या होगा? उसकी जो आनन्दरूपता प्रकट नहीं है वह प्रकट हो जाये–यही विविदिषा है। लोक में भी रसगुल्ला जब तक जीभ पर नहीं रखा जायेगा तब तक उसकी सुखरूपता प्रतीत नहीं होगी। बहुत साल पहले हम कलकत्ते में किसी के घर ठहरे हुए थे। वहाँ एक अल्मारी थी जिसमें सेब, अंगूरों के गुच्छे, शरीफे आदि फल रखे हुए थे। हमने सोचा अगले दिन खाने को देंगे। वे सब ताले में बन्द थे। अगले दिन नहीं निकाले। किसी से कहा कि ये सब पड़े-पड़े सड़ जायेंगे, खाकर खत्म करो। वे लोग हँसने लगे, और कहा कि 'ये सब तो मिट्टी के बने हुए हैं, केवल दिखाने के लिये हैं।' उन फलों के प्रति प्रियता की बुद्धि थी परन्तु जब पता लग गया तो वे प्रिय नहीं रहे। खाने पर रसगुल्ले की सुखरूपता अभिव्यक्त होती है, देखकर सुख अभिव्यक्त नहीं होता है। चूँकि पहले खाया है इसलिये उसे देखकर भी प्रतीति भले होती है। आत्मा की सुखरूपता को शास्त्र से जान कर जब हम उसके लिये चित्त एकाग्र करते हैं तब उस एकाग्र चित्त में उसका आनन्दरूप अभिव्यक्त या प्रकट हो जाता है। इसलिये यहाँ पर उसकी सच्चिदानंदरूपता स्पष्ट की।। ८।।

आत्मा वह है जो नित्य और स्वप्रकाश हो। संवित् नित्य भी सिद्ध की गई और स्वप्रभ या स्वप्रकाश भी सिद्ध की गई। इसलिये आत्मा का लक्षण उसमें घटता है। अतः नित्य और स्वप्रकाश सिद्ध होने के बाद, 'इयमात्मा' कहा था। वह आत्मा सबको हमेशा प्रिय होता है क्योंकि लोग चाहते हैं कि यह हमेशा रहे और कभी ऐसा न हो कि यह न रहे। आत्मा अर्थात् अहम् अर्थात् 'मैं' इस अनुभव का जो विषय है। प्रश्न होता है कि भले ही आत्मा प्रिय है लेकिन और भी तो बहुत कुछ प्रिय है अतः केवल आत्मा को पाना ही पुरुषार्थ कैसे? उत्तर देते हैं कि परम आनंदरूप होने से आत्मलाभ का सर्वाधिक महत्त्व है–

तत् प्रेमात्मार्थमन्यत्र नैवमन्यार्थमात्मनि।
अतस्तत्परमं तेन परमानन्दताऽऽत्मनः।। ९।।

मैंसे अन्य के प्रति जो प्रेम वह मैं के लिये ही होता है जबकि मैं से प्रेम गैर-मैं के लिये नहीं हुआ करता। अतः मैं (आत्मा) के प्रति प्रेम ही परम है जिससे निश्चित है कि आत्मा परम आनन्द है।

पहले यह स्पष्ट करते हैं कि आत्मा को परमानन्दस्वरूप कहा है क्योंकि यह परप्रेमास्पद है। परम वह होता है जो अन्य के प्रति प्रमुख है और स्वयं अन्य के प्रति गौण नहीं है जैसे परमाचार्य वह है जो सब का आचार्य हो और उसका आगे कोई दूसरा आचार्य न हो। जब तक उसका गुरु जिन्दा होगा तब तक उसे परमाचार्य नहीं कह सकते। इसी प्रकार परमानन्द वह होगा जिसके लिये बाकी सब प्रिय हों और वह किसी अन्य के लिये *प्रिय* न हो। जो किसी भी चीज में प्रेम है, पुत्र, पत्नी, धन इत्यादि में जो प्रेम है, वह आत्मा के लिये है। प्रेम जब अन्य किसी चीज में होता है तो आत्मा के लिये ही होता है अर्थात् आत्मा के सुख के लिये ही अन्यत्र प्रेम होता है। प्रेम का मुख्य विषय सुख हुआ। अपने लिये जो चीज दुःखरूप होगी वह प्रिय नहीं होगी। जहाँ प्रतीति भी होती है कि दुःख से प्रेम कर रहा है वहाँ भी 'मुझे आगे सुख होगा,' यह मानकर ही कर रहा है। अन्यत्र चाहे कहीं प्रेम है, वह आत्मसुख के लिये ही है, आत्मप्रेम के अधीन ही है। पत्नी बढ़िया भोजन बनाकर देती है तब तो वह प्रिय है और रोज जली रोटी दे तो वह अपने दुःख का कारण होती है, वहाँ प्रेम या सुख-बुद्धि नहीं रह जाती। अतः दूसरे सब प्रेम तो नैमित्तिक हैं, आत्मा के निमित्त से हैं, परन्तु अपने से जो प्रेम है वह किसी दूसरे प्रयोजन से नहीं है। अपने से प्रेम क्यों करते हैं? क्यों पत्नी मुझे ही अच्छा भोजन दे तब प्रिय हो? इसका कोई जवाब नहीं है! इसलिये वह प्रेम नैमित्तिक नहीं हुआ। अन्य प्रेमाधीन न होना ही परप्रेमरूप होना है। आत्मा ऐसा है कि दूसरे सबके प्रति प्रधान है परन्तु स्वयं कभी गौण नहीं होता, किसी दूसरे के लिये होता नहीं। पर-प्रेमास्पद है अतः परम आनन्दरूप है।

इस बात को श्रुति भी कहती है–'न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति, आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति'। गायत्री की उपासना करने वाले सूर्य को अपनी इच्छा का विषय मानते हैं। परन्तु मारवाड जेठ के महीने में जब धूप खूब जोर से तप रही है तब सूर्यनारायण का दर्शन करते जाते हुए सूर्य के उपासक को कोई सुख नहीं होता! उससे कहो कि 'बाजार से पान ले आओ,' तो कहता है 'चार बजे ले आऊँगा।' ऐसा क्यों? क्योंकि तब उसे भी सूर्य प्रिय नहीं लगता। इसलिये कहा कि देवता भी देवता के लिये प्रिय नहीं है। इस प्रकार कई सम्बन्ध आदि की प्रियता को श्रुति ने स्पष्ट किया, अंत में कहा है कि कोई चीज ऐसी नहीं है जो अपने को दुःख देने वाली हो और प्रिय लगे। एक शंका उठती है कि जो धर्म नहीं जानता, वह अपने पुत्र को खून की जरूरत पड़ने पर अपना खून दे देता है। हो सकता है कि उससे कमजोर होकर वह खुद मर भी जाये। अपने शरीर की परवाह न करते हुए अपना अंग भी दे देता है। जिनके अन्दर कोई धर्म की बुद्धि नहीं है, वे ऐसा कैसे करते हैं? वहाँ लगता है कि पुत्र का प्रेम आत्मा के प्रेम से ज्यादा है। परन्तु विचार करके देखो

तो वहाँ भी उसका खून अथवा अपना गुर्दा या किडनी देने से उसका पुत्र बच जायेगा, उससे होने वाला जो संतोष और सुख है, उस अपने सुख के लिये ही वह ऐसा करता है। अथवा जहाँ देखा जाता है कि दूसरे पर करुणा करके अपने ऊपर ओढ़ने का कपड़ा भी दे देता है, वहाँ भी उसके दुःख की निवृत्ति से उसे स्वयं जो संतोष होता है कि 'मुझ से अच्छा काम हो गया,' इसके लिये वैसा करता है। अपनी संतुष्टि के लिये ही वह सब किया जाता है, अतः वहाँ सर्वत्र 'मैं' ही प्रधान हूँ, मुझे संतोष हो जाये, चाहे शरीर को उस ठण्ड में ठिठुरना पड़े। आत्मा की परमानन्दता निर्विवाद है।।९।।

तत्त्व बताने में प्रवृत्त हुए; तत्त्वविवेक करना था; आप ने तो आत्मा को, सच्चित्परानन्द-रूप बताया! इससे तत्त्वविवेक कैसे होगा? तब कहते हैं–

इत्थं सच्चित्परानन्द आत्मा युक्त्या तथाविधम्।
परं ब्रह्म तयोश्चैक्यं श्रुत्यन्तेषूपदिश्यते।।१०।।

यों युक्ति से सिद्ध हुआ कि आत्मा सत्-चित् परमानन्दरूप है। परब्रह्म भी ऐसा ही है अतः वेदान्तों में आत्मा-परब्रह्म की एकता का उपेदश है।

युक्ति के द्वारा आत्मा को सच्चिदानन्द बताया। आत्मा की सत्-चित्-परमानन्दरूपता को युक्ति से समझोगे तब आत्मा के उस परम आनन्दरूप के साक्षात् अनुभव के लिये प्रवृत्त होगे। जिसे पता ही नहीं है कि आत्मा परम आनन्दरूप है वह आत्मा के विवेक के लिये प्रवृत्त ही क्यों होगा! जब युक्ति से पता लगता है कि वह सच्चिदानन्दरूप है तभी उसे तत्त्व जानकर उसे पाने की इच्छा होती है।

सद्रूप का प्रतिपादन नित्यता के द्वारा किया कि वह सभी देश, काल, वस्तुओं में है। चिद्रूप बताया कि अन्य प्रकाशाधीन न होकर सबका प्रकाश करने वाला है। आनन्दरूप बताया कि वह किसी अन्य के लिये प्रिय नहीं है, उसके लिये सव प्रिय हैं। यह सब युक्ति से बताया। सच्चिदानन्द ही ब्रह्म का लक्षण है। सच्चिदानन्द आत्मा है यह युक्ति से सिद्ध किया और वह सच्चिदानंद ही ब्रह्म है यह शास्त्र से सिद्ध है। आत्मा का परम आनन्दस्वरूप तब तक प्रकट नहीं होता जब तक उसकी ब्रह्मरूपता का साक्षात्कार नहीं हो जाता। यह कहाँ बताया है? श्रुति अर्थात् वेदों का सिद्धान्त-प्रतिपादन उपनिषद् में है, उसमें इसका उपदेश दिया गया है। इसके द्वारा यह भी वता दिया कि ब्रह्म को युक्ति से सिद्ध नहीं कर रहे हैं, ब्रह्म तो शास्त्रैकगम्य है। श्रुतियों ने यह बात स्पष्ट कर दी है कि 'तन्तु औपनिषदं पुरुषं पृच्छामि,' उपनिषद् के द्वारा ही उसे जाना जाता है; 'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्' जो वेदों को नहीं जानता वह कभी ब्रह्म को नहीं जान सकता। आत्मा तो युक्ति से थोड़ा-बहुत समझ में आ सकता है। कपिल आदि महर्षियों ने आत्मा का प्रतिपादन करते हुए करीब-करीब इस प्रकार से उसका पता लगा लिया और वर्णन कर दिया, परन्तु उसकी ब्रह्मरूपता को उन्होंने भी युक्ति से प्रतिपादित नहीं किया।

आत्मा ब्रह्म है अतः आत्मा का स्वरूप युक्ति से समझ लिया तब वह ब्रह्म कैसे है–इसे जानने के लिये प्रवृत्ति हो जाती है। मनुष्य की प्रवृत्ति न तो जिस चीज को पूरी तरह से जानता है उसे जानने के लिये होती है न सर्वथा अज्ञात के लिये। जिस चीज को पूरी तरह से जान लिया उसको जानने की प्रवृत्ति कैसे होगी! और जिस चीज को सर्वथा नहीं जानते उसके लिये भी *प्रवृत्ति* नहीं हो सकती। जिस चीज को कुछ जाना है, कुछ नहीं जाना है वहीं आदमी जानने में प्रवृत्ति करता है। इसीलिये कहा जाता है कि 'न तावदयम् एकान्तेन अविषयः, अस्मत्प्रत्यय-विषयत्वात्' आत्मा को हम सर्वथा नहीं जानते, ऐसी बात नहीं है, 'अहं'–इस प्रतीति के विषयरूप से तो जानते हैं परन्तु जो उसकी वास्तविक ब्रह्मरूपता है वह नहीं जानते। यदि इसे सर्वथा नहीं जानते तो भी प्रवृत्ति नहीं होती। इसलिये युक्ति के द्वारा जो उसकी सच्चिदानन्दरूपता सिद्ध की गई, उससे जिज्ञासा प्रवल हो जाती है।

अहं-प्रतीति के विषयरूप से तो जान रहे हैं परन्तु वह ब्रह्म स्वयं कैसे प्रतीतिरूप है यह नहीं जान रहे, इसलिये जिज्ञासा हो जाती है। जिन लोगों ने केवल युक्ति के द्वारा ब्रह्म को समझने का प्रयत्न किया है वे उसको सृष्टि के कारणरूप से तो समझ सके परन्तु आत्मरूप से नहीं समझ सके। अतः जीव-ब्रह्म की एकता समझ नहीं पाये। कपिल आदि ने उसकी सच्चिदानन्दरूपता जानकर भी उसकी ब्रह्मरूपता नहीं जानी। अतः अन्यों के लिये ईश्वर नित्य परोक्ष ही है, अपरोक्ष नहीं होता। केवल उपनिषद् से उक्त प्रकार से आत्मा को सच्चिदानन्दरूप जाना जा सकता है।। १०।।

चिद्रूप की भी जिज्ञासा-योग्यता उपपन्न करते हैं–

अभाने न परं प्रेम भाने न विषये स्पृहा।
अतो भानेऽप्यभाताऽसौ परमानन्दतात्मनः॥ ११॥

सर्वथा भान न हो तो आत्मा से परम प्रेम संभव नहीं और आत्मा का भान हो ही तो विषयकामना संभव नहीं, इसलिये आत्मा की यह परमानन्दता का भान होने पर भी वह प्रतीत नहीं है–यह मानना समीचीन है।

आत्मा को परम आनन्दरूप युक्ति से सिद्ध तो किया। जब हमको पता है कि आत्मा परम आनन्दरूप है तो सब चीजों की आनन्द के लिये इच्छा क्यों होती है? विषयों की ओर प्रवृत्ति, इच्छा होती अवश्य है जैसे रसगुल्ला, दही-बड़ा खाने को मिले, मोटर चढ़ने को मिले। 'भाने न विषये स्पृहा,' यदि आत्मा की परमानंदता का भान है तो विषयों की स्पृहा नहीं हो सकती। स्पृहा का मतलब है अप्राप्त विषय के लिये मन में तीव्र इच्छा होना। प्राप्त विषय के प्रति इच्छा स्पृहा नहीं कही जाती। थाली में प्राप्त दाल-भात को खाने की इच्छा तो है, तभी मिलाकर खा रहे हैं, परन्तु स्पृहा नहीं है। जो दाल का हलवा सामने नहीं है उसके लिये मन में जो होता है कि 'हाय! आज दाल का हलवा खाने को नहीं मिला, मिलता तो बड़ा अच्छा था,' यह स्पृहा है। सामने दाल का हलवा रखा है, उसको भी खाने की इच्छा तो है,

परन्तु स्पृहा नहीं है। अप्राप्त विषय के लिये मन में जो तीव्र संवेग होता है उसे स्पृहा कहते हैं। यदि आत्मरूप परम आनन्द का भान हो तो विषयों की स्पृहा नहीं होगी, जबकि होती है।

यदि कहो कि आत्मा आनन्दरूप होता है परन्तु उसका भान नहीं है, इसलिये विषयों में स्पृहा होती है, तो 'अभाने न परं प्रेम' अगर हमें उसमें आनन्दरूपता की प्रतीति नहीं है तो वह हमारे परम प्रेम का विषय भी नहीं होना चाहिये, क्योंकि आनन्दरूपता की प्रतीति होने पर ही प्रेम होता है। यद्यपि पहले कहा था कि 'मैं' के सम्बन्ध से भी प्रेम हो जाता है; जैसे मेरा पुत्र है इसलिये उससे प्रेम हो जाता है। तथापि केवल मेरापना प्रेम का कारण नहीं है क्योंकि शरीर में हुआ फोड़ा भी मेरा तो है, संग्रहणी भी मेरी है लेकिन उससे कोई प्रेम नहीं होता! पुत्र भी यदि निरन्तर दुःख देने वाला हो तो उससे भी प्रेम नहीं रहता। वह सुख न दे तब तक तो प्रेम रह जायेगा, दुःख देने वाले लड़के को भी सर्वथा निष्कासित नहीं करते क्योंकि आशा है कि बीमारी आदि में काम आयेगा। परन्तु जिसका निश्चित पता है कि कभी काम आने वाला नहीं है, केवल डण्डे मारने वाला है, उससे प्रेम नहीं रह सकता। यदि कहते हैं कि आत्मा की आनन्दरूपता का भान नहीं तो परप्रेम कैसे है? यदि भान है तो विषयों के प्रति स्पृहा कैसे होती है?

दोनों प्रश्नों का उत्तर दिया 'अतः भानेप्यभाताऽसौ' भान होता हुआ भी भान नहीं हो रहा है! किस चीज का भान होते हुए भी भान नहीं है? आत्मा की परम आनन्दता का भान होते हुए भी भान नहीं है। सब चीजें इसके लिये प्रिय हैं इस युक्ति से समझ में आता है कि इसमें आनन्दरूपता है, इसलिये भान है और विषयों की ओर प्रवृत्ति है इसलिये लगता है कि इसकी आनन्दरूपता का भान नहीं है। यही विचित्र स्थिति है। सामान्य रूप से जानकर भी विशेष रूप से नहीं जानते। जैसा प्रसिद्ध है कि कोई व्यक्ति धूप में जा रहा है, मार्ग में एक घने पेड़ की छाया में जाकर लेट जाता है। उसको सुख देने वाला पेड़ जान रहा है। वहाँ लेटे-लेटे उसके मन में आता है कि 'यह घना जंगल है, कहीं नींद न आ जाये, कहीं कोई जंगली जानवर न आ जाये'। ऐसा मन में सोचते ही वहाँ एक जंगली जानवर आ गया और वह भागा। रास्ते में एक महात्मा मिल गये, उन्होंने पूछा–'कहाँ भागा जा रहा है?' उसने कहा 'पेड़ के नीचे लेटा हुआ सोच ही रहा था कि कहीं कोई जंगली जानवर न आ जाये और वहाँ तुरन्त एक जंगली जानवर आ गया।' महात्मा ने कहा–'तू समझा नहीं, वह तो कल्पवृक्ष है। उसके नीचे लेटे हुए और कुछ मन में लाया होता तो वह पूरा हो जाता।' उसने उस वृक्ष की छाया को सुख देने वाला तो समझा, परन्तु उसे कल्पवृक्ष नहीं समझा अतः लाभ नहीं उठा सका। इसी प्रकार आत्मा की प्रियता का सामान्य रूप से भान होने पर भी विशेषरूप से भान नहीं है अर्थात् परम आनन्दरूपता का भान नहीं है, उसके लिये सब चीजें प्रिय हैं इतना भान तो है।

यह वेदांत की समस्या है: प्रायः लोग कहते हैं कि जब सत्संग करते हैं, विचार करते

हैं तब तो आत्मा का स्वरूप बिलकुल ठीक लगता है, बिलकुल समझ में आ जाता है। फिर जब बाहर जाकर व्यवहार करते हैं तब सब उड़ जाता है! इस पर कुछ लोग कह देते हैं कि 'व्यवहार तो मिथ्या है, उसकी चिन्ता मत करो।' पर ऐसी बात नहीं है। व्यवहार में गड़बड़ाते हो क्योंकि विषय की स्पृहा है। इसलिये विचार करने का उपदेश दिया है। श्रवण-मनन और निदिध्यासन कहा है, शम, दम आदि का भी उपदेश दिया है। शम-दम आदि पूर्वक जो श्रवण-मनन है वही फल देता है। शम, दम आदि के संस्कार हमारे अंतःकरण में तीव्र होंगे तो विषयस्पृहा दबायेंगे। विषय-स्पृहा दबने से आत्मा की परम आनन्दता का स्पष्ट भान होगा। श्रवण-मनन के द्वारा भान हुआ परन्तु वह दृढ इसलिये नहीं हुआ कि चित्त की एकाग्रता बिना शम, दम आदि के सम्पन्न नहीं होती। बिना योग्यता के जो सुननेमात्र से समझ आती है उसी को शास्त्रों में अन्यत्र 'ज्ञानाभास' कहा है। वह ज्ञान नहीं है, ज्ञान जैसा लगता है। ज्ञान हो जाने पर तो जगत् की तुच्छता स्पष्ट हो जाती है। अमृत के समुद्र में जो खेल रहा है वह फिर छोटी-मोटी गन्दी नाली के अन्दर जाने को प्रवृत्त होता ही नहीं। किसी ने उसे मना नहीं किया है, परन्तु अमृत-समुद्र को छोड़कर गन्दे पानी से भरे हुए छोटे-मोटे गड्ढों में उसकी प्रवृत्ति कैसे होगी? इसी प्रकार परम आनन्दस्वरूप अपने को जानने पर उसको छोड़कर विषयों की स्पृहा कैसे होगी? प्रारब्ध-भोग के कारण जो प्राप्त होगा, प्रारब्ध उसे भुगवा देगा, परन्तु स्पृहा को पैदा नहीं करेगा। इसलिये मानना पड़ता है कि भान होने पर भी भान नहीं होता।। ११।।

इसे एक दृष्टांत से समझाते हैं कि जानना-न जानना एक-साथ कैसे होता है–

अध्येतृवर्गमध्यस्थपुत्राध्ययनशब्दवत्।
भानेऽप्यभानं भानस्य प्रतिबन्धेन युज्यते॥१२॥

मन्त्रोच्चारण करने वाले अनेक बच्चों के बीच अपने पुत्र के उच्चारण की आवाज की तरह भान का भान और अभान प्रतिबंध के प्रभाव से संगत है।

कहीं पर बीस बच्चे बैठकर महिम्नः स्तोत्र या वेद का पाठ कर रहे हैं। अध्येतृवर्ग के बीच अपना पुत्र भी बैठा है। सब बोल रहे हैं, वह भी बोल ही रहा है, उसके ओठ भी हिल रहे हैं। तुम जब सब के शब्द को सुन रहे हो तो उसके शब्द को भी सुन ही रहे हो। 'बच्चा बैठा हुआ है, उसके ओठ हिल रहे हैं' इत्यादि से भान भी हो रहा है कि वह बोल रहा है, फिर भी उसका शब्द अलग से प्रतीत नहीं होता; भान होते हुए भी भान नहीं हो रहा है! सामग्री उपस्थित होने पर फल में रुकावट डालने वाली चीज को बताने के लिये हमारे यहाँ दार्शनिक शब्द 'प्रतिबन्ध' है। सबकी आवाज के साथ मिलने के कारण उस आवाज का पता नहीं लगता। ऐसे कई दृष्टांत समझ लेना : हरद्वार के ब्रह्मकुण्ड में नहाते हैं। मंदाकिनी, अलकनन्दा, भागीरथी इत्यादि अनेक नदियों का पानी मिलकर ब्रह्मकुण्ड में है। तुम वहाँ नहा रहे हो तो भागीरथी के पानी में भी नहा ही रहे हो। यह पुराने जमाने की बात समझना,

क्योंकि अब तो गंगा का पानी टिहरी बाँध में रोक रखा है। वहाँ तुम्हें पाँच नदियों का पानी मिल रहा है तो उसमें गंगा का पानी भी है ही परन्तु उसका *अलग से* भान नहीं होता है। कई जगह ऐसा होता है कि अनेक चीजों में कोई चीज रहती है तो उसका भान नहीं होता। उसी को कहते हैं कि भान का प्रतिबन्ध हो गया। बाकी सब लोगों की आवाज बच्चे की आवाज सुनने में प्रतिबंधक है। सुनने की सामग्री वहाँ मौजूद है, हमारे कान ठीक हैं, कानों में कोई खराबी नहीं है, सामने वाला भी पूरे जोर से और साफ बोल रहा है, ऐसा नहीं है कि वह फुस-फुस कर रहा हो! सामग्री ठीक से मौजूद है। शब्द पैदा हुआ, हमारे कान तक भी पहुँचा, परन्तु दूसरी ध्वनि-लहरियाँ उसे सुनने नहीं देतीं, इसलिये उन्हें प्रतिबन्धक कहते हैं। बन्ध अर्थात् बाँध। जैसे पानी में प्रवाह या बहने की सामर्थ्य भी है और आगे ढाल भी है परन्तु तुमने बाँध बना दिया तो वह पानी आगे नहीं बह सकता। इसलिये उसे बाँध कहते हैं। सामग्री उपस्थित रहते हुए किसी को काम से रोक देना प्रतिबन्ध कहलाता है। बाँध टूट जाये तो पानी पूरे जोर से बहता है क्योंकि सारी सामग्री तो मौजूद ही थी, बाँध के कारण नहीं बह रहा था। इसी प्रकार से मंत्र बोलने वाले बाकी बच्चों ने मंत्र बोलना बन्द कर दिया तो अपने बच्चे की आवाज साफ सुनायी देती है। इसी प्रकार से परम आनन्दता होने पर भी उसका भान प्रतिबद्ध है ॥ १२ ॥

प्रतिबंध का रूप बताते हैं—

प्रतिबन्धोऽस्ति भातीति व्यवहारार्हवस्तुनि।
तं निरस्य विरुद्धस्य तस्योत्पादनमुच्यते ॥१३॥

'है, प्रतीति हो रही है' ऐसे व्यवहार के योग्य वस्तु के बारे में वह व्यवहार न होने देकर उससे विपरीत व्यवहार उत्पन्न करने को 'प्रतिबन्ध' कहते हैं।

व्यवहार के योग्य वस्तु, जैसे पुत्र का शब्द जो पूरे जोर से बोला जा रहा है। हमारा कान भी ठीक है अतः सुनने के व्यवहार के योग्य वह शब्द है। 'तं निरस्य' उस व्यवहार का निरास करके अर्थात् व्यवहार नहीं होने देता। पहचान होनी चाहिये थी लेकिन पहचान नहीं होने देता। जो विरुद्ध व्यवहार है कि 'लड़के की आवाज नहीं सुनाई दे रही' इत्यादि, उसे उत्पन्न कर देता है। इसी प्रकार से अस्ति, भाति अर्थात् ब्रह्म है, ब्रह्म का भान होता है; स्वप्रकाश है इसलिये भान न होने की प्राप्ति ही नहीं होनी चाहिये। किसी दूसरे के प्रकाश से प्रकाशित हो, ऐसी बात नहीं है क्योंकि भानरूप है। इसीलिये ब्रह्म है और ब्रह्म का भान है, यही उसका व्यवहार होना योग्य है, उसे निरस्त करके, हटाकर, उसकी जगह विरुद्ध व्यवहार कराता है कि ब्रह्म नहीं है और ब्रह्म का भान नहीं हो रहा है। संसार में अधिकतर लोग कहते हैं कि ब्रह्म नहीं है। शास्त्र को पढ़ेंगे तब उन्हें पता लगेगा कि ब्रह्म है अन्यथा मानते हैं कि ब्रह्म नहीं है। जब शास्त्र पढ़कर परोक्ष ज्ञान होता है तब यह तो पता लग जाता है कि ब्रह्म है परन्तु 'वह ब्रह्म हमको भान नहीं हो रहा है। हमको उसका अनुभव नहीं हो रहा

है' यह प्रतीति रहती है। विचार करके देखो तो 'ब्रह्म का अनुभव नहीं हो रहा है' यह वैसी ही बात है कि नमक नमकीन नहीं लग रहा है या चीनी मीठी नहीं लग रही है! बीकानेर में ब्राह्मण चीनी वहुत खाते हैं। वहाँ ओले का लड्डू बनता है जिसे केवल खाण्ड से ही बनाया जाता है। वहाँ किसी सेठ ने ब्रह्मभोज कराया और ओले के लड्डू बनाये। ब्राह्मणों ने प्रेम से भोजन किया। जैसा नियम है, भोज होने के वाद यजमान ने हाथ जोड़कर पूछा कि 'सब ठीक तो बना था?' ब्राह्मणों ने कहा 'बाकी सब तो ठीक था लेकिन लड्डू में चीनी कम थी।' अब चीनी के लड्डू को और क्या मीठा किया जाये! इसी प्रकार ब्रह्म अनुभवरूप है और हम कह रहे हैं कि ब्रह्म का अनुभव नहीं हो रहा है! इस तरह जो योग्य व्यवहार उसे निरस्त करके अर्थात् जो नित्य भानस्वरूप है उसका 'है, भासमान है' इस व्यवहार का निरास करके ठीक उसके विरुद्ध व्यवहार करा देता है कि ब्रह्म है नहीं, उसका भान नहीं हो रहा है। ब्रह्म का भान किससे हो! क्योंकि ब्रह्म ही तो भान है। परन्तु प्रतिबन्धक ऐसा है कि उस समझ को रोक देता है, जैसे पुत्र का बोलना सुनते हुए भी तुमको पता नहीं लगता कि तुम सुन रहे हो ॥१३॥

दृष्टांत व दार्ष्टान्त में प्रतिबंधक स्पष्ट करते हैं–

तस्य हेतुः समानाभिहारः पुत्रध्वनिश्रुतौ।
इहानादिरविद्यैव व्यामोहैकनिबन्धनम् ॥१४॥

पुत्र की आवाज के बारे में 'है, सुनाई दे रही है' इस प्रत्यक्ष अभिज्ञारूप व्यवहार को रोकने में कारण है बहुत बच्चे साथ-साथ उच्चारण कर रहे हैं। आत्मा के बारे में विपरीत व्यवहारों का मुख्य कारण अनादि अविद्या ही है।

पुत्र की ध्वनि सुनने में प्रतिबन्धक यह है कि सब लोग मिलकर एक-साथ बोल रहे हैं। दो जने मिलकर वेदपाठ करते हैं तो ठीक एक ही स्वर में दोनों बोलते हैं। दोनों ही 'क' बोल रहे हैं इसलिये 'क' तो सुनाई दे रहा है परन्तु उसमें पुत्र का बोला हुआ 'क' कौन-सा है–यह नहीं सुनाई देता है क्योंकि समानाभिहार है अर्थात् अन्य कइयों के साथ बोल रहा है। सबका साथ-साथ बोलना पुत्र की ध्वनि को नहीं सुनने में हेतु या सुनने में प्रतिबंधक है। यहाँ जान-बूझकर 'शब्द'-शब्द का प्रयोग न करके, 'ध्वनि'-शब्द का प्रयोग किया है क्योंकि जब वे शब्द बोल रहे हैं 'गणानां त्वा' तब ये शब्द तो सुनाई दे रहे हैं परन्तु पुत्र की ध्वनि अर्थात् उसके कण्ठ से जो उच्चारण होता है उसका पता नहीं लग रहा है। इसलिये ध्वनि शब्द का प्रयोग किया है। दार्ष्टान्त में क्या प्रतिबन्धक है? यहाँ ब्रह्म का भान कराने में प्रतिबन्धक अविद्या है। 'ब्रह्म को ब्रह्मरूप से नहीं जानने देना' यह करने वाली अविद्या है। अविद्या अनादि है। अविद्या कभी शुरू नहीं हुई।

'अनादि' हमेशा याद रखना क्योंकि लोग बार-बार यह प्रश्न पूछते हैं कि पहले-पहल जीव कैसे बना, पहले-पहल अज्ञान कैसे आया? लोग यह मानकर चलते हैं कि पहले सब

कुछ ठीक था और फिर बिगड़ा इसलिये समझते हैं कि पहले ब्रह्म था, फिर अज्ञान आ गया और फिर जीव बन गया। अतः पूछते हैं कि यह क्यों बना। जबकि बात बिलकुल उल्टी है; अविद्या अनादि है। इसलिये जीव और ईश्वर भी अनादि है। ठीक जिस प्रकार से ऐसा नहीं है कि जर्मन भाषा किसी तारीख तक हम जानते थे और फिर भूल गये। हमने जर्मन भाषा कभी भी नहीं जानी। और ऐसा भी नहीं कि अनादि है तो खत्म नहीं होगी। अविद्या अनादि है, खत्म भी होती है। सान्त है इसमें अपना प्रत्यक्ष दृष्टांत है कि हमने जर्मन भाषा कब से नहीं जानी? हमेशा से नहीं जानी परन्तु हमने जर्मन भाषा सीख ली तो हमारा उस भाषा का अज्ञान नहीं रह गया। अविद्या अनादि है इसलिये यह प्रश्न नहीं बनता कि कैसे आई। आई नहीं, यह तो अनादि है। इसीके प्रभावसे ब्रह्म को ब्रह्मरूप से हम नहीं जानते।

अविद्या ही व्यामोह का कारण है। सारे संसार का मोह इसलिये आ जाता है कि पहले हम ब्रह्म को नहीं जानते। इस व्यामोह के रहते हुए संसार का जन्म-मरण-प्रवाह कभी हट नहीं सकता। व्यामोह के हट जाने पर फिर कुछ भी चीज ऐसी नहीं है जो संसार के प्रवाह में कोई स्थिरता ला सके। अर्थात् व्यामोह हटने के बाद संसार रहता नहीं और जब तक व्यामोह है तब तक संसार हटता नहीं। यहाँ जिस तत्त्व का विवेक करना प्रारम्भ किया था उस तत्त्व की बात अब स्पष्ट होती जा रही है।। १४।।

आत्मा की सद्रूपता, चिद्रूपता का पता चल रहा है, आनंदरूपता व अनंतरूपता का पता नहीं चल रहा है। इसका कारण क्या है? अनादि अविद्या ही इसका कारण है। अनादि अविद्या का वर्णन करते हैं–

चिदानन्दमयब्रह्मप्रतिबिम्बसमन्विता।
तमोरजःसत्त्वगुणा प्रकृतिर्द्विविधा च सा ॥१५॥

ज्ञान और आनन्दात्मक ब्रह्म के प्रतिबिम्ब से सम्बद्ध एवं तम-रज-सत्त्व गुणों वाली (वह अविद्या ही) प्रकृति है तथा वह दो तरह की है।

जो अविद्या या अज्ञान है उसमें 'चिदानन्दमय ब्रह्म' की परछाँई पड़ी है। जीव में आनन्द अनुद्घाटित है परन्तु ईश्वर में आनन्द उद्घाटित है अर्थात् हमें पता नहीं परन्तु ईश्वर को अपनी आनन्द और अनंतरूपता का पता है इसलिये वह चिदानन्दमय है। चिदानन्दमय ब्रह्म के प्रतिबिम्ब से अविद्या समन्वित है। ईश्वर ही अविद्या में प्रतिबिम्बित है। प्रतिबिम्ब कैसा है? उसके अन्दर चिद्रूप और आनन्दरूप प्रकट है। प्रतिबिम्ब से समवेत अविद्या की क्या जरूरत है, कपिल महर्षि की तरह यह क्यों नहीं मान लेते कि अविद्या ही कारण है? इस पर यह समझ लेना चाहिये कि हमारे यहाँ सद्रूप ब्रह्म है। जहाँ-जहाँ हमें है-पने की प्रतीति होगी वहाँ ब्रह्मरूपता जरूर है। जिसका ब्रह्म के साथ सम्बंध नहीं वह हमेशा नहीं है रूप में ही कल्पित होगा। जैसे गधे के सींग हमेशा नहीं हैं-रूप में ही समझ आयेंगे, कभी भी है-रूप में प्रकट नहीं होंगे। जो चीज ब्रह्मरूप नहीं वह हमेशा 'नहीं है'। ब्रह्म वस्तुतः 'है'रूप

में ही समझ आयेगा। ब्रह्म हमेशा सच्चिदानन्दरूप है। मोटी भाषा में, 'मैं' हमेशा 'है'रूप समझ आयेगा, 'मैं नहीं हूँ' इसका कोई विचार तुम्हें नहीं हो सकता। कल्पना करके देखो तो भी शरीर मरा पड़ा है और तुम उसे देख रहे हो—यही कल्पना होगी। 'मैं नहीं हूँ' ऐसा कभी *अनुभव* नहीं हो सकता क्योंकि 'मैं नहीं हूँ' इसके अनुभव के लिये भी मैं चाहियें। कोई अनुभव करने वाला होगा तभी अनुभव होगा। सत् होने से परमात्मा की प्रतीति हमेशा ही 'है'रूप है।

संसार की जितनी चीजें हैं वे सब 'है' या 'नहीं है' जाति की हैं। संसार में जो कुछ है वह उत्पन्न है, उत्पन्न होने के पहले नहीं है। उत्पन्न होकर 'है' और जब खत्म हो जाता है, नष्ट हो जाता है तब 'नहीं है' हो जाता है। इस तरह संसार के जितने पदार्थ हैं वे हमेशा न है-जाति के और न नहीं है-जाति के हैं। वे दोनों तरह के हो जाते हैं, कभी हैं, कभी नहीं; इसी को हम लोगों की शास्त्रीय भाषा में माया या अनिर्वचनीय कहते हैं। अनिर्वचनीय का मतलब यह नहीं है कि हम जिसे नहीं कह सकते, वरन् उसका मतलब है कि जिसे न 'है' कह सकते हैं और न 'नहीं है' कह सकते हैं। वह कभी है, कभी नहीं है। संसार उत्पन्न होता है, रहता है, नष्ट होता है। इसलिये उसे मायिक कहते हैं। जब ब्रह्म-सम्बंध होता है तब वह है और जब वह सम्बन्ध नहीं रहता तब 'नहीं है'। ब्रह्म के संबंध से ही वहाँ 'है' की प्रतीति और ब्रह्म के सम्बंध से रहित होने के कारण ही 'नहीं है' की प्रतीति। अविद्या तब तक विक्षेप पैदा नहीं कर सकती जब तक उसमें ईश्वर का संबंध न हो जाये। वह सम्बंध अन्य किसी प्रकार से नहीं हो सकता इसलिये उसे प्रतिबिम्ब-रूप से कहते हैं।

प्रतिबिम्ब से युक्त अविद्या तीन गुणों वाली है—तमोगुण, रजोगुण और सत्त्वगुण। 'द्विविधा च सा' वह प्रकृति दो प्रकार की है। एक ही प्रकृति दो प्रकार की कैसे है? बनी हुई चीज को कृति कहते हैं। जैसे वाल्मीकि महर्षि ने रामायण लिखी तो रामायण को वाल्मीकि महर्षि की कृति कहा जाता है। अविद्या वह प्रकृति है जिसने सारे संसार को रच दिया है। महर्षि ने तो केवल अक्षरों में ही लिखा जबकि परमेश्वर ने केवल अक्षरों में नहीं लिखा, हर चीज का नाम तो है ही, रूप भी है। नाम-रूप दोनों प्रकार से परमात्मा ने इस कृति को जिसके द्वारा किया, उसे प्रकृति कहते हैं। प्र-का अर्थ प्रकर्ष होता है। अर्थात् बड़ी कृति है। महाभारत में एक लाख श्लोक हैं परन्तु वह कृति है, परमेश्वर तो सृष्टि को आदि से अंत तक रचता ही जाता है, इसलिये प्रकर्ष है; इससे बड़ी कोई कृति नहीं हो सकती।।१५।।

प्रकृति जिन दो प्रकार की है, उन्हीं को बताते हैं—

सत्त्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाऽविद्ये च ते मते।
मायाबिम्बो वशीकृत्य तां स्यात् सर्वज्ञ ईश्वरः ॥१६॥

अविद्यात्मक प्रकृति के दो प्रकार हैं : शुद्ध सत्त्व वाली माया और अशुद्ध सत्त्व वाली अविद्या। मायाबिम्ब उस माया को वश में कर सर्वज्ञ ईश्वर होता है।

वह प्रकृति तीन गुणों वाली है। सत्त्वगुण शुद्ध तब है जब रजोगुण और तमोगुण का प्रभाव नहीं है। सत्त्वगुण ज्ञान करता है, ज्ञान में किसी प्रकार की अशुद्धि नहीं है। जब रजोगुण और तमोगुण का प्रभाव रहता है तब सत्त्व अशुद्ध, मलिन है। माया का एक रूप ऐसा है जहाँ सत्त्वगुण का ही प्रभाव है, रजोगुण-तमोगुण का प्रभाव नहीं-जैसा है। दूसरा रूप है जिसमें अन्य गुणों के प्रभाव वाला सत्त्व है। शुद्ध सत्त्व वाला जो प्रकृति का हिस्सा है उसे माया कहते हैं। जो अशुद्धि वाला भाग है, रजोगुण-तमोगुण से प्रभावित सत्त्व है, उसे अविद्या कहते हैं, वह अविशुद्ध प्रकृति है। प्रकृति में परमेश्वर प्रतिबिम्बरूप से विद्यमान है। उसके अन्दर कोई तो उसका स्वरूप या हिस्सा ऐसा है जहाँ सत्त्वगुण प्रधान है और कोई हिस्सा ऐसा है जहाँ सत्त्वगुण दबा हुआ है। सत्त्वगुण-प्रधान वाले हिस्से को माया कहते हैं और जहाँ सत्त्वगुण कमजोर है उसे अविद्या कहते हैं। जो माया वाली अवस्था या हिस्सा है उसमें जो परमेश्वर का प्रतिबिम्ब है अथवा परमेश्वररूप प्रतिबिम्ब है वह माया को अपने वश में रखता है। यह उसकी विशेषता है। ईश्वर को माया का ज्ञान है, इसलिये माया में पड़ा हुआ प्रतिबिम्ब ईश्वर सर्वज्ञ हुआ। ईश्वर माया के साथ सम्बन्धित तो है परन्तु पूर्णज्ञान वाले हिस्से से सम्बद्ध होने से वह उसे अपने वश में रखता है। इसलिये वह सर्वज्ञ ईश्वर कहा जाता है। वह प्रतिबिम्ब होने से प्रकृति के साथ बिना सम्बन्ध वाला कभी नहीं, लेकिन उसका जो सम्बन्ध है वह आवरण करने वाला न होने से ईश्वर माया का मालिक वना रहता है।। १६।।

अविशुद्धसत्त्व अविद्या और उससे सम्बद्ध चैतन्य का वर्णन करते हैं-

अविद्यावशगस्त्वन्यस्तद्वैचित्र्याद् अनेकधा।
सा कारणशरीरं स्यात् प्राज्ञस्तत्राऽभिमानवान् ॥१७॥

ईश्वर से अन्य जो अविद्या में प्रतिबिम्बरूप से स्थित है वह अविद्या के वशीभूत है अतः अविद्या की विचित्रता के चलते वह भी नाना प्रकार का है। अविद्या कारण नामक शरीर है जिसमें तादात्म्याध्यास किया चैतन्य प्राज्ञ कहलाता है।

जो प्रकृति का दूसरा हिस्सा है उसमें सत्त्वगुण तो है, पर रज और तम दोनों भी प्रभावी हैं अतः वह मल वाला है। उसमें जो चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है वह उसके अधीन हो जाता है। वह हम लोग हैं। ईश्वर भी है उसी माया या प्रकृति से सम्बद्ध, परन्तु वह मालिक-रूप से सम्वन्धित है, माया को वश में रखता है और हम उसके गुलाम होकर रहते हैं। दोनों हैं एक ही, लेकिन एक मालिक-रूप से उसके साथ सम्बन्ध वाला है और दूसरा नौकर-रूप से उसके साथ सम्बन्ध वाला है। इसलिये ईश्वर नचाने वाला रहता है और हम नाचने वाले रहते हैं। वह चूँकि प्रकृति का मालिक है इसलिये नचाने वाला और हम गुलाम हैं इसलिये नाचने वाले बन गये। अशुद्ध अविद्या के अन्दर पड़ा हुआ जो प्रतिबिम्ब है वह अल्प अर्थात् जीव है और ईश्वर के वश में है। प्रकृति सत्त्व-रज-तमोगुण वाली है। प्रकृति

की विचित्रता से उसके साथ सम्बद्ध जीव अनेक प्रकार का हो गया। प्रकृति के वश में सभी जीव हैं। प्रकृति तीन प्रकार की है : कहीं सत्त्व बढ़ा हुआ है तो कहीं रजोगुण और तमोगुण बढ़े हुए हैं। प्रकृति की विचित्रता होने से जीव अनेक प्रकार के हो जाते हैं। एक तरफ ब्रह्मा जैसा हो जाता है और दूसरी तरफ अमीवा जैसा हो जाता है। यह भेद प्रकृति को लेकर ही है, बाकी, आत्मतत्त्व तो जैसे अमीवा में, वैसा ही ब्रह्मा में है, उसमें कोई फर्क नहीं है।

ऐसे समझ लो : तुमने दस घड़े रखे। एक घड़े में लाल पानी, दूसरे में हरा और तीसरे में पीला पानी आदि सबमें अलग-अलग रंग वाला पानी भर दिया। उन घड़ों को तुमने धूप में रख दिया तो सभी घड़ों में सूर्य प्रतिविम्बरूप से दीखता है। जिस घड़े में लाल पानी है उसमें सूर्य का लालपना और जिसमें हरा पानी है उसमें सूर्य का हरापना इत्यादि जैसे-जैसे पानी हैं वैसा-वैसा सूर्य दीखता है। पानी की जगह प्रकृति के भिन्न-भिन्न रजोगुण, तमोगुण आदि के हिस्से को लेकर भेद है और उसके अन्दर जिस ब्रह्म का प्रतिबिम्व पड़ रहा है वह एक है। इसलिये 'मैं हूँ', यह बात जैसे एक छोटा-सा कीड़ा जानता है वैसे ही हम भी जानते हैं और वैसे ही देवता भी जानते हैं। सूर्य का चमकीलापना, गोलपना आदि सब सूर्यप्रतिबिम्ब में एक जैसा दीखेगा लेकिन रंग अलग-अलग हो जायेंगे। इसी प्रकार 'मैं हूँ' यह सब जीवों में एक-जैसा दीखता है, सब का यही अनुभव होता है कि हूँ परन्तु आगे, मैं कैसा हूँ—यह जब प्रश्न होता है तब किसी को लगता है कि 'मैं बुद्धिमान् हूँ,' दूसरे को लगता है 'मैं बुद्धू हूँ'। एक का 'मैं चतुर हूँ,' दूसरे का 'मैं ठगा जा रहा हूँ' इत्यादि सबके अलग-अलग अनुभव हैं। ये सब प्रकृति के भेद से हो गये। 'तु'-पद दूसरी चीज से अलग बताने के लिये है—पहले वाले में वशीकृत्य (वश में करके) कहा था और यह वशगः वश में होने वाला है इसलिये ये दोनों एक-दूसरे से अत्यंत भिन्न हैं। यह भेद बताने के लिये 'तु' पद दिया है।

'सा कारणशरीरं स्यात्' वह अविद्या हमारा कारण शरीर है। जाग्रत् और स्वप्न में जहाँ विक्षेप का अनुभव होता है, वह कार्य शरीर है। राजा की गहरी नींद और साधारण आदमी की गहरी नींद में कोई फर्क नहीं है। राजा का अनुभव भी यही है कि 'मैं आनन्द से सोया, मैंने कुछ नहीं जाना,' तथा फुटपाथ पर पड़े हुए भिखारी का भी अनुभव यही है कि 'मैंने कुछ नहीं जाना, मैं आनन्द से सोया'। कहीं एक महात्मा का सत्संग हो रहा था। एक राजा रोज उनके सत्संग में आता था। सवेरे का सत्संग था, महात्मा की आदत थी कि कोई भी आये उससे पूछते थे 'रात में ठीक से सोये?' राजा ने जब पाँच-सात दिन तक यही सुना तो सोचा कि 'रोज ऐसा क्यों पूछते हैं?' एक दिन महात्मा पूछें, उससे पहले ही राजा ने आते ही पूछा 'महात्मा जी, रात में ठीक से सोये?' महात्मा ने कहा 'थोड़ी देर तुम्हारे जैसा सोया और थोड़ी देर तुमसे अच्छा सोया।' राजा को यह कैसे बर्दाश्त हो कि उस से अच्छा सोये! पूछा 'मुझसे अच्छा सोये, यह आप कैसे कहते हैं?' आपके पास कोई पलंग, मच्छरदानी आदि भी नहीं है, फिर मुझ से अच्छा कैसे सोये, मेरे जैसे भी कैसे सोये?' महात्मा ने कहा

'देखो! मैं सोने गया तो लेट कर परमात्मा का चिन्तन किया, सच्चिदानन्द-स्वरूप का चिन्तन किया और मुझे नींद आ गई। तुम जब सोने गये तो सोचते रहे कि 'आज अमुक जगह से खबर आई है कि वहाँ लोग क्रांति मचा रहे हैं, वहाँ इन्तजाम के लिये किसको भेजें, कौन ठीक रहेगा;' यह सोचते हुए तुम्हें नींद आई। उस समय मैं तुमसे अच्छा सोया क्योंकि तुम चिन्ता करते हुए सोये और मैं परमात्मा का स्मरण करते हुए सोया। उसके बाद नींद आ गई। नींद के समय मैंने भी कुछ नहीं जाना और आनन्द से सोया, नींद में तुमने भी कुछ नहीं जाना और आनन्द से सोये। इसलिये नींद में हम दोनों एक-जैसे थे। उस समय न तुम्हें बढ़िया बिछौने का ज्ञान था और न मुझे मच्छरों के काटने का पता था, इसलिये उस समय हम दोनों एक-जैसे थे। उसके बाद सवेरे आँख खुलते ही मैंने परमात्मा का चिन्तन करना शुरू कर दिया 'प्रातः स्मरामि हृदि संस्फुरदात्मतत्त्वं' हृदय में स्थित सच्चिदानन्द परमात्मा का चिन्तन शुरू किया। तुमने उठते ही बायीं तरफ देखा कि रानी वहाँ है या नहीं, देखा कि वहीं है। फिर सोचने लगे कि अब क्या करूँ, रानी को जगाऊँ या नहीं। तुम्हारा यही सब चिन्तन चल रहा था और मेरा परमात्मचिन्तन चलता रहा। इसलिये नींद के पहले और पीछे तुम से अच्छा सोया और नींद में तुम्हारे जैसा सोया। इसलिये मैंने कहा कि तुम से कुछ अच्छा सोया और कुछ तुम्हारे जैसा सोया।'

सुषुप्ति के अन्दर सब जीवों का एक ही शरीर है, उसी को कारण शरीर कहा क्योंकि सबका एक ही अनुभव है। इस बात को हम सब लोग देख रहे हैं। वेदान्ती यही मानते हैं कि सुषुप्ति में सब एक ही चीज को देख रहे हैं। जैसे चीज पीले रंग की है तो सबको पीले रंग की ही दीखती है इसी प्रकार सुषुप्ति के बारे में सबका अनुभव एक जैसा है। चूँकि इसका नाम भी एक और अनुभव भी एक है, इसलिये इस अविद्या को, कारण शरीर को एक मानते हैं। सबको अपने कारण शरीर का सुषुप्ति में एक जैसा ही अनुभव होता है तो उसे एक ही मानना पड़ेगा। वह अनुभव स्मृतिरूप में स्पष्ट होता है। जैसे तुम यहाँ से उठकर बाहर गये तो तुम्हें इस पुस्तक की याद आई। याद तो तुम सबको अलग-अलग आई, परन्तु सबको याद आई इस पुस्तक की ही। उसी प्रकार सुषुप्ति से उठने पर उस अनुभव की याद तो हम सब लोगों को अलग-अलग आती है, इसलिये मैं सोया, देवदत्त सोया, यज्ञदत्त सोया, यह व्यवहार तो सब अलग-अलग कर रहे हैं, परन्तु जिसका अनुभव था और जिसकी स्मृति कर हैं, वह एक ही चीज है जिसे कारण शरीर कहते हैं। जाग्रत्-स्वप्न वाले को 'कार्य शरीर' आगे बतायेंगे। वे सब इस कारण शरीर से ही निकलकर आते हैं।

मैं सुख से सोया इस अभिमान वाले को शास्त्र ने प्राज्ञ नाम दिया। प्राज्ञ क्यों कहते हैं? संस्कृत में प्राज्ञ का मतलब होता है 'प्रकर्षेण अज्ञः प्राज्ञः' अर्थात् भली प्रकार से अज्ञानी है। 'मैं कुछ नहीं जानता था' ऐसी उसकी स्मृति है। इसलिये उसका नाम प्राज्ञ है। वह कारण-शरीर में अभिमान करने वाला है। उठने के बाद ही अभिमान होगा 'मैं सोया था'। 'मैं सो रहा हूँ'– गहरी नींद में ऐसा अनुभव कभी भी नहीं होता! हमेशा स्मरण ही होता

है कि मैं सोया था। इसलिये अभिमान करने वाला तो जाग्रत्-स्वप्न में आयेगा तभी है परन्तु जिसने वहाँ इस बात को जाना था वह प्राज्ञ है।। १७।।

अब बताते हैं कि यह संसार कैसे हुआ। संसार का विचार करते हैं तो तीन चीज़ें सामने आती हैं : पशु, पशुपति और पाश। जो बँधा हुआ है अथवा जिसे पाश लगा हुआ है उसे पशु कहते हैं। वस्तुतः हमारा स्वरूप क्या है? हम बँधे हुए हैं–यह हमारा अनुभव है, इसलिये पशु हैं जो प्रकृति के वश में है, प्रकृति ही जिसका पाश बनी हुई है वह पशु है। दूसरा पशुपति है जो हमको पाश से बाँध रहा है, हमको पशु बना रहा है। वह पशुपति ईश्वर है। वही प्रकृति को वश में रखता है। जिसके द्वारा वश में रखता है वह पाश है। पाश को अब बताना है। अविद्या तव तक नहीं बाँध सकती जब तक वह अपनी विक्षेपशक्ति का प्रयोग करके संसार को न दिखाये। कारण शरीर से तो हमें बन्धन का भी अनुभव नहीं है और कारण शरीर से हम कुछ साधना भी नहीं कर सकते। केवल आवरण से दुःख नहीं होता। विक्षेप हो तभी दुःख-सुख शुरू होंगे। जैसे, रस्सी नहीं दीखने से साँप दीखा तो दुःख हो गया और मान लो, साँप नहीं मोती की माला दीख गई तो सुख हो गया। यदि कोई चीज नहीं दीखी तो न सुख और न दुःख होगा। केवल आवरण रहने पर सुख-दुःख प्रकट नहीं होंगे। विक्षेप होने पर सृष्टि को दिखाया जायेगा तब तुम्हारे सामने कभी दाल का सीरा और कभी वाजरे का सूखा रोट आयेगा तभी सुख-दुःख होंगे। जो सृष्टि सुख-दुःख का कारण है वह उत्पन्न हो अर्थात् पाश हो तब तुम पशु बनोगे। पशु तो अविद्यामात्र से बन गये, परन्तु सुख-दुःख का अनुभव तभी शुरू होगा, जब संसार हो। वह सृष्टि कैसे उत्पन्न होती है, यह बताते हैं–

तमःप्रधानप्रकृतेस्तद्भोगायेश्वराज्ञया।
वियत्पवनतेजोम्बुभुवो भूतानि जज्ञिरे ॥१८॥

ईश्वर की आज्ञावश प्राज्ञों के भोग के लिये तम की प्रधानता वाली प्रकृति से आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी–ये भूत प्रादुर्भूत हुए।

सत्त्वप्रधान प्रकृति तो ईश्वर की उपाधि हो गई और जो तमःप्रधान प्रकृति है वह इस सारी सृष्टि को उत्पन्न करने वाली उपाधि है। यह सारी सृष्टि तमःप्रधान प्रकृति से ईश्वराज्ञा से ही उत्पन्न होती है। सृष्टि की उत्पत्ति तभी होगी जब ईश्वर आज्ञा देगा। इसलिये उपनिपद् कहती है 'तदैक्षत' पहले वह परमेश्वर संकल्प करता है तब सृष्टि होती है। एक प्रश्न लोगों को तंग करता रहता है कि उसने संकल्प क्यों किया अर्थात् संकल्प नहीं करना चाहिये था। इस प्रश्न के उत्तर के लिए अपने को सोचो, उसी से समस्या का हल जल्दी होगा : तुम गहरी नींद में आनन्द से सोये थे, उठोगे तो तुम्हें सारे सुख-दुःखों का अनुभव होगा। सुख-दुःख का अनुभव करने के लिये तुम उठते ही क्यों हो? यही कहना पड़ेगा कि पिछले किये हुए कर्मों को भोगने के लिये उठना ही पड़ता है। इसी तरह पिछले किये हुए

कर्मों के कारण ही परमेश्वर आज्ञा देता है या ईक्षण करता है। जीव के पहले किए हुए जो कर्म हैं, उनका फल होना है। यह सिद्धान्त है कि कोई भी चीज खत्म नहीं हो सकती। अतः जो कर्म हम करते हैं वे 'नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि' अरबों कल्प वीत जायें तब भी जब तक उनके फलों का भोग नहीं कर लिया जाता तब तक कर्म खत्म नहीं होते।

हम लोग जोर देते हैं कि कर्म करने के पहले खूब विचार कर लो क्योंकि अभी तुम्हारे हाथ में है कि कर्म करो या न करो, इसमें तुम स्वतंत्र हो। तुम्हारे पिछले संस्कार उद्बुद्ध होंगे परन्तु तुम उनकी प्रेरणा-अनुसार करो या न करो, यह तुम्हारे हाथ में है। एक वार तुमने कर्म कर लिया तो उसका फल भोगना ही पड़ेगा। वाणी से हम लोग इतनी जल्दी वोल देते हैं कि बाद में कोई पूछे कि 'तुमने ऐसा कैसे कहा' तो कहना पड़ता है 'मैं अपनी बात को वापिस लेता हूँ।' चाहे जितना वापिस लो, उस आदमी का दुःख तो मिटने वाला नहीं है। इसीलिये वाणी के प्रयोग में नियंत्रण पर इतना जोर दिया गया है कि बोलने से पहले बार-बार सोचकर देखो कि अमुक बात बोलना जरूरी है या बिना बोले काम चल सकता है। यदि बिना बोले काम चल सकता है तो मत बोलो। यदि वह बात न तुम्हें और न किसी और को वास्तविक प्रसन्न करने वाली है तो उस हिस्से को मत बोलो। सावधानी यहाँ तक करो कि पहले यह सोचो कि उस बात का क्या-क्या प्रभाव दूसरे पर पड़ सकता है और वह प्रभाव डालना जरूरी है या नहीं? दूसरे को जो बात हम कह रहे हैं वह उसे फायदा पहुँचायेगी या नहीं? यदि उसकी हितकारी बात नहीं है तो मत बोलो। संस्कृत में सत्य का मतलब होता है जो सबके लिये हितकारी हो 'सत्यं भूतहितं प्रोक्तं न यथार्थाभिभाषणं' व्यास जी कहते हैं कि जो दूसरे के हित की बात नहीं उसे मत बोलो। बात जैसी है वैसी तुमने कह दी–इतने मात्र से सत्य नहीं होता है। इसका उल्टा अर्थ नहीं लेना कि दूसरे के फायदे का है तो झूठ ही बोलो! लेकिन इतना याद रखो कि जिससे दूसरे का फायदा हो ऐसा यथार्थ बोलो।

कर्मों के भोग के लिये ही परमेश्वर आज्ञा देकर सृष्टि करते हैं। सृष्टि बनाने की उसकी आज्ञा तुम्हारे भोग के लिये ही है। भोग मायने सुख या दुःख का अनुभव और वह अनुभव विषयों से होता है इसीलिये विषय बनाने पड़ते हैं। उन विषयों के लिये आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी इन पाँच महाभूतों को उत्पन्न कर दिया। पंचमहाभूतों का मतलब ठीक से समझ लेना : भूत का मतलब है जो शब्दादि वाली वस्तु हो। जो तुम कान से ग्रहण करते हो, वह शब्द जहाँ रहता है वह आकाश है। जो जीभ से ग्रहण करते हो वह रस जहाँ रहता है वह जल है, जो तुम नाक से ग्रहण करते हो वह जहाँ रहता है वह पृथ्वी है, जो त्वक् से ग्रहण करते हो वह जहाँ रहता है वह वायु है, आँख से ग्राह्य रूप जहाँ रहता है वह तेज है। ये पाँच ही विषय हो सकते हैं। कम से कम मनुष्यों में, और जहाँ तक हम जानते हैं किसी भी प्राणी में पाँच से ज्यादा इन्द्रियाँ नहीं मिलती। पाँच से कम तो बहुतों में मिलती हैं परन्तु पाँच से ज्यादा इन्द्रियों वाला कोई प्राणी उपलब्ध नहीं है। इसलिये सृष्टि में हमने पाँच भूत

माने। ये पाँच भूत हैं जिनको पाँच इन्द्रियों से विषय करते हैं इसलिये पांचभौतिक सृष्टि का मतलब हुआ कि सृष्टि की मूल चीजों को बना दिया गया ॥१८॥

त्रिगुणात्मिका प्रकृति के अन्दर तमोगुण की प्रधानता होने पर परमेश्वर ने पंचमहाभूत बनाये। उन पंचमहाभूतों के अन्दर भी सत्त्वगुण का अंश है! क्योंकि प्रकृति त्रिगुणात्मिका है, इसलिये उसके तमोगुणप्रधानरूप के अंदर भी सत्त्व और रज की अवस्थिति अवश्य है। अतः तमोंश से बने भूतों के सत्त्वादि अंशों से कार्यों का बनना संगत है। पहले उनके सत्त्वांश के कार्य गिनाते हैं–

सत्त्वांशैः पञ्चभिस्तेषां क्रमाद्धीन्द्रियपञ्चकम्।
श्रोत्रत्वगक्षिरसनघ्राणाख्यमुपजायते॥१६॥

भूतों के पाँच सत्त्वांशों से क्रमशः श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना और घ्राण नामक पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं।

पाँचों भूतों में जो सत्त्व वाले अंश हैं उनसे क्रम से इन्द्रियाँ पैदा होती हैं। आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी यह क्रम है। आकाश से शब्द और श्रोत्र बना। तमोगुण वाला हिस्सा जाना जायेगा, विषय होगा और सत्त्वगुण वाला हिस्सा जानेगा। सत्त्वगुण ज्ञान को प्रकट करता है, रजोगुण क्रिया को और तमोगुण मोह को प्रकट करता है। इसलिये जो ज्ञान के साधन हैं, वे इन्द्रियाँ सत्त्वगुण से ही बनेंगी। शब्द जाना जायेगा और वह शब्द जिस आश्रय में है वह आकाश है। कान (श्रोत्रेन्द्रिय) उस शब्द को जानेगा। अगला भूत पवन या वायु है। वायु वह है जिसमें स्पर्श रहता है, इसलिये उसको ज़ानने के लिये जो सत्त्व गुण का अंश है उससे त्वक् (छूने की इन्द्रिय) बना। इसलिये त्वक् स्पर्श को ही जानेगा। नियम यह हुआ कि सत्त्वगुणांश से जानने वाली चीज बनी और तमोगुण की प्रधानता होकर जिसको जानते हो वह बना। तीसरा भूत तेज है। आँख तेज से बनी है, इसलिये रूप को और रूप के आश्रय तेज को जानती है। चखने की इन्द्रिय रसना, जीभ है। जीभ रस को जानेगी और स्वाद के आश्रय जल को भी रसना से जाना जाता है। इसी प्रकार से घ्राण पृथ्वी से बना है। गन्ध का आश्रय पृथ्वी है इसलिये उसे घ्राणेन्द्रिय जानेगी। इस प्रकार पाँच विषयों के तमोगुणांश से जो जाना जाता है वह बना और सत्त्वांश से जिनसे जानते हैं वे इन्द्रियाँ बनीं ॥१६॥

एक चीज ऐसी है जो रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श पाँचों को जानती है! वह मन है, मन पाँचों को जानता है। क्योंकि मन में पाँचों संस्कार रहते हैं इसीलिये स्वप्न में पाँचों का अनुभव होता है। मेवे की खिचड़ी खाने का, ठण्डी हवा लगने का, सुन्दर आदमी देखने का भी अनुभव होता है। मन में चूँकि पाँचों के संस्कार हैं इसलिये नींद में वे मन के द्वारा प्रकट होते हैं। इसलिये मन को पाँचों महाभूतों के सत्त्वांश से बनना पड़ा। तभी वह महाभूतों को और उनके विषयों को जान सकता है। उसी को बताते हैं–

तैरन्तःकरणं सर्वैर्वृत्तिभेदेन तद् द्विधा।
मनो विमर्शरूपं स्याद् बुद्धिः स्यान्निश्चयात्मिका।। २०।।

भूतों के उन सभी सत्त्वांशों से अन्तःकरण बनता है। वृत्तियों के (व्यापार के, वर्ताव के) भेद से वह दो तरह का है–संशयरूप वृत्ति मन एवं निश्चयरूप वृत्ति बुद्धि है।

चूँकि यह जानने वाला हिस्सा है इसलिये उन पंचमहाभूतों के सत्त्वांश से ही पैदा होगा। उसका नाम अंतःकरण है अर्थात् अन्दर की चीजों को जानने वाला। पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ बहिरिन्द्रियाँ कही जाती हैं। बहिः अर्थात् बाहर की चीजों को जानने वाली इन्द्रियाँ हैं। अंदर की चीजों को जानने वाला होने से मन अंतःकरण कहा जाता है। मन खुद बाहर की किसी चीज को नहीं जान सकता। आँख ने रूप को जाना तो आँख से जाना हुआ रूप अन्दर की चीज हो गया। रूप तो बाहर की चीज है, परन्तु आँखों ने उस रूप को देखा तो वह अन्दर की चीज हो गया, उस 'आँखों के देखने को,' अर्थात् आँख ने देखा है इस बात को अंतःकरण जान लेता है। अन्तःकरण का मतलब मन समझ लो। मन को इस बात का ज्ञान हो जाता है कि मुझे घड़ी दीखी। घड़ी को तो आँख ने देखा लेकिन घड़ी दीख गई इस बात को अंतःकरण ने जाना। मन जानता है कि घड़ी का ज्ञान आँख के द्वारा हो गया। इसी प्रकार कान से शब्द को सुना तो उसको भी मन ने जान लिया कि शब्द सुना गया। विना कान के मन चाहे जितनी चेष्टा कर ले, बाहर के शब्द को नहीं जान सकता परन्तु कान ने सुन लिया इस अंदर की चीज को तो वह जान ही लेगा। इस तरह अन्तःकरण अन्दर की सब चीजों को जानने वाला हो गया।

इस अंतःकरण के अनेक प्रकार के व्यवहार हैं। बहिरिन्द्रिय का तो एक ही व्यवहार–बाहर की चीज के ज्ञान को अन्दर कर देना है। आगे फिर सब काम मन करता है। यहाँ हम सब लोग बैठे हैं और कोई रूसी (रशियन) भी यहाँ बैठा है। उसके कान तो वही सुनेंगे जो हम सब सुन रहे हैं। कान उसका भी है परन्तु कान से सुनने के बाद जो सुना जा रहा है उसका मतलब क्या है–यह मन ही जानेगा। जिसे हिन्दी भाषा का संस्कार है, ज्ञान है वह तो समझ लेगा कि हम क्या कह रहे हैं। जिसके अंतःकरण में हिन्दी भाषा का ज्ञान या संस्कार नहीं है, सुनेगा तो वह भी उसी बात को जो तुम सुन रहे हो, परन्तु क्या सुन रहा है–इसका ज्ञान उसे नहीं होगा। इन्द्रियाँ बाहर की चीज के रूप, रस, गन्ध आदि और उनके आश्रय को देख लेती हैं। यहाँ बैठा हुआ अनुक्रम तो जैसा है वैसा ही आँख से दीखेगा, परन्तु 'यह अनुक्रम है' इस बात को मन ही जानेगा, आँख इस बात को नहीं जानेगी कि अनुक्रम है। जो दीख रहा है वह अन्दर पहुँच गया तो मन ने जाना कि यह अनुक्रम है क्योंकि अनुक्रम के संस्कार हैं। यह जो 'अन्दर जानने' की प्रक्रिया है, मन का जानना है, इसको वृत्तिभेद कहते हैं। वृत्ति का मतलब परिणाम या वर्ताव होता है। अंतःकरण के अनंत वृत्तिभेद हैं। मनुष्य के जितने सूक्ष्म व्यवहार हैं उन सबको यह अंतःकरण ही सम्पन्न करता है। स्थूल

पदार्थों का व्यवहार तो इन्द्रियों से हो जायेगा, परन्तु सूक्ष्म पदार्थों का व्यवहार अंतःकरण करेगा। माँ अपने बच्चे के सिर पर हाथ फेरती है। नर्स भी रोगी के सिर पर हाथ फेरती है। माँ के हाथ फेरने का जो विलक्षण आनन्द है वह नर्स के हाथ फेरने से नहीं होता। जबकि दोनों का हाथ फेरना तो एक जैसा ही है। इन्द्रिय तो उतना ही ग्रहण करती है जो स्पर्श हुआ परन्तु उस विलक्षण आनन्द को मन ही विषय करता है। इसीलिये बहुत से लोग ऐसे कठोर हृदय वाले होते हैं कि माता के स्पर्श से भी उनके अन्दर कोई भावना नहीं आती। इस प्रकार अंतःकरण के अनेक व्यवहार हैं जिन्हें यहाँ वृत्तिभेद कहा।

विचार के लिये चीजों का समूहों में विभाजन करना पड़ता है। बहुत-सी चीजों को समझने के लिये इकट्ठा करके जानना पड़ता है। 'औरतों का स्वभाव ऐसा होता है,' यह कहते हो तो सबका व्यवहार एक जैसा नहीं हो रहा है, परन्तु समूह में एकत्र करके कहा जा रहा है, जबकि हरेक औरत अलग-अलग रहेगी। इसी प्रकार मिठाईयाँ सब एक नहीं रहेंगी। परन्तु समूह बना देते हैं, कि इन चीजों को मिठाई कहेंगे इन चीजों को नहीं कहेंगे। मिठास तो चावल में भी है परन्तु भात बना हो तो नहीं कहते कि मिठाई बनी है परन्तु उसी में थोड़ी सी चाशनी और मेवा डाल दिया तो उसी चावल को मेवे की खिचड़ी अर्थात् मिठाई कहेंगे। यों विभाजन समझने के लिये लाभदायक है। इसी प्रकार अंतःकरण की वृत्तियाँ अनेक होने पर भी उनके दो विभाजन करके 'द्विधा' कह दिया।

अंतःकरण का जो भी व्यवहार है, जो भी परिणाम है उसे दो भागों में बाँट दिया, एक मन और दूसरा बुद्धि है। दो भागों में ही क्यों बाँटा? हम लोग तो वेदानुकूल ही विचार करते हैं। तैत्तिरीय उपनिषद् में मनोमय कोश और विज्ञानमय कोश—ये भाग किये हैं। मनोमय कोश में और विज्ञानमय कोश में ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। परन्तु मनोमय कोश वह है जिसके अन्दर संकल्प-विकल्प होता है, कि ऐसा है या वैसा है। दो तरह का ज्ञान अनुभव में आता है, एक विमर्श-रूप या विचाररूप ज्ञान है कि ऐसा है या वैसा है। विचार तभी करते हो जब किसी चीज के बारे में एकाधिक सम्भावनायें हों। जहाँ संकल्प-विकल्प होता है या जहाँ विचार करते हैं वह सारा का सारा मन है, उन सारे व्यवहारों में आपस में चाहे जितना भेद है, उन सबका एक समूहीकृत नाम 'मन' रख दिया। संकल्प-विकल्परूप ज्ञान या संशयरूप ज्ञान मन है। दूसरी बुद्धि है जो निश्चयात्मिका अर्थात् 'ऐसा ही है' आकार की बनती है। प्रायः हम लोगों का मन तो पुष्ट होता है पर बुद्धि कमजोर रहती है। मन संकल्प-विकल्प करने वाला है कि यह भी हो, वह भी हो, परन्तु 'यह ऐसा ही है'—अंतःकरण की ऐसी निश्चयात्मिका वृत्ति बहुत कम बनती है। निश्चयरूप ज्ञान बुद्धि कहा जाता है। है अंतःकरण एक ही चीज, 'ज्ञानरूप'; परन्तु जब तक वह संशय या विकल्प करता है तब तक उसे मन कह देते हैं और जब वह निश्चयरूप हो जाता है तब उसे बुद्धि कहते हैं। निश्चय अपने को ही करना पड़ेगा, जिसके लिए बुद्धि को धीरे-धीरे दृढ किया जाता है और मन को कमजोर किया जाता है। सामान्य व्यवहार में भी यही बात है : यदि तुम अपने किसी मुनीम

की हर बात को 'हाँ' करते रहे तो वह मुनीम धीरे-धीरे प्रवल हो जायेगा, इतना प्रवल हो जायेगा कि तुम कोई बात कहोगे तो वह कह देगा 'नहीं जी। काम आपकी तरह नहीं होता है, मेरी तरह होता है।' अगर तुम एक दिन में चाहो कि उसकी स्थिति बदल जाये और तुम्हारी बात मानने लग जाये तो संभव नहीं है। मालिक चूँकि तुम हो इसलिये धीरे-धीरे उसकी कई बातों को 'न' करते जाओगे तो वह समझ लेगा कि 'अब मालिक सावधान है, अब इसके कहने में ही रहना चाहिये'। यह तरीका जैसे जीवन के अन्य व्यवहारों में है वैसे ही मन और बुद्धि के व्यवहारों में भी है। एक दिन में चाहो कि अंतःकरण मन का व्यवहार छोड़कर बुद्धि की तरह व्यवहार करने लगे तो यह सम्भव नहीं है। तुम सोचोगे कि 'मैंने निश्चय कर लिया,' फिर थोड़ी देर बाद कुछ दूसरी बात सामने आ जायेगी तो संशय होने लग जायेगा! परन्तु जब धीरे-धीरे तुम निश्चय कर लेते हो कि 'चाहे जितना नुकसान हो, हम यही करेंगे' अर्थात् जब निश्चयात्मक व्यवहार बढ़ा लोगे तब मन सोचेगा कि इसके सामने विकल्प रखना बेकार है। ऐसे व्यक्ति की बुद्धि अर्थात् निश्चयरूप वृत्ति दृढ हो जायेगी। अंतःकरण के ये दो व्यवहार हैं। इन्हीं को तैत्तिरीय उपनिषद् में मनोमय और विज्ञानमय कहा है। निश्चय और संशय के अनेक स्थल होते हैं। इसीलिये वृत्तियाँ कई तरह की हैं। परन्तु प्रकार दो ही हैं कहीं संशय है, कहीं निश्चय है।

प्रायः वेदान्त के ग्रन्थों में अंतःकरण के चार भेद बताये हैं मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। चित्त में तो संकल्प आते हैं। संस्कारों के कारण चित्त संकल्प उठाता है। वहाँ दोनों तरह के संस्कार पड़े हुए हैं इसलिये उसे मन के अन्तर्भूत कर लेते हैं। वैसे तो संस्कार चित्त में हैं, परन्तु चूँकि वे संस्कार संकल्प-विकल्परूप हैं इसलिये उनको मन के साथ समझ लेते हैं और निश्चय के साथ अहंकार समझा जाता है क्योंकि अहंकार हमेशा निश्चय-रूप ही रहता है। 'मैं हूँ, मैंने यह किया, मैंने यह जाना' इत्यादि अहंकार निश्चयरूप रहता है। चित्त और अहंकार क्रमशः मन और बुद्धि के अन्तर्गत आ जाते हैं इसीलिये आचार्य विद्यारण्य स्वामी ने चार की जगह दो विभाग कर दिये। ये ज्ञान के साधन हुए।। २०।।

अब क्रिया का साधन बताते हैं : जीव का रूप यही है, क्रिया और ज्ञान। इन दो से ही जीव का पता लगता है। ज्ञान का तो अपने को खुद पता लगता है, दूसरे को नहीं लगता और क्रिया का पता दूसरे को भी लगता है। कोई आदमी जिन्दा है या मरा है, इसको क्रिया से ही जानना पड़ता है कि साँस चलती है या नहीं, नसें चलती हैं या नहीं, हृदय चलता है या नहीं। ज्ञान और क्रिया ही जीवन का लक्षण हैं। जो कुछ भी नहीं जानता, कुछ भी नहीं करता उसी को हम मरा हुआ मानते हैं। ज्ञान और क्रिया हम में हैं इसीलिये हम प्राणी कहे जाते हैं, हमें जीव कहो, चेतन कहो, एक ही बात है। हम जीव इसीलिये हैं कि हमारे अन्दर ज्ञान और क्रिया हैं। ज्ञान और क्रिया वाला होना ही जीवरूपता है। क्रिया के लिए हमारे साधन क्या हैं–

रजोंशैः पञ्चभिस्तेषां क्रमात् कर्मेन्द्रियाणि तु।
वाक्पाणिपादपायूपस्थाभिधानानि जज्ञिरे ॥२१॥

उन भूतों के पाँचों रजोंशों से क्रमशः वाक्, पाणि, चरण, पायु और उपस्थ नामक कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न हुईं।

आकाश, वायु, तेज इत्यादि पाँच महाभूतों के जो रजोगुणांश हैं उनसे कर्मेन्द्रियाँ बनीं। सत्त्वगुण के हिस्से से ज्ञान के साधन बन गये और रजोगुणांश से क्रिया के साधन बन गये। चूँकि वे पाँच महाभूत हैं इसलिये उनसे होने वाली पाँच ही कर्मेन्द्रियाँ हैं। क्रम से अर्थात् भूतों के जिस क्रम को कहा था आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी, इसी क्रम से वागादि पाँच कर्मेन्द्रियाँ प्रकट होती हैं। आकाश से वाक् अर्थात् बोलने वाली जीभ इत्यादि। 'इत्यादि' इसलिये कहते हैं कि स्वाद तो जीभ से ही आता है परन्तु बोलना केवल जीभ से नहीं हो सकता। प, फ, ब, भ, बोलोगे जब होठ होंगे तभी। इसलिये संस्कृत में किसी ने कहा है कि एक वेश्या का बाप मर गया तो वह रो तो रही है लेकिन 'पिता'-शब्द कहकर नहीं रो रही थी। केवल कहती, 'हा तात, हा तात'; तात भी पिता को कहते हैं। लेकिन 'पिता' कहे तो होठों की लाली बिगड़ जायेगी इसलिये वह 'तात' कहकर रोती रही, पिता कहकर नहीं रोयी! वाणी शब्द को प्रकट करती है। शब्द आकाश का गुण है। इसीलिये वह आकाश से ही बनी है। हाथ वायु से बना है। इसलिये प्रायः करके किसी भी चीज के स्पर्श का ज्ञान करना हो तो हम लोग हाथ से छूकर पता लगाते हैं। यह रेशम का कपड़ा है या ऊन का कपड़ा है—इसको हाथ से छूकर देखते हैं। बच्चे के सिर पर हाथ ही फेरते हैं, ऐसा तो नहीं कि उसके सिर पर पैर फेर दें! पाद अर्थात् पैर का तेज से सम्बन्ध है। आयुर्वेद वाले इस बात को जानते हैं। मनुष्य को तेज बुखार आता है, तो पैर के तलवे में लौकी आदि रगड़ते हैं। उज्जैन का कुम्भ गर्मी में पड़ता है। वहाँ खूब गर्मी होती है, लू भी चलती है। एक बार वहाँ थे तो हमें तेज बुखार आ गया। एक पुराने महंत थे, उन्होंने आकर कहा 'हम आपका इलाज करेंगे' हमने पूछा 'आप क्या करेंगे?' उन्होंने कहा 'लौकी लेकर आपके तलवे पर रगड़ेंगे तो बुखार उतर जायेगा।' वही हुआ। उन्होंने घण्टा-आधा-घण्टा लौकी रगड़ी तो धीरे-धीरे बुखार उतर गया। पैर पर रगड़ने से लौकी गर्मी को खींच लेती है। इसी प्रकार किसी को बहुत ठण्ड लग रही हो, शरीर काँप रहा हो तो तलवे पर गर्म चीज रगड़ो, वह आदमी ठण्ड से बच जाता है। इसलिये पैर का तेज से सम्बन्ध है। यह तो आयुर्वेद वाले भी कहते हैं कि पैर में यदि तेल लगाया जाता है तो आँख में उसकी ताजगी पहुँच जाती है। तेज और पैर का इस प्रकार संबंध होने से तेज से ही पैर बना। जिससे मल मूत्र आदि का विसर्जन होता है वह पायु है। पायु जल से बनी है यह ठीक ही है। उपस्थ के अन्दर शुक्रादि होते हैं जिनमें गन्ध या बदबू होती है, इसीलिये वह पृथ्वी के अंश से बना, यह भी ठीक ही है। इस प्रकार भगवान् ने वाणी, हाथ, पैर, पायु, और उपस्थ इन कर्मेन्द्रियों को पाँचों महाभूतों से पैदा किया ॥२१॥

बाहर की चीजों को ज्ञानेन्द्रियों से जानते हैं, कर्मेन्द्रियों से बाहर की चीजों से व्यवहार करते हैं, हाथ, पैर आदि सब बाहर के ही व्यवहार करेंगे। बहुत से व्यवहार शरीर के अन्दर के हैं, वे किससे होते हैं यह बताते हैं–

तैः सर्वैः सहितैः प्राणो वृत्तिभेदात् स पञ्चधा।
प्राणोऽपानः समानश्चोदानव्यानौ च ते पुनः ॥२२॥

भूतों के उन रजोंशों से मिलकर प्राण बना जो वृत्तियों के भेद से पाँच तरह का है। वे पाँच प्रकार हैं–प्राण, अपान, समान, उदान, और व्यान।

पाँचों भूतों के रजोंश मिलकर प्राण हो जाते हैं। जैसे सभी भूतों के सत्त्वगुणांश मिलने से अंतःकरण हो गया वैसे ही पाँचों महाभूतों के रजोगुण को आपस में मिला दिया तो प्राण हो गया। इन प्राण आदि से ही सारी कर्मेन्द्रियों की प्रेरणा होगी, चाहे हाथ से वजन उठाओ, चाहे पैरो से तेज दौड़ो। मोटेरूप से समझना हो तो हाथ, पैर आदि किसी भी कर्मेन्द्रिय से ज्यादा काम करो तो साँस तेज चलने लगती है, यह सबका अनुभव है। हाथ उठा रहे हैं तो साँस की क्या जरूरत है? बिना साँस के हाथ का काम नहीं हो सकता। कई काम ऐसे होते हैं जिनके अन्दर दोनों गतियों को देखना पड़ता है। ज्यादा वजन उठाना पड़ता है तो मजदूर भी सबसे पहले साँस रोकता है तब वजन उठाता है। बाहर की क्रियायें कर्मेन्द्रियों से होंगी परन्तु अन्दर से पहले प्राण क्रिया करेगा तब कर्मेन्द्रियाँ काम करेंगी ।

प्राण के पाँच प्रकार के व्यवहार हैं। वृत्ति अर्थात् व्यवहार। जैसे मन को अनंत प्रकार का होने पर भी दो भागों में बाँटा था उसी प्रकार प्राण की क्रियायें तो बहुत हैं, कलम से लिखना या फावड़ा चलाना, दोनों काम हाथ से ही करते हैं, स्टीयरिंग को घुमाना भी हाथ का काम है, सब काम अलग-अलग ढंग से करने पड़ते हैं, प्राण के व्यवहार अनेक प्रकार के हैं परन्तु समझने के लिये विभाजन पाँच में किया। अंतःकरण को दो भागों में बाँटा था–मन और बुद्धि। प्राण को पाँच भागों में बाँटते हैं–प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान। प्राण–जो साँस अन्दर जाती है। अपान, जो हवा तुम बाहर निकालते हो। प्राण शब्द बड़ा विचित्र है। प्र+अन मिलकर प्राण शब्द बनता है। अन् धातु का अर्थ जीवन होता है। यह भारोपीय शब्द है। इसलिये अंग्रेजी में भी 'एनिमल' शब्द है। जिसे हम प्राणी कहते हैं उसे वे इस शब्द से कहते हैं। इसी प्रकार अप+अन मिलकर अपान बनता है। अप अर्थात् नीचे, अपान अर्थात् नीचे जाने वाली जीवनी शक्ति, अधोवायु इत्यादि कार्य करने वाला अपान है। समान–हम जो खाते-पीते हैं वह सारा पेट में जाता है। खाई हुई चीज में जो शक्ति है, वर्तमान भाषा में प्रोटीन, कार्बोहाईड्रेट, फैट आदि को शरीर के भिन्न-भिन्न भागों में समान वायु पहुँचा देता है। यह फैलाने वाली शक्ति भी आंतरिक है, बाहर नहीं है। इसी को समान नामक प्राण कहते हैं। उदान, हर चीज को स्वाभाविक रूप से नीचे गिरना चाहिये। हम सब यहाँ बैठे हैं। किसी को नींद आ जाये, वह बात दूसरी है, बाकी कोई नीचे

नहीं गिर रहा है। कोई ऐसी क्रिया है जिसके द्वारा तुम बैठे हुए हो। नींद आते ही ऐसा कोई संकल्प नहीं कि 'मैं गिरूँ' पर सिर कभी इधर, कभी उधर जायेगा। उदान मायने जो शरीर को खड़ा रखता है। खड़ा रहने का मतलब धरती से लम्बवत् रहना है अतः बैठे हुए जो धड़ गर्दन सीधे रहते हैं उसमें हेतु यही उदान वायु है जिसके सहारे बैठे हो। सारे शरीर के अन्दर प्राण की जो व्यापकता है वह व्यान है। सबको व्याप्त करके रखने वाली शक्ति व्यान है।

शरीर के किसी अंश से यह शक्ति निकलती है तो वह अंश मर जाता है। जैसे बाल का जो अन्दर का हिस्सा जड़ है वह जीवित है, उसको निकालो तो खूब दर्द होता है। उसमें कीटाणु इत्यादि होकर संक्रमण भी हो जाता है। परन्तु तुम्हारे जो बाल बाहर निकले हुए हैं उन्हें नाई काट दे तो कोई दर्द नहीं होता। उनके ऊपर कोई कीटाणु प्रभाव नहीं डालने। इसलिये यदि पुरानी औरतों या पुराने सिक्खों को देखो तो उनके बालों में तुम्हें जंगल नजर आयेगा! जुएँ, लीखें सब पड़ जाती हैं। जब वे काटने लगती हैं तब तो उन्हें पता लगता है, खुजली होती है, लेकिन जब तक वे नहीं काटतीं तब तक पता नहीं लगता क्योंकि बालों में उलझी हुई हैं। पता तब लगेगा जब त्वक् (त्वचा) से सम्पर्क हो, लेकिन जब तक बालों में हैं, तब तक कुछ पता नहीं लगता। इसी प्रकार नाखूनों को समझ लो। नाखून का निचला हिस्सा तो जीवित है और ऊपर का हिस्सा काट दो तो कुछ दर्द नहीं होता। जहाँ प्राण अपनी व्यापकता को नहीं रखता वह-वह हिस्सा जीवन-रहित या जड की तरह हो जाता है, बाकी सारा शरीर जीवित है क्योंकि वहाँ प्राण मौजूद है। इस प्रकार पाँच प्राणों को बता दिया।

प्राण के ही और भी पाँच कार्य हैं जो अन्दर ही होते हैं। डकार आना अथवा किसी समय वमन (कै या उल्टी) आना। यह भी बाहर का कार्य नहीं है, अन्दर का ही कार्य है। इस कार्य को करने वाला नाग वायु है जो प्राण का ही एक स्वरूप है। दूसरा, आँखें खुलना, मिंचना भी कार्य है, इसको करने वाला कूर्म प्राण है। जब आँख बन्द हो जाती है तब तुमको बाहर की किसी चीज का दर्शन नहीं हो सकता। इसी प्रकार भगवान् ने कहा कि कछुआ सारी इन्द्रियों को बन्द कर लेता है। कछुए को जैसे ही अपने ऊपर किसी खतरे का पता लगता है, वह अपने सारे अवयवों को अपने कवच में कर लेता है। इसी प्रकार योगी अपनी सारी इन्द्रियों को बन्द कर लेता है। आँखों से उपलक्षित इन्द्रियों के निमीलन के लिये कछुए का दृष्टांत है, इसीलिये इस प्राण को कूर्म (कछुआ) नाम से कहा जाता है। तीसरी, कृकल प्राण की गति है। लौकिक भाषा में कहते हैं कि 'आज ग्रहण या, ग्रस्तास्त हो गया, रात में भी खाना नहीं हुआ, चौबीस घण्टे से भूखे हैं, जल्दी भोजन बनाओ, पेट में चूहे दौड़ रहे हैं'। अनुभव होता है कि पेट एकदम लप-लप कर रहा है। यह भूख लगना भी अन्दर का कार्य है, बाहर का कार्य नहीं है। कृकल कहते हैं जो भूख लगाता है। एक और कार्य जम्भाई (जृम्भण) लेना है। बच्चे कहते हैं 'अभी तो हमें टी.वी. देखना है' और तुम थके हो तो उबासी आती है। यह भी अन्दर का कार्य है, बाहर का कार्य नहीं है। इसे देवदत्त प्राण

करता है। जो उबासी आदि का कार्य करता है उसे देवदत्त इसलिये कहते हैं कि हम लोग मानते हैं कि नींद देवता के द्वारा ही कृपा करके दी जाती है अन्यथा नींद आती नहीं। जँभाई नींद का पहला रूप है। यह होती है तो पता लग जाता है कि सोना चाहिये। इसलिये इसे देवदत्त (देव-प्रदत्त) कहा। पाँचवाँ धनंजय प्राण बड़ा विचित्र है, यह शरीर को फुलाता है। जैसा कि भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि बाकी के नौ प्राण चले जाने के बाद भी यह धनंजय प्राण पीछे छूट जाता है। इसलिये (मरने के थोड़ी देर बाद) मुर्दा भी फूलने लगता है। यह भी अन्दर का कार्य है। बहुत से लोगों का जब धनंजय वायु ठीक काम नहीं करता तो शरीर फूलता जाता है। ये पाँचों प्राण भी शास्त्रों में बताये हैं। चाहे दस हिस्सों में प्राण को समझो अथवा इन पाँच को पहले पाँच प्राणों के अन्तर्भूत कर लो, हर हालत में सब क्रियायें प्राणों से होंगी। प्राण से भीतरी क्रिया होने के बाद बाहर की क्रिया होगी। चीजों को जान कर मनके अंदर पहुँचाया जाता है और प्राण की भीतर की क्रियाओं को इन्द्रियों से बाहर पहुँचाया जाता है।

आचार्य विद्यारण्य स्वामी ने यहाँ प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान–पाँच ही प्राण लिये। आगे कहेंगे कि पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच प्राण और मन के दोनों वृत्तिभेद, मन और बुद्धि, ये सब मिलाकर सूक्ष्म शरीर बनता है जो भोग का साधन है, इसके द्वारा ही भोग कर सकते हैं। आत्मा स्वयं कोई भोग नहीं कर सकता। इन सत्रह साधनों के द्वारा ही भोग करते हैं।। २२।।

सूक्ष्म शरीर में पहले ज्ञानेन्द्रियाँ बता दीं जिन इन्द्रियों से ज्ञान होता है। फिर कर्मेन्द्रियाँ बता दीं, जिनसे कर्म होता है। मन-बुद्धि बता दिये जिनके द्वारा अंदर की चीजों का ग्रहण होता है और पाँच प्राण बता दिये। अब इन सबके उस संगठित रूप का कथन करते हैं जो संसरण सम्पन्न करने वाली उपाधि है–

बुद्धिकर्मेन्द्रियप्राणपञ्चकैर्मनसा धिया।
शरीरं सप्तदशभिः सूक्ष्मं तल्लिङ्गमुच्यते ॥२३॥

पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँचों कर्मेन्द्रियाँ, पाँचों प्राण, मन, बुद्धि, ये सत्रहों एक-साथ 'सूक्ष्म शरीर' कहे जाते हैं, वही लिंग भी कहलाता है।

संस्कृत में नियम है कि द्वन्द्व समास के अन्त में जो शब्द आता है वह समास में आये सभी शब्दों के साथ सम्बन्धित हो जाता है। इसलिये 'बुद्धि-कर्मेन्द्रिय-प्राणपंचक' का मतलब हो जायेगा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और पाँच प्राण, ये मिलकर पन्द्रह हैं। मन-बुद्धि के साथ मिलकर सत्रह हो गये। इन सत्रह चीजों से सूक्ष्म शरीर बना। स्थूल शरीर तो हमारा यह है जो बाहर दीखता है और जिससे जाना जाता है, जिससे काम किया जाता है, जिससे सोचा जाता है वह सूक्ष्म शरीर हो गया। जैसे मोटर कार में एक तो बाहर का शरीर है और दूसरा उसके अन्दर यंत्र है जो उसे चलाता है वैसे हमारा स्थूल शरीर भी है,

इसे चलने लायक रखने वाला लिंग शरीर भी है। उसको सूक्ष्म शरीर कहते हैं। सूक्ष्म महाभूतों से बना हुआ होने के कारण यह इन्द्रियों का विषय नहीं है, इनमें से कोई चीज ऐसी नहीं है जो दूसरा देख सके। मैं देखता हूँ तो मुझे अपनी आँख पता चलती है लेकिन कोई नहीं जान सकता कि मुझे दीख रहा है या नहीं। ऐसा रोग होता है जिसमें आँख जैसी है ठीक वैसी ही दीखेगी, परन्तु उस आदमी को दीखता ही नहीं है। जब प्रथम विश्वमहायुद्ध में जर्मनी हार गया था तब हिटलर को इतना झटका लगा कि छह महीने तक उसे कुछ नहीं दीखता था, अन्धा हो गया था! वह मानसिक झटके के कारण वैसा हुआ था क्योंकि अपने देश को हारा हुआ नहीं देख सका। ऐसे व्यक्ति की आँख की बाहर से चाहे जितनी परीक्षा कर लो, वह आँख तो ठीक निकलेगी, परन्तु वह देख नहीं सकता। कई स्थितियाँ मन के कारण होती हैं। जैसे यदि किसी प्रकार का तनाव हो तो हम लोगों के सिर में बड़ा दर्द होता है। हमारे शरीर की सारी परीक्षा करा लो, सब चीजें ठीक निकलेंगी लेकिन चिंता के कारण सिर में दर्द रहेगा। इसी प्रकार से अनेक बीमारियाँ हैं जिनके लिये बाहर कोई कारण नहीं है, मन ही कारण है जिससे बीमारी हो जाती है। इसलिये मेरा कान सुन रहा है या नहीं, मेरी आँख देख रही है या नहीं—इस बात को मैं ही जान सकता हूँ। यह तो ठीक है कि यदि गोलक खराब है, या फूट गई है तब तो दूसरे भी कह सकते हैं कि इसको नहीं दीखता लेकिन सूक्ष्म महाभूतों का बना होने के कारण सूक्ष्म शरीर इन्द्रियों का विषय नहीं है अर्थात् कोई दूसरा इसे नहीं देख सकता। साधारण भाषा में सूक्ष्म का मतलब छोटा होता है, उस अर्थ में यहाँ सूक्ष्म नहीं समझना। यह सूक्ष्म है अर्थात् इन्द्रियों का विषय नहीं है, स्थूल वह है जो इन्द्रियों का विषय होता है।

कई बार शंका होती है कि हम जब प्राण या साँस लेते हैं तब तो नाक के द्वारा पता चलता है, स्पर्श भी होता है, दूसरा आदमी हाथ लगाकर देख सकता है कि इसका प्राण चल रहा है या नहीं, तो क्या प्राण स्थूल है? प्राण एक तरह से लहर की तरह है जो बाह्य वायु को चलाता है। इसीलिये जो तुम को हाथ रख कर प्रतीत हो रहा है वह तो बाह्य वायु है। उसको चलाने वाला प्राण है जो तुम्हें नहीं दीखता। नाक-मुँह में चलती वायु केवल अनुमान कराती है कि वायु चल रही है तो अन्दर प्राण है। जब प्राण शक्ति अत्यंत क्षीण हो जाती है तब वह वायु को नहीं चला सकती। तब यंत्रविशेष (Ventilator) से वायु चला देते हैं। वैण्टीलेटर से वायु तो वैसी ही चलती है जैसी दूसरे सामान्य व्यक्ति की चल रही है, परन्तु उसे प्राण नहीं चला रहा है, वह उस यंत्र से चल रही है। इसलिये वायु और प्राण में भेद करना जरूरी होता है। अगर मैं सड़क पर चल रहा हूँ और गड्ढे, ईंट आदि से बच जाता हूँ तो दूसरा आदमी अनुमान कर सकता है कि इसे दीख रहा है, नहीं तो कैसे बचकर चलता। इस प्रकार अनुमान से पता चल जाता है, लेकिन 'इसे दीख रहा है' यह साक्षात् तो दूसरों को पता नहीं चलता। इसी प्रकार वायु के चलने को देखने से प्राण शक्ति का पता लग जाता है, परन्तु प्राण साक्षात् तो विषय नहीं हो रहा है। इसीलिये प्राण भी सूक्ष्म है इसलिये सूक्ष्म शरीर में कहा।

दूसरी समस्या है कि शरीर कहते किसको हैं? 'यह मैं हूँ' ऐसी जिसकी प्रतीति होती है उसको शरीर कहते हैं। इस स्थूल शरीर में तो प्रतीति होती है कि 'यह मैं हूँ', ऐसे सूक्ष्म शरीर में यह प्रतीति तो किसी को नहीं होती कि मैं सूक्ष्म शरीर हूँ। कम से कम गहरी नींद से तो उठकर हम कहते हैं कि 'मैं अज्ञानी था, कुछ नहीं जान रहा था'; उसी को अज्ञानी कहते हैं जो कुछ नहीं जानने वाला था। कुछ नहीं जानने वाला मैं था–गहरी नींद में तो यह प्रतीति हो जाती है, परन्तु जाग्रत् में यह प्रतीति नहीं होती कि सूक्ष्म शरीर वाला मैं हूँ। फिर इसे शरीर क्यों कहते हैं? सूक्ष्म शरीर लिंग है; लिंग का मतलब है जिसको देखकर, जिसकी प्रतीति या अनुभव करके हमको किसी अन्य चीज का पता लगता है। 'लीनम् अर्थं गमयति इति लिंगम्'। उसमें छिपा हुआ जो पदार्थ है उसका ज्ञान करा देता है, इसलिये लिंग कहते हैं। जैसे दूर से धुएँ के गुब्बारों को आसमान में जाते देखकर पता लगता है कि वहाँ आग लगी हुई है। दीखा तो धुआँ, लेकिन उससे पता लग गया आग का। इसलिये धुआँ आग का लिंग है क्योंकि उसे देखने से जो दीख नहीं रही उस आग का पता लग जाता है। क्योंकि इंद्रियादि से आत्मा की अवस्थिति मालूम चल जाती है इसलिये इसे लिंग शरीर कहते हैं।

लिंग शरीर की एक-एक चीज का तो पता लगता है, मुझे सामने की दीवार दीखी तो पता लग गया कि मेरी आँखें हैं। घण्टे की आवाज सुनने से हमें कान का पता लग गया। तत्तद् काल में एक-एक इन्द्रिय का तो पता लग जायेगा, परन्तु सबका इकट्ठा कैसे पता लगता है? जब हम स्वप्न में जाते हैं तब स्थूल शरीर की इन्द्रियाँ तो वहाँ काम नहीं कर रही हैं। इसलिये चश्मा लगाने वाला आदमी भी स्वप्न में बिना चश्मे के देखता है, कान में मशीन लगाने वाला आदमी भी स्वप्न में सुनता है। जिसे फालिज हुई है वह भी स्वप्न में चलता-बोलता है। जब स्वप्न काल में ये सब कर रहा है तो वहाँ जाग्रत् काल वाला सूक्ष्म शरीर तो नहीं है, परन्तु वहाँ सूक्ष्म शरीर है। इसका पता लग जाता है कि यदि सूक्ष्म शरीर न हो तो वहाँ कैसे देखा और सुना! कोई कह सकता है कि वहाँ भी एक काल्पनिक या प्रातिभासिक शरीर बन जाता है, उससे देख-सुन लेता होगा। लेकिन उस प्रातिभासिक शरीर का कोई अधिष्ठान तो होना ही चाहिये। अधिष्ठान का ज्ञान हुए बिना काल्पनिक चीज का बाध नहीं होता। जैसे साँप का अधिष्ठान रस्सी है तो रस्सी को जानने से पता लगता है कि साँप नहीं है परन्तु स्वप्न से उठने पर हमें ब्रह्मज्ञान की जरूरत नहीं पड़ती, फिर भी पता लग जाता है कि जो देखा था वह नहीं था। इसलिये यदि प्रातिभासिक सूक्ष्म शरीर मान भी लें तो उसका अधिष्ठानरूप लिंग शरीर सिद्ध होगा। इससे भी लिंग या सूक्ष्म शरीर की सिद्धि होती है। इतना ही नहीं, योग शास्त्र में हम देखते हैं कि मनुष्य एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में प्रवेश कर लेता है। हमें वहाँ कोई स्थूल चीज एक से दूसरे में जाती दीखती नहीं है। अतः उसे सूक्ष्म शरीर ही मानना पड़ेगा। शास्त्र की दृष्टि से देखो तो स्वर्गादि जाने वाली क्या वस्तु है? यह स्थूल शरीर तो यहीं रह जायेगा। आत्मा ही चला जायेगा–यह नहीं हो सकता क्योंकि व्यापक आत्मा तो कहीं आता-जाता नहीं है। इसलिये स्वर्गादि में जाने

के लिये सूक्ष्म शरीर को मानना ही पड़ता है। इसलिये 'मैं सूक्ष्म शरीर हूँ,' ऐसे इकट्ठा पता न लगने पर भी इन सब चीजों से 'सूक्ष्म शरीर है' यह पता लग जाता है।

यह जो सूक्ष्म शरीर बताया गया है, यह सृष्टि के अंत तक वही बना रहता है। चाहे जितने शरीरों में घूमें पर सूक्ष्म शरीर एक ही रहता है। इसीलिये कहते हैं कि जो करोगे वह तुम्हें भोगना ही पड़ेगा, इस शरीर में नहीं तो आगे शरीरों में भोगना पड़ेगा। शंका होती है कि मैंने इस शरीर से किया और जब यह शरीर नहीं रहा तो करने वाला भी नहीं रहा। यह शंका इसलिये नहीं बनती क्योंकि करने वाला तो सूक्ष्म शरीर है। स्थूल शरीर घर की तरह है अर्थात् इसमें बैठकर सब काम करता है, लेकिन करने वाला सूक्ष्म शरीर है। इसलिये यदि हमने इस कमरे में बैठकर तुमसे सामान लिया, हम घर बदल कर दूसरे घर में चले गये और तुम वहाँ पैसा लेने आये तो हम यह नहीं कह सकते कि 'हमने उस कमरे में लिया था, उस कमरे वाले से लो'। चाहे उस कमरे में या इस कमरे में, लिया तो तुमने ही था इसलिये पैसा तुम्हें ही देना पड़ेगा। ठीक इसी प्रकार से करने वाला और जानने वाला सूक्ष्म शरीर है। सूक्ष्म शरीर के द्वारा आत्मा को प्राप्त होता है या नहीं होता है, यह दूसरी बात है, परन्तु सूक्ष्म शरीर से किया। इस शरीर में बैठकर किया इसलिये इसको करने वाला भी कह देते हैं। कर्म का फल उसी सूक्ष्म शरीर को भोगना पड़ता है जिससे कर्म किया है।

सूक्ष्म शरीर गहरी नींद में लीन हो जाता है। 'सुषुप्तिकाले सकले विलीने' ऐसा श्रुति कह रही है और अनुभव भी होता है कि गहरी नींद में आँख, कान, नाक कोई काम नहीं करते। जैसे हमें दीखता नहीं तो जानते हैं कि हमारी आँख नहीं है, हम अंधे हो गये, उसी प्रकार सुषुप्ति काल में न देखता है, न सुनता है, न चलता है, न बोलता है, न सोचता है इसलिये सूक्ष्म शरीर नहीं रहा। नहीं रहने को ही हम लोग 'लीन होना' कहते हैं। फिर कैसे कहते हैं कि सूक्ष्म शरीर वही बना रहता है? हर दिन सोते हैं तो लीन हो जाते हैं, फिर उठते हैं तो नया बन जाता है–ऐसा क्यों न मान लें? कल हमने बैंक से उधार लिया तो आज वह नहीं माँग सकते क्योंकि लेने वाला तो चला गया! यहाँ समझ लेना : दो तरह से चीजों का दीखना बन्द हो जाता है। एक तो अपने उपादान कारण में लीन हो जाये। जैसे बर्फ की डली पानी से बनी है और पानी में ही उसे पिघला दिया तो पानी, पानी में मिल गया। यह उपादान कारण में लीन हो जाना है, पानी से बर्फ बना और पानी में ही चला गया। अब उसी बर्फ को हम नहीं निकाल सकते। जब चीज उपादान कारण में आती है तो फिर वही नहीं निकलेगी। परन्तु लीन होने का एक दूसरा रूप भी है : छांदोग्य उपनिषद् में आता है कि पिता पुत्र को सिखा रहा है कि परमात्मा व्यापक है। यह सिखाने के लिये वह एक लोटा पानी लेता है और उसमें सेंधा नमक के टुकड़े डालता है। फिर बेटे से कहता है कि इस लोटे को अल्मारी में रखकर ताला बन्द करके चाबी अपने पास रखो। दो दिन बाद उससे वह लोटा मँगाता है। बाप उसमें देखकर पूछता है 'मैंने जो नमक की डली इसमें रखी थी वह कहाँ गई? यहाँ तो है नहीं। क्या तुमने उस डली का कुछ किया है?' वह कहता

है 'मैंने तो कुछ नहीं किया।' फिर वह डली यहाँ क्यों नहीं दीख रही है? पिता कहता है 'इस पानी को ऊपर से चखकर देखो, कैसा है।' उसने कहा 'नमकीन है।' फिर पिता ने कहा 'इसी पानी को नीचे से, अगल से, बगल से, सब तरफ से चखो।' उसने चखकर कहा 'सब तरफ से नमकीन है।' तब पिता ने उससे कहा 'यद्यपि पानी में नमक डली के रूप में नहीं दीख रहा है तथापि पानी तुम्हें नमकीन लग रहा है तो यह नमकीन-पना उस डली का है। इसी प्रकार परमात्मा तुम्हें चिद्घन रूप से तो नहीं दीख रहा है परन्तु जिस चीज को तुम देखते हो वह 'है' वाली दीखती है। रसगुल्ला सफेद, गोल तुम्हें आँख से दीखा, उसका मीठापन जीभ से पता लगा, छूकर हाथ से देख लिया, परन्तु रसगुल्ला 'है' इस है को तुमने किससे देखा? दीखने वाली, सुनायी देने वाली चीजें भी 'है' ही लगती हैं। शोर मच रहा है तो शोर 'है'। आँख तो शोर नहीं देख रही है। इसी प्रकार अकस्मात् कहीं से बदबू आई; गधा सड़ रहा है, यह बदबू आँख, कान से नहीं नाक से ही पता लगती है। बदबू का पता नाक ने लगाया, 'है' का पता किसने लगाया? यह 'है' ज्ञानस्वरूप होने से इसको जानने के लिये और किसी चीज की जरूरत नहीं है। ठीक जैसे प्रकाश में सब चीजें दीखती हैं, तो प्रकाश दीखता ही है, इसी प्रकार सारे संसार में 'है' का ज्ञान हो रहा है। परमात्मा 'है' की तरह सर्वव्यापक है। जहाँ कहा है कि गहरी नींद में सब लीन हो जाता है वहाँ इतना ही मतलब है कि पानी में नमक की तरह घुला हुआ है। विज्ञान के विद्यार्थी जानते हैं कि अगर पानी को भभके से निकाल लो तो नमक निकल जायेगा। बर्फ भी गलकर तो उपादान में गई, लेकिन उसी बर्फ की डली को वहाँ से निकाल सकते नहीं परन्तु इसी नमक को भाप से पानी में से निकाल सकते हैं। वह नया नमक नहीं है, पहले वाला ही है। इसी प्रकार अभी भी परमात्मा तुम्हें दीख रहा है, जैसे पानी में नमक दीख रहा है, परन्तु पानी में नमक डलीरूप में नहीं दीख रहा है, उसका नमकीन-पना दीख रहा है। इसी प्रकार परमात्मा का सच्चित्पना तुम्हें अनुभव में आता है, परन्तु उसका आनन्द-अनंतपना नजर नहीं आ रहा है। श्रवण, मनन, निदिध्यासन के द्वारा जब नाम-रूप बाध करके हटा देते हैं तब अनंत आनंद स्वरूप प्रकट हो जाता है। इसीलिये इसे लिंग शरीर कहना ठीक ही है।। २३।।

अब उस शरीरवाले का नाम भी ले देते हैं–

प्राज्ञस्तत्राभिमानेन तैजसत्वं प्रपद्यते।
हिरण्यगर्भताम् ईशस्तयोर्व्यष्टिसमष्टिता ॥२४॥

प्राज्ञ सूक्ष्म शरीर में अभिमान से तैजस हो जाता है और ईश्वर हिरण्यगर्भ हो जाता है। इन दोनों में व्यष्टि-समष्टिभाव है।

सुषुप्ति के अन्दर अभिमान वाले को प्राज्ञ कहा था। वह जब सूक्ष्म शरीर में अभिमान करता है कि 'यह मैं हूँ' अर्थात् जब सुषुप्ति से स्वप्न में आ जाता है, तब उस प्राज्ञ को तैजस नाम से कहा जाता है। उसे तैजसता की प्राप्ति हो जाती है। अर्थात् गहरी नींद लेने

वाला और स्वप्न वाला अलग-अलग नहीं है। और जो स्वप्न लेने वाला है वही शरीर को चलाने वाला है, जो प्राज्ञ है वही तैजस है। तीन अवस्थाओं का विचार वेदांत की खास विशेषता है। प्रायः लोग जाग्रत् का विचार करते हैं, परन्तु स्वप्न और सुषुप्ति का कम लोग विचार करते हैं। इसलिये हम लोग स्वप्न और सुषुप्ति की बात करते हैं तो लोग कहते हैं कि 'स्वप्न को छोड़िये, जाग्रत् की बात कीजिये।' वेदांत इस बात पर जोर देता है कि जाग्रत् स्वप्न, सुषुप्ति तीनों तुम्हारी अवस्थायें हैं। क्योंकि तुम ही जगे हो, तुम ही स्वप्न देखते हो, और तुम ही गहरी नींद में जाते हो, इसलिये अपने बारे में केवल जाग्रत् का विचार करके निश्चय नहीं कर सकते। तीनों का विचार करना जरूरी है। सुषुप्ति के अन्दर आनंद है और किसी चीज का अनुभव नहीं है। इसलिये सुषुप्ति का विचार करने से पता लगता है कि आनन्द के लिये किसी चीज की जरूरत नहीं पड़ती। यदि सुषुप्ति न होती तो यह बात हमारी समझ में कभी नहीं आती। इसलिये जाग्रत् का विचार करने वाले कहते हैं कि कुछ होगा तब सुख होगा, कोई चीज है नहीं तो सुख कैसे? यह पता सुषुप्ति में लगता है क्योंकि चीज वहाँ कुछ नहीं है और आनन्द है। यह भी तुम्हारा ही अनुभव है। सुषुप्ति के विचार से निर्विषय आनंद हाथ में रखे आँवले की तरह स्पष्ट हो जाता है, कहीं संदेह नहीं रहता। और स्वप्न के विचार से आत्मा की स्वप्रकाशता का पता लगता है। इसलिये इसे तैजस कहते हैं।

स्वप्नाभिमानी को तैजस कहते हैं। जैसे तेज सब चीजों को खुद ही प्रकाशित करता है इसी प्रकार स्वप्न में न चंद्र, सूर्य का प्रकाश है और न भाखड़ा नंगल की बिजली का प्रकाश है! कोई प्रकाश नहीं, तुम खुद ही सब चीजों को देख लेते हो। ऐसे आत्मा की स्वप्रकाशता स्वप्न में बिलकुल स्पष्ट हो जाती है। इसलिये स्वप्न वाले को तैजस कहा क्योंकि वह तेजोरूप है, सब चीजों को वह प्रकाशित कर लेता है। जाग्रत् में यह संदेह रहता है कि बत्ती नहीं तो हमें दीखेगा कैसे? बत्ती के प्रकाश में ही दीखता है–स्वप्न में यह बहम हट जाता है क्योंकि वहाँ बत्ती आदि कोई प्रकाश नहीं, पर दीखता है। इसलिये वहाँ तैजस भाव को प्राप्त कर लेता है, उसका नाम तैजस हो जाता है। प्राज्ञ वह था जो गहरी नींद में जीव का रूप था।

माया की उपाधि वाला जो ईश्वर है वह जब समष्टि सूक्ष्म उपाधि वाला है तब उसका नाम हिरण्यगर्भ पड़ जाता है। हिरण्य बड़ा विचित्र शब्द है। सोने को हिरण्य कहते हैं, लेकिन सोने को हिरण्य क्यों कहते हैं? क्योंकि 'हितं च रमणीयं च हिरण्यं' जो हितकारी और रमणीय हो उसे हिरण्य कहते हैं। संसार में कहीं भी जाओ, अगर तुम्हारे पास सोना है तो उससे सब काम कर सकते हो। अगर नोट हैं तो केवल अपने देश में काम चलेगा लेकिन सोना हो तो कहीं भी चले जाओ, उससे काम चल जायेगा। देखने में सुन्दर भी है, इसलिये औरतें खूब गहना पहन कर चलती हैं क्योंकि रमणीय है अर्थात् देखने में अच्छा लगता है। जो हितकारी और रमणीय हो उसे हिरण्य कहते हैं। यह संसार भी हिरण्य है। यदि तुम इसे देखो तो तुम्हारी भूख मिटाने के लिये, तुम्हारी सारी कामनाओं को पूर्ण करने के लिये संसार

सक्षम है। तभी हम इसमें अपनी सारी कामनाओं को पूर्ण कर सकते हैं। यदि संसार न होता तो तुम क्या करते! क्योंकि तुम्हारे सारे हितों को सिद्ध तो यह संसार ही कर रहा है इसलिये हितकारी और बहुत सुन्दर है। इतना सुन्दर है कि सभी शास्त्र कहते हैं कि 'अरे! इस संसार को छोड़कर परमात्मा की तरफ जाओ,' तब भी यह इतना सुन्दर होने से छूटता नहीं। यह मन को ऐसा रमाकर रखता है कि चाहे जितना कोई उपदेश कर दे, मन उधर ही जायेगा। क्योंकि रमणीय है इसलिये मन उधर ही जाता है। संसार हितकारी भी है; मोक्ष तक जाने के लिये यह संसार ही चाहिये। श्रवण, मनन इत्यादि संसार में ही करोगे। गहरी नींद में संसार नहीं रहता तो गहरी नींद में कोई भजन भी नहीं होता। चाहे संसार के पदार्थों की तरफ जाओ तो भी संसार की ज़रूरत और संसार के पदार्थों से परमात्मा की पहचान करो तब भी संसार चाहिये। इसीलिये बृहदारण्यक उपनिषद् कहती है 'आरामम् अस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चन' लोग इस संसार को तो देखते हैं परन्तु यह संसार कहाँ से आया–उस तरफ नहीं जाते। क्यों नहीं जाते? क्योंकि संसार अत्यंत सुन्दर है इसलिये नहीं जाते। यह हितकारी नहीं है यह नहीं कह सकते, क्योंकि बगीचे को देखकर ही बगीचे वाले को पहचानोगे। संसार को कोई बनाने वाला है तभी पता लगता है कि वह अनंत है। कम-से-कम हमारी समझ में दो सौ साल से अलग-अलग कामों के लिये लोगों के अंगूठों की छाप ली जा रही है, परन्तु इतने समय में किन्हीं दो अंगूठों की छाप एक जैसी नहीं मिली। विचार करो कि उसकी अनंतता कितनी होगी जिसने ऐसी रचना की जहाँ लाखों अंगूठों की छापें अलग-अलग हैं। मनुष्य इसमें अपनी प्रशंसा समझता है कि हमने एक जैसी चीजें बनाई, क्योंकि वह सान्त है। एक बार कहीं टैक्स्टाइल मिल में गये थे। वहाँ एक आदमी ऐसा था जो केवल साड़ियों की डिजाइन बनाता था, उस जमाने में उसकी तनख्वाह सत्तर हजार रुपये महीना थी। बड़ा परिश्रम करके दस-पन्द्रह दिन में एक डिजाइन बनाता था। जब तक उस डिजाईन की लाखों साड़ियाँ न बनें और बिकें, तब तक उसे इतनी तनख्वाह कैसे मिले। दस-पन्द्रह दिन बाद फिर दूसरी डिजाइन बनाता था। परन्तु परमात्मा तो रोज अंगूठों की नयी छापें ही बनाता है और अरबों की संख्या में बनाता है। इसी से पता लगता है कि परमात्मा कितना अनंत है। इसी प्रकार सृष्टि की व्यवस्थाओं को देखकर पता लगता है कि परमात्मा कितना जटिल सन्तुलन स्थापित करता है: मैंने एक आदमी से रुपये लिये और दूसरे को दे दिये। और हम तीनों मर गये। अब जब तीनों एक-साथ पैदा हों तब यह लेन-देन का काम पूरा हो। ऐसे अरबों आदमी होंगे। कभी विचार करो तो पता लगेगा कि इसका हिसाब लगाना कैसा असंभावित है। सीमित व्यक्ति के द्वारा यह काम नहीं हो सकता। ये सब देखकर ही पता लगता है कि बगीचे वाला कैसा अनंत है! यह सारा हिरण्य संसार परमेश्वर के गर्भ में है अर्थात् वह इस संसार को पैदा करेगा। जैसे माता के पेट में गर्भ होता है वैसे ही यह सारा संसार परमात्मा के गर्भ में है। इसलिये उसका नाम हिरण्यगर्भ ठीक है।

जीव का नाम तैजस है क्योंकि प्रकाशरूप से सब चीजों को जानता है। परमेश्वर, जो

माया वाला था, उसके अन्दर सृष्टि बनाने का संकल्प आ गया इसलिये उसका नाम हिरण्यगर्भ पड़ गया। अर्थात् उससे यह सारा संसार पैदा होगा। तैजस और हिरण्यगर्भ का आपस में क्या सम्बन्ध है? व्यष्टि और समष्टि सम्बन्ध है। तैजस अर्थात् जीव व्यष्टि है और हिरण्यगर्भ समष्टि है। हमारे तो अपने ही आँख, कान आदि वाला सूक्ष्म शरीर हुआ परन्तु सारे सूक्ष्म शरीरों का अभिमान करने वाला समष्टि हुआ। कई लोगों को यह आशंका होती है कि हम लोगों को हरेक को इतना दुःख होता है तो परमेश्वर को यदि सबका अभिमान है तो उसको सबका दुःख होता होगा! पहले अपने शरीर में ही देख लो : अपने शरीर में खरबों छोटी-छोटी कोशिकायें हैं और वे सारी कोशिकायें जीवित हैं। उनकी भी अपनी जीवरूपता है। हर कोशिका का जीव अपनी-अपनी कोशिका को ही देखता है और उसी का सुख-दुःख जानता है। हम सारे शरीर में अभिमान किये हुए हैं परन्तु उस प्रत्येक कोशिका के सुख-दुःख को हम नहीं जानते। इसी प्रकार परमेश्वर और हमारा शरीर-शरीरीभाव संबंध है, वह शरीरी है और हम शरीर हैं अर्थात् कोशिकाओं की जगह हैं। अतः हमारा सुख-दुःख हम ही भोगते हैं। इसलिये यह शंका नहीं करना कि ईश्वर हिरण्यगर्भ बन गया तो उसको हमारा दुःख भी होता होगा। सुख-दुःख का मूल कारण अज्ञान है और परमेश्वर को अज्ञान है नहीं, इसलिये उसके लिये सुख-दुःख नाम की चीज नहीं होती। वह केवल आनन्दघन है। व्यष्टि-समष्टि का मतलब ऐसा नहीं समझ लेना कि हम लोगों के सुख-दुःख भोगने वाला वह है, वह भोगने वाला नहीं है।। २४।।

सुषुप्ति का अभिमानी प्राज्ञ है। 'मैं सो रहा हूँ, कुछ नहीं जान रहा हूँ, बड़े आनन्द में हूँ'—ये अहंकार के अनुभव नहीं हैं। इसलिये सुषुप्ति काल में यह अनुभव नहीं होता कि 'मैं सो रहा हूँ' परन्तु उठने पर 'मैं सोया था, मैं आनन्द से था, मैं कुछ नहीं जान रहा था' यह स्मृति होती है। इस स्मृति से पता लगता है कि उस समय इस प्रकार की स्थिति हुई थी। जैसे कल धूप अच्छी थी, आज इसका पता किससे लगता है? हमें स्मृति होती है कि धूप अच्छी थी। स्मृति या याद हुआ करती है जब पहले अनुभव हुआ हो। उस समय के अभिमान की जो दशा जीव की है, उसको प्राज्ञ कहा। सूक्ष्म शरीर स्वप्न के अन्दर अनुभव में आता है। वहाँ अनुभव होता है कि 'मैं देख रहा हूँ'। स्थूल शरीर की जो गोलकें जाग्रत् में हैं वे स्वप्न में नहीं हैं। जाग्रत् में यह संदेह हो सकता है कि जो स्थूल शरीर की आँखें हैं इनसे देखते हैं परन्तु स्वप्न के अन्दर ये आँखें नहीं हैं क्योंकि यह शरीर ही स्वप्न में नहीं है। इतना ही नहीं, स्वप्न के अन्दर ज्ञानेन्द्रियों का और कर्मेन्द्रियों का अर्थात् उनके कार्यों का अनुभव होता है। इसलिये स्वप्न काल के अन्दर सूक्ष्म शरीर की ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ काम कर रही हैं। उनसे ही दीख आदि रहा है। सूक्ष्म शरीर में अभिमान है कि इससे मैंने स्वप्न देखा, उठकर पता लगता है कि जिसने स्वप्न देखा वह मैं ही था। किसी दूसरे ने स्वप्न देखा है—ऐसा तो नहीं लगता है! इसलिये जो प्राज्ञ है, वही सूक्ष्म के अन्दर अभिमान करता है कि 'यह मैं हूँ'। यह तादात्म्य अभिमान है। अभिमान दो तरह का होता है : 'यह शरीर मेरा है' और 'यह तिजोरी मेरी है' दोनों को 'मेरा'

कहते हो। परन्तु तिजोरी अपने से अलग लगती है ऐसे शरीर अपने से अलग लगने पर भी अलग है–ऐसा अनुभव नहीं होता बल्कि तादात्म्य है कि 'यह मैं ही हूँ।' सूक्ष्म देह में अभिमान करने वाला यह जो प्राज्ञ है, उसी का नाम तैजस हो जाता है।

इसको तैजस इसलिये कहते हैं कि तेज का मतलब प्रकाश होता है। शास्त्र आत्मा को स्वप्रकाश बताता है। आत्मा की स्वप्रकाशता जाग्रत् में स्पष्ट नहीं होती है। जाग्रत् में तो लगता है कि आँख, कान, नाक, मन, बुद्धि आदि होंगे तभी हम कुछ जानेंगे। ऐसा लगता है कि सूर्य का प्रकाश होगा या चन्द्रमा का प्रकाश होगा तभी व्यवहार सम्भव है। बृहदारण्यक उपनिषद् में यह प्रश्न किया 'किं ज्योतिरयं पुरुषः' 'यह पुरुष किस ज्योति से काम करता है?' पहला जवाब हुआ कि सूर्य की ज्योति से काम होता है। जो-जो काम कर रहे हैं वे सब सूर्य की रोशनी में ही करते हैं। पुनः प्रश्न होता है कि रात में सूर्य नहीं होता, तब किस रोशनी से काम करते हैं। चंद्रमा के प्रकाश से काम करते हैं। लेकिन अमावस्या की रात है, चन्द्रमा भी नहीं है, तब किस रोशनी से काम करते हैं? तब तारों से काम हो जाता है। तारों का भी प्रकाश होता है इसलिये उससे काम हो जाता है, रास्ते में चल लेते हैं। लेकिन जब भाद्रपद का महीना है, घोर बादल छाये हुए हैं इसलिये तारों का प्रकाश भी नहीं है फिर किस रोशनी से काम करते हैं? तब कहा कि आग (मशाल आदि) जलाकर चलता है, आजकल तो टार्च आदि आ गये हैं। उनके प्रकाश से काम हो जाता है। टार्च आदि सब आग के ही रूप समझ लेना, उनसे काम होता है। जब आग भी शांत हो गई, बुझ गई, फिर किस रोशनी से काम करते हो? स्वप्न के अन्दर यही स्थिति है; न वहाँ सूर्य है, न चन्द्रमा और अग्नि हैं, फिर भी वहाँ सारा काम करते हो। इसलिये तुम खुद ही स्वप्रकाश हो, तभी सब काम करते हो। स्वप्न के अन्दर आत्मा की स्वप्रकाशता स्पष्ट हो जाती है। इसलिये स्वप्न-अवस्था के अभिमानी को 'तैजस' कहा।

सूक्ष्मोपाधिक ईश्वर का नाम हिरण्यगर्भ पड़ जाता है। हिरण्यगर्भ और ईश आपस में कैसे सम्बंधित हैं? तादात्म्य सम्बन्ध से हैं। जैसे प्राज्ञ का तादात्म्य सम्बन्ध तैजस के साथ है, वैसे ही ईश्वर का तादात्म्य सम्बन्ध हिरण्यगर्भ के साथ है। परन्तु एक फर्क है : जीव का जो सम्बन्ध है या प्राज्ञ का जो संबन्ध है वह अज्ञान से है। तादात्म्य तो है परन्तु अज्ञान से है। ऐसे समझ लो : जब रस्सी में साँप दीखता है तब अज्ञानपूर्वक दीखता है इसलिये 'यह साँप है' ऐसा ही निश्चय होता है। परन्तु कैलेण्डर में रामचन्द्र जी बने हुए हैं। वहाँ भी 'रामचन्द्र जी हैं' ऐसी प्रतीति हो जाती है। वहाँ तिलक, माला आदि डालने का व्यवहार भी कर लेते है। परन्तु यह सब करते हुए हम जानते हैं कि यह रामचन्द्र जी नहीं है। अतः कैलेण्डर फटने पर शोक नहीं मानते कि रामचन्द्र जी मर गये या राम का सिर कट गया; ऐसा नहीं मानते क्योंकि वहाँ रामचन्द्र जी को देखने पर भी अज्ञानपूर्वक नहीं है, वरन् जानबूझकर है। तादात्म्य तो वहाँ भी है कि 'ये रामचन्द्रजी हैं' परन्तु यह तादात्म्य ज्ञानपूर्वक है, अज्ञानपूर्वक नहीं है। रस्सी में साँप दीखता है तो अज्ञानपूर्वक ही है, इसलिये 'यह साँप ही है' ऐसा निश्चय होता है। इसी प्रकार

से जीव को सूक्ष्म शरीर के साथ एक होकर 'यह मैं हूँ' ऐसा निश्चय होता है । ईश्वर का ज्ञान चूँकि अक्षुण्ण है, इसलिये उसे ऐसा नहीं होता कि 'यही मैं हूँ।'

इस फर्क का कारण क्या है? 'तयोर्व्यष्टिसमष्टिता' हिरण्यगर्भ और तैजस में समष्टि और व्यष्टि–यह फर्क है। तैजस व्यष्टि है और हिरण्यगर्भ समष्टि है। व्यष्टि और समष्टि का मतलब क्या होता है? अश् धातु का अर्थ व्यापन होता है। 'अश्नुते व्याप्नोति' समष्टि का मतलब होता है समग्र के साथ व्यापक होकर रहना। जितने सूक्ष्म महाभूत हैं, जितने सूक्ष्म लिंग शरीर हैं, उन सबमें हिरण्यगर्भ तो व्याप्त होकर रहता है, इसलिये उसे समष्टि कहते हैं, अर्थात् सब जगह एक जैसा व्यापक होकर रहता है। जीव व्यष्टि है इसलिये केवल एक सूक्ष्म शरीर के साथ ही उसका तादात्म्य है। विशिष्ट जो एक शरीर है 'वि+अष्टि = व्यष्टि' केवल उसी के साथ तादात्म्य रखता है। व्यष्टि और समष्टि भावों के कारण ही दोनों में भेद है। प्रश्न होता है : 'हमको अपने शरीर के साथ तादात्म्य होने से उसका सुख-दुःख होता है तो हिरण्यगर्भ का सबके साथ तादात्म्य होने पर उसको सबका सुख-दुःख होता होगा?' लेकिन ऐसा नहीं है क्योंकि जो फर्क है वह व्यष्टि और समष्टि को लेकर है। जैसे, विचार करो कि हजारों सैनिकों से मिलकर सेना बनी है। उसमें से पाँच सैनिक मारे गये, पाँच सैनिक बन्दी बन गये, परन्तु सेना जीत गई। जब लड़ाई होती है तब कुछ मरेंगे भी और कुछ बन्दी भी होंगे। परन्तु उनके मरने या बन्दी होने से सेना नहीं हारी, सेना बन्दी नहीं हुई। विशेष के जाने से समग्र चला जाये, ऐसा नहीं है। इसी प्रकार से हम एक शरीर में सुख-दुःख का अनुभव करते हैं। इतने मात्र से व्यापक (समष्टि)। हिरण्यगर्भ को सुख-दुःख हो जाये, ऐसा नहीं है। इसमें कारण वही है जो पहले बताया कि उसका ज्ञान है और हमारा अज्ञान है। इसका कारण ज्ञान और अज्ञान का भेद ही है। और भी यदि विचार करके देखो तो हिरण्यगर्भ की जो व्यापकता है वह सूक्ष्म महाभूतों और सूक्ष्म शरीर दोनों के साथ है। सूक्ष्म महाभूतों का कुछ हिस्सा ही तो इन्द्रिय, मन, बुद्धि बन गये। जाग्रत् के अन्दर सारी मिट्टी तो हमारा शरीर नहीं बन गई, कुछ मिट्टी शरीर बनी और बाकी मिट्टी ही बनी रही। ठीक इसी प्रकार सूक्ष्म महाभूतों के कुछ हिस्से से तो हम लोगों की इन्द्रियाँ, मन बन गये परन्तु और हिस्सा भी है। हमारी तादात्म्य-बुद्धि केवल शरीर से है, शरीर से बाहर वाली चीजों के साथ नहीं है। उनसे हमारा सम्बन्ध ही नहीं है–ऐसी बात तो है नहीं। हमने एक गिलास पानी पिया। तीन-चार घण्टे बाद जाकर पेशाब कर दिया। जब तक वह पानी हमारे शरीर में था तब तक तो उसके साथ हमारा तादात्म्य सम्बन्ध था, लेकिन पेशाब करने के बाद उस पेशाब के साथ क्या हमारा कोई तादात्म्य सम्बन्ध रहता है? नहीं रहता। फिर उसका चाहे जो कुछ हो। इसी प्रकार हमने बहुत बढ़िया गाजर का हलवा खाया। सबेरे पेट साफ हो गया। उस गाजर के हलवे के साथ हमारा कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता। जब तक शरीर में रहे, तब तक तादात्म्य सम्बन्ध है और शरीर से बाहर हो तो कुछ संबंध नहीं, चाहे पहले वह हमारे ही शरीर में था। परन्तु हिरण्यगर्भ तो सभी सूक्ष्म शरीरों में एवं सारे

सूक्ष्म महाभूतों में तादात्म्य वाला है। इस प्रकार व्यष्टि और समष्टि भावों के कारण दोनों का भेद है।

कुछ लोग शंका करते हैं कि बिना अज्ञान के हिरण्यगर्भ को जगत् की प्रतीति कैसे होगी क्योंकि जगत् की प्रतीति तो अविद्या से होती है? इसका समाधान ऐसे समझ लो : कहीं नाटक हो रहा है। जो नहीं जानता कि वह नाटक है उसे भी घटनाक्रम वैसा ही दीखता है जैसा जो जानता है कि नाटक है उसे दीखता है। घटनाक्रम दोनों को एक-सा दीखने पर भी जिसे नहीं पता वह पात्रों में अच्छा-बुरा दृष्टि करता है, जानकार केवल अभिनय देखता है। जो चीज जैसी है उसको वैसा समझना अज्ञान नहीं कहा जाता। माया को, माया के कार्य को मायिक समझना अज्ञान नहीं है। अतः इसके अन्दर होने वाले सुख-दुःख ईश्वर को नहीं हैं।

यह सब ध्यान में रखते हुए व्यष्टि-समष्टि-भाव से जीव-ईश्वरता बताते हैं–

समष्टिरीशः सर्वेषां स्वात्मतादात्म्यवेदनात्।
तदभावात्ततोऽन्ये तु कथ्यन्ते व्यष्टिसंज्ञया ॥२५॥

सभी का अपने से अभेदेन अनुभव करने के कारण ईश्वर (हिरण्यगर्भ) समष्टि है और उससे अन्यों को वैसा अनुभव न होने से वे (जीव) व्यष्टि कहे जाते हैं।

सभी से तादात्म्य का अनुभव करने के कारण समष्टि ईश्वर है। ईश्वर-भिन्न जीवों में सबसे तादात्म्य का अनुभव नहीं अतः वे ही व्यष्टि कहलाते हैं। यद्यपि समष्टिका तादात्म्य सबसे है तथापि समष्टि को सब व्यष्टियों के सुख-दुःख का भोग नहीं। तादात्म्यवश जीव को तो सुखादिका भोग होता है क्योंकि वह स्वरूप के प्रति अज्ञ रहता है। ईश्वर (समष्टि) यों स्वरूप के प्रति अज्ञ न रहने से तादात्म्य रखकर भी भोग नहीं करता। ईश्वर का स्वरूप जो ब्रह्म वही जीव का स्वरूप है अतः कह सकते हैं कि जीवरूप से ईश्वर का उपाधितादात्म्य है। इस तरह जीवों के तादात्म्य से पृथक् ईश्वर का कोई तादात्म्य नहीं किंतु जीवों को एक-एक उपाधि से तादात्म्य है और सभी जीवों के माध्यम से ईश्वर का सर्वत्र तादात्म्य है। साक्षात् तादात्म्यवश जीव सुखादि-भोगता है, परम्परया तादात्म्य रखने से ईश्वर नहीं भोगता। तादात्म्य में भेद और अभेद दोनों का सामंजस्य है। जीव भेद को तिरस्कृत कर देने से अभेद को महत्त्व देकर उपाधि-विकारों से विकार वाला वनता है जबकि ईश्वर भेद देखते हुए अभेद को आरोपित जानने से निर्विकार रहता है। इस तरह समष्टि में व्यष्टि के कोई भोग नहीं हैं।। २५।।

समष्टि-व्यष्टि सूक्ष्म का वर्णन कर अब पंचीकरण बताते हैं जिससे स्थूल की उत्पत्ति संभव हो–

तद्भोगाय पुनर्भोग्यभोगायतनजन्मने।
पञ्चीकरोति भगवान् प्रत्येकं वियदादिकम् ॥२६॥

जीवों के भोग संभव हों इसके लिये जरूरी जो भोग्य विषय और भोग करने योग्य शरीर, उनकी उत्पत्ति के लिये भगवान् सूक्ष्मोत्पादन के अनन्तर आकाशादि पाँच भूतों में से हर-एक को पंचात्मक बनाते हैं।

'तद्भोगाय' वे जो अब तैजस नाम वाले हैं, उनके भोग के लिये स्थूल सृष्टि की। शरीर भी जीवों के लिये ही बनाया है। इससे पूर्व १८वें श्लोक में बताया गया था 'तमः प्रधान प्रकृतेस्तद्भोगायेश्वराज्ञया' वहाँ भी 'तद्भोगाय' कहा था। जीवों के भोग के लिये ही सूक्ष्म शरीर भी बनाया। जब भोग के लिये सूक्ष्म शरीर बना दिया तो फिर आगे उसे स्थूल शरीर बनाने की क्या जरूरत है? भोग दो तरह से होता है : एक तो जीभ से खाते हो। जीभ नहीं होगी तो खाना या स्वाद लेना सम्भव नहीं। अनुभव किया होगा कि जब ज़ोर का जुकाम हो जाता है तब कुछ भी खाओ, स्वाद नहीं आता, क्योंकि स्वाद लेने की इंद्रिय जुकाम के कारण कार्य नहीं कर पाती। तुम्हारी जीभ खूब अच्छी है, एक दाना चीनी का जीभ पर आये तो पता लग जाता है कि मीठा है, परन्तु चीनी का दाना ही नहीं है तो स्वाद का क्या पता लगेगा! इसलिये भोग के लिये चीनी भी चाहिये और जीभ भी चाहिये। इसलिये पहले भोग के साधन इन्द्रियों व मन को बनाया फिर स्थूल चीजों को बनाया। भोग के लिये दोनों जरूरी हैं, भोग के साधन और भोग के विषय। विषय, जैसे खीर, और साधन जैसे रसनेन्द्रिय। किन्तु खीर स्थूल है और रसनेन्द्रिय सूक्ष्म है तो दोनों का सम्बन्ध कैसे हो सकता है? इसलिये, जब स्थूल जीभ की प्राप्ति हो, उसके ऊपर खीर आये, तभी रसनेन्द्रिय स्वाद लेगी। भोग्य खीर और भोग का आयतन तुम्हारी स्थूल जीभ हुई। शास्त्रीय भाषा में कहते हैं कि इन्द्रिय की गोलक होनी चाहिये। गोलकों का आधार भोगायतन तुम्हारा यह स्थूल शरीर है। भोग्य खीर, भोगायतन तुम्हारा शरीर और उसमें होने वाली इन्द्रियाँ साधन हुईं। ये सब हों तब भोग हो। ये जो पंचीकृत पदार्थ बनाये जायेंगे ये भोग्य और भोगायतन के लिये अर्थात् तुम्हारे शरीरों के लिये और भोग्य पदार्थों के लिये हैं। ये दोनों स्थूल हैं। स्थूल शरीर के साथ तुम्हारा तादात्म्य सम्बन्ध है। इसके अन्दर ही इन्द्रियाँ कार्यकारी हैं, और इनके योग्य जो स्थूल पदार्थ हैं, उनके साथ सम्बन्ध होता है। सूक्ष्म शरीर का स्थूल पदार्थों के साथ सीधे ही सम्बन्ध नहीं हो सकता; इसलिये स्थूल शरीर की जरूरत है।

विषय और देह पैदा हो सकें इसलिये भगवान् महाभूतों को स्थूल बनाते हैं। सूक्ष्म वह है जो इन्द्रियों का विषय नहीं है। इन्द्रियों से जिसका पता नहीं चलता उसको यहाँ सूक्ष्म कहा है और इन्द्रियों से जिसका पता लगता है उसको यहाँ स्थूल कहा है। इस अर्थ में ही यहाँ स्थूल, सूक्ष्म शब्दों का प्रयोग है। सूक्ष्म शरीर इन्द्रियों का विषय नहीं है। जो इन्द्रियों का विषय नहीं है उसके साथ, इन्द्रियों का विषय जो स्थूल है, उसका संयोग नहीं हो सकता। दो चीजों में संयोग तब हो जब वे एक ही प्रकार की हों अर्थात् स्थूल हों। इन्द्रियाँ सूक्ष्म और विषय स्थूल हैं तो उनका संयोग हो नहीं सकता। परन्तु सूक्ष्म में जिसका अभिमान है वह स्थूल में भी अभिमान कर सकता है। अर्थात् इन्द्रिय-मन के अन्दर जिसका

अभिमान है वह स्थूल शरीर में भी अभिमान कर सकता है। स्थूल शरीर उसको कहते हैं जो इन्द्रियों से दीखता है, छुआ जाता है, सुना जाता है अर्थात् इन्द्रियों का विषय है। सूक्ष्म-शरीर-विशिष्ट जो जीवात्मा है उसका उस शरीर के साथ 'मैं'-पने का अध्यास है अर्थात् 'यह मैं हूँ' ऐसी उसको प्रतीति है। स्थूल शरीर में वह प्रतीति सूक्ष्म से विशिष्ट होकर होती है। अतः जब सूक्ष्म शरीर का अभिमान प्रधान होता है तब शरीर को 'मेरा शरीर' ऐसा समझता है। सूक्ष्म शरीर के साथ तो हमेशा 'मैं' का ही अनुभव होता है। कहने को 'मेरा मन' कह दें, लेकिन मन वैसे नहीं दीखता है जैसे हाथ में पहनी हुई घड़ी दीखती है। इसी प्रकार 'मेरी आँखें' कह दें, पर आँख अर्थात् इन्द्रिय वैसे नहीं दीखती जैसे यह गोलक दीखती है। जो दीख रहा है वह गोलक है जिसके अन्दर इंद्रिय रहती है। डाक्टर तुम्हारे सामने एक पर्दा टाँगकर कहता है 'सामने बाँचो क्या लिखा है।' अगर तुम उसे कहो 'मैं क्यों बाँचू? फीस आपको लेनी है, आप ही बताओ कि मुझे दीख रहा है या नहीं।' तो कोई डाक्टर नहीं बता सकता! तुम्हीं बता सकते हो कि तुम्हें दीख रहा है या नहीं । कई बार डाक्टर गोलक की परीक्षा करके कहते हैं 'तुम्हारी आँख बिलकुल ठीक है, उसमें कोई खराबी नहीं है,' लेकिन तुम्हें अनुभव होता है कि 'मुझे नहीं दीख रहा है'। तुम झूठ नहीं बोल रहे हो, क्योंकि तुम्हें सचमुच नहीं दीख रहा है। आँख की गोलक दीखती है, उसकी परीक्षा तो डाक्टर और मशीन कर सकते हैं परन्तु देखने वाली इन्द्रिय है, जिसे केवल तुम ही जान सकते हो। सूक्ष्म शरीर कभी भी स्थूल की तरह विषय नहीं होता। स्थूल शरीर वैसे ही दीखता है जैसे सामने घड़ी दीखती है अर्थात् विषयरूप से दीखता है। 'मैं हाथ नहीं उठा पा रहा हूँ या मेरा हाथ काम नहीं कर रहा है'—यह पता मुझे साफ लगता है परन्तु जैसे स्थूल हाथ दीख रहा है ऐसे सूक्ष्म हाथ दीखता नहीं है। हाथ-इन्द्रिय वाला हूँ या लूला हूँ यह अपने से एक होकर दीखता है। 'लंगड़ा या गूँगा हो गया' इस प्रकार से इंद्रिय-सम्बंध अनुभव में आता है। शरीर वह है जो स्थूल होने के कारण इन्द्रिय का विषय भी है और अभिमान होने के कारण मैं से एक या अभिन्न होकर भी अनुभव होता है। भोग्य स्थूल बनाने हैं और जहाँ बैठकर भोग करोगे वह शरीर भी स्थूल बनाना है। भोग तो सूक्ष्म शरीर से होगा लेकिन स्थूल शरीर में बैठकर भोग करोगे अतः वह भोगायतन है। बिना इस भोगायतन के, कभी भोग नहीं होता। केवल सूक्ष्म शरीर भोग नहीं कर सकता क्योंकि स्थूल विषय के साथ उसका सम्वंध तभी होगा जब भोगायतन में बैठेगा। जो भोग होता है उसमें कारण तुम्हारा कर्म ही है।

कर्म तीनों प्रकार के हैं शारीरिक कर्म, वाचिक कर्म और मानसिक कर्म। मनु महाराज ने ये तीन कर्म बताये हैं। शारीरिक कर्म—हमने तलवार उठाकर किसी का सिर काट दिया तो शरीर से किया, यह शारीरिक कर्म हुआ। हमने किसी को गाली दी, यह वाचिक कर्म हुआ। इसके द्वारा हमने उसके शरीर के प्रति तो कुछ नहीं किया, उसके शरीर का कुछ नहीं बिगाड़ा, परन्तु शब्द से उसे ऐसा दुःख दे सकते हैं जो पत्थर मारने से भी ज्यादा हो।

इसलिये कहते हैं कि वाणी से जो तीर लगता है वह बाहर के तीर से भी ज्यादा पैना होता है और उसका घाव बरसों तक नहीं मिटता। बाण से लगा घाव तो महीने-दो महीने में ठीक हो जायेगा परन्तु वाणी का घाव सालों होने पर भी भरता नहीं। वाणी के द्वारा वाचिक कर्म होता है। हमने गाली भी नहीं दी, मन ही मन सोचते हैं कि 'इसने मेरा अनिष्ट किया है, हे भगवान्! तुम इसे देखना'; और बाद में यदि उसका कुछ अनिष्ट हो जाता है तव कहते हैं 'मैंने तो पहले ही भगवान् से प्रार्थना की थी, भगवान् ने मेरी सुन ली।' उसका यह अनिष्ट सोचना तुमने मन से किया। यह ठीक है कि जब तुम किसी दूसरे का सिर काटते हो अर्थात् शारीरिक कर्म करते हो तब इन्द्रिय से तो किया ही, हाथ से तलवार उठाकर मारी इसलिये शरीर से भी किया। यदि बोलकर किया; तो वाचिक भी है और मानसिक भी है क्योंकि मन से पहले सोचा कि 'इसने मेरे लड़के को पीटा, मैं इसकी गर्दन काट दूँगा।' इसलिये शारीरिक कर्म में शरीर, इन्द्रिय और मन तीनों हैं। वाचिक कर्म में केवल इन्द्रिय हो, शरीर और मन नहीं हों–ऐसा तो है नहीं, क्योंकि तुमने वाचिक कर्म किया तो जबान को हिलाया, ओठों को हिलाया अतः शारीरिक कर्म भी हुआ और 'यह दुष्ट है' ऐसा मन में पहले संकल्प हुआ तब गाली दी। इसलिये इन्द्रिय से कर्म किया तो वह शारीरिक भी है और मानसिक भी है। जब मानसिक कर्म किया तब केवल मानसिक ही हुआ, उसमें तुमने न शरीर को काम में लिया और न इन्द्रिय को लिया। इस दृष्टि से कई जगह शास्त्रों के अन्दर दो प्रकार के कर्म भी कह दिये हैं–एक, शारीरिक और दूसरे, मानसिक; शारीरिक कर्मों के भोग के लिये उस कर्म का फल शरीर में ही भोगना पड़ेगा अतः उसके लिये स्थूल विषय चाहिये और मानसिक कर्म के फलभोग के लिये सूक्ष्म विषयों से भी काम चल जाता है, स्वप्न में भोग हो जाता है। स्वप्न में स्थूल विषय तो नहीं हैं लेकिन मानसिक विषय हैं ही जो संस्काररूप से हैं। इसलिये स्वप्न में जो रसगुल्ला खाते हैं, वह मानसिक कर्म का फल है। स्वप्न के अन्दर भी सुख-दुःख का भोग होता है, परन्तु वह जाग्रत् कर्म का फल नहीं है।

मानसिक कर्मरूप उपासना के लिये तुम्हें शरीर आदि शुद्ध करके बैठना है, कुछ न कुछ शारीरिक क्रिया साथ है। शरीर को शुद्ध करना, एक आसन से बैठना, सीधे बैठना इत्यादि कुछ-न-कुछ शरीर के साथ करके उपासना करते हो, इसलिये उपासना को *केवल* मानसिक कर्म नहीं कहते। जबकि है उपासना मानसिक ही, 'उपासना नाम मानसी क्रिया,' फिर भी उपासना के अन्दर स्थूल शरीर का सम्बन्ध भी है। मानस कर्म स्वप्न में भी फल दे देते हैं, कई बार जाग्रत् में भी फल देते हैं। जाग्रत् के अन्दर भी मानसिक भोग होता है : जैसे तुमने भ्रम से किसी सुख को भोग लिया; वहाँ स्थूल चीज कुछ नहीं है। बंगाल में निरोध चौधरी नाम का एक बहुत बड़ा ईसाई लेखक हुआ है। उसने अपना एक अनुभव लिखा है : एक बार वह अमृतसर गया हुआ था। कम से कम अस्सी साल पहले की बात होगी। अमृतसर में जहाँ वह ठहरा हुआ था वहाँ सवेरे उठकर बरामदे में दातुन कर रहा था। उसकी नजर पड़ी की सामने एक औरत पीठ करके खड़ी है। उसके मन में आया कि 'वह औरत तो जवान है, इधर मुड़ेगी

तो उसका चेहरा देखूँगा।' काफी देर देखता रहा लेकिन वह औरत मुड़ी नहीं। हवा चल रही थी, थोड़ी देर बाद अकस्मात् हवा चलनी बन्द हो गई, तब उसने देखा कि वह जिसे औरत समझ रहा था, वहाँ दो तार ऊपर-नीचे लगे थे। ऊपर के तार में कुर्ता और नीचे के तार में सलवार सूख रही थी। हवा चलने के कारण वे फूले हुए थे तो वह सोच रहा था कि कोई औरत होगी। हवा बन्द हुई तो देखा कि वहाँ कोई नहीं, केवल दो कपड़े ही सूख रहे थे। उसे घण्टे भर तक जो सुख हुआ उसके लिये कोई विषय तो था नहीं। कपड़े में औरत का भ्रम हो रहा था। ऐसे ही कई बार दुःख भी हो जाता है। स्वप्न में हो या जाग्रत् में, जहाँ कल्पित विषय सुख-दुःख देता है, वह मानस कर्म का फल है। जो शरीर को प्राप्त होने वाले रसगुल्ले आदि का सुख है, वह तुम्हारे शारीरिक कर्म का फल है।

भोग्य और भोगायतन को पैदा करने के लिये परमेश्वर ने सृष्टि की। जिसने सृष्टि की उसको 'भगवान्' कहा। भगवान् शब्द का अर्थ है 'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्यमित्येषां षण्णाम् भग इतीरणा॥' जिसके पास सारे ऐश्वर्य हैं, जिसका यश सबसे बड़ा है वह भगवान् है। संसार में परमेश्वर ऐसा है जिसका यश सबसे बड़ा है। संसार में कोई नहीं जो परमेश्वर को नहीं जानता, चाहे परमेश्वर को 'है'रूप से जाने या 'नहीं है'-रूप से जाने। जो कहता है कि 'मैं परमेश्वर को नहीं मानता' वह भी परमेश्वर को जानता तो है ही क्योंकि नहीं जानता होता तो कैसे कहता कि नहीं मानता? यदि वह जानता नहीं तब तो उसका प्रश्न होता कि ईश्वर क्या चीज है; वह तो कह रहा है कि ईश्वर को नहीं मानता। इसलिये ईश्वर का यश अक्षुण्ण है। आस्तिक उसे है और नास्तिक उसे नहीं है मानता है परन्तु उसे जानते सब हैं। एक व्यक्ति भगवान् का बड़ा भक्त था। उसको किसी नास्तिक ने कहा 'ईश्वर नहीं है, तुम तो ऐसे ही राम-राम किये जा रहे हो।' भक्त ने उसे नमस्कार किया कि 'तुम धन्य हो'। उसने पूछा कि 'तुम मुझे क्यों नमस्कार कर रहे हो?' उसने कहा 'तुमने कम-से-कम पता तो लगाया कि ईश्वर नहीं है। घड़ा नहीं है यह बात वही कह सकता है जो घड़े को जानता है। यज्ञदत्त को जानने वाला ही कह सकता है कि यहाँ यज्ञदत्त नहीं है। इसी प्रकार जो कह रहा है कि ईश्वर नहीं है तो वह ईश्वर को जानता ही है तभी कह रहा है। इसलिये तुम धन्य हो कि ईश्वर को जानते हो। मैंने तो आज तक ईश्वर को जाना ही नहीं।'

सारे कर्मों का फल देने वाला वही है। भगवान् वेदव्यास कहते हैं 'फलमत उपपत्तेः' परमेश्वर सब कर्मों का फल देने वाला है। यदि वह न हो तो फल कौन देगा? कुछ लोग मान लेते हैं कि कर्म खुद फल दे देंते हैं ईश्वर की क्या जरूरत है। आजकल भी बहुत से आदमी कह देते हैं कि क्रिया की प्रतिक्रिया होती है इसमें ईश्वर की क्या जरूरत पड़ती है! परन्तु विचार करने पर पता लगता है कि कर्म तो तुमने अभी किया और उसका फल तुम्हें बाद में मिला। क्रिया-प्रतिक्रिया की व्यवस्था लगातार चलती प्रक्रिया में लागू होती है। आज तुमने गेंद दीवार पर फेंकी और वह छह महीने बाद अकस्मात् तुम्हारे सिर पर आकर लगी-

ऐसा नहीं होता। जिस समय क्रिया की उसी समय प्रतिक्रिया होती है। कर्म का फल ऐसे नहीं होता कि अभी कर्म किया और उसका फल तुरन्त हो। लोक में देखा जाता है कि जहाँ क्रिया की प्रतिक्रिया देर से होती है वहाँ उसका फल देने वाला कोई चेतन व्यक्ति होता है। उत्तर प्रदेश में एक जगह थी जहाँ सारे डाकू रहते थे। वहाँ हम एक पाठशाला को खोलने गये। उद्घाटन हो गया, हम सब वहाँ चाय पीने के लिये बैठे। जितने लोग वहाँ आये थे उनमें से कोई भी ऐसा नहीं था जिसके पास दुनाली बन्दूक न हो। बातचीत में हमने उनसे कहा 'अब तो तुम्हारे बच्चे पढ़-लिख कर सुधर जायेंगे, इसलिये अब तुमको डकैती नहीं करनी पड़ेगी क्योंकि बच्चे काम-धन्धा करने लग जायेंगे।' एक बुड्ढा वहाँ बैठा था। उसने कहा–'इस देश से डकैती कभी नहीं जायेगी। अभी तो हम सामने से बन्दूक दिखाकर लूटते हैं ओर ये जब पढ़-लिख जायेंगे तब कलम से छिपकर लूटा करेंगे।'

मान लो तुमने किसी अफसर को कुछ कह दिया। उस समय वह कोई प्रतिक्रिया नहीं करता। पाँच-छह महीने बाद उसकी बदली होकर तुम्हारे ही गाँव में आ गया, तब वह तुम्हें तंग करता है, तरह-तरह के इल्जाम लगाता है, तुम परेशान हो जाते हो। उसका कारण है कि छह महीने पहले तुमने उसे कुछ कड़वा कहा था। अथवा जैसे मालिक सालभर तक देखता रहता है कि तुमने कैसे काम किया। तुमने अच्छा काम किया तो साल-भर बाद तुम्हारी तनख्वाह बढ़ा देता है। साल-भर तक तुम्हारा काम देखकर बाद में फल दिया। इसी प्रकार चेतन परमात्मा अच्छे-बुरे कर्म की प्रतिक्रिया बाद में करता है। जहाँ कर्म का फल देर से होता है वहाँ चेतन ही फल दे सकता है, अपने आप फल नहीं हो सकता।

संसार में जितनी भी स्थूल चीजें हैं, सबका एकमात्र बनाने वाला होने से मालिक वही है। तुम जिन चीजों को अपनी कहते हो, वे तुम्हारी मिल्कियत वाली नहीं होती। वे तो तुम्हें कुछ समय के लिये मिली हुई चीजें हैं। यहाँ तक कि जिसे तुम अपना शरीर कहते हो वह भी मिली हुई चीज है। जैसे ही सौ साल पूरे हुए, यह छीन ली जायेगी। बाकी चीजों की तो बात ही क्या है! इसलिये संसार में जितने पदार्थ हैं वे हमेशा परमेश्वर के तो रहेंगे, तुमको थोड़े समय के लिये मिल जायेंगे। अतः वही सारी श्री का स्वामी है।

ज्ञान और वैराग्य की भी उसमें पूर्णता है। परमेश्वर हर चीज को वह जैसी है वैसी जानता है और इस बात को भी जानता है कि जितना नामरूपात्मक संसार है यह सारा पानी के बुलबुले की तरह दीखता है, सचमुच में कुछ नहीं है। जैसे पानी का बुलबुला तुम्हें बड़ा भारी दीखता है परन्तु जैसे ही वह फूटता है, पता लगता है कि वहाँ सिवाय पानी के कुछ नहीं है इसी प्रकार 'नेति नेति' से पता लगता है कि यह सारा नाम-रूपात्मक संसार कुछ नहीं है, केवल सच्चिदानंदरूप ब्रह्म ही है, सारा भेद अज्ञान से प्रतीत हो रहा है। परमेश्वर सारे संसार को जानता है और उसकी वास्तविकता को भी जानता है। इसलिये उसे सारे पदार्थों से हमेशा वैराग्य है, किसी भी पदार्थ के प्रति आसक्ति का प्रश्न ही नहीं है। राग किससे होता है? जिस चीज को तुम अच्छा समझो और वह तुम्हारे पास न हो, उससे राग

होता है। एक अरब रुपये को तुम अच्छा समझते हो तो तुम्हें राग होगा। जिसके पास अधिक है उसकी बात दूसरी है : जिसके पास नौ सौ अरब रुपये हैं, उसे एक अरब रुपये से विशेष राग नहीं होगा। यह दूसरी बात है कि उसे नौ सौ एक अरब रुपये की इच्छा हो सकती है, लेकिन 'एक अरब हो जायें' यह इच्छा तो नहीं हो सकती। भगवान् कहते हैं 'नानवाप्तमवाप्तव्यं' संसार में कोई चीज ऐसी नहीं जो मुझे प्राप्त न हो क्योंकि मेरी ही मिल्कियत है। मुझे प्राप्त करनी हो—ऐसी भी कोई चीज नहीं है। अप्राप्त और प्राप्तव्य दोनों नहीं हैं तो भगवान् को राग कैसे हो? दोनों ही कारण हैं—संसार की वास्तविकता को जानने से वैराग्य है और सब कुछ प्राप्त भी है अतः राग की सम्भावना नहीं है। ये छह चीजें जिसमें पूरी तरह से रहती हैं वह भगवान् है। इनमें से थोड़ी बहुत चीजें तो हमारे पास हो सकती हैं, परन्तु पूरे रूप में जिनके पास होती हैं उनको भगवान् कहा जाता है।

ऐसे भगवान् 'वियदादिकं प्रत्येकं पंचीकरोति' आकाश आदि हरेक को पंचीकृत करते हैं अर्थात् हर चीज में अन्य चारों को मिलाकर पंचीकरण कर देते हैं। पंचीकरण क्यों करते हैं? क्योंकि सूक्ष्म महाभूत'इस प्रकार से ही स्थूल बनाये जा सकते हैं। जैसे औरतें गहने बनवाती हैं तो क्या होता है? चौबीस कैरेट या सौ टंच सोने का कोई गहना नहीं बन सकता। गहना बनाने के लिये उसमें खोट मिलानी पड़ती है। उसे कम से कम बाईस कैरेट का करोगे तब गहना बनेगा। अन्यथा सोना इतनी मुलायम धातु है कि बिना खोट मिलाये गहना नहीं बन सकता। गहने में जितनी सूक्ष्म कारीगरी करानी होगी उतनी ज्यादा खोट मिलानी पड़ती है क्योंकि उसमें ज्यादा स्थूलता लानी पड़ती है। सूक्ष्म चीज को स्थूल करने के लिये कोई न कोई खोट मिलानी पड़ती है। एक धातु में दूसरी धातु की ही खोट मिलेगी। इसी प्रकार स्थूल विषय बनाने के लिये सूक्ष्म महाभूतों में मेल ही करना पड़ता है।। २६।।

मेल करने का तरीका आगे बताते हैं—

द्विधा विधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः।
स्वस्वेतरद्वितीयांशैर्योजनात् पञ्च पञ्च ते ॥२७॥

हर-एक महाभूत के दो हिस्से कर, प्रत्येक के एक हिस्से को चार भागों में बाँटकर, एक हिस्से को बाकी चारों के आठवें हिस्सों से जोड़ने से वे पाँचों (स्थूलीकृत महाभूत) पाँचों (भूतों) वाले हो जाते हैं।

आकाश आदि पाँचों महाभूतों का आधा भाग (आठ आना) एक तरफ कर लो आधे-आधे भाग के चार हिस्से (दो-दो आना) करके एक-एक हिस्सा (दो आना) दूसरे भूत में मिला देने से हर भूत एक रुपया-भर हो जायेगा अर्थात् प्रत्येक महाभूत इस प्रकार पूरा होकर पंचीकृत हो जायेगा। आधा हिस्सा (आठ आना) प्रत्येक महाभूत का अपना व शेष चार महाभूतों के चार भाग (दो-दो आना) मिलाकर स्थूल महाभूत पूर्ण हो जायेगा। जैसे पंचीकृत आकाश में आधा भाग आकाश का व चार भाग शेष चार भूतों—वायु, तेज, जल,

पृथ्वी के मिलकर स्थूल आकाश बन गया। इसी प्रकार अन्य चारों महाभूतों का भी पंचीकरण होकर स्थूल महाभूत बन गये। अतः स्थूल आकाश में आधा हिस्सा आकाश का है और उसमें एक बटा आठ वायु, उतना ही तेज, उतना ही जल और उतनी ही पृथ्वी है। चारों अन्य भूतों की 'खोट' मिलने से ही सूक्ष्म भूत स्थूल हो जाता है। अधिक भाग आकाश का होने से स्थूल में पाँचों होने पर भी उसे आकाश कहा-समझा जाता है।

इस प्रकार से खोट मिलाकर यह स्थूल संसार बना है। भोग के जो साधन सूक्ष्म बनाये थे उनके अन्दर स्थूलपना नहीं था जबकि भोग्यों के अन्दर स्थूलपना है। सोने का वर्क हमेशा शुद्ध सोना होता है। सोने में थोड़ी भी मिलावट होगी तो वर्क नहीं बन सकता। लेकिन उस वर्क से गहना आदि बनाना चाहो तो नहीं बनेगा। वह तो केवल मिठाई या पान के ऊपर लगाकर खाने के काम आयेगा। इस प्रकार सूक्ष्म महाभूत केवल आत्मा के भोग और कर्म का औजार बन गये, बाकी वे कुछ नहीं कर सकते। इस तरह सूक्ष्म भी पाँच हैं और स्थूल भी पाँच ही हैं ।। २७।।

स्थूलीकृत भूतों से क्या निर्मित होता है, यह बताते हैं–

तैरण्डस्तत्र भुवनं भोग्यभोगाश्रयोद्भवः।
हिरण्यगर्भःस्थूलेऽस्मिन् देहे वैश्वानरो भवेत्।
तैजसा विश्वतां याता देवतिर्यङ्नरादयः ॥२८॥

उन स्थूल भूतों से ब्रह्माण्ड बना, उसमें चौदह भुवन (लोक) बने जहाँ भोग्य विषय और भोगायतन शरीर उत्पन्न हुए। इस स्थूल शरीर में हिरण्यगर्भ ही वैश्वानर (विराट्) हो गया। तैजस वहीं विश्वभाव को प्राप्त हो गये, जिनके अवान्तर भेद देव, पशु, मनुष्यादि हैं।

जब ये पंचमहाभूत पंचीकृत हो गये अर्थात् स्थूल पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश बन गये, तब उससे अण्ड अर्थात् ब्रह्माण्ड बन गया जिसको तुम विश्व कहते हो। इसको ऋषियों ने देखा कि यह अण्डाकार है इसलिये इसे ब्रह्माण्ड कहते हैं। अर्थात् वह ब्रह्म ही माया के द्वारा पंचमहाभूतों को स्थूल आकार देने के बाद अंडाकार हो गया। वर्तमान में जिन लोगों ने बाह्य विषयों का अध्ययन किया है उन्होंने पाया है कि संसार में प्राकृतिक गति अण्डाकार ही होती है। हम लोगों के जितने ग्रह हैं, वे सूर्य के चारों तरफ जो परिधि बनाते हैं वह अंडाकार ही होती है। आगे सूर्य ध्रुव के चारों तरफ अण्डाकार की परिधि में ही घूमता है। यह आधुनिक विज्ञान को बड़े-बड़े यंत्रों के द्वारा पता लगा और अपने ऋषियों को इस बात का पता उसी समय लग गया, जब पंचमहाभूतों से सृष्टि बनी, कि यह सारा संसार अण्डे के ही आकार का बना है, अर्थात् ब्रह्माण्ड बन गया।

ब्रह्माण्ड सर्वत्र एक जैसा नहीं है। उसमें चौदह भुवन या लोक बने। सात ऊपर के लोक भूः, भुवः, स्वः (स्वर्ग), महः, तपः, जनः और सत्यम् तथा सात नीचे के लोक तल, अतल, वितल, सुतल, रसातल, तलातल, पाताल–ये चौदह भुवन बन गये। इनमें जन लोक की

विशेषता है कि स्त्री वहाँ जाकर वापिस आने पर पुरुष बनती है अर्थात् स्त्री से पुरुष योनि में बनना जन लोक से होता है। सबसे ऊपर सत्य लोक है। उसीको ब्रह्मलोक भी कहते हैं। इन ऊपर के सात लोकों में मनुष्य पुण्य कर्म और पुण्य उपासनाओं को करने से जाता है। आगे बतायेंगे कि इन्हीं चौदह लोकों के अन्दर हम लोग घूमते रहते हैं। शुभ-कर्म करके ऊपर के लोकों को जाते हैं और अशुभ कर्म करके नीचे के लोकों को जाते हैं। हर हालत में मनुष्य लोक में आकर ही हम शुभ या अशुभ कर्म कर सकते हैं। अन्य लोकों के अन्दर उपासना भी की जा सकती है, ज्ञान भी प्राप्त किया जा सकता है परन्तु शुभ या अशुभ कर्म वहाँ नहीं होते। कर्म में अधिकार केवल मनुष्यों का ही है। इन कर्मों को करने के लिये और उनके फल भोगने के लिये पंचमहाभूतों से विषय बन गये जिनका हम भोग या कर्म में उपयोग कर सकते हैं। गेहूँ, चावल इत्यादि बन गये जिन्हें भात आदि बनाकर हम खा सकते हैं। इसी प्रकार सुन्दर फूल इत्यादि बन गये जिनकी हम गंध ले सकते हैं। सुन्दर रूप, सुन्दर दृश्य इत्यादि बन गये। जंगल या पहाड़ों में जाओ तो दृश्य ऐसे सुन्दर लगते हैं कि देखकर मन प्रसन्न हो जाता है। अथवा कई बार आकाश में बादल बड़े सुन्दर रूपों को धारण कर लेते हैं। जिनका इन्द्रियों से भोग होता है वे सब भोग्य हैं।

कुछ रूप देखने में आते हैं जिन्हें देखकर दुःख होता है। किसी गलित कुष्ठ के रोगी को देखो तो दुःख होता है, उसी समय आदमी वहाँ से हटना चाहता है। किसी की मृत्यु देखो तब भी भय होता है। आचार्यों ने कहा है कि अपना कोई प्राणप्रिय व्यक्ति भी मर जाये और रात को औरत को अकेले वहाँ बैठना पड़े तो उससे भी भय लगता है 'भार्या बिभ्यति तस्मिन् काये'। इसी प्रकार घोर कड़वी चीज खाने से बड़ा दुःख होता है। कुनैन की बड़ी सुन्दर गोली आती है, देखने में बड़ी सुन्दर लगती है, मुँह में डालो तो उस आदमी का चेहरा देखने से ही लोग भड़कने लगते हैं! भयंकर कड़वी होती है। जैसे सुख भोग्य है वैसे ही दुःख भी भोग्य है। प्रायः भोग्य सुनकर लोग सुख को याद करते हैं, दुःख को ख्याल में नहीं लाते। परन्तु जैसे सुख का भोग है वैसे ही दुःख का भोग है। दुःख भी किसी-न-किसी विषय से ही होता है। कहीं पर छाया पड़ी हुई हो और उसमें भूत का भ्रम हो जाये तो भी दुःख होता है पर वहाँ विषय नहीं किंतु यद्यपि वहाँ व्यावहारिक विषय नहीं है तथापि प्रातिभासिक विषय तो है ही। छाया में तुमको जिस भूत का भ्रम हो रहा है वह भूत तो विषय है ही। चाहे व्यावहारिक विषय हो, चाहे काल्पनिक विपय हो, दोनों का भोग हो सकता है।

जैसे भोग्य पैदा हुआ वैसे ही भोगाश्रय भी। रसगुल्ला जब मुँह में जायेगा तब मजा आयेगा, इसलिये भोग करने का आश्रय मुख या जीभ हुई। इसी प्रकार फोड़े का दुःख तभी होगा जब शरीर हो, उसी में फोड़ा होगा। फोड़े के दुःख का भोग करने के लिये शरीररूपी आश्रय चाहिये जिसमें फोड़ा हो। पंचीकृत पंचमहाभूतों से भोग करने के विषय भी बने और उनका जिससे सम्पर्क होने से सुख-दुःख का साक्षात्कार संभव है वह शरीर भी हुआ।

पांचभौतिक ब्रह्माण्ड के अन्दर अर्थात् इस ब्रह्माण्डरूप स्थूल शरीर के होने पर 'हिरण्यगर्भः वैश्वानरो भवेत्।' माया की उपाधि से जो ईश्वर था, सूक्ष्म समष्टि के होने पर वही हिरण्यगर्भ कहा गया और वही जब स्थूल शरीर का अनुभव करता है तब उसे वैश्वानर कहते हैं। अतः हिरण्यगर्भ ही वैश्वानर हो जाता है। इसी को विराट् भी कहते हैं। माण्डूक्य उपनिषद् में 'वैश्वानर' शब्द का प्रयोग किया है। ईश्वर, ईश्वर-भाव को छोड़कर हिरण्यगर्भ नहीं होता अर्थात् हिरण्यगर्भ होने पर ईश्वर नहीं है ऐसा नहीं है! ईश्वर तो तब भी है जब हिरण्यगर्भ हो गया। ऐसे समझ लो कि जब तुम बी.ए. पास हो गये तो क्या मैट्रिक पास नहीं रहे? मैट्रिक पास तो हो ही। इसी प्रकार माया की उपाधि से ईश्वर है ही और सूक्ष्म महाभूतों की व्यापक उपाधि के साथ सम्बन्धित हुआ वही हिरण्यगर्भ है। ईश्वर बना रहा, क्योंकि माया की उपाधि हटी नहीं। माया के कार्य की उपाधि और मिल गई तब हिरण्यगर्भ हुआ। माया से ही पंचमहाभूत उत्पन्न हुए। इसी प्रकार माया के रहते हुए, सूक्ष्म पाँचों महाभूतों के भी रहते हुए स्थूल महाभूत भी हैं। इसलिये जब वह वैश्वानर हुआ तब भी हिरण्यगर्भ है ही।

बहुत-से लोग शंका करते हैं कि एक ईश्वर ही मानकर काम चल जाता जो कर्म-फल देने वाला और सृष्टि को बनाने वाला है। अलग से हिरण्यगर्भ मानने की क्या जरूरत है? वस्तुतः इसके दो कारण हैं। एक कारण है कि सृष्टि का निर्वाह करने के लिये चाहे ईश्वरमात्र से काम चल जाये, जैसे अन्य लोग चलाते भी हैं परन्तु वेदों के अन्दर हिरण्यगर्भ और वैश्वानर या विराट् की उपासना कही गई है। उनका फल भी बताया गया है। यदि वैश्वानर या विराट् और हिरण्यगर्भ का रूप न बताया जाये तो वह उपासना किस प्रकार सिद्ध होगी? हिरण्यगर्भ और विराट् की उपासना उन्हें ईश्वर समझकर होती है। उपासना के लिये यह उपयोग हो गया। ज्ञानसाधना में तो उपाधियाँ सारी ही बाध करने के लिये या हटाने के लिये हैं। अगर बाद में हटाना ही है तो पहले लाये ही क्यों? इससे क्या लाभ? शास्त्रकारों ने बताया है कि इसकी आवश्यकता इसलिये है कि इसके बिना परमात्मा के वास्तविक स्वरूप को समझा नहीं जा सकता। अतः भ्रम और बाध दोनों ही आवश्यक हैं। इसलिये कहा है 'अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपंचं प्रपंच्यते' परमात्मा है तो निष्प्रपंच, प्रपंच से रहित है। सूक्ष्म पंचमहाभूत भी पाँच हैं और स्थूल महाभूत भी पाँच हैं। संसार में जो कुछ है वह सब स्थूल या सूक्ष्म महाभूतों के कारण है और ये दोनों ही ब्रह्म में हैं नहीं, इसलिये ब्रह्म निष्प्रपंच है। निष्प्रपंच ब्रह्म के बारे में कुछ भी कहना संभव नहीं। जो कुछ भी कहोगे वह या तो सूक्ष्म या स्थूल पंचमहाभूतों को लेकर कहोगे। इसलिये यदि परमात्मा का वर्णन करना है तो भगवान् दक्षिणामूर्ति की तरह मौन बैठना पड़ेगा। उनका मौन ही व्याख्यान है। उपनिषद् में कथा आती है कि एक राजा किसी महर्षि से कहता है 'मुझे ब्रह्म का उपदेश दीजिये।' महर्षि चुपचाप बैठे रहे। राजा ने सोचा कि जोर से बोलने पर सुनते होंगे अतः जोर से बोल कर कहा 'आपने सुना नहीं! मुझे ब्रह्म का उपदेश दीजिये।' फिर भी वे चुप

रहे। राजा ने फिर कहा 'मुझमें क्या खराबी है जो आप मुझे उपदेश नहीं देना चाहते?' ऋषि हँस पड़े कहा, 'मैं उपदेश दे तो रहा हूँ, तू सुन नहीं रहा है तो मैं क्या करूँ!' मौन रहना ही तो उसके बारे में उपदेश है। जिसके बारे में मन और वाणी की प्रवृत्ति हो नहीं सकती उसको तुम शब्दों से बता कैसे सकते हो! इसलिये यदि निष्प्रपंच ब्रह्म का उपदेश देना है तब तो भगवान् दक्षिणामूर्ति की तरह मौन रखना पड़ेगा। जब ब्रह्मा आदि ने सृष्टि बनाना शुरू किया तब उनके अन्दर सत्त्वगुण की प्रधानता थी। सत्त्वगुण की प्रधानता के कारण पहले सनक सनंदन आदि पैदा हुए। सत्त्वगुण की अधिकता से नित्यकुमार होने के कारण उन्हें सनत्कुमार कहा जाता है। कुमार का अर्थ है 'कुत्सितो मारो येन सः कुमारः' जिसके लिये (जिसमें) कभी कामना उत्पन्न होती ही नहीं, कामना उसके द्वारा दूर ही रखी जाती है। अर्थात् वे सदा निष्काम थे। ब्रह्मा जी ने उनसे कहा 'हमने तुम्हें पैदा किया है, तुम आगे सृष्टि-चक्र चलाओ।' सनत्कुमारों ने कहा 'महाराज! दुनिया बनेगी, लोग दुःखी होंगे, ऐसी दुनिया बनाने से क्या फायदा! बेकार का काम है। आप भी ब्रह्मचिन्तन कीजिये, हम भी ब्रह्मचिंतन करें।' ब्रह्मा जी को गुस्सा आया कि 'मैं सृष्टि करना चाहता हूँ और ये मुझे ही उपदेश करने लग गये गुस्से में कहा, 'नालायको! निकल जाओ यहाँ से।' इसलिये जैसे सृष्टि के आदि काल में पिता ब्रह्मा ने उन्हें निकाला, वैसे ही आज भी कोई परमात्मा के चिंतन की तरफ जाता है तो लोग कहते हैं, 'अभी समय थोड़े ही है, जब बुड्ढे होना, तब कर लेना।' अर्थात् जब हम मर जायेंगे तब तुम जो मर्जी करना। ब्रह्माजी में क्रोध आने से रजोगुण आया, तब उन्होंने सप्त ऋषियों को पैदा किया। इसलिये गीता में कहा 'महर्षयःसप्त पूर्वे' चूँकि ये रजोगुण से पैदा हुए थे, इसलिये ज़ब ब्रह्माजी ने कहा कि सृष्टि करो तो उन्होंने सनत्कुमारों की तरह यह नहीं कहा कि 'भजन करेंगे'। उन्होंने तो सृष्टि बनाई।

सनत्कुमारों की कोई कामना तो थी नहीं परन्तु सोचा कि बिना गुरु के ज्ञान की सम्भावना नहीं होती। वेद भी कहता है कि गुरु से विद्या प्राप्त होने पर ही वह साध्य को प्राप्त कराती है। 'आचार्यवान् वेद' जिसका आचार्य या गुरु होता है उसी को ज्ञान होता है। इसलिये सनत्कुमारों ने विचार किया कि पिता जी के पास तो जा नहीं सकते क्योंकि वे पहले से ही गुस्सा हैं। विष्णु भगवान् के पास जायें, तो वे भी स्थिति का काम करने वाले होने से कहेंगे कि 'पहले थोड़ा संसार की स्थिति का काम कर लो।' इसलिये निर्णय किया कि भगवान् शंकर के पास चलें, उन्हें न सृष्टि में और न स्थिति में रुचि है। भगवान् शंकर के पास गये। शंकर जी ने उन्हें दूर से देखा तो सोचा कि इनके अन्दर वैराग्य की पूर्णता है इसलिये इनके सामने पार्वती के पास बैठना ठीक नहीं है। वहाँ से थोड़ी दूर जाकर दक्षिणामूर्ति का रूप लेकर अकेले बैठ गये। सिंहासन आदि तो छोड़ दिया था इसलिये कहा है 'चित्रं वटतरोर्मूले' वट वृक्ष के नीचे जाकर बैठ गये। यह नियम है कि जिसके अन्दर जो विशेषता होती है वह विशेषता जहाँ दीखेगी वहीं उसे आकर्षण होगा। जिसके मन में सोने

के गहनों का प्रेम है वह सोने के गहनों से आकृष्ट होगा। हम लोग सोने के रंग को अच्छा मानते हैं। कोई बता रहा था कि विदेशों में सफेद रंग अच्छा मानते हैं इसलिये वे चाँदी या प्लेटिनम के गहने पहनते हैं क्योंकि ये दोनों धातु सफेद रंग के होते हैं। उसमें हीरा, पन्ना आदि सब लगाते हैं। इसी प्रकार जो सर्वथा वैराग्यवान्, कामना से रहित है उसे कामना से रहित रूप से बैठकर ही ठीक प्रकार से उपदेश देना सम्भव है। अंगूठे और तर्जनी को मिलाकर, तीनों अंगुलियों को अलग करके बैठ गये। सनक, सनंदनादि ने आकर देखा कि भगवान् वहाँ उस मुद्रा के साथ मौन बैठे हुए हैं। मौन ही उनकी व्याख्या थी। सनत्कुमारों ने उनका हाथ देखते ही समझ लिया! इसलिये इसे चिन्मुद्रा कहते हैं क्योंकि इसके द्वारा ठीक प्रकार से चेतन को समझा जाता है।

हाथ का अंगूठा ब्रह्म को बताता है। जैसे ब्रह्म कुछ नहीं करता, वैसे ही यदि हमने किसी से पैसा लिया है और हमको उसे वापिस नहीं देना हो तो हम उसे अंगूठा दिखा देते हैं। अंगूठे से द्योत्य निष्प्रपंच ब्रह्म है। अंगूठा ब्रह्म को बताता है। अंगूठे के साथ वाली जो पहली अंगुली है इसे संस्कृत में तर्जनी कहते हैं। किसी को डाँटना हो तो यही अंगुली दिखाकर डाँटते हैं, इसलिये इसे तर्जनी कहते हैं, इसमें मनुष्य का मैं-भाव प्रबल है। यह अंगुली आदमी तभी दिखाता है जब उसके अन्दर अहंकार की पूर्णता होगी। अपना जो अहम् अर्थात् जीवभाव है वह परमात्मा या ब्रह्म से एक कर दो अर्थात् मेरा अहम् कुछ नहीं, अन्दर बैठा हुआ जो अन्तर्यामी है उसी का सब कुछ है। परन्तु इसके लिये क्या करना पड़ेगा? इन तीन अंगुलियों को अलग करना पड़ेगा। अंगुलियाँ अन्दर को वन्द करो तो घूँसा बन जायेगा। चिन्मुद्रा के लिये अंगूठे और तर्जनी के अगले भाग को मिलाकर तीनों अंगुलियों को अलग करना पड़ेगा। इनमें से बीच की अंगुली सबसे बड़ी है इसलिये यह अविद्या को बताती है। इसके पास की अंगुली अनामिका है। इसमें प्रायः अंगूठी पहनते हैं। यह दूसरी बात है कि कोई ज्योतिषी मिल जाये तो उसके कहने पर दसों अंगुलियों में लोग अंगूठी पहन लेते हैं। परन्तु यदि एक ही अंगूठी पहननी हो तो इन तीन अंगुलियों के बीच वाली अंगुली में पहनते हैं। इसलिये यह अंगुली कामना को बताती है। अविद्या तमोगुण अर्थात् तम रूप ही है और कामना रजोरूप है। कामना रजोगुण को बताती है। इसके पास कनिष्ठिका है जो सबसे छोटी है, सबसे कमजोर भी है। हमारे अन्दर सबसे कमजोर सत्त्वगुण ही है। कामना हम में प्रबल है और अज्ञान तो प्रबल है ही, परन्तु सबसे कमजोर सत्त्वगुण या ज्ञान है। इसलिये यह सब से दूर होने से, या सबसे छोटी होने से सत्त्वगुण को बताती है। अंगूठे और तर्जनी से इन तीनों अंगुलियों को अलग करके बताया कि इन तीनों गुणों को छोड़ दो। भगवान् ने भी कहा है 'त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन' वेद जितनी चीजों को प्राप्त करने के लिये बताता है वे सब तीन गुणों के अन्दर ही हैं। चाहे जैसे कर्म या उपासनायें बताई हैं, वे सब तीन गुणों के अन्तर्गत ही फल देंगी। इसलिये भगवान् कहते हैं कि तीनों गुणों को छोड़कर उस परब्रह्म परमात्मा में ही स्थित हो जाओ। दक्षिणामूर्ति इस चिन्मुद्रा को

बनाकर बैठे थे। सनत्कुमार आदि भी सर्वथा कामना से रहित थे। उनमें पूर्ण वैराग्य उपस्थित था इसलिये कहा 'शिष्यास्तु च्छिन्नसंशयाः'। इस बात को देखते ही उनके मन के सारे संशय निवृत्त हो गये। वह मौन व्याख्यान का विषय है।

परन्तु मौन व्याख्यान चूँकि साधारणतः समझ में नहीं आ सकता इसलिये परमेश्वर के ऊपर पहले उपाधियों की कल्पना करनी पड़ती है, इसी को संस्कृत भाषा में अध्यारोप कहते हैं। अर्थात् जो जहाँ नहीं है उसको वहाँ समझना। फिर उसका अपवाद हो जाता है अर्थात् उसे हटा देते हैं। तब चीज तुम्हें समझ में आ जाती है। इसलिये ईश्वर का आरोप किया जाता है कि एक माया है, उस माया की उपाधिवाला ईश्वर है। अंत में बताना क्या है? माया है ही नहीं! बता तो उसी समय देते हैं, अगर सनत्कुमार जैसे हों तो समझ जायें। संस्कृत में 'मा' मायने नहीं और 'या' मायने जो, इसलिये 'माया' मायने जो नहीं है। इस बात को समझ जायें तो आगे का खेल खत्म हो जाये, अध्यारोप-अपवाद की जरूरत ही नहीं पड़ेगी। माया की कल्पना की, परन्तु माया की कल्पना से ही समझ में नहीं आया तो आगे कहते हैं कि यह सब जो हमको दीख रहा है यह क्या है? हम मानते हैं कि हम देख रहे हैं, अनुभव कर रहे हैं तब कहना पड़ता है कि तुम इसलिये अनुभव करते हो कि शरीर है। सूक्ष्म शरीर है यह कहना हमारा तात्पर्य नहीं है। परन्तु तुम कहते हो 'हम अनुभव करते हैं।' इसलिये बताना पड़ता है। हम जानते हैं कि हम कुछ अनुभव नहीं कर रहे हैं क्योंकि कुछ हुआ होता तो कुछ दीखा भी होता! परन्तु जब तुम कह रहे हो 'मैं देख रहा हूँ' तो सही जवाब है, 'तू झूठ बोल रहा है'। लेकिन ऐसा कहने से समाधान नहीं होगा। इसलिये सूक्ष्म शरीर मान लेना पड़ता है कि उससे दीखता है। उससे क्या दीखता है? तब बता देते हैं कि पंचीकरण होकर स्थूल पंचमहाभूत बने। विचार करो तो सचमुच में सूक्ष्म ही नहीं है तो स्थूल कहाँ से आया? इसे बताने के लिये कहा कि माया उपाधि कारणरूप से है। इसी प्रकार सूक्ष्म प्रपंच सूक्ष्म महाभूतों से बना, इसलिये हिरण्यगर्भ बताना पड़ता है। उनसे स्थूल महाभूत बने तो उसके लिये विराट् को बताना पड़ा। समष्टि सूक्ष्म महाभूत वाला हिरण्यगर्भ एवं समष्टि स्थूल महाभूत वाला विराट् है।

निष्प्रपंच का प्रपंचन करने में एक प्रयोजन तो बताया उपासना; हिरण्यगर्भ और वैश्वानर की उपासना बताई और उसके बहुत बड़े-बड़े फल बताये हैं। अश्वमेधादि जो बड़े-बड़े कर्म हैं उनका फल हिरण्यगर्भ की उपासना से हो जाता है। सब लोग तो अश्वमेध कर नहीं सकते। कोई चक्रवर्ती राजा हो, वह घोड़ा छोड़े और उसे कोई पकड़ नहीं सके तब वह यज्ञ होगा। फिर अश्वमेध के फल को कैसे प्राप्त किया जाये? उसके लिये हिरण्यगर्भ की उपासना बता दी। उसे तो सब कर ही सकते हैं। इसी प्रकार से वैश्वानर की उपासना बताई है। एक बड़ी सीधी वैश्वानर की उपासना है कि जब सबसे पहले खाने बैठो तो चावल, घी, गुड़ को मिलाकर मृगमुद्रा से पाँच बार कौर खाते हो तो उसमें भावना करनी है कि यह खाने वाला मैं नहीं वरन् पेट में बैठा हुआ वैश्वानर है और मैं उसे पाँच आहुति दे रहा हूँ। पेट

में रहने वाली अग्नि वैश्वानर अग्नि को कहा है। नहीं खाओ, यह नहीं कह रहे हैं, परन्तु पहले पाँच कौरों से उन्हें आहुति देते हुए दृष्टि रखो कि यह खाने का कार्य वैश्वानर की उपासना है। इस उपासना के बहुत बड़े फल बताये हैं। इसलिये यह प्रतिपादन आवश्यक भी है और सारे लोगों को इन दो उपासनाओं के द्वारा बड़े फलों की प्राप्ति हो सकती है। जो परमेश्वर की तरफ जाना चाहते हैं वे बिना कामना के इन उपासनाओं को करके अंतःकरण की शुद्धि होकर मोक्ष के योग्य ब्रह्माकार वृत्ति बना सकते हैं। इसलिये हिरण्यगर्भ को बताना जरूरी है। इन सब बातों को बताना तत्त्व समझने के लिये भी ज़रूरी है। माया की उपाधि वाला ईश्वर, सूक्ष्म महाभूतों की उपाधि वाला बनकर हिरण्यगर्भ है, वही स्थूल महाभूतों की उपाधि वाला विराट् या वैश्वानर कहा गया। एक के रहते हुए दूसरा कहा जैसे बी.ए. रहते हुए मैट्रिक-पास भी है। ये परमात्मा के रूप हैं।

जीव से उसमें फर्क यह है कि जीव को 'मैं जीव हूँ' यह भ्रम है जबकि ईश्वर में 'मैं ईश्वर हूँ' ऐसा भ्रम नहीं है। इसलिये 'भवेत्' या 'अभवत्' कहा अर्थात् वैश्वानर *होता* है। परन्तु जो तैजस (व्यष्टि) हैं उन्होंने इन्द्रिय-मन को मैं समझ लिया अतः भ्रांत हैं। इसलिये कहा कि विश्वभाव को प्राप्त कर गये। 'याताः' अर्थात् बन गये। हम लोग केवल शरीर में नहीं रहते वरन् 'यह शरीर मैं हूँ' ऐसा हमें निश्चय है। रास्ते में जा रहे हैं। किसी को हमारा हाथ छू गया तो क्या अनुभव होता है कि शरीर अशुद्ध हो गया? ऐसा नहीं होता, वरन् 'मैं अशुद्ध हो गया' ऐसा अनुभव होता है। इसी प्रकार शरीर में फोड़ा निकला तो 'मैं रोगी हो गया' या शरीर में बुखार आ गया तो 'मैं रोगी हो गया' ऐसा अनुभव होता है। इसलिये किसी ब्राह्मण को यदि कहें कि तू ब्राह्मण नहीं है तो वह गुस्सा करेगा कि 'कैसे कह रहे हो मैं ब्राह्मण नहीं हूँ!' वेदपाठ सूक्ष्म शरीर से करते हैं। संध्यावंदन आदि में जल इत्यादि स्थूल शरीर पर छिड़कते हैं। प्राणायाम आदि प्राणमय कोश या सूक्ष्म शरीर से करते हैं। इन सबसे *तुम* कैसे ब्राह्मण हो गये! कहोगे, 'यही सब तो मैं हूँ'। इसलिये हम विश्वभाव को, या तैजसभाव को या प्राज्ञभाव को प्राप्त हो जाते हैं। परन्तु परमेश्वर के लिये 'यातः' नहीं कहा केवल 'भवेत्' अर्थात् होता है कहा है। इतना ही नहीं, विश्वता क्या है? देवता के शरीर में जाकर 'मैं देव हूँ', मनुष्य-शरीर में जाकर 'मैं मनुष्य हूँ,' पशु-पक्षी के शरीर में जाकर 'मैं पशु-पक्षी हूँ', उसमें भी पुरुष शरीर में गया तो पुरुष, स्त्री शरीर में गया तो 'मैं स्त्री हूँ' ऐसा निश्चय होता है। जब हम लोग बात करते हुए पुल्लिंग का प्रयोग कर देते हैं तो कई औरतें कहती हैं कि आपने औरतों को छोड़ दिया। 'वह पुरुष मैं ही हूँ' यह समझ में नहीं आता। देव-भाव, तिर्यक्-भाव, नर-भाव 'आदि' से नरक आदि योनियों के अन्दर जाकर उन भावों को प्राप्त हो जाता है। कीट, पतंग आदि योनियों में भी यही अनुभव है।

देवताओं और मनुष्यों के बीच तिर्यक् अर्थात् पशु आदि का उल्लेख क्यों? पशु आदि तो मनुष्य से निकृष्ट प्रसिद्ध हैं। उत्तर है कि यहाँ कर्मानधिकार और कर्माधिकार से भेद विवक्षित है। देवताओं को कर्म में अधिकार नहीं क्योंकि वे पूजा करें इस तरह के कोई अन्य

देवता तो हैं नहीं! पशुआदि में बुद्धिआदि नहीं इसलिये वे भी कर्म में अधिकारी नहीं। अतः देव-तिर्यक् इन्हें पहले कह दिया और मनुष्य बाद में कहे। किंच यहाँ देवताओं के स्थूल-सूक्ष्म शरीर भी बताकर स्पष्ट किया कि पूर्वमीमांसकों की मान्यता, कि देवता शरीरधारी नहीं हैं, गलत है। ब्रह्मसूत्रों में यह निर्णय दिया गया है। इस प्रकार से तीनों शरीर वाले 'विश्वतां याता' विश्व हो गये। इसका मतलब यह नहीं कि तैजस प्राज्ञ नहीं रहा, वरन् तैजस, प्राज्ञ रहते हुए, स्थूल शरीर का अभिमानी है। केवल कारण या सूक्ष्म में मैं का अनुभव नहीं, लेकिन अभिमान तो है, उसमें यह स्थूल शरीर और जुड़ गया।। २८।।

विश्वादि नामक जीव चाहे देव-तिर्यक्-नर आदि जो भी हों, तत्त्व के साक्षात्कार से वंचित रहने के कारण संसार-चक्र के ही अन्तःपाती रहते हैं। यह सोदाहरण बताते हैं–

ते पराग्दर्शिनः प्रत्यक्तत्त्वबोधविवर्जिताः।
कुर्वते कर्म भोगाय कर्म कर्त्तुं च भुञ्जते ॥२९॥

प्रत्यग्भूत आत्मा की वास्तविकता की प्रमा से शून्य विषयदर्शनशील वे जीव भोग पाने के लिये कर्म करते हैं और कर्म करने के लिये भोगते रहते हैं!

'ते' अर्थात् विश्वादि पराग्दर्शी हैं। देव, तिर्यक्, मनुष्य आदि सब पराग्दर्शी हैं। अपने से बाहर की चीज़ों को पराक् कहते हैं। देव, तिर्यक् आदि बाहर के विषयों की तरफ देखते हैं। यह ठीक है कि कभी-कभी अपने मन की स्थितियों को भी हम देख लें, परन्तु अधिकतर तो परागृदर्शी ही हैं। आगे बतायेंगे कि मन भी सचमुच में आत्मा की दृष्टि से बहिर्भूत ही है। हर हालत में, इन्द्रियों को परमेश्वर ने बनाया ही ऐसा है कि ये अपने अन्दर देख नहीं सकतीं, बाहर ही देखती हैं। आँख भी बाहर ही देखती है। श्रोत्र भी बाहर के शब्द को और नाक भी बाहर की गन्ध को ग्रहण करती है। परमेश्वर ने इनको पराग्दर्शी बनाया है। वेद ने कहा है 'परांचि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः' ब्रह्मा जी ने अर्थात् परमेश्वर ने इन्द्रियों को ऐसा बनाया है कि ये बाहर की तरफ खुलती हैं। एक प्रश्न मन में आ सकता है कि यदि ब्रह्मा जी ने ही इनको बाहर जाने वाला बनाया है तो हम लोग इनको अन्तर्मुख करने की कोशिश में कैसे सफल होंगे? लेकिन यह शंका ठीक नहीं है। ये 'बनाई' बहिर्मुखी गई हैं। इसका मतलब है कि यह इनका स्वभाव नहीं है! जिसका जो स्वभाव होता है उसको तो बदला नहीं जा सकता। यदि किसी तरह से थोड़ी देर के लिये उसे दूसरी तरह का कर भी दो तो वह वापिस अपने स्वरूप में आ जायेगी। यदि हम पराग्दर्शी हैं, परागृ दर्शन के संस्कार हममें रहेंगे। थोड़ी देर के लिये परागृदृष्टि को हटा भी दिया तो फिर आ जायेगी क्योंकि वही स्वाभाविक है। यदि सारे परागृ दर्शन के संस्कार के कारण पराग्दर्शी ही बने रहेंगे तो जो शास्त्र प्रत्याहार या इन्द्रियों को अन्तमुर्ख करने की बात करते हैं वह व्यर्थ हो जायेगी। अनेक शास्त्रप्रसंगों की सतात्पर्य विधि असंगत हो नहीं सकती। इसलिये ये स्वभाव से पराग्दर्शी नहीं हैं। अनादि काल से पराग्दर्शन करते-करते लगता है कि यह इनका स्वभाव

है, परन्तु धीरे-धीरे अभ्यास करके इनको अन्तर्मुख किया जा सकता है। जो तो अभ्यास नहीं करते हैं वे पूर्व संस्कारों से युक्त होकर पराङ्मुख ही बने रहते हैं। उस प्रकार संस्कार के द्वारा अभ्यास से इनकी बहिर्मुखी वृत्ति होती है, इसलिये 'हिंसितवान्' कह दिया।

वस्ततुः प्रत्यक्ता और पराक्ता क्या है? जो जिसकी असलियत होती है वह उसकी प्रत्यक् होती है जैसे घड़े की असलियत मिट्टी है। मिट्टी पर 'घट' यह नाम और मोटा पेट, लम्बी गर्दन, ऊपर से खुला हुआ, यह रूप पराक् हैं। कुछ भी हो जाये घड़े का मिट्टीरूप तो बना ही रहता है। घड़ा बनने वाली मिट्टी नहीं रहे ऐसी बात नहीं होती है, मिट्टी रहते ही, नाम-रूप और आ जाते हैं। इसी प्रकार, आत्मा की वास्तविकता ब्रह्मरूप है, सच्चिदानंद-रूप है। यह संसार, नाम-रूपात्मक प्रपंच सारा पराक् है। अतः ब्रह्म की तरफ दृष्टि करने से अर्थात् बाकी दृष्टियों को छोड़ने से, अपने आप ही अन्दर की वृत्ति हो जाती है क्योंकि वही प्रत्यक् तत्त्व है। जैसे घड़े को मिट्टी बनने के लिये कुछ नहीं करना पड़ता क्योंकि मिट्टी वह है ही; इसी प्रकार स्थूल-सूक्ष्म सारे प्रपंच को हटा देने पर ब्रह्म-रूप स्थिति है ही। जिस समय यह नाम-रूप बनता है तब हमें ख्याल नहीं रहता कि यह मिट्टी है। इसलिये यदि घड़ा फूट जाये तो आदमी कहता है 'इतनी सुन्दर कारीगरी वाला घड़ा था, तुमने मिट्टी में मिला दिया।' मानो घड़ा मिट्टी से कुछ अन्य था जो अब मिट्टी हुआ हो! जब कारीगरी वाला दीख रहा था, तब भी मिट्टी ही था। किंतु नाम-रूप दीखते यह बात भुला देते हैं। श्रुति ने इसीलिये 'नेति-नेति' के द्वारा उस तत्त्व का उपदेश दिया। स्थूल-सूक्ष्म और वीप्सा के द्वारा कारण प्रपंच का निषेध करते हुए कह दिया कि ये सारी उपाधियाँ नहीं हैं, ब्रह्म ही है। क्योंकि पराक् अर्थात् नामादि मिथ्या हैं, इसलिये इंद्रियों की परागदर्शिता भी वास्तविक नहीं। भले ही अभी ये परागदर्शी हैं, परन्तु यह उनका स्वरूप नहीं है कि हमेशा ऐसा ही रहे।

परागदर्शी होने से ही प्रत्यगात्मा की वास्तविकता का ज्ञान इन्हें नहीं हो पाता। यह बात अच्छी तरह याद रखनी चाहिये। बहुत से मतमतांतर कहते हैं कि भोग और मोक्ष दोनों, उन मतों द्वारा बताये साधनों से मिल जाते हैं, उनका यह कहना भोग और मोक्ष के स्वरूप को सर्वथा न समझकर ही है। भोग तो नाम-रूप का होता है। यदि नाम-रूपों की तरफ तुम अपने को रखोगे तो नाम-रूप से रहित होना जो मोक्ष है, वह सम्भव ही नहीं होगा। जैसे कोई व्यक्ति रेल में जा रहा था। वह नीचे की बर्थ पर बैठा था। उसके ऊपर की बर्थ पर अन्य सज्जन बैठे थे। उन्होंने नीचे की बर्थ वाले से पूछा 'आप कहाँ जा रहे हैं?' उसने कहा—'मैं कलकत्ते जा रहा हूँ।' ऊपर की बर्थ वाले ने कहा—'गजब हो गया! मैं बम्बई जा रहा हूँ; विज्ञान का कमाल है कि एक ही रेल के डिब्बे में ऊपर वाला बम्बई जा रहा है ओर नीचे वाला कलकत्ते जा रहा है!' ठीक जिस प्रकार विरुद्ध दिशा होने से यदि रेल कलकत्ते जाने वाली है तो बम्बई नहीं जा सकती और बम्बई जाने वाली रेल कलकत्ते नहीं जा सकती, इसी प्रकार विषयों की तरफ वाली रेल और विषयों से मुक्ति की रेल एक नहीं हो सकती।

भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर इसीलिऐ कहते हैं कि पटना के आसपास रहने वाला एक साथ ही गंगासागर और गंगोत्री पहुँच जाये, यह नहीं हो सकता। जितना-जितना गंगासागर की तरफ जायेगा, उतना-उतना गंगोत्री से दूर होगा और जितना-जितना गंगोत्री की तरफ जायेगा उतना गंगासागर से दूर होगा। इसी प्रकार जितना नाम-रूप के दर्शन में जायेगा, उतना स्वरूप-दर्शन से दूर होगा और जितना स्वरूप-दर्शन की तरफ जायेगा, उतना नाम-रूप से दूर होगा।

संस्कारों के कारण पराग्दृष्टि में तो हम लोग हमेशा से हैं इसलिये हमें प्रत्यक् तत्त्व का ज्ञान नहीं होता। पराग्दर्शी होने के कारण ही हम भोग के लिये कर्म करते हैं और भोग इसलिये करते हैं कि कर्म करें। किसी से पूछो कि 'काम क्यों करते हो?' तो कहता है 'काम नहीं करूँगा तो खाऊँगा क्या।' फिर पूछो 'खाते क्यों हो?' तो कहता है कि 'मुझे आठ घण्टे खड़े-खड़े काम करना पड़ता है, नहीं खाऊँगा तो कैसे चलेगा!' अर्थात् खाता है काम के लिये और काम करता है खाने के लिये। इस प्रकार से यह चक्र चल रहा है। जो कहा 'कुर्वते कर्म भोगाय', भोग के लिये कार्य करते हैं, यह बात सुख के लिये तो ठीक बन जाती है। जैसे दाल का हलवा खाने के लिये हम दाल लाये, भिगोयी इत्यादि सब काम किया जिससे दाल का हलवा खाने को मिला, हमें सुख हुआ। परन्तु दुःख की प्राप्ति के लिये तो तुम कर्म नहीं करते। कोई आदमी डाक्टर को अर्ज़ी नहीं भेजता कि 'छह साल हो गये, हमें पीलिया हुआ था। फिर अब तक नहीं हुआ तो भेज दीजिये, हमें पीलिया हो जाये, आपकी फीस हम दे देंगे!' ऐसे दुःख के लिये कोई कर्म करता नहीं है। लेकिन भोग तो सुख-दुःख दोनों का है। फिर यह कैसे कहा कि कर्म भोग के लिये करता है? यह समझो कि 'भोग के लिये' का मतलब है 'भोग है फल जिसका'। जब हम दूसरों को ठगते हैं या ठगने का काम करते हैं तो हम जेल जाने के लिये तो नहीं ठगते, परन्तु अगर ठग लिया तो जेल जाना ही पड़ेगा। इसलिये भोग अर्थात् सुख-दुःख का फल जिसका है ऐसा कर्म करते हैं। उस कर्म का फल जैसे दृष्ट वैसे अदृष्ट भी होता है। कोई कर्म यहाँ फल दे देता है अतः दृष्ट फल वाला है। कुछ कर्म यहाँ फल नहीं देते इसलिये उनका फल अदृष्ट है अर्थात् देखा नहीं जाता परन्तु फल मिलेगा अवश्य। कर्म किया है और फल न मिले, यह नहीं हो सकता। बोलने में भी कहते हैं कि 'पाप कर्म दुःख के लिये होता है'। दुःख को *उद्देश्य* करके तो पाप कर्म *किया* नहीं जाता है, परन्तु उससे दुःख-भोग होता है, इतना ही तात्पर्य है। इसी प्रकार जब कहा कि कर्म करने के लिये भोग करता है, तब भी तात्पर्य यही है कि जब सुख-दुःख का भोग होता है तब उसके संस्कार बनते हैं। सुख होता है तो 'यह चीज़ हमें फिर से मिले' ऐसा संस्कार बनता है। दुःख होता है तो 'ऐसी चीज़ हमें फिर कभी प्राप्त न हो' ऐसा संस्कार बनता है। संस्कार ही बाद में स्मरण को पैदा करता है अर्थात् उस चीज़ की स्मृति होती है, और याद आने पर उसका कारणभूत जो कर्म है, उसके लिये प्रवृत्ति करते हैं। इसलिये भोग भी संस्कार के द्वारा कर्म करने में प्रवृत्ति कराता है। इसमें दोनों ही कर्म आ जायेंगे

अर्थात् या सुख के हेतु को सम्पन्न करने के लिये करते हैं या दुःख के हेतु को हटाने के लिये करते हैं। कर्म फल देता है और फल संस्कार उत्पन्न करके कर्म करवाता है। इस प्रकार तात्पर्य समझ लेना चाहिये ॥ २६ ॥

इस चक्र को बताने के लिये दृष्टांत देते हैं–

नद्यां कीटा इवावर्तादावर्तान्तरमाशु ते।
व्रजन्तो जन्मनो जन्म लभन्ते नैव निर्वृतिम्।। ३०।।

जैसे कीड़े नदी में एक भँवर से दूसरे भँवर में घूमते रहते हैं वैसे वे जीव शीघ्र ही एक से दूसरे जन्म में जाते रहते हैं, इस भ्रमण से छुटकारा नहीं पाते।

नदी के प्रवाह में भँवर पड़ जाते हैं जिनमें पानी गोल-गोल घूमता है। उस भँवर के अन्दर यदि कोई कीड़ा फँस जाता है तो उसी में गोल-गोल घूमता रहता है। थोड़ी देर बाद उस भँवर का जब बाहर फैंकने का वेग होता है, तब उस कीड़े को भी बाहर फैंका जाता है तो दूसरे भँवर में वह कीट फिर फँस जाता है! इस प्रकार एक भँवर से दूसरे भँवर में जाता रहता है। यों जाने में समय नहीं लगता, आशु, शीघ्र ही एक से दूसरे भँवर में जाता है। जो गोल-गोल भँवर घूमते हैं उनमें दो शक्तियाँ कार्य करती हैं जिन्हें आकर्षण (केन्द्राभिमुखी) और विकर्षण (बहिर्मुखी) कहते हैं। जीव के लिये एक जन्म से दूसरा जन्म भँवर है। एक जन्म एक भँवर है क्योंकि इस जन्म के अन्दर हम यहीं घूमते रहते हैं जहाँ रिश्तेदार नातेदार हैं, अपने बच्चे हैं। सौ साल तक घूम लेते हैं। उसके बाद जैसे ही बाहर फैंकने वाली शक्ति कार्यकारी होती है, हम झट दूसरे शरीर में पहुँच जाते हैं। यहाँ का भँवर छूट गया, वहाँ दूसरे भँवर मे फँस गये! यहाँ वाले लड़कों का विचार नहीं, यहाँ जो लड़की शादी के लिये रह गई उसका भी कुछ विचार नहीं करना पड़ता। किन्तु एक चक्र ख़त्म हुआ, दूसरा चक्र शुरू हो गया। वहाँ फिर नये माँ-बाप, नये रिश्तेदार आ गये, नई पत्नी आ गई। जब तक एक भ्रमर में रहते हैं तब तक दूसरे भ्रमर की बात मन में नहीं आयेगी। जब दूसरे भ्रमर में पहुँच गये तो पिछले भ्रमर से कोई मतलब नहीं रहता।

हम प्रत्येक समय जिस भ्रमर में पड़े हैं तब हमारे ऊपर वहीं के सारे कर्त्तव्य सिर पर रहते हैं कि ये तो ज़रूर करने चाहिये। एक कथा आती है : नारद और पर्वत, मामा-भांजे, कहीं जा रहे थे। अकस्मात् पर्वत को हँसी आ गई। नारद जी ने पूछा 'क्यों हँसे?' स्वाभाविक है कि दो आदमी साथ-साथ जा रहे हों, एक हँसे तो कारण बताना पड़ता है। पर्वत ने कहा–'कुछ नहीं, आगे चलो।' यदि हँसी का कारण नहीं बताओ तो मन में और ज्यादा शंका होती है कि ज़रूर कुछ छिपा रहे हैं। ज़ोर देकर पूछा तो पर्वत ने सच्ची बात बताई 'अपने दोनों जब उस सब्जी की दुकान के सामने से निकल रहे थे तब तुमने भी देखा होगा कि एक बकरा सब्ज़ी में मुहँ मार रहा था और मालिक ने उस बकरे को ज़ोर से डण्डा मारा, बकरा वहाँ से भागा। इससे मुझे हँसी आ गई।' नारद ने कहा 'आप करुणामय व्यक्ति हैं।

किसी के दुःख को देखकर आपको हँसी नहीं आ सकती, जरूर कोई और बात है।' पर्वत ने कहा–'यह बकरा दुकानदार का बाप है। इसी ने यह दुकान बनाई थी, और अव बकरा होकर पैदा हुआ है। संस्कार उद्‌बुद्ध होते हैं जिनसे वह बार-बार उस दुकान की तरफ जाता है। लड़का तो उस बात को जानता नहीं है। इसलिये उसे भगाने के लिये डण्डा मारता है।' विचार करो, जो दुकान तुमने बनाई है, वहीं जाओगे तो डण्डे पड़ेंगे! इसलिये कहा 'लभन्ते नैव निर्वृतिम्' कभी भी शांति की प्राप्ति नहीं होती ॥ ३० ॥

कर्म दो तरह के हैं–अच्छे कर्म और बुरे कर्म। उनके अनुसार हम ऊपर के या नीचे के भँवरों में चले जाते हैं। कभी ऐसा होता है कि अच्छे कर्म ज़्यादा हो जाते हैं–

सत्कर्मपरिपाकात् ते करुणानिधिनोद्धृता।
प्राप्य तीरतरुच्छायां विश्राम्यन्ति यथासुखम् ॥३१॥

पुण्य कर्म फलोन्मुख होने से कृपासागर सज्जन द्वारा उस भँवर से निकाले गये वे कीड़े किनारे के पेड़ की छाया में आराम से सुस्ताते हैं।

'सत्कर्म के परिपाक से,' कहने पर शंका होती है कि कीड़े के अन्दर सत्कर्म कहाँ से आयेगा! यह नहीं कह सकते कि इसके पहले मनुष्य शरीर में था, तब सत्कर्म किया होगा, क्योंकि सत्कर्म किया होता तो कीड़े की योनि क्यों मिलती? मनुष्य से यदि कीड़े के शरीर में गया तो इसका मतलब है कि असत् कर्म ही फल देने वाले थे। समझने की वात यह है कि कीड़े सारे एक जैसे नहीं होते! एक कहानी हैः मलेरिया फैलाने वाले दो मच्छर थे। एक ने तो किसी धनी व्यक्ति को काटा और उसे मलेरिया हो गया। दूसरे ने किसी कंगले को काटा, उसे भी मलेरिया हो गया। कीड़े के द्वारा पैदा किया हुआ मलेरिया तो एक-जैसा होता है। जिसने सेठ को काटा था उसे बढ़िया हलवा इत्यादि खिलाया जाने लगा, पुरानी मान्यता है कि यदि बुखार हो जाये तो गरम-गरम हलवा खाने से ठीक हो जाता है, और ऐसा हो भी जाता है। दूसरे मच्छर ने जिस कंगले को काटा, वह रोज़ काम करके ही किसी तरह एक समय भोजन करता था। बुखार आ गया तो उसे दाल चावल भी खाने को नहीं मिला। बाद में दोनों मच्छर आपस में मिले। दूसरे मच्छर ने कहा 'मैंने तो गलत आदमी को काट दिया! वह कुछ खाता ही नहीं है, मैं भी भूखा मर रहा हूँ।' पहले मच्छर ने कहा 'मैंने तो ऐसे को काटा है कि मुझे खूब हलवा खाने को मिल रहा है।' दूसरे ने कहा 'अगर तुम्हें विरोध न हो तो मैं भी तुम्हारे वाले को काटूँ तो कुछ खाने को मिल जायेगा।' पहले वाले ने कहा–'आ जाओ, बहुत लम्बा-चौड़ा आदमी है, हम दोनों का गुजारा हो जायेगा।' वह सामान्य व्यक्ति तो ठीक हो गया लेकिन धनी के शरीर में दोनों का खून मिला तो उसे और जोर का बुखार चढ़ गया! कहने को मच्छर हैं, लेकिन हर मच्छर का भी एक-जैसा अनुभव नहीं होता। किसी को सुख का ज़्यादा और किसी को दुःख का ज़्यादा अनुभव होता है। कुत्तों को देखो : कोई कुत्ता ए.सी. कमरे में रहता है और ए.सी. गाड़ी में घूमने जाता

है। कुछ केवल दुत्कार पाते जूठन से गुज़ारा करते हैं। कुत्ते तो दोनों ही हैं। एक को सुख की उपलब्धि होती है, उसके सत्कर्म हैं तभी हो रही है। दूसरे के सत्कर्म नहीं हैं, इसलिये उसे सुख की उपलब्धि नहीं हो रही है। पशु-पक्षी दुःख की योनि कहे जाते हैं, परन्तु उनके अन्दर भी किसी के अन्दर सत्कर्म होने से सुखानुभूति होती है, और किसी के अन्दर वे सत्कर्म नहीं होते तो दुःख होता है। सुख-दुःख का कारण तो पुण्य-पाप हैं ही। इसलिये कीट के अन्दर भी सत्कर्म का परिपाक हो सकता है। किसी दुष्कर्म के कारण उसे कीट शरीर तो मिल गया, परन्तु उसके कुछ सत्कर्म भी हैं।

कर्म के परिपाक का मतलब है, जब कर्म फल देने को तैयार हो जाते हैं अर्थात् जब कर्म फलोन्मुख हों। कर्म फल तो देता है परन्तु देश, काल आदि की अपेक्षा रखता है। जब वे देश, काल, निमित्त आदि इकट्ठे हो जाते हैं, तब फल प्राप्त हो जाता है। बुरे कर्म से कीट शरीर में आया परन्तु जब देश काल आदि सत्कर्म का फल देने वाले आये तो सत्कर्म भी पक गये।

सत्कर्म का नतीजा क्या होता है? 'करुणानिधिना उद्धृताः'; करुणा जिनका खजाना है, ऐसे करुणानिधि के द्वारा वह उस भँवर से बाहर निकाल दिया जाता है। आत्मज्ञानी के अन्दर करुणा का खजाना होता है। इसलिये भगवान् ने गीता में कहा 'अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च' आत्मज्ञानी के अन्दर किसी के प्रति कभी द्वेष-बुद्धि बनती ही नहीं। चाहे कोई कितना नुक्सान करे, फिर भी उसके मन में कभी किसी का नुक्सान करने की बात आती ही नहीं। जो दुष्ट होते हैं उनको संसार में कोई अच्छा नज़र नहीं आयेगा! जिस प्रकार यदि तुम्हारी आँखों के ऊपर हरा चश्मा लगा है तो तुम्हें हर चीज़ हरी ही नज़र आयेगी, जबकि सब चीज़ें हरी हो तो नहीं जायेंगी, इसी प्रकार यदि हमारे मन में दुष्टता भरी है तो हमें सारा संसार दुष्ट ही नज़र आता है। इसके विपरीत, यदि हमारे मन के अन्दर 'सर्वभूतात्मभूतात्मा' का भाव है कि सब प्राणियों की आत्मा मेरी ही आत्मा है, तो हमें सामने वाला दुष्ट नज़र नहीं आता। बहुत बार लोग कहते हैं कि 'यदि ऐसे बन जायेंगे तो दूसरे सब हमें ठग लेंगे; क्योंकि सब हम जैसे होंगे नहीं, सब हमको रोंदते हुए चले जायेंगे' इस भय के चलते जो आत्मज्ञानी नहीं है वह कभी भी करुणा की निधि नहीं हो सकता। रोंदा तो नाम-रूप ही जायेगा। लोग नाम-रूप को ही रोंद सकते हैं। उस नाम-रूप को तो शास्त्र बार-बार रोंदने लायक ही कह रहा है। उसको हम भी रोंदना चाह रहे हैं। लोगों ने उसको रोंद दिया तो अच्छा ही किया। और, जो आत्म-रूप है वह 'मैं' ही है, 'मैं' को तो कोई भी नहीं रोंद सकता, अपने आपको तो कोई नहीं रोंद सकता। इस दृढ निश्चय के कारण आत्मज्ञानी ही करुणानिधि हो सकता है। इसलिये यहाँ कहा कि करुणानिधि भँवर से निकालता है। कीट को निकालने के लिये तो साधारण करुणा वाला भी काम आ जायेगा। 'करुणा वाला उद्धार कर देता है', ऐसा न कहकर 'करुणानिधि' क्यों कहा? प्रसिद्ध दृष्टांत है कि एक बिच्छू पानी में बह रहा था। एक महात्मा उस बिच्छू को हाथ से पकड़कर पानी

से बाहर डालने लगे। बिच्छू को क्या पता! उसने डंक मार दिया और महात्मा के हाथ से छूटकर फिर पानी में चला गया। उन्होंने फिर अपने दूसरे हाथ से उस बिच्छू को उठाया। बिच्छू की तो डँसने की आदत थी, उनका हाथ फिर हिल गया और बिच्छू पानी में चला गया। अब महात्मा बड़े प्रेम से अपनी कलाई के हिस्से से उस बिच्छू को उठाने की कोशिश कर रहे थे। किसी ने उनसे कहा–'क्या कर रहे हो? तुम्हारा दिमाग खराब है, उसने बार-बार काटा, तुम फिर भी उसे बाहर निकालने की कोशिश कर रहे हो!' उन्होंने कहा–'मेरा दिमाग खराब नहीं है। बिच्छू बेचारा क्या करे, वह तो अपनी आदत से काटता है। मैं भी क्या करूँ, मैं भी अपनी आदत से ही इसे बचाना चाहता हूँ। जब बिच्छू अपनी आदत नहीं छोड़ सकता तो मैं अपनी आदत क्यों छोड़ूँ? इसलिये मैं अपनी आदत से इसे बचाता हूँ। मेरी आदत बचाने की है।' ऐसा तो कोई करुणानिधि ही कर सकता है। बिच्छू जैसे का भी उद्धार करुणानिधि कर देता है। पहली बार वह बिच्छू को दस फुट बाहर लाये, दूसरी बार फिर दस फुट और तीसरी बार फिर दस फुट बाहर लाये। इस प्रकार करते-करते धीरे-धीरे वह बिच्छू नदी के तीर पर पहुँच ही जायेगा तब वह तीर पर पहुँचकर पेड़ की छाया में आराम का अनुभव करेगा क्योंकि पानी से हट गया। ठीक इसी प्रकार से सत्कर्म के परिपाक से जो मुमुक्षु है, उसका भी करुणानिधि उद्धार कर देता है। उसके लिये सत्कर्म का परिपाक यह है कि वह कर्मों को किसी फल की इच्छा से नहीं करता। वेदों ने इसीलिये यह मार्ग निकाला। वेदों ने कई कर्म ऐसे बताये हैं जिनका कोई भी फल नहीं कहा है। इसी लिये कई आधुनिक लोग तो यही शंका करते रहते हैं कि ऐसे कर्मों को क्यों करना जिनका फल नहीं बताया है? उन्हें तुम ईश्वराज्ञा से करते हो तो परमेश्वर की आज्ञा के पालन के निमित्त से वे कृपाकर चित्त में शुद्धि ला देते हैं जिससे परमार्थ सत्य की समझ आना सम्भव हो जाता है।

किसी फल के लिये नहीं किया, परमेश्वर की आज्ञा है इसलिये किया। इससे वह कर्म उनकी प्रसन्नता का कारण हो जाता है। उन कर्मों के अनुष्ठान से धीरे-धीरे तुम्हारे अन्दर निष्काम कर्म की भावना आ जाती है। पहले तो उन कर्मों को बिना किसी कामना के करते हो, फिर धीरे-धीरे सारे ही कर्म तुम बिना कामना के करने लगते हो। 'मुझे परमेश्वर ने आज्ञा दी है इसलिये कर रहा हूँ' केवल इस भावना से करते हो। इस प्रकार से जो काम्य कर्म हैं, जिन कर्मों को कामना से प्रयुक्त होकर दूसरे लोग करते हैं, उन कर्मों को भी तुम सत्कर्म बना देते हो, परमेश्वर के लिये किया हुआ बना देते हो। जब इस प्रकार के कर्म परिपाक को प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् ईश्वर-प्रसन्नतार्थ किये गये कर्मों का जब फल आता है तब परमेश्वर की प्रसन्नता प्रकट होती है। जब हमने फल के लिये कर्म किया तो परमेश्वर वह फल दे देता है। फल के लिये नहीं किया तो परमेश्वर की प्रसन्नता ही फल है। परमेश्वर प्रसन्न होता है तो तुम्हें संसार सागर से निकाल देता है। कैसे निकाल देता है? करुणानिधि गुरु की प्राप्ति करा देता है। गुरु की प्राप्ति तभी होगी जब परमेश्वर को प्रसन्न करने की तुम्हारी सच्ची इच्छा पैदा होगी। ईश्वर ही गुरुरूप से करुणानिधि है।

प्रायः जो किसी की मदद करता है, उसका भाव रहता है कि इसके वदले मैं उसका कुछ कर सकूँ। ऐसा नहीं है कि वह उसके लिये अमुक काम करे। और कुछ नहीं तो कम-से-कम यह आशा रहती ही है कि तुमने हमारा इतना उपकार किया तो कम-से-कम मुस्कुराकर नमस्कार तो कर लूँ। यदि इसके विपरीत देखता है तो सहायता करने वाले को बड़ा दुःख होता है। बंगाल में ईश्वरचन्द्र विद्यासागर नाम के संस्कृत के बहुत बड़े विद्वान् हुए हैं जो किसी कालेज के प्रधानाचार्य हो गये थे। अध्ययनकाल में वे बड़ी कठिन परिस्थिति में पढ़ते थे। उनकी माता बर्तन आदि माँज कर किसी तरह गुज़ारा करती थी और वह अपने दोस्तों से किताब लेकर रात के समय पढ़ते थे। दिया जलाने के लिये तेल के पैसे भी नहीं थे तो सड़क की सरकारी बत्ती के प्रकाश में पढ़ते थे। ऐसी कठिनाई में पढ़कर भी विद्वान् बन गये और कालेज के प्राचार्य बन गये। लेकिन उनके मन में अपने समय के संस्कार थे इसलिये किसी भी गरीब बच्चे को देखते थे तो उसकी हर तरह से मद करते थे। अपनी कमाई का अस्सी प्रतिशत इसी काम में खर्च करते थे और बीस प्रतिशत में अपना काम चलाते थे। रिटायर होने के बाद लोगों ने उनके बारे में बहुत ऊटपटांग खबरें फैला रखी थीं। जब उन्हें पता लगता था कि अमुक आदमी ने उनके बारे में कोई बात फैलाई है तब पाते थे कि वह वही आदमी होता था जिसके पढ़ने में उन्होंने मदद की थी! जितनी ज़्यादा मदद की, वह उतनी ही ज़्यादा बुराई करता था। धीर-धीरे उन्हें व्याप्तिग्रह हो गया कि जिस-जिस का भला करो, वह-वह बुराई करता है। कभी ऐसा होता था कि कोई व्यक्ति उनके बारे में बुरी बात कहता था जिसे उन्होंने कुछ मदद नहीं दी थी। तब वे कहते थे 'मैंने तो उसे कभी कुछ दिया नहीं, वह मेरी बुराई क्यों कर रहा है।' यह संसार का स्वरूप है कि भलाई के एवज में भी कुछ चाहोगे और कुछ नहीं तो कम-से-कम इतना चाहोगे कि मिलने पर प्रसन्न होकर मुस्कुराहट से नमस्कार कर ले। परन्तु आत्मज्ञानी को किसी से कुछ आशा नहीं है। कोई कुछ भी करे, वह जानता है कि यह सब पानी के बुलबुले की तरह ही है, इसकी कोई कीमत नहीं है। जिस प्रकार सिनेमा के अन्दर बहुत बढ़िया अंगूर का गुच्छा देखकर मन में नहीं आता कि 'एकाध खा लें', क्योंकि जानते हैं कि वहाँ कुछ नहीं है; इसी प्रकार संसार की अवास्तविकता को आत्मज्ञानी ने जान लिया है। अतः वह केवल करुणा का खजाना ही है, आगे उसे कुछ प्राप्त करना नहीं है। ऐसे करुणानिधि के द्वारा मुमुक्षु बाहर निकाल दिया जाता है।

अतिधन्य वेद कहता है कि आत्मज्ञान का विषय ऐसा है कि सुनने को भी नहीं मिलता, क्योंकि सुनाने वाला दुर्लभ होता है। अतः अधिकतर ब्रह्मज्ञानी ऐसे होते हैं कि जब तक सत्कर्म के परिपाक के कारण कोई अन्तर्मुख दृष्टि न करे, तब तक वे उपदेश करते ही नहीं हैं। वर्तमान काल की दृष्टि यह है कि हम अपनी अच्छी चीज़ों को दूसरों को बतायें लेकिन प्राचीन काल की दृष्टि यह रही है कि अनधिकारी को बताने की अपेक्षा अपने अन्दर ही उसको रखना अच्छा है। अयोग्य को बताने का कोई फ़ायदा नहीं है। जो बैंगन खरीदने आया है उसे हीरे की अंगूठी दिखाओ तो कोई मतलब नहीं होता। इसी प्रकार जहाँ सत्कर्म

का परिपाक नहीं है, जिसे विविदिषा नहीं है उसे उपदेश व्यर्थ है। जब वह ऐसे साधक को देखता है जो जिज्ञासु है तब उसकी करुणा का खजाना खुल जाता है। कीड़े को जैसे महात्मा ने हाथ से उठाया था वैसे, वेदान्त के उपदेश के द्वारा जीव का उद्धार होता है।

'तीर्यत इति तीरम्, अवसानम्', जहाँ तैर कर पहुँचते हैं, जहाँ तैरने की समाप्ति हो जाती है वह संसार-सागर का तीर है। गीता के पन्द्रहवें अध्याय में इसी को तरु, अश्वत्थ, वृक्ष कहा है 'अश्वत्थं प्राहुरव्ययम्'। संसार वृक्ष का जो मूल है वह ऊर्ध्व (परमात्मा) है। गुरु द्वारा उद्धार किया जाने पर जीव उस तरु के मूल को प्राप्त कर लेता है। गीता में ही नहीं वेदों में भी उस वृक्ष का वर्णन आता है। उसका जो मूल है वही परब्रह्म परमात्मा है। वही छाया का स्थल है, अनादि काल के परिश्रम से थका हुआ व्यक्ति यथासुख अर्थात् पूर्ण आनन्द से भरकर विश्राम को प्राप्त करता है। यहाँ अखण्ड ब्रह्माकार वृत्ति ही छाया है। उस अखण्ड ब्रह्माकार वृत्ति के अन्दर परम सुख की उपलब्धि होती है।।३१।।

जैसे कीड़ा नदी के भँवर में पड़ जाता है उसी प्रकार यह जीव संसार-सागर में रहता है और जन्म से जन्मान्तर में जाता रहता है। कोई करुणावाला जिस प्रकार कीड़े को भँवर से बाहर निकाल देता है उसी प्रकार कोई करुणानिधि ब्रह्मज्ञानी वेदान्त के उपदेश के द्वारा जीव का उद्धार कर देता है। यद्यपि दृष्टान्त से भी तात्पर्य तो समझ आ गया तथापि कौन निकाल देता है—इसे स्वयम् बताते हैं—

उपदेशमवाप्यैवम् आचार्यात्, तत्त्वदर्शिनः।
पञ्चकोशविवेकेन लभन्ते निर्वृतिं पराम्।।३२।।

इसी प्रकार तत्त्ववेत्ता आचार्य से उपदेश पाकर पाँचो कोशों के विवेचन से मोक्षसुख पाते हैं।

'एवं' जैसे कीड़े को करुणानिधि भँवर से निकाल देता है, उसी प्रकार से आचार्य भी उसको संसार-सागर से निकाल देता है। इसके द्वारा यह बताया कि जो संसार-सागर से निकालने वाला है, वही वस्तुतः आचार्य है। वह आचार्य तत्त्वदर्शी होता है, उसने तत्त्व का साक्षात्कार किया है। और वह करुणानिधि होता है। यह पूर्व श्लोक से समझ लेना चाहिये। आचार्य जो उपदेश देता है उसमें कारण करुणा ही है। इसीलिये पद्मपादाचार्य लिखते हैं कि जिस प्रकार कोई व्यक्ति छत पर बैठकर आम खाने को तैयार है उसी समय उसकी दृष्टि नीचे किसी भूखे व्यक्ति पर पड़ती है। जो करुणानिधि होता है वह सोचता है कि 'मैं तो भोजन किये हुए हूँ, मैं आम नहीं खाऊँगा तो चलेगा। यह भूखा है, इसे यह आम दे दूँ।'

इसी प्रकार, जो तत्त्वस्थिति में पहुँच गया, प्रारब्ध के कारण जब सच्छिष्य उसके सामने आये तब तुरन्त अपनी तत्त्वनिष्ठा के अन्दर कुछ भेददृष्टि करके, 'इसे तत्त्वनिष्ठा होकर यह भी इसी परमानन्द को प्राप्त करे' इसके लिये वह उसे उपदेश देता है। गुरु को तो कुछ लेना नहीं है, प्राप्त करने योग्य उसके लिये कुछ है ही नहीं क्योंकि उसने तत्त्वदर्शन प्राप्त कर

लिया। तत्त्वदर्शी तत्त्वदर्शन क्यों प्रदान करता है? सच्छिष्य सामने आया है—यहाँ तक तो प्रारब्ध है, अन्यथा वह स्वयं तत्त्वनिष्ठा में था ही। प्रारब्ध-भोग के कारण शिष्य की प्रतीति है। शिष्य का भी प्रारब्ध है, उपदेश देने वाले का भी प्रारब्ध है। 'शिष्य का उद्धार हो जाये' यह भाव करुणा है जो तत्त्वदर्शी में प्रकट होता है इसीलिये वह उपदेश देता है। यह बात निश्चित है कि तत्त्वदर्शी के उपदेश के विना और कोई इस ज्ञान की प्राप्ति का साधन नहीं है क्योंकि श्रुतियों ने नियम कर दिया है 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' गुरु से ही जिसने ज्ञान प्राप्त किया है उस ही शिष्य को तत्त्वसाक्षात्कार होता है। इसलिये भगवान् ने भी कहा 'उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः'। जो तत्त्वज्ञानी है वही उपदेश करता है।

एक बात कई लोगों को खटकती है : श्रवण आदि दृष्ट फल वाले हैं अर्थात् जैसे ही ब्रह्मविद्या का उपदेश मिलता है, यहीं, जीते हुए ही ब्रह्मज्ञान हो जाता है। ऐसा नहीं है कि ब्रह्मज्ञान का उपदेश मिलने से किसी दूसरे लोक में जाकर शिष्य को ज्ञान होगा! श्रवण-मनन दोनों दृष्टफलक हैं। दृष्ट फल वाले कर्म के लिये आचार्यद्वारकता का नियम कैसे किया जाये? जैसे रोशनी होने से ही अंधकार हट जाता है। ऐसा नहीं होता है कि रोशनी हो गई लेकिन हमारा प्रारब्ध नहीं था इसलिये कोई चीज नहीं दीखी! रोशनी होते ही अंधकार निवृत्त हो जाता है। इसी प्रकार श्रवण-मनन होते ही तत्त्व-दर्शन हो जाता है। वेद ने इसका जवाव खुद ही दिया है 'आचार्याद् हैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापयति' आचार्य से जो विद्या प्राप्त होती है वही पूर्ण फल को प्राप्त कराती है, साधिष्ठ अर्थात् साधुतम होती है। साधुता यह है कि पूर्ण तत्त्वज्ञान अज्ञान-निवृत्ति के साथ प्राप्त हो जाये। यह ठीक है कि श्रवण-मनन से ज्ञान होता है और ज्ञान का फल दृष्ट है, परन्तु कुछ प्रतिबन्धक ऐसे बैठे रहते हैं जो विद्या को उत्पन्न नहीं होने देते। इसी भेद को शास्त्रकारों ने दृढ ज्ञान और अदृढ ज्ञान कहा है। ज्ञान होता है, परन्तु प्रतिबन्धक के कारण वह दृढ नहीं हो पाता। अदृढ ज्ञान तो श्रवण-मनन से हो जाता है, परन्तु दृढता के लिये जो उसके प्रतिबन्धक हैं उनकी भी निवृत्ति आवश्यक होती है। अन्य भी कर्म हैं जिनके अन्दर दृष्टफलता होने पर भी अदृष्ट का अन्वय भी हो जाता है। जैसे अग्नि दाल को उवालती है, दृष्ट है। परन्तु यदि वहाँ चन्द्रकान्त मणि रख दो तो उस अग्नि से दाल नहीं गलती। यदि कहो कि हमने चन्द्रकांत मणि नहीं देखी तो मोटी दृष्टि से समझ लो : केदारनाथ में भी गर्म पानी में दाल उवालने के लिये आग पर रखो तो दाल नहीं गलती! क्योंकि वहाँ हवा का चाप कम हो जाता है, इसलिये दाल नहीं गलती। चाप बढ़ाने के लिये यदि वहाँ आजकल के प्रैशर कुकर (कसे ढक्कनदार पतीले) में दाल उबालो तो दाल गल जायेगी। चाप की कमी के कारण नहीं गल रही थी, प्रैशर कुकर ने उस कमी को दूर कर दिया तो दाल गल गई। प्रैशर कुकर तो दाल नहीं गलाता, दाल को गलाती तो अग्नि ही है, परन्तु चाप की जो कमी है उसको वह कुकर दूर कर देता है। इसी प्रकार ज्ञान की प्राप्ति तो श्रवण-मनन से हो जाती है, परन्तु उसे दृढ करने के लिये अपूर्व की अपेक्षा होती है जो आचार्य से ग्रहण करने पर पूरी हो जाती है।

प्रतिबंधक दो प्रकार के होते हैं। कुछ प्रतिबन्धक ऐसे होते हैं जो विद्या को उत्पन्न नहीं करने देते। प्रायः इसका कारण आसक्ति होती है। वह आसक्ति सामान्य पुरुष के अन्दर किसी विषय के, पत्नी इत्यादि के प्रति हो सकती है। जो उच्च कोटि के साधक हैं, उनके लिये अपने इष्ट के प्रति भावना ही प्रतिबन्धक हो जाती है। रामकृष्ण परमहंस देवी के बड़े भारी भक्त थे। एक बार वहाँ बड़े सिद्ध महात्मा आये, उन्होंने देखा कि यह योग्य शिष्य है। उन्होंने परमहंस से पूछा 'क्या तुम निर्विकल्प समाधि में जाना चाहते हो?' वे तैयार हो गये। उपदेश देकर उनसे कहा 'इस भाव में स्थिर बैठ जाओ, अन्य सभी भावों के विचार को हटा दो।' थोड़ी देर बाद परमहंस कहने लगे कि 'बाकी सब विचार तो हट जाते हैं लेकिन काली की मूर्ति सामने से नहीं हटती।' उपदेश देने वालों ने उनसे कहा कि 'विवेक की तलवार से उसे काट दो। तुम देखने वाले (द्रष्टा) बन जाओ।' जैसे ही उन्होंने वहाँ दृश्य-द्रष्टा का विवेक काम में लिया, वह मूर्ति नहीं रह गई और वे निर्विकल्प समाधि में चले गये। बाकी चीजें तो दूर हो जाती थीं लेकिन देवी की मूर्ति उनकी इष्ट थी, उसे नहीं हटा पा रहे थे। उच्च कोटि के उपासक साधकों का मन दूसरी चीजों से तो हट जाता है लेकिन अपने इष्ट से मन नहीं हटता। कहीं इस प्रकार ज्ञान होने में ही प्रतिबन्धक हो जाता है और कहीं निरंतर ब्रह्मानन्द की अभिव्यक्ति नहीं हो पाती। वह भी कारण बन जाता है अर्थात् जीवन् मुक्ति का सुख प्राप्त नहीं कर पाते क्योंकि कोई-न-कोई संस्कार ऐसा रह जाता है, जिसके कारण उस ब्रह्मानन्द की निरंतर अभिव्यक्ति नहीं हो पाती। वेद जो कहता है कि आचार्य से साधिष्ठ विद्या प्राप्त होती है, वह इसलिए कि प्रतिबंधक-निवृत्ति में नियम अदृष्ट काम कर जाता है।

उपदेश देने वाले के दो विशेषण गीता में बताये हैं 'ज्ञानिनः, तत्त्वदर्शिनः'। वेद में कहा है 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं' जो श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ है, जिसने वेद के द्वारा ज्ञान को प्राप्त किया है और जो तत्त्वदर्शी है, जिसने उस परमब्रह्म परमात्मा को अपरोक्ष रूप से जान लिया है वह योग्य गुरु है। इसीलिये भगवान् ने भी ज्ञानी और तत्त्वदर्शी कहा है। जिसने तत्त्व को वेद से जाना है और उसका साक्षात्कार भी किया है, उससे साधिष्ठ विद्या प्राप्त होती है ऐसा श्रुति ने बताया। आचार्य शब्द का प्रयोग करके इस बात को स्पष्ट करते हैं कि आचार्य किसको कहते हैं–

'आचिनोति च शास्त्राणि आचारे स्थापयत्यपि।
स्वयमाचरति ह्यस्माद् आचार्यः परिकीर्तितः'॥

शास्त्रों का चयन करता है। शास्त्र अथाह है, उसमें से तत्त्वज्ञान के उपयोगी भाग का चयन करना पड़ता है। जिन आचारों के द्वारा उस आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है उन आचारों में साधक को आचार्य लगाता भी है। जो तत्त्वज्ञान के उपयोगी आचरण होते हैं उन्हें वह स्वयं भी करता है। इन तीनों के होने के कारण उसे आचार्य कहा जाता है। शास्त्रों का

चयन, आत्मज्ञान के अनुरूप व्यवहार को दिखाना और उपदेश देकर शिष्य को उसमें स्थापित करना—ये तीनों जो करता है उसी को आचार्य कहते हैं। श्रुति में उसे श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ कहा है। श्रोत्रिय से शास्त्र-ज्ञान को, ब्रह्मदर्शन (ब्रह्मनिष्ठा) से तत्त्वज्ञान को कहा। भगवान् ने भी तत्त्वदर्शन (तत्त्वनिष्ठा) से ब्रह्मज्ञान को और ज्ञान से शास्त्रज्ञान को कहा। यहाँ आचार्य से शास्त्रज्ञान और तत्त्वदर्शन से तत्त्वज्ञान को कहा। कुछ लोगों का यह कहना है कि आचार्य जो कहता है वह चाहे संस्कृत भाषा में कहे अथवा प्राकृत भाषा में, वह वेदान्त ही है। तात्पर्य उनका है कि केवल तत्त्वदृष्टि से काम हो जायेगा, श्रोत्रिय होने की जरूरत न मानें। किन्तु ऐसा होता तो श्रुति दोनों बातें नहीं कहती। शास्त्र के द्वारा भी पता तो लग जाता है, परन्तु बिना अनुभव के 'यह ऐसा ही है' इसकी दृढतापूर्वक प्रतिपत्ति नहीं हो सकती। जिस प्रकार से जो व्यक्ति जहाँ गया हुआ है वह यदि रास्ता बताता है तो उस पर जाने से ठीक-ठीक पहुँच जाते हैं अन्यथा रास्ता तो नक्शे में भी बताया है, उसमें बताये हुए रास्ते को दूसरे को बता भी सकते हैं, परन्तु रास्ते में अनेक चीजें ऐसी आती हैं जो नक्शे में दिखाई नहीं गई होती। जो उस रास्ते से गया हुआ है, वह तो कह देगा कि 'अमुक सिनेमा हॉल आये तो बायें घूम जाना'। नक्शा स्थान का निर्देश कर देगा, लेकिन सिनेमा का क्या ठिकाना! आज वहाँ है, दूसरे दिन वहाँ कुछ और बन जाये। जो उस रास्ते से गया हुआ है, उसको पता है कि क्या चीज कहाँ है। साधना में भी इसी प्रकार की कई बातें होती हैं जो शास्त्र में न होने पर भी, जो उसका अनुभव कर लेता है उसके लिये सरल हो जाती हैं। अतः शास्त्र और आचार्य दोनों ही आवश्यक हैं। जड-चेतन का विवेक तो विचार करके भी बहुत कुछ समझ में आ जाता है, परन्तु शरीर और मन से अपने आपको अलग जानने वाला विवेक, बिना तत्त्वदर्शन के नहीं हो पाता। इसलिये जो तत्त्वदर्शी नहीं होगा वह ठीक प्रकार से 'इस शरीर-मन से हम अलग हैं। स्थूल-सूक्ष्म-कारण शरीर से हम अलग हैं' इसका यथावत् प्रतिपादन नहीं कर सकेगा। तत्त्वदर्शी ही जो ब्रह्माकार वृत्ति बनाये ऐसा उपदेश दे सकता है।

क्या उपदेश देता है, 'पंचकोशविवेकेन।' आगे खुद पंचकोश बतायेंगे। पंचकोश का विवेक करके उपदेश करता है। बाकी उपदेशक विचारपूर्वक समझा सकते हैं लेकिन पंचकोशों से अपने आपको अलग जानते नहीं इसलिए उनका व्याख्यान सफल नहीं हो पाता। ब्रह्मनिष्ठ से प्राप्त उपदेश से साधक विवेक प्राप्त कर लेता है। तब परम शांति को प्राप्त करता है। जब पंचकोशों से अपने को अतिरिक्त जान लिया तब एक आवर्त से दूसरे आवर्त में जाता नहीं। आवर्तों में जाने वाली चीज प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय हैं। उनके साथ ही जीव जाता है। विविक्त होने से इनके जाने से *वह* जाने वाला नहीं बनता, जाना ही बन्द हो जाता है, जाने का प्रयोजन भी नहीं रहा। वह ज्ञानाग्नि सारे कर्मों को भस्मसात् कर देती है। भगवान् कहते हैं—'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा'। अतः न आगे ले जाने वाली वासना रह गई और न कोई प्रयोजन रह गया। इसलिये परम निर्वृति अर्थात् मोक्ष प्राप्त हो जाता है ॥ ३२ ॥

वे पंचकोश क्या हैं यह बताते हैं–

अन्नं प्राणो मनो बुद्धिरानन्दश्चेति पंच ते।
कोशास्तैरावृतः स्वात्मा विस्मृत्या संसृतिं व्रजेत् ॥३३॥

अन्न, प्राण, मन, बुद्धि और आनन्द–ये पाँच कोश हैं। इनसे आच्छादित आत्मा भूल से संसरण में भटकता है।

अन्नमय कोश अर्थात् यह जो स्थूल शरीर हमको दीख रहा है, इसके साथ एकता अनुभव करके 'मैं मोटा, मैं लम्बा, मैं ब्राह्मण' इत्यादि अध्यास या प्रतीति होती है। ये सारे धर्म शरीर में रहते हैं। शरीर के अन्दर अध्यास करके ये सब 'मैं' के साथ जुड़ जाते हैं। जैसे शरीर के ऊपर तुम कोट पहनते हो, उसी प्रकार ये कोश कोट की तरह ही हैं। आजकल विज्ञापन टाईयों आदि के आते हैं; एक आदमी टाई पहने है और उसे देखकर उसके इर्द-गिर्द दस लड़कियाँ उससे शादी करने को तैयार होती हैं! शादी तो आदमी से होनी है, टाई से नहीं होनी है, परन्तु चूँकि वह व्यक्ति टाई से आकर्षक होता है, इसलिये उस टाई का आकर्षण ही उस विज्ञापन का तात्पर्य है। टाई अच्छी दीख रही है तो लगता है 'मैं अच्छा दीख रहा हूँ'। कभी वृन्दावन में बाँके बिहारी का दर्शन करने जाओ; जो दर्शन करके आ रहा हो वह कहेगा 'आज जरूर दर्शन करने जाओ क्योंकि हरी पोशाक के दर्शन हैं, आज बिहारी जी नौलक्खा हार पहने हैं, आज तो सिर पर मोरपंख का बड़ा सुन्दर शृंगार है।' मूर्ति तो वही रहनी है। जितने सुन्दर कपड़े या गहने पहनाओ, वे उन पर फबते हैं तो लगता है कि भगवान् फबते हैं। कई बार आदमी कोट आदि सब पहनकर घरवाली से पूछता है 'मैं ठीक लग रहा हूँ?' यह नहीं पूछता 'मेरे कपड़े ठीक लग रहे हैं या नहीं।' फिर भी वहाँ अध्यास नहीं है क्योंकि जानता है कि मैं कपड़े पहने हूँ। शरीर के साथ अध्यास है क्योंकि दृढ निश्चय है कि मैं यह शरीर हूँ ही। शरीर से अपने को अलग जानता नहीं। स्थूल शरीर अन्नमय कोश है।

अन्नमय कोश के अन्दर प्राणमय कोश है। प्राण सारी क्रियाओं को करने वाला है। प्राणमय कोश में प्राण और कर्मेन्द्रियाँ दोनों आ जाते हैं। लगता है 'मैंने यह काम किया,' जबकि काम तो कर्मेन्द्रियाँ करेंगी। प्राण कर्मेन्द्रियों को प्रवृत्त करेंगे तभी कर्मेन्द्रियाँ करेंगी। परन्तु अभिमान यह नहीं होता है कि पैर चले। अभिमान यही होता है 'मैं चला'। दिल्ली के लोग कार में बैठ कर आते हैं तो कहते हैं 'बहुत थक गये।' गाड़ी चलाने वाले ने परिश्रम किया क्योंकि गाड़ी चलाई, बाकी सब तो उसमें आराम से बैठकर आये फिर भी कहते हैं 'बहुत थक गये, इतनी दूर मोटर में बैठकर नहीं आना चाहिये।' तुमने काम कुछ नहीं किया, चलकर तो मोटर आई। लेकिन मोटर का चलना अपने ऊपर ऐसा दृढ प्रतीत होता है कि 'मैं ही चलकर आया' ऐसा अनुभव हो जाता है। तीसरा है, मनोमय कोश। मन के साथ ज्ञानेन्द्रियाँ भी हैं। जो कुछ भी ज्ञानेन्द्रियों से जाना गया वह सब लगता है, मैंने ही जाना।

बुद्धि अर्थात् विज्ञानमय कोश; सारे भोग करने वाला 'मैं' ही है। पाँचवाँ है आनन्दमय कोश। सुपुप्ति के अन्दर आनन्दमय कोश (सोने वाला) 'मैं' ही है। इस प्रकार पंचकोश हैं।

इन पंचकोशों के द्वारा स्वात्मा ढका गया है। हम लोग पहले वनियान, उसके ऊपर कुर्ता, फिर उसके ऊपर स्वेटर, उसके ऊपर बण्डी और उसके ऊपर कोट पहन लेते हैं। ये पाँच आवरण होते हैं। इसी प्रकार आत्मा के ऊपर अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोश चढ़े हुए हैं। आत्मा इनसे ऐसा ढक जाता है कि ये दीखते हैं, आत्मा दीखता ही नहीं। कई बार लोग स्कूटर पर बैठकर आते हैं; शरीर पर कपड़े पहने हुए, उसके ऊपर चमड़े का कोट, सिर पर हैलमेट लगाते हैं जिसके आगे काँच होता है। दूर से बिलकुल पता नहीं लगता कि कौन हैं, पहचान में ही नहीं आते क्योंकि आवृत हैं। इसी प्रकार पाँच कोशों के द्वारा आत्मा आवृत हो जाता है। इसलिये किसी से पूछते हैं 'तुम कौन हो?' तो इन्हीं सब चीजों को बताता है।

स्वामी रामतीर्थ विदेश गये हुए थे। वे लोगों को चौंकाने वाली बात करते थे। उन्होंने एक विज्ञापन दे दिया कि 'यदि कोई ईश्वर को देखना चाहता है तो मेरे पास आये, मैं दिखा दूँगा।' किसी ने यह विज्ञापन देखा तो उनसे आकर कहा 'तुमने ऐसा विज्ञापन दिया है तो मुझे दिखाओ, अन्यथा मैं तुम्हारे ऊपर झूठा विज्ञापन देने का मुकदमा करूँगा।' उन्होंने उस आदमी से कहा 'मैं तुम्हें जरूर दिखा दूँगा लेकिन भगवान् आने से पहले पूछते हैं कि तुम कौन हो। बताओ।' उसने अपना नाम-ठिकाना बता दिया। उन्होंने कहा 'हमारी सनातन परम्परा है कि उपदेश लेने के पहले उपदेश देने वाले को प्रणाम करना पड़ता है। इसलिये पहले तुम प्रणाम करो, तब उपदेश दूँगा। और तुम्हें दर्शन हो जायेंगे।' वह प्रणाम करने के लिये झुका। रामतीर्थ खूब तगड़े थे। उन्होंने उसे बड़े जोर से मुक्का मारा! वह तिलमिलाकर उठा और कहने लगा 'यह तुमने क्या किया?' उन्होंने पूछा 'मैंने क्या किया!' कहने लगा 'आपने मुझे मारा है।' उन्होंने कहा–'मुझे 'मार' दिखाओ।' उसने कहा 'मार दिखाई थोड़े ही जाती है, वह तो अन्दर अनुभव होती है।' तब उन्होंने कहा 'फिर तो तूने झूठा ठिकाना दिया है। जो पता तुम दे रहे हो, यह तो जिस पर मार पड़ी उसका ठिकाना है। मार जिसे पड़ी उसका ठिकाना तो दिया नहीं। उसका ठिकाना बताओ जिसने मार खाई। वह कहने लगा 'मैं तो आत्मा हूँ'। उन्होंने कहा 'फिर उसका ठिकाना दो।' उसने कहा 'उसका तो ठिकाना पता नहीं है।' तब स्वामी रामतीर्थ ने कहा 'अब उसका पता मैं तुम्हें बताऊँगा। जब उसके ठिकाने को जानोगे, समझोगे तभी तुम भगवान् को जान पाओगे। जैसे किसी का ठिकाना पूछो तो कहता है-'१४ नं. बाराखम्बा रोड,' तो तुम वहाँ पहुँच जाते हो। इसी प्रकार मैं तुम्हें उसका पता बताऊँगा।' वह अन्नमय आदि सारी चीजों से इतना ढक गया है कि ये सारी चीजें तो दीखती हैं, वह नहीं दीखता। जैसे अन्नमय कोश है, ऐसे ही प्राणमय और मनोमय कोश ढाँकते हैं। अतः यही प्रतीत होता है कि 'मैं ही थक कर चूर हुआ हूँ'।

एक शंका होती है कि आवृत आदमी ढक गया, हमको नहीं दीखा, परन्तु वह खुद तो जानता ही है कि मैं रमण हूँ या रजनीश हूँ। अर्थात् वह स्वयं के प्रति तो आवृत नहीं होता। इसके उत्तर में 'विस्मृत्या' कहा। विस्मृति के द्वारा जन्म-मरण के चक्र को प्राप्त करता है। प्रश्न होता है कि विस्मृति उसकी हुआ करती है जिस चीज का पहले अनुभव किया है। अनुभूत विषय याद न रहे तब कहते हैं 'भूल गये'। हमने रूसी भाषा कभी पढ़ी ही नहीं तो हम कह सकते हैं कि हमें उस भाषा का अज्ञान है, यह तो नहीं कह सकते कि हम वह भाषा भूल गये। इसी प्रकार यदि मुझे पहले कभी आत्मा का अनुभव या दर्शन हुआ होता और फिर भूल जाते तब तो कह सकते थे कि विस्मृत है। शंका कर सकते हैं कि क्या ठिकाना, कभी जाना होगा! लेकिन यदि जाना होता तो तभी मुक्त हो गये होते, संसार-दर्शन होता ही नहीं। और, यदि दर्शन होकर भूला जा सकता है तो अभी भी आत्मदर्शन होने के बाद फिर नहीं भूल जायेंगे—इसकी क्या गारण्टी है? कभी पहले भूले तो अब भी भूल जायेंगे, फिर तो श्रवण-मनन आदि मोक्ष के साधन ही मान्य नहीं रहेंगे। स्मृति शब्द का प्रयोग केवल यहाँ किया है, ऐसा नहीं है। गीता में भी अर्जुन ने कहा है कि 'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा' मेरा अज्ञान नष्ट हो गया और स्मृति की प्राप्ति हो गई, यह अर्जुन ने स्पष्ट कहा। उपनिषद् में भी सनत्कुमार-विद्या में आया 'स्मृतिलम्भे'। अतः स्मृति शब्द का प्रयोग ज्ञान के अर्थ में उपनिषद् और गीता में हुआ है। इसलिये यहाँ विद्यारण्य स्वामी ने भी उसी अर्थ को लेकर 'स्मृति' कह दिया।

श्रुति (उपनिषद्) या गीता ने भी ऐसा प्रयोग कैसे किया? इसमें कारण यह है कि पहले इसी अध्याय में दृष्टांत से कह आये हैं कि कहीं दस बच्चे मिलकर वेद का पाठ कर रहे हैं। उस समय एक बच्चे का बाप वहाँ आया। दसों पाठ कर रहे हैं तो वह अपने लड़के को भी सुन ही रहा है क्योंकि दसों को सुन रहा है। सुन तो रहा है लेकिन क्या सचमुच में पुत्र की आवाज सुन रहा है? 'मेरा बच्चा ठीक से बोल रहा है या नहीं' यह जानने के लिये बाकी नौ को चुप कराकर अलग से उससे बुलवाता है। ऐसे लोग होते हैं जो सबके साथ तो बोल लेते हैं, अकेले नहीं बोल सकते। साथ में बोलेंगे तो तुम्हें निश्चित पता नहीं लगता कि इसकी आवाज कैसी है और दूसरों की आवाज कैसी है। 'सुनते हुए भी नहीं सुनता है' इसका मतलब है कि सबके साथ तो सुन रहा है, परन्तु अकेले को नहीं सुन रहा है। इसी प्रकार जब कहते हो 'मैं ब्राह्मण हूँ,' तब ब्राह्मण तो शरीर से हो क्योंकि जो ब्राह्मणी में ब्राह्मण से पैदा हुआ है वह ब्राह्मण है, वह शरीर हुआ। 'मैं ब्राह्मण हूँ,' इस रूप से मैं दीख रहा है। परन्तु ब्राह्मणपने को छोड़कर मैं क्या हूँ—इस रूप से नहीं दीख रहा। इसी प्रकार 'मैं थका हूँ,' तो प्राण के साथ वाला हूँ, परन्तु उससे रहित मेरा स्वरूप कैसा है—यह पता नहीं लगता। इसी प्रकार दुःख, सुख आदि में समझ लेना। पंचकोशों के साथ दीख रहा है, सर्वथा नहीं दीख रहा हो ऐसी बात नहीं है, परन्तु इन सबसे रहित होकर कैसा

है–इस बात को नहीं जानता। जब पता लगता है तब ऐसा नहीं लगता कि किसी नई वस्तु का पता लगा; शरीर आदि से रहित जो अपना स्वरूप है, केवल वह प्रकाशित हो जाता है। जाने हुए को जानना होने से इसे स्मृतिरूप कह दिया है क्योंकि स्मृति भी उसी चीज की होती है जिसको पहले जाना था। जिसको पहले जाना था उसी को याद करते हो। यहाँ विस्मृति शब्द का प्रयोग इसी उपपत्ति से है।

भगवान् भाष्यकार ने कहा, 'राहुग्रस्तदिवाकरेन्दुसदृशो मायासमाच्छादनात्,' जैसे सूर्य जब राहु से ढक जाता है तब सब लोग कहते हैं कि राहु-दर्शन कर लो। जब तुम राहु-दर्शन करते हो तब सूर्यदर्शन हो ही रहा है। राहु स्वयं प्रकाशित तो होता नहीं, तुम आकाश में देखना चाहो तो बाकी ग्रह दीख जाते हैं; सूर्य, चन्द्रमा, मंगल लाल, बुध नीला, बृहस्पति पीला आदि दीख जायेंगे। अत्यंत चमकने वाला शुक्र भी दीख जायेगा; परन्तु राहु और केतु नहीं दीखेंगे। इसलिये सात ग्रहों को प्रकाशमान माना है परन्तु ये दोनों प्रकाशमान नहीं हैं। जब ये सूर्य के सामने आयें तब सूर्य के प्रकाश से दीखते हैं। खासकर अगर खग्रास हो तो ध्यान से देखोगे तो राहु ने जो हिस्सा ढका है उसके बाहर किरणों को निकलता हुआ पाओगे। खग्रास में सूर्य बिलकुल नहीं दीख रहा है फिर भी इधर-उधर से जो रोशनी निकल रही है वह सूर्य की ही है। वही रोशनी राहु को भी प्रकाशित करती है। रोशनी सूर्य का ही दर्शन है। ठीक इसी प्रकार आत्मा को अज्ञान ढाँकता है तो उस अज्ञान का भी ज्ञान आत्मा के प्रकाश से ही होता है! क्योंकि अज्ञान या माया स्वयं तो प्रकाशित हो नहीं सकती अतः आत्मा के प्रकाश से ही प्रकाशित हो रही है। जैसे राहु से ग्रस्त सूर्य सामान्यरूप से, प्रकाशरूप से दीख भी रहा है पर विशेषरूप से अर्थात् उसका चमकदार रूप नहीं भी दीख रहा है, इसी प्रकार अज्ञान से ढके हुए भी घटज्ञान, पटज्ञान, मठज्ञान हो रहा है; उस चेतन का ही प्रकाश है, तभी विपयज्ञान हो रहा है। ये सब चीजें प्रकाशित हो रही हैं–इस रूप से ज्ञानरूप चेतन दीख भी रहा है; परन्तु फिर भी इसका जो स्वप्रकाश आनन्दस्वरूप है, उस रूप से नहीं दीख रहा है। इन्द्रियों से जो संसार दीख रहा है वह, जब हम गहरी नींद में चले जाते हैं तब नहीं दीखता, इन्द्रियाँ और मन वहाँ हट जाते हैं, इन्द्रियों के विषय भी नहीं रहते। केवल अज्ञान ही वहाँ विषय है। इसलिये उठकर कहते हैं 'मैं वहाँ अज्ञान अवस्था में था, कुछ भी नहीं जाना'। 'कुछ नहीं' को तो जान ही रहा था, तभी उठकर कह रहा हूँ। निद्रा द्वारा आवृत जो ज्ञान था, वह जाग्रत् में अनावृत हो गया। इसीलिये आचार्य विद्यारण्य स्वामी ने यहाँ 'विस्मृति' शब्द का प्रयोग किया, श्रुति-स्मृति ने भी इन शब्दों का प्रयोग किया।

पाँचों कोशों के साथ तो जानते हैं, परन्तु इनके बिना नहीं जानते। इनके बिना, केवल स्वरूप से जानने से ही मोक्ष होता है। 'संसृतिं व्रजेत्' चूँकि इसको जानते हुए भी नहीं जाना इसलिये जन्म-मरण का चक्र चलता है ॥ ३३ ॥

अब तक पंचकोशों का केवल नाम दिया, वे पंचकोश क्या हैं–यह बताते हैं–

स्यात् पंचीकृतभूतोत्थो देहः स्थूलोऽन्नसंज्ञकः।
लिंगे तु राजसैः प्राणैः प्राणः कर्मेन्द्रियैः सह ॥३४॥

पंचीकृत महाभूतों से उत्पन्न स्थूल शरीर का नाम अन्नमय कोश है। लिंगशरीर में वर्त्तमान रजोगुण के कार्यरूप पंचप्राणों और पंचकर्मेन्द्रियों सहित कोश का नाम प्राणमय है।

सबसे पहले अन्नमय कोश को बताते हैं। यह जो स्थूल देह हम लोगों को इन्द्रियों से दीखता है, इसी का नाम अन्नमय कोश है। अर्थात् इसका नाम अन्न है। श्लोक ३३ में यही नाम लिया था। इसे ही अन्नमय भी कहते हैं। 'अन्नसंज्ञकः' यह स्थूल देह पंचीकृत भूतों से बना हुआ है इसीलिये इसमें पृथ्वी होने से गंध है, जल होने से स्वाद है, दीखता है और गर्म रहता है इसलिये तेज भी है। जल तो इसमें बहुत ज्यादा है, इसलिये कहते हैं कि इस शरीर का करीब सत्तर प्रतिशत वजन तो पानी का ही है! इस प्रकार से इसमें रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्श सारे ही हैं। और इन्द्रियों से विषय होता है इसलिये इसे पंचीकृतभूतोत्थ कहा। अन्नमय कोश की जाग्रत् अवस्था में प्रधानता है। स्वप्नावस्था के अन्दर प्राणमय, मनोमय, और विज्ञानमय तीनों कोश रहते हैं, इसीलिये इन तीनों को अलग-अलग करके बतायेंगे। सुषुप्ति में आनन्दमय कोश रहता है। लेकिन केवल सुषुप्ति में ही आनन्दमय कोश नहीं रहता, जाग्रत् और स्वप्न में भी रहता है। जिस प्रकार सूक्ष्म शरीर केवल स्वप्न में ही नहीं रहता, जाग्रत् में भी रहता है, इसी प्रकार जाग्रत् में आनन्द भी रहता है। स्वप्न में स्थूल देह नहीं रहता, सुषुप्ति में स्थूल और सूक्ष्म नहीं रहते, लेकिन विपरीत नहीं है, इनका अनुवर्तन जाग्रत् में रहता है। आनन्दमय कोश का अनुवर्तन तो लिंग देह में रहेगा, लिंग देह आनन्दमय में नहीं रहेगा। लिंग शरीर के पहले भाग प्राण को बताया। प्राण राजस है। रजोगुण से उत्पन्न प्राण और रजोगुण से ही उत्पन्न कर्मेन्द्रियों के साथ होने वाला कोश प्राणमय है। यह स्वप्न के अन्दर भी रहता है, इसलिये वहाँ अनुभव होता है कि 'मैं देख रहा हूँ, मैं सुन रहा हूँ, बोल रहा हूँ, चल रहा हूँ,' आदि ॥ ३४ ॥

लिंग शरीर में ही सात्त्विक भी भाग है, उसे दो कोशों के रूप में बताते हैं–

सात्त्विकैर्धीन्द्रियैः साकं विमर्शात्मा मनोमयः।
तैरेव साकं विज्ञानमयो धीर्निश्चयात्मिका ॥३५॥

सात्त्विक ज्ञानेन्द्रियों सहित संशयरूप मन का नाम मनोमय कोश है। उन्हीं इन्द्रियों सहित निश्चयरूप बुद्धि विज्ञानमय कोश है।

ज्ञानेन्द्रियाँ, आँख, कान, नाक आदि के साथ विमर्शात्मा अर्थात् जहाँ संकल्प-विकल्प होता है वह मनोमय है। स्वप्न के अन्दर संकल्प-विकल्प भी होता है और आँख कान आदि ज्ञानेन्द्रियों से देखा-सुना भी जाता है। उन सात्त्विक इन्द्रियों अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों के साथ

निश्चयात्मिका, निश्चयरूप जो बुद्धि है, उसे विज्ञानमय कहते हैं। स्वप्न में भी निश्चय होता ही है। वहाँ भी पहले संदेह होता है कि 'देखो कौन आ रहा है,' फिर समीप पहुँचता है तो निश्चय हो जाता है कि देवदत्त आ रहा है। इस प्रकार प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय–तीनों लिंगशरीर में हैं ॥ ३५ ॥

अब कारण शरीर को बताते हैं–

कारणे सत्त्वमानन्दमयो मोदादिवृत्तिभिः।
तत्तत्कोशैस्तु तादात्म्यादात्मा तत्तन्मयो भवेत् ॥३६॥

कारणीभूत अविद्या में स्थित मलिन सत्त्व ही मोद आदि वृत्तियों सहित आनन्दमय कोश है। उन-उन कोशों में अभेदाभिमान से कोशमय हो जाता है।

कारण शरीर अज्ञान है क्योंकि अज्ञान के कारण ही स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीर हमारे साथ एक हो जाते हैं, तादात्म्यापन्न हो जाते हैं। कोश ये तभी होंगे जब हम इन्हें ओढ़े होंगे। जब हम इन्हें ओढ़े हुए नहीं हैं तब ये शरीर भी नहीं हैं। जैसे जब स्थूल शरीर मर जाता है तब उसे शरीर नहीं कहते, मुर्दा कहते हैं। जब तक जिंदा रहता है, तभी तक शरीर कहते हैं। अज्ञान भी त्रिगुणात्मक है, इसलिये इसके अन्दर सत्त्वगुण भी है। जो सत्त्वगुण वाला हिस्सा है वह मोदादि वृत्ति वाला आनन्दमय है। अज्ञान की जो सत्त्वगुण की वृत्ति है उससे मोद आदि का अनुभव होता है। जब किसी चीज को हम प्रिय समझते हैं और उसका लाभ होता है तव जो सुख होता है वह मोद है। जैसे वैठे हुए अकस्मात् दाल का सीरा याद आ जाये और वह मिल जाये तो मिलने से ही मोद होता है। इसी प्रकार से दूरस्थ पुत्र की याद आती है तो उससे ही प्रसन्नता हो जाती है। उससे प्रियता का अनुभव हुआ, सुख हुआ। जब पुत्र सामने आ गया, कल्पना से नहीं वरन् सचमुच सामने आ गया, तब मोद होगा। सामने आने पर जब उसका आलिंगन किया तव वह प्रमोद बन गया। इस प्रकार से ये सात्त्विक वृत्तियाँ बन जाती हैं। इसीलिये जहाँ आनन्दमय कोश का स्वरूप बताया वहाँ प्रिय, मोद, प्रमोद आदि कहे। एक शंका यह आती है कि प्रियता, मोद, और प्रमोद का अनुभव तो जाग्रत् या स्वप्न में ही हो सकता है, सुषुप्ति के अन्दर तो इसका अनुभव नहीं होता? इसीलिये यहाँ स्पष्ट कर दिया 'कारणे सत्त्वमानन्दमयः।' जैसा कि पहले बताया, आनन्दमय कोश तो सूक्ष्म शरीर में, स्वप्न में भी रहेगा और स्थूल शरीर में भी रहेगा। जब भी प्रियता, मोद, प्रमोद का अनुभव होता है वह आनन्दमय की सात्त्विक वृत्ति से ही अनुभव में आता है। आनन्दमय जाग्रत् के अंदर भी है, जिस प्रकार से घड़ा बनने पर मिट्टी तो रहेगी ही। आनन्दमय की जो सात्त्विक वृत्ति है उसी से प्रिय, मोद, प्रमोद आदि का अनुभव होता है। ऐसा नहीं है कि जब आनन्दमय नहीं रहा तब स्वप्न या जाग्रत् अवस्था हुई, जैसे ऐसा नहीं है कि मिट्टी नहीं रही तब घड़ा हुआ! मिट्टी बनी ही रहती है, घड़े का नाम-रूप पैदा हो जाता है। इसी प्रकार आनन्दमय बना रहता है और उसी में प्रिय, मोद, प्रमोद होते हैं।

सुषुप्ति का जो यह अनुभव है कि 'मैंने कुछ नहीं जाना' यह अज्ञान का अनुभव तो जाग्रत्, स्वप्न में नहीं रहता है, परन्तु अज्ञान की जो सत्त्वगुणी वृत्तियाँ हैं उनके द्वारा प्रिय आदि का अनुभव हो जाता है।

इन कोशों का अनुभव 'यह मैं हूँ' ऐसा ही होता है। यही तादात्म्य अनुभव है। 'यह मैं ही हूँ' ऐसा जो एकता का अनुभव है उससे आत्मा तन्मय अर्थात् कोशमय हो जाता है। अनुभव होता है कि 'मैं मनुष्य हूँ' यह अन्नमय से तादात्म्य का अनुभव है। मनुष्य तो शरीर है, उसमें तादात्म्य अभिमान करके अनुभव होता है कि मैं मनुष्य हूँ। इसी प्रकार से अनुभव होता है कि मैं जीवित हूँ।। 'मैं जीवित हूँ' का मतलब है कि 'मैं प्राणवाला या मैं प्राणी हूँ'। प्राणों में तादात्म्य से अनुभव हो जाता है कि 'मैं जीव हूँ', या 'मैं जीवित हूँ'। इसी प्रकार से 'मैं विचार करने वाला या संकल्प-विकल्प करने वाला हूँ' यों मनोमय के साथ एकता हो जाती है। 'मैं करने वाला हूँ, मैं जानने वाला हूँ' इस प्रकार से विज्ञानमय के साथ तादात्म्य अभिमान हो जाता है। 'मैं भोक्ता हूँ, मैं सुखी हूँ,' इस प्रकार से आनन्दमय के साथ तादात्म्य हो जाता है ॥ ३६ ॥

आवृत का मतलब यही है : जिस प्रकार खोली से तकिया आवृत है अर्थात् खोली तकिये के साथ एक होकर प्रतीत हो रही है, अलग प्रतीत नहीं हो रही है; इसी प्रकार हम कोशों के साथ एक होकर दीख रहे हैं, कोशों से अलग नहीं दीख रहे हैं। यही कोशों से आवृत होना है। चूँकि हम पंचकोशों से आवृत हैं, इसलिये विवेक करके यदि यह पता लग जाये कि यह मेरा स्वरूप नहीं है तो इन सारे कोशों के अभिमान से रहित होकर शुद्ध स्वरूप प्रकट हो जायेगा। यही ज्ञान होने का तरीका है। इसलिये कहते हैं–

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां पञ्चकोशविवेकतः।
स्वात्मानं तत उद्धृत्य परं ब्रह्म प्रपद्यते ॥३७॥

अन्वय-व्यतिरेक द्वारा पाँचों कोशों से विवेकपूर्वक स्वात्मा को कोशों से पृथक् कर जीव परम ब्रह्म प्राप्त कर लेता है।

पाँचों कोशों से आत्मा का विवेक करना है। आत्मा का पंचकोशों के साथ जो तादात्म्याभिमान वाला रूप है, वह तो प्रकट है। कोशों के साथ आत्मा तो हम सबको ज्ञात ही है परन्तु कोशों से अतिरिक्त उस आत्मा का क्या रूप है–यह पता नहीं है। इसलिये पंचकोश-विवेक से अपने आत्मा (स्वात्मा) का उद्धार करके शुद्धरूप परब्रह्म की प्राप्ति कर लेता है। उद्धार, उत्+हार शब्द का अर्थ है–ऊपर ले जाना। ऊपर क्या है? गीता में ऊपर या ऊर्ध्व परमेश्वर को कहा है और छांदोग्य उपनिषद् में ब्रह्म का एक नाम ही 'उत्' कहा है। इन पंचकोशों से आत्मा को निकालना ही उसका (स्वात्मा का) उद्धार है, किसी नई चीज की प्राप्ति नहीं है। उत् का तात्पर्य 'हट जाना' भी है। आज से साठ साल पहले आदमी को निश्चय होता था कि मैं ब्राह्मण हूँ और अब पता है कि मैं ब्राह्मण हूँ फिर भी लगता

है कि मैं हूँ तो इंसान ही! पहले ब्राह्मण इंसान नहीं था ऐसी बात नहीं थी परन्तु ब्राह्मण के साथ जो तादात्म्य था वह अपने इन्सानपने को ढाँक लेता था। इसलिये कोई छू लेता था तो नहाना पड़ता था। कोई कहता भी था कि 'वह इंसान ही है'; कहते थे कि इंसान तो है परन्तु मैं ब्राह्मण हूँ। अब धीरे-धीरे यह शिक्षा दी गई कि यह जात-पाँत लोगों ने वना दी है इसलिये अनुभव नहीं होता कि 'मैं ब्राह्मण हूँ अतः कोई छू गया तो मुझे नहाना है।' मैं इंसान हूँ, इंसान ने इंसान को छू दिया तो क्या हुआ! परन्तु शरीर के साथ तादात्म्य है, तभी कहते हैं कि 'छूत की बीमारी वाले के पास बैठने, रहने से मैं रोगी हो जाऊँगा।' जैसे जब यह पता लग गया कि मैं ब्राह्मण नहीं इंसान हूँ, तब नहाने की जरूरत नहीं रही वैसे ही मैं शरीर नहीं, आत्मा हूँ–यह पता लग गया तो यह भाव नहीं रहेगा कि रोगी हो जाऊँगा। शरीरादि का आत्मा से कोई संयोग संबंध तो है नहीं कि इसको हटा सको, यह तो तादात्म्य अभिमान है। तादात्म्य हट गया, तो तुम्हारा उद्धार हो गया, तुम उससे दूर हो गये। अपने को इन पाँचों कोशों से हटा लेते हो तो सच्चिदानन्दरूप जो ब्रह्म का लक्षण है, वह तुमको अपने में मिल जाता है अतः परब्रह्म की प्रपत्ति हो जाती है।

सच्चिदानन्द–ब्रह्म का लक्षण है। सत् मायने जो हमेशा रहे। हमको हमेशा यह अनुभव होता है कि 'मैं हूँ', कभी यह अनुभव नहीं होता कि मैं नहीं हूँ। 'मैं नहीं हूँ' यह अनुभव करना असम्भव है! क्योंकि विना हुए यह अनुभव कैसे होगा? मैं नहीं हूँ ऐसा अनुभव नहीं हो सकता। जब लोग कहते हैं 'मैं नहीं रहूँगा,' तब उनका मतलब है कि शरीर नहीं रहेगा। जब शरीर मैं नहीं हूँ, तब शरीर नहीं रहे, उससे 'मैं नहीं रहूँगा' यह नहीं बनेगा। ऐसा भी कभी नहीं होता कि मुझे मेरा भान नहीं है। डाक्टर शरीर के रोग के विषय में परीक्षा करता है। अगर कोई पूछे--'डाक्टर साहब! बताओ मैं जिंदा हूँ या नहीं?' तो डाक्टर उसे पागल खाने भेजेगा। इसकी परीक्षा कोई नहीं करेगा कि मैं जिंदा हूँ या नहीं। मैं हमेशा ही ज्ञान वाला या ज्ञानरूप ही रहता हूँ। और मुझे अपना आपा कभी अप्रिय नहीं लगता। शरीर अप्रिय लग सकता है। भयंकर बीमार हो जाता है तो व्यक्ति कहता है कि शरीर मर जाये तो मैं सुखी हो जाऊँ क्योंकि शरीर मुझे दुःख दे रहा है। शरीर से इसलिये हटना चाहता है कि 'मैं सुखी हो जाऊँ,' यह शरीर मर जाये तो दुःख हट जाये। उस समय भी 'मैं' के साथ प्रेम है। इसी तरह कोई चिंता लग गई तो रात में मन घूमता रहता है : दस बज गये, मन इधर-उधर हुआ; फिर घड़ी देखी साढ़े दस बजे हैं, इधर-उधर करवट लेते रहे, फिर थोड़ी देर बाद घड़ी देखी, ग्यारह बजे हैं। नींद नहीं आ रही है, रात कैसे बीतेगी! फिर सोने की दवा लेते हैं। मन दुःख का कारण बन रहा है तो सोचते हैं कि यह मन हट जाये। सुख का कारण बनता है तब तो कोई बात नहीं है। पहले बिजली आदि नहीं होने से रोशनी नहीं होती थी, इसलिये रेडियो, टी. वी. का तो सवाल ही नहीं था। रात को सात-आठ बजे भोजन हो गया, सर्दी में थोड़ी आग जलाकर उसके इर्द-गिर्द सभी पड़ौसी एक-साथ बैठ गये, घण्टा-आधा घण्टा बात-चीत हुई, नौ बजे सब सो गये। पूरे गाँव में कहीं रोशनी नहीं दीखती

थी। अतः नींद न आये तो परेशानी थी। आजकल देर तक जगना दुःख नहीं देता। इसलिये यदि किसी कारण से नींद आने लगे तो घरवाली से कहता है 'एक प्याला कॉफी वना दो'! यदि सुख का अनुभव होता है तो जगा रहना चाहता है, दुःख होता है तो मन को कहता है 'यहाँ से विदा हो'। मन से भी हटना चाहता है क्योंकि मन की चिंता हटे तो मैं सुखी हो जाऊँ। कोई नाटकादि देखकर सुख हो रहा है तो कॉफी पीकर भी जगता है। इस तरह आत्मा तो हमेशा प्रिय है, मैं तो हमेशा सुखी होना चाहता हूँ। वह सुख शरीर, मन, बुद्धि किसी से मिले, या इनके हटने से मिले तो भी ठीक है। इसलिये आत्मा में कभी भी अप्रियता नहीं है। यह इच्छा नहीं होती कि 'मैं खूब दुःखी हो जाऊँ'। तप करते हैं तो खूब दुःख उठाते हैं, जैन संथारा ले लेते हैं कि जब तक नहीं मरेंगे, भूखे-प्यासे रहेंगे। शरीर को भूखा-प्यासा रख रहे हैं तो दुःख ही उठा रहे हैं। लेकिन यह सब दुःख उठाकर उन्हें पता है कि संथारा लेकर मरेंगे तो परलोक जाने पर खूब आनन्द होगा, अमुक-अमुक चीज़ें मिलेंगी। इसलिये 'शरीर आदि को दुःखी करके भी मैं सुखी हो जाऊँगा' यही भाव है। मैं अपने को कभी भी अप्रिय नहीं लगता। जो चीज हमेशा सद्रूप, चिद्रूप और आनन्दरूप है, वही ब्रह्म है। सच्चिदानन्द यह लक्षण मुझ में मिलता है इसलिये मैं आनन्दस्वरूप हूँ। दुःख का कारण ये कोश हैं।

इस तरह विवेक से जब इन्हें हटाते हैं, आत्मा को इनसे सर्वथा स्वतन्त्र जानते हैं तब परब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है। एक प्राप्त की प्राप्ति होती है दूसरी, अप्राप्त की प्राप्ति। अप्राप्त जैसे मकान अप्राप्त है, तुमने पैसा देकर उसे खरीद लिया तो प्राप्त हो गया। उससे सुख हो गया कि इतना बढ़िया मकान मिल गया। दूसरे, मेरे पिता जी ने एक मकान खरीदा था, उसमें कुछ भड़ैती रहते थे। पिता जी के मरने पर मकान के कागज नहीं मिले, तो भड़ैतियों ने भाड़ा देना बन्द कर दिया और कहा 'स्वामित्व का प्रमाणपत्र दिखाओ तब भाड़ा देंगे।' दो महीने बाद कागज मिल गये। उन्हें दिखाया तो मकान हमारे नाम हो गया। पहले के दो महीने तक भी मकान था तो हमारा ही, परन्तु उसके कागज नहीं मिल रहे थे। अतः अपनी मिल्कियत होते हुए भी नहीं थी। नया कोई मकान नहीं मिला, केवल कागज मिल गये तो भी 'मकान मिल गया' व्यवहार होता है। इसको भी मिलना कहते हैं। प्रायः अप्राप्त की प्राप्ति होती है। पर कहीं प्राप्त की प्राप्ति होती है अर्थात् कोई चीज है प्राप्त लेकिन अज्ञान के कारण अप्राप्त लग रही है, उसकी जानकारी को भी प्राप्ति कह देते हैं।'परब्रह्म की प्राप्ति हो जायेगी' का मतलब है कि पहले हम इन पाँच कोशों से आवृत हुए अपने ब्रह्मभाव को नहीं समझ रहे थे, शरीर के कारण अपने को भी असत् समझ लेते थे, अपनी कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों की सीमा के कारण हम अपने को परिच्छिन्न समझकर अल्पज्ञ, अल्पशक्तिमान् समझ लेते थे। यह सब समझना है तो इन पंचकोशों के कारण तथापि प्रतीति हमको होती थी कि 'मैं सीमित हूँ, मैं परिच्छिन्न हूँ'; अब इसकी निवृत्ति हो गई तो अपनी अपरिच्छिन्नता स्वाभाविक ही है। पंचकोशों से उद्धार कैसे होता है? विवेक से यह उद्धार होता है।

विवेक क्या है? अन्वय-व्यतिरेक ही विवेक है। यह वेदांत की प्रधान साधना वता रहे हैं। अन्वय का मतलब अनुगति है, जो सब जगह, सबमें मौजूद रहे वह अन्वित, अनुगत है और जो कभी मौजूद रहे, कभी मौजूद न रहे उसे व्यतिरेक वाला या व्यावृत्त, अननुगत कहते हैं। यहाँ आत्मा का तो अन्वय दिखायेंगे। आत्मा जाग्रत् में, स्वप्न में और सुपुप्ति में भी है जवकि कोशों का व्यतिरेक है : जाग्रत् और उसके कोशादि स्वप्न में नहीं है, स्वप्न के कोशादि जाग्रत् में नहीं हैं। अतः जाग्रत्-स्वप्न का तो व्यतिरेक है और आत्मा का अन्वय है। मोटी भाषा में—जब मैं स्वप्न देख रहा था तब भी मैं तो था ही। स्वप्न में जाग्रत् की चीजें नहीं थीं। इसलिये रात में दाल का सीरा खा लिया, पेट ठस भरा हुआ है और सोते हुए स्वप्न देखा कि मैं भूखा हूँ! इसमें जनक का दृष्टांत प्रसिद्ध है। जनक दिन में सो रहे थे, नींद आ गई, गर्मी का मौसम था। प्राचीन काल में ए.सी. तो था नहीं! चारों तरफ गुलाबजल छिड़क कर दासियाँ पंखा कर रही थीं। स्वप्न में उन्होंने देखा कि किसी राजा ने चढ़ाई कर दी, लड़ाई में जनक हार गये और वहाँ से भाग गये। जीते हुए राजा ने राज्य में घोषणा कर दी कि जो भी जनक को पकड़ कर लायेगा उसे एक करोड़ रुपये मिलेंगे। वह घोषणा जनक ने भी सुनी। कोई पहचान न ले, इसलिये जंगल में छिपते फिरे। जंगल में खाने को कहाँ मिले! भटकते हुए एक गाँव में पहुँचे जहाँ अन्नक्षेत्र चल रहा था, लाईन में खड़े हो गये। जान-पहचान वाले के पास जायें तो कोई पकड़वा देगा। भिखमंगों की लाईन में जाकर खड़े हो गये। नम्बर आया तब बाँटने वाले ने कहा 'अपना बर्तन आगे करो'। इसने जन्म-भर कभी भीख तो माँगी नहीं थी, बर्तन कहाँ से रखता! कहा 'मेरे पास बर्तन नहीं है, तुम ही कुछ दे दो।' वहीं पास मिट्टी का एक ठीकरा (फूटा घड़ा) पड़ा था, उसे उठा लिया। तब तक देर भी काफी हो गई थी। पतीले में नीचे जो कुछ खिचड़ी जल जाती है, वही बच गयी थी। खिचड़ी देने वाले ने कुछ और खुरच कर उसे दे दी। उसी को लेकर बड़ी सावधानी से नीचे देखकर चल रहे थे। तब तक सामने से दो साण्ड लड़ते हुए आ रहे थे। एक साण्ड ने टक्कर मारी तो खिचड़ी नाले के पास गिर गई। भीषण दुःख हुआ कि इतने दिन बाद खाने को मिला, वह भी गिर गया। उस भीषण दुःख में आँख खुल गई तो देखा कि चारों तरफ गुलाबजल छिड़का जा रहा है, पंखा झला जा रहा है, सुन्दर वितान बना हुआ है। मिनट-दो मिनट ही आँख लगी थी। निश्चय हुआ कि यह तो स्वप्न था। विचार करो कि जाग्रत् में तो सब चीजें उपलब्ध थीं और अपने ही पास थीं, दूर नहीं थीं, परन्तु वह जाग्रत् उस स्वप्न में किसी काम का नहीं था। स्वप्न में जो खिचड़ी गिरी थी वह अब जाग्रत् में मिलने वाली नहीं थी। इसलिये जाग्रत् स्वप्न में नहीं है। यह व्यतिरेक है। लेकिन जाग्रत् में जो ज़नक अर्थात् मैं, सोया हुआ वही, स्वप्न के अन्दर भीख माँगता हुआ भी 'मैं' है; मैं तो एक ही है। मैं का अन्वय है। इस प्रकार से अन्वय और व्यतिरेक करने से पता लगता है कि ये हमारे कोश हैं, हम नहीं हैं। तब वह तादात्म्य-भाव चला जाता है।

अन्वय-व्यतिरेक तो जल्दी से समझ आ जाता है परन्तु इसका निरंतर अभ्यास करने पर ही यह दृढ होता है। सत्संग में बैठकर विवेक कर लिया अथवा अलग बैठकर विचार कर लिया, फिर दिन-भर इन पंचकोशों की ही आवृत्ति करते रहते हैं इसलिये विवेक सफल होता नहीं। किसी भी चीज को धारण तब किया जाता है जब निरंतर उसके संस्कार बनाये जायें। व्यवहार के नाम से इस धारण को हम लोग दृढ नहीं कर पाते। हरेक यही कहता है कि 'व्यवहार तो व्यवहार की जगह चलता है, इसलिये व्यवहार के लिये तो हमें तादात्म्य करना ही पड़ेगा'। अगर दिन में बीस घण्टे यह आवृत्ति करोगे कि 'मैं ब्राह्मण हूँ, मैं सुखी-दुःखी होने वाला हूँ, मैं काम करके थक जाता हूँ,' और चार घण्टे आवृत्ति करो कि 'मेरा इन कोशों से सम्बंध नहीं,' तो बीस घण्टे के संस्कार ही दृढ होते चले जायेंगे, चार घण्टे के नहीं। एक तो पहले से ही अनादि काल के तादात्म्य के संस्कार अंतःकरण में पड़े हुए हैं और फिर व्यवहार के नाम से तुम उन संस्कारों को और ज्यादा धीरे-धीरे दृढ करते हो तो वे तादात्म्य के संस्कार नहीं धुलते। समझ में तो आ जाता है, परन्तु धारणा नहीं बन पाती। दृढता के लिये अनवरत अभ्यास तब तक नहीं हो सकता जब तक व्यवहार में सत्य दृष्टि है कि व्यवहार तो करना ही है। व्यवहार की सत्यता हटाने के लिये पहले पंचमहाभूतों की असत्यता या अनिर्वचनीयता सिद्ध कर दी। वह सिद्ध होने के बाद ही अन्वय-व्यतिरेक कर सकते हैं। इसलिये आचार्य मधुसूदन सरस्वती कहते हैं कि द्वैतमिथ्यात्व-सिद्धि-पूर्वक अद्वैत-सिद्धि होती है। जब तक द्वैत का मिथ्यात्व-निश्चय न हो जाये तब तब अद्वैत-सिद्धि नहीं हो सकती। अन्नमय आदि रूप से प्राप्त आत्मा का दर्शन तो पहले ही था। इन कोशों से पृथक् किया हुआ जो आत्मरूप है उसी का नाम ब्रह्म है। उस ब्रह्मरूप का अवलोकन करके उसमें स्थित होना है क्योंकि सत्य यही है और व्यवहार मिथ्या है। अभी तक साधना का रूप चलता है कि व्यवहार सच्चा है, थोड़ी देर ब्रह्मचिन्तन भी कर लें। जब तक यह मानते हैं तब तक उसकी सिद्धि अथवा उसकी धारणा नहीं हो पाती। इसलिये प्रपत्ति कहा, केवल प्राप्ति नहीं कहा ॥ ३७ ॥

अन्वय-व्यतिरेक ही स्पष्ट समझाते हैं–

अभाने स्थूलदेहस्य स्वप्ने यद् भानमात्मनः ।
सोऽन्वयो व्यतिरेकस्तद्भानेऽन्यानवभासनम् ।।३८।।

सपने में स्थूल देह का अभान रहते आत्मा का भान अन्वय है और आत्मभान रहते शरीर का भान न होना व्यतिरेक है।

स्वप्न काल में स्थूल देह का भान होता नहीं है। स्थूल देह का पेट तो बढ़िया दाल का सीरा खाने के बाद तन रहा है लेकिन स्वप्न में भान हुआ कि भूख से तड़प रहा हूँ। इसलिये स्थूल देह का भान स्वप्न काल में नहीं है, परन्तु आत्मा का भान है, 'मैं हूँ' यह भान हो रहा है 'मैं भूखा हूँ', यह भान हो रहा है। यदि वहाँ स्थूल देह का भान होता तो ऐसा होता

कि 'मैं दाल का सीरा खाकर ठस हूँ,' लेकिन स्वप्न में इस शरीर का भान नहीं, बल्कि है कि 'मैं भूखा हूँ, कहीं कुछ खाने को मिल जाये।' इस तरह स्थूल देह का भान नहीं, परन्तु अपना भान तो है ही। स्वप्न व जाग्रत् दोनों में मैं तो रहा परन्तु देहभान स्वप्न में नहीं रहा, यह आत्मा का अन्वय हो गया। स्वप्न में आत्मा का भान होने पर भी 'अन्य' अर्थात् स्थूल देह अन्नमय का भान नहीं है, इसलिये उसका व्यतिरेक हो गया।

अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा पंचकोशों से अपने आत्मा को अलग करके परब्रह्म की प्राप्ति होती है। बिना पंचकोश-विवेक के ही आचार्य विद्यारण्य ने तत्त्व-विचार प्रारम्भ करते हुए सच्चिदानन्द ब्रह्मस्वरूप ही सब कुछ सिद्ध हो रहा है, यह बताया था। यह भी कहा था 'लभन्ते निर्वृतिं पराम्' (श्लोक ३२)। इसका कारण है कि पंचकोशों के साथ तादात्म्याभिमान दृढ होने के कारण ब्रह्मरूपता की सिद्धि होने पर भी 'वह सच्चिदानंद मैं हूँ' यह निश्चय नहीं होता। सब कुछ ब्रह्मरूप है—ऐसा अन्वय-व्यतिरेक से समझने पर भी 'वह ब्रह्मरूप ही मैं हूँ' यह निश्चय नहीं हो पाता क्योंकि इन पंचकोशों का जो आवरण है उसमें 'यही मैं हूँ' ऐसा तादात्म्य अभिमान रहता है। इस प्रतिबंधक का हेतु अविद्या को बताया था।

दो प्रकार के अधिकारी होते हैं : एक, जिन्होंने योगाभ्यास करके निर्विकल्प समाधि में पंचकोशों से तो अपने को अलग समझा है परन्तु उन्हें संसार की वास्तविकता की दृष्टि बनी रहती है इसलिये अविद्या निवृत्त नहीं होती। ऐसे लोगों के लिये तत्त्वविवेक आवश्यक होता है। जो ऐसे उत्तम अधिकारी नहीं हैं अर्थात् कृतोपास्ति नहीं हैं, उनके लिये पंचकोश-विवेक भी करना जरूरी हो जाता है। संसार के मिथ्यात्व का निश्चय अन्वय-व्यतिरेक से होने पर भी पंचकोशों से अपने को अलग समझना आवश्यक है। उत्तम अधिकारी को केवल तत्त्वमसि महावाक्य के श्रवणमात्र से ज्ञान होते देखा गया है। आचार्यों ने यहाँ तक कहा है कि जो खुद अर्थ नहीं जानता उसने 'तत्त्वमसि' आदि का उच्चारण किया, उसको पता नहीं कि मैं क्या बोल रहा हूँ, परन्तु श्रोता के पूर्व संस्कार जाग्रत् हो जाते हैं तो उसी से ज्ञान हो जाता है। किसी यक्ष आदि के कहने से ज्ञान हो जाता है, ऐसी कथायें आती हैं। कुछ ऐसे होते हैं जिन्होंने कुछ भी नहीं किया; पूर्व जन्म के संस्कार 'तत्त्वमसि' आदि के हैं, जगत् के मिथ्यात्व के भी संस्कार हैं, परन्तु किसी तीव्र प्रतिबन्धक के कारण उनको जन्म लेना पड़ा। गर्भ में ही उनको ज्ञान हो जाता है! किंतु इतने मात्र से कोई कहे कि जगत् की मिथ्यात्व-सिद्धि की जरूरत नहीं है, तत्त्वमसि आदि के श्रवण की जरूरत नहीं, पंचकोश-विवेक करने की भी जरूरत नहीं है—तो ऐसी बात नहीं है। ब्रह्मविद्या की साधना जन्म-जन्मान्तर में चलती रहती है। इसलिये श्रुति कहती है 'गर्भ एव शयानो वामदेवः प्रतिपेदे' वामदेव को गर्भ में ही ज्ञान हो गया था। पूर्व जन्म में किए हुए साधन भी इस जन्म में फल दे देते हैं। सर्वथापि पंचकोश-विवेक की जरूरत है।

पंचकोश-विवेक तैत्तिरीय उपनिषद् में आया है। कर्मकाण्डों में यह नियम है कि किसी भी कर्म को अपनी-अपनी वेद-शाखा के अनुसार करना चाहिये। इसलिये शंका होगी कि जो

कृष्ण-यजुर्वेदी हो वह पंचकोश-विवेक करे, सबको यह विवेक करना क्यों आवश्यक है? इसका समाधान यह है कि ब्रह्मसूत्रकार और भाष्यकार दोनों ने 'सारे वेदान्तों का एक ही अर्थ है' ऐसा उपसंहार करना आवश्यक माना है। सारी ही उपनिषदें उस ब्रह्म का प्रतिपादन करती हैं, ऐसा निश्चय करना जरूरी होता है। अतः कर्ममीमांसा और ब्रह्ममीमांसा में यह फर्क है; कर्म तो भिन्न-भिन्न वेदशाखा वालों के लिये भिन्न-भिन्न प्रकार का हो जाता है। जैसे किसी शाखा के लिये कह दिया है कि सूर्य उदय होने के पहले अग्निहोत्र करे और दूसरी शाखा में लिखा है कि सूर्य उदय होने के बाद अग्निहोत्र करे। शंका हुई कि दोनों में से हम क्या करें? तब कहा कि जिसकी शाखा में उदय के बाद लिखा है वह वैसा करे और जिसकी शाखा में उदय के पहले लिखा है वह वैसा करे। क्योंकि कर्म करने में हम स्वतंत्र हैं अतः कर्म में विकल्प हो सकता है। जैसे हमने किसी से कहा 'एक गिलास पानी लाओ' वह लोटे में पानी लेकर आता है। जैसे गिलास से वैसे ही लोटे से पानी पी सकते हैं। या वह प्याले में ही पानी ले आये तो उससे भी पी सकते हैं। इसलिये कर्म में विकल्प सम्भव है। कर्ममीमांसा में इस प्रकार विकल्प हो जाता है, परन्तु ब्रह्म का क्या स्वरूप है, इसका निश्चय करना है। ब्रह्म का स्वरूप एक ही है, उसमें तो विकल्प नहीं हो सकता कि ऐसा भी हो और वैसा भी हो। इसलिये यदि एक उपनिषद् में कुछ लिखा और दूसरी उपनिषद् में कुछ और ही लिखा तो दोनों को देखकर निश्चय करना पड़ेगा कि ब्रह्म का स्वरूप क्या है। वास्तविक स्वरूप अलग-अलग नहीं हो सकता। अतः यद्यपि तैत्तिरीय उपनिषद् में आया है तथापि सभी के लिये कोशविवेक करना आवश्यक होता है।

दूसरा एक संदेह होता है : दो चीजें हों तब उनमें अन्वय और व्यतिरेक दिखाया जा सकता है। अन्वय अर्थात् जो सभी में हो वह अन्वित है या अनुगत है। जैसे माला के दानों में जो धागा गया है वह सब में अनुगत है, एक ही धागा माला के सारे दानों में है, इसलिये धागे का अन्वय है। दाने अलग-अलग हैं अतः दानों का व्यतिरेक है, क्योंकि धागे में जहाँ एक दाना है वहाँ दूसरा दाना नहीं है। इसलिये दो चीजें हों तब अन्वय-व्यतिरेक होता है। वेदान्त सिद्धांत में दूसरा कुछ है ही नहीं तो विवेक किससे करें?

भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि ब्रह्म अव्यावृत्त है अर्थात् किसी से अलग नहीं है और उससे भिन्न कुछ है नहीं इसलिये वह किसी में अनुगत नहीं है। ब्रह्म से दूसरा यदि कुछ हो तो ब्रह्म शब्द का कोई अर्थ ही नहीं रहेगा! दूसरा हो तो अन्वय-व्यतिरेक हो, दूसरा है ही नहीं तो क्या अन्वय-व्यतिरेक किया जाये!

इसका समाधान है कि वास्तविक कोई दूसरी चीज हो यह सम्भव नहीं है। जैसे मंद अंधकार में रस्सी के अन्दर हमको जलधारा, माला, भूछिद्र इत्यादि प्रतीत हुए। ये सब चीज़ें सच्ची नहीं हैं, केवल रस्सी ही है। क्योंकि रस्सी होने पर ही जलधारा, माला इत्यादि दीखी हैं इसलिये रस्सी इन सबमें अनुगत कहलाती है। ये सब रस्सी से सर्वथा अलग हैं अतः ये सब मिथ्या हैं यह समझाने के लिये जब कहते हैं कि 'ये सब रस्सी हैं' तब तात्पर्य यह

निकलता है कि ये सब नहीं हैं, केवल रस्सी ही है। इसी प्रकार अपने आत्मा में पाँचों कोश प्रतीत हो रहे हैं, लगता है कि इन पाँचों कोशों में आत्मा है। ये पाँच कोश नहीं हैं, यह सिद्ध करने के लिये अन्वय-व्यतिरेक न्याय लगाया जाता है।

आत्मा का भान स्वप्न में है। 'मैं' का भान अर्थात् 'मैं देख रहा हूँ' यह भान जिससे उठने पर भी 'मैं स्वप्न देख रहा था' ऐसी मैं की याद आती है। जब स्वप्न के पदार्थ दीख रहे थे तब 'मैं' की भी प्रतीति हो रही थी। मैं अर्थात् आत्मा। जाग्रत् में जब 'मैं' स्थूल देह को देख रहा है कि 'मैं ब्राह्मण हूँ, मैं गोरा हूँ,' तब भी आत्मा का भान है। इस तरह 'मैं' का भान जाग्रत् और स्वप्न दोनों में है, परन्तु स्वप्न के पदार्थों का जाग्रत् में भान नहीं है। स्वप्न में हमको किसी ने दस लाख रुपये दिये और मैंने रुपये सम्भालकर पेटी में रख दिये। उठकर मैं पेटी में वे रुपये ढूँढ रहा हूँ, मिल नहीं रहे हैं! यदि स्वप्न के पदार्थों का जाग्रत् में भान होता तो दस लाख न सही, दस हज़ार ही मिल जाते! परन्तु कुछ नहीं मिलता। जाग्रत् के पदार्थों का स्वप्न में भान नहीं और स्वप्न के पदार्थों का जाग्रत् में भान नहीं परन्तु 'मैं' का भान जाग्रत् में भी है, स्वप्न में भी है। स्वप्न-काल में स्थूल देह का तो भान नहीं है लेकिन अपना भान स्वप्न में भी है। इस प्रकार, मैं का भान जाग्रत् में भी है और स्वप्न में भी है अतः मैं का अन्वय हुआ और स्वप्न के पदार्थ, जाग्रत् में नहीं, जाग्रत् के पदार्थ स्वप्न में नहीं इसलिये उनका व्यतिरेक हुआ।

बदलने वालों में न बदलने वाले का बना रहना 'अन्वय' है, और न बदलने वाला कायम रहते बदलने वालों का न रहना, बदल जाना व्यतिरेक है। स्वप्न व जाग्रत् दोनों बदलने वाले हैं अतः परस्पर दोनों का व्यतिरेक एवं उभयत्र न बदलने वाले आत्मा का अन्वय है। इस प्रकार से अन्वय-व्यतिरेक करके 'मैं शरीर से अलग हूँ' यह तो पता लग ही जाता है। शंका होती है कि दोनों जगह अहंकार का ही भान हुआ? समाधान है कि यहाँ आत्मा-शब्द जीवपरक होने से स्वप्न और जाग्रत् का विचार करने से स्थूल शरीर से मैं अलग हूँ इसका पता लगता है यह तात्पर्य है। सूक्ष्म शरीर से मैं अलग हूँ–इसका पता करने के लिये सुषुप्ति में जाना पड़ता है।। ३८।।

सूक्ष्म शरीर से आत्मा अलग है यह गहरी नींद के अनुभव से समझाते हैं–

लिंगाभाने सुषुप्तौ स्यादात्मनो भानमन्वयः।
व्यतिरेकस्तु तद्भाने लिंगस्याभानमुच्यते।। ३९।।

सुषुप्ति में सूक्ष्म-शरीर का भान न होते आत्मा का भान होना अन्वय है तथा तब आत्मा का भान रहते सूक्ष्म शरीर का भान न होना व्यतिरेक है।

जब गहरी नींद आ जाती है तब 'मैंपने' का या अहंकार का अर्थात् सारे सूक्ष्म शरीर का ही भान नहीं होता। न देखता है, न चलता है, न पकड़ता है, कुछ नहीं करता। वहाँ अहंकार का भान नहीं है, फिर भी उठकर कहता है कि 'मैं ही सोया था।' सुषुप्ति में 'मैंपने'

का भान नहीं है फिर भी उठकर कहता हूँ कि 'मैं सोया था' इसलिये वहाँ मैं अर्थात् आत्मा था ही। सूक्ष्म शरीर का विवेक सुषुप्ति से होता है। सुषुप्ति में सूक्ष्म शरीर नहीं है और स्वप्न-जाग्रत् में मन है। इसलिये अवस्थात्रयके विचार से शरीरद्वय से आत्मा का विवेक हो जाता है। सुषुप्ति का भान होते हुए भी लिंग (सूक्ष्म) शरीर का भान नहीं है। जाग्रत्, स्वप्न के अन्दर अहंकारात्मिका वृत्ति होने के कारण मैं-पने के साथ आत्मा का भान है जबकि सुषुप्ति में अहंकारात्मिका वृत्ति न होने से मैंरूप से आत्मा का भान नहीं है। फिर भी उसका पता किससे लगता है? 'सुषप्ति में मैंने कुछ नहीं जाना' उठने पर यह स्मरण होता है। 'कुछ नहीं जाना' रूप से जो अज्ञान था उस अज्ञान का ही कार्य यह अहंकारात्मिका वृत्ति, लिंग शरीर है। सुषुप्ति में कार्यरूप से मैं नहीं था लेकिन कारणरूप से था। अज्ञान कार्यरूप से जाग्रत् और स्वप्न में अनुगत रहेगा। जिस प्रकार, तुमने पीला कपड़ा लिया और उससे जो कमीज़ बनाई उसको फिर पीला रंगना नहीं पड़ता क्योंकि कारण का गुण वह पीलापन कार्य कमीज़ में भी आ जाता है। पीले धागे से जो कपड़ा बनाते हैं वह कपड़ा भी पीला होता है। ठीक इसी प्रकार अज्ञान से ही लिंग शरीर आया, उसी में अहंकारात्मिका वृत्ति अज्ञान से उत्पन्न होने के कारण अज्ञान के सम्बंध के संस्कार जाग्रत्-स्वप्न में भी अन्वित रहते हैं। इस प्रकार सुषुप्ति के अन्दर सूक्ष्म शरीर की व्यावृत्ति सिद्ध हो जाती है।। ३९।।

जाग्रत् अवस्था में जो स्थूल शरीर वही अन्नमय कोश है। स्वप्न में समझा सूक्ष्म शरीर तीन कोशों का समुदाय है अतः सूक्ष्म के विवेक से तीनों का विवेक हो जाता है यह बताते हैं–

तद्विवेकाद् विविक्ताः स्युः कोशाः प्राणमनोधियः।
ते हि तत्र गुणावस्थाभेदमात्रात् पृथक्कृताः।। ४०।।

सूक्ष्म शरीर के विवेक के फलस्वरूप प्राणमय मनोमय विज्ञानमय कोशों का विवेक सम्पन्न हो जाता है क्योंकि उन्हें सूक्ष्म शरीर में गुणों की अवस्था के भेद के निमित्त से ही अलग-अलग करके कहा है।

लिंग देह के अन्दर तीन कोश आ जाते हैं–प्राण, मन और बुद्धि (विज्ञानमय)। आत्मा लिंग या सूक्ष्म शरीर से अलग है यह सिद्ध करने से आत्मा से प्राण, मन और बुद्धि अलग हैं यह सिद्ध हो जाता है। प्राण, मन और बुद्धि को अलग क्यों किया? इसलिये कि प्राण, मन और बुद्धि तीनों गुणावस्था के भेदमात्र से अलग हैं। मनुष्य के अन्दर ज्ञान, इच्छा, क्रिया तीनों हैं। ये तीनों ही हैं तो एक जैसे ही। ज्ञान और इच्छा तो कथंचित् समान समझी जायें पर क्रिया भी ज्ञानरूप कैसे है? इसको देखने के लिये आजकल का दृष्टांत स्पष्ट है : चलचित्र की रील को देखो, वहाँ स्पष्ट प्रतीत होगा कि क्रिया कुछ नहीं है। पैर का 'चलना' वहाँ दीखता नहीं बल्कि एक चित्र में पैर थोड़ा ऊपर, दूसरे चित्र में और थोड़ा ऊपर दीखता है; चूंकि जल्दी-जल्दी दीख गया इसलिये लगता है कि क्रिया हो गई। अथवा एक और

प्रयोग करते हैं जिसमें एक गोल पट्टी में क्रम से सात भिन्न-भिन्न रंग लगा देते हैं। तुम्हें सात रंग दीख रहे हैं। उस पट्टी को मशीन पर चढ़ा कर तेज़ी से घुमाते हैं तो तुमको वहाँ केवल सफ़ेद पट्टी ही नज़र आती है, रंग नज़र ही नहीं आते। क्या वे रंग मिलकर सफेद हो गये? फिर स्थिर पट्टी को देखो तो सात रंग दीखते हैं। इसका मतलब हुआ कि वे रंग मिले नहीं परन्तु पट्टी के जल्दी-जल्दी चलने से तुम्हारी आँख में लगता है कि सफेद है। चलती पट्टी में तुम उन्हें अलग-अलग जान नहीं सके। गति या चलना दीख रहा है, वस्तुतः पैर की अनेक स्थितियाँ ही हैं, और कुछ नहीं है। परन्तु उन ज्ञानों को अलग-अलग नहीं कर पाते इसलिये क्रिया दीखती है। इस प्रकार ज्ञानादि तीनों एक होने पर भी विभिन्न दीखते हैं। ज्ञान, इच्छा, क्रिया तीनों को सामान्य दृष्टि से समझने के लिये अलग-अलग कहना पड़ता है।

विज्ञानमय कोश निश्चय करने वाला है इसलिये ज्ञानशक्तिरूप है। मन इच्छाशक्तिरूप है क्योंकि संकल्प-विकल्प करता है कि 'यह है अथवा वह है।' प्राण क्रियाशक्ति है। स्थूल शरीर मोटर कार के बाहरी शरीर की जगह है और सूक्ष्म शरीर मशीन की जगह है जो उस स्थूल शरीर को चलाती है। सूक्ष्म शरीर चलाने वाला है और स्थूल शरीर को चलाता है। वह चलाना तीन तरह से है—ज्ञान-इच्छा-क्रियारूप से चलाता है। इच्छा से भी शरीर को चलाया जाता है। किसी से पूछो 'तुम वहाँ क्यों गये?' तो कहता है 'मेरी मर्ज़ी'; ऐसा नहीं कहता कि 'मेरे पैर थे, इसलिये चला गया।' पैर में फालिज (लकवा) हो जाये तो कितनी भी पैर आगे बढ़ाने की कोशिश करो, कुछ नहीं होगा। जाने बिना न इच्छा कर सकते हो, न क्रिया कर सकते हो, जानते हो कि सामने गड्ढा दीख रहा है तभी क्रिया करते हो। चलाने वाली चीज़ है तो एक ही, फिर भी उसमें ये भेद ज्ञान-इच्छा-क्रिया, प्रतीत हो जाते हैं। इसलिये कहा कि लिंग शरीर से जब आत्मा को विविक्त कर देते हैं तब यह पता लग जाता है कि ज्ञान इच्छा क्रिया अथवा प्राण, मन, बुद्धि तीनों से आत्मा अलग है। सत्त्वगुण की अधिकता होने पर ज्ञान तथा रजोगुण की अधिकता होने पर क्रिया होती है। गुणों के भेद से इनका भेद हो जाता है। इच्छा में ज्ञान और क्रिया दोनों का मिलन है अतः 'इच्छा करते हैं' यह प्रतीति होती है। स्थूल शरीर से कुछ नहीं करते, प्राण से कुछ नहीं करते, केवल ध्यान ही करते हो तो वह भी मानसी क्रिया है। जिस मूर्ति का ध्यान करते हो उसे संस्कार जगाकर 'जान' रहे हो इसलिये ज्ञान भी है। रसगुल्ले का ज्ञान है तभी उसकी इच्छा होती है और वह इच्छा मैं करता हूँ—यह प्रतीति होती है। प्राणमय रजोगुण-प्रधान है, विज्ञानमय सत्त्वगुणप्रधान है और मनोमय उभयगुणप्रधान है। इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक से निश्चय होता है।। ४०।।

सुषुप्ति के अन्दर अज्ञान है। 'मैंने कुछ नहीं जाना' यह जो 'कुछ नहीं जानना' है, इससे आत्मा अलग है या नहीं, इसे अब बताते हैं—

सुषुप्त्यभाने भानं तु समाधावात्मनोऽन्वयः।
व्यतिरेकस्त्वात्मभाने सुषुप्त्यनवभासनम्।। ४१।।

समाधि में सुषुप्ति का (अज्ञान का) भान न रहते आत्मा का भान अन्वय है एवं आत्मभान रहते सुषुप्तिका भान न होना व्यतिरेक है।

सुषुप्ति की अवस्था अर्थात् अज्ञान का भान समाधि में नहीं है, परन्तु जानना वहाँ भी है ही। इसलिये स्थूल देह का स्वप्न में अभान हुआ, लिंग देह का सुषुप्ति में अभान हुआ और समाधि के अन्दर सुषुप्ति का भी अभान है, इसलिये सुषुप्ति से भी आत्मा अलग है, यह सिद्ध हो जाता है। कुछ लोग कहेंगे कि समाधि का अनुभव सब लोगों को है नहीं, उसका अन्वय-व्यतिरेक कैसे होगा? यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार करके देखो तो जाग्रत् व स्वप्न प्रायः एक ही हैं। भगवान् गौडपादाचार्य ने जाग्रत् और स्वप्न दोनों को मिलाकर एक ही लक्षण किया है 'अन्यथागृह्णतः स्वप्नो निद्रा तत्त्वमजानतः'। आत्मा से अतिरिक्त दूसरी चीज़ों को जानना, ऐसा जाग्रत् में भी है और स्वप्न में भी है। जाग्रत् में पहाड़, पत्थर इत्यादि सबको जानते हो और स्वप्न में भी ऐसे ही पदार्थों को जानते हो इसलिये दोनों को स्वप्न समझ लो। सुषुप्ति में ऐसा अन्यथाग्रहण तो नहीं है लेकिन आत्मस्वरूप का ज्ञान भी नहीं है। तत्त्व का ज्ञान न होना तो जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में एक जैसा ही है; परन्तु जाग्रत् और स्वप्न में यह विशेषता है कि आत्मा से अतिरिक्त अनात्मा को जानते हैं। जब एक वृत्ति लीन होती हैं और दूसरी वृत्ति नहीं उठी, इसके बीच का जो काल है, उस समय अन्यथा-ग्रहण भी नहीं है, अग्रहण भी नहीं है। इसीलिए यहाँ बार-बार 'भान' कहा है। 'कुछ नहीं जानना' अर्थात् अज्ञान का भान सुषुप्ति में है, परन्तु उस मध्य काल के अन्दर 'कुछ नहीं जानने' का भी भान नहीं है। जैसे सुषुप्ति से उठकर याद करते हो कि 'कुछ नहीं जानता रहा' वैसे वृत्तिसंधि के बाद याद नहीं आता, अतः तब अज्ञान का भान नहीं था यह कहना बनता है। इसका अभ्यास करने के लिये धीरे-धीरे दो वृत्ति के मध्यकाल को पकड़ने का अभ्यास करना पड़ता है। कोई तुमको कहानी सुना रहा है, तुमको नींद आ रही है; पहले लगता है कि एक-दो वाक्य सुने फिर बीच में एक वाक्य नहीं सुना, फिर दो वाक्य सुन लिये। बीच के वाक्य का कुछ पता नहीं रहता। फिर धीरे-धीरे न सुनने का काल बढ़ता जाता है। फिर नींद आ गयी। इस प्रकार धीरे-धीरे जो बीच वाला काल है, उसकी तरफ अपनी वृत्ति को स्थिर करने से स्पष्ट होगा, कि 'कुछ नहीं जानने' का भान भी तब नहीं है। यह जो नींद लेते समय की बात है, वही जाग्रत् में अर्थात् जगते समय की बात है, जगते हैं तो तुरन्त बिलकुल चौकन्ने नहीं हो जाते। पहले शरीर का भान होता है, फिर धीरे-धीरे कमरे का भान होता है, बिजली के बटन का भान होता है। बीच-बीच में अभान की भी स्थिति रहती है। उस मध्य काल में 'मैं कुछ नहीं जान रहा हूँ' भी भान नहीं है और 'कुछ जान रहा हूँ' ऐसा भी नहीं है। इसको पकड़ने का अभ्यास तो सब लोग कर सकते हैं। सुषुप्ति के अज्ञान के साथ जो आत्मा का भान है वह भी समाधि में नहीं रहता। इतना याद रखना कि यह नहीं समझ लेना कि उस काल में अज्ञान होता नहीं है; अज्ञान का भान

नहीं है, अज्ञान है तो सही। ऐसा क्यों मान रहे हैं? इसलिये कि उस मध्य काल में न किसी चीज़ का भान है, न किसी चीज़ के नहीं होने का भान है, परन्तु परम आनन्द का भान भी नहीं है। यदि अज्ञान न होता तो परम आनन्द प्रकट होना चाहिए था। परम आनन्द की प्रतीति न होने के कारण उसको अज्ञानरहित नहीं कह सकते। इसलिये अज्ञान के भान से रहित है, इतना ही कह सकते हैं। इस अभ्यास को करने के लिये बड़ा धैर्य चाहिए।। ४१।।

इस विषय में श्रुति का प्रमाण देते हैं–

यथा मुंजादिषीकैवमात्मा युक्त्या समुद्धृतः।
शरीरत्रितयाद् धीरैः परं ब्रह्मैव जायते।। ४२।।

जैसे सरकण्डे से सींक, वैसे ही धीरों द्वारा युक्तिपूर्वक तीनों शरीरों से भलीभाँति पृथक् किया आत्मा परम ब्रह्म ही हो जाता है।

सरकण्डे के बीच में एक अत्यंत बारीक इषीका (सींक) होती है। पहले ज़माने में सरकण्डे की कलम बनाते थे। बारीक नली में पतला कमज़ोर धागा-सा होता है जिसे बहुत धीरे-धीरे ही निकालना पड़ता है। थोड़ी भी जल्दबाजी की तो वह झट से टूट जाता है। वह टूट गया तो अन्दर कुछ नहीं डाल सकते कि निकाल सको। कठोपनिषत् में (६-१७) यही दृष्टान्त दिया है 'तं स्वाच्छरीरात् प्रवृहेद् मुञ्जाद् इवेषीकां धैर्येण'। मूँज में से जैसे इषीका को निकालना है, इसी प्रकार अत्यंत सूक्ष्म आत्मा पंचकोशों के बीच में है, उसे इन शरीरों से अलग करना है। श्रुति में कहा है 'अंगुष्ठमात्रः पुरुषः' अर्थात् शरीर के मध्य में आत्मा है। जैसे मूँज में से अत्यंत पतली सींक इषीका निकालते हैं, वैसे ही इसे भी शरीर में से बड़े धैर्य से निकालना पड़ता है। 'युक्त्या' के यहाँ दोनों अर्थ समझ लेना, सावधानी एवं अन्वय-व्यतिरेक; इसमें धैर्य की जरूरत इसलिये है कि पंचकोशों के साथ तादात्म्य इतना दृढ है कि उनकी जडरूपता जल्दी जँचती नहीं। स्थूल शरीर से विवेक ही मुश्किल हो जाता है कि यह दृश्य है, मैं द्रष्टा हूँ। मन, बुद्धि और बुद्धिवृत्तिरूप अहंकार से 'मैं' भिन्न है यह समझना बहुत मुश्किल होता है। 'मैं हूँ' में 'मैं' अहंकारात्मिका वृत्ति है और 'मैं हूँ' को जो जान रहा है वह आत्मा है। परन्तु इस प्रकार से 'मैं हूँ' और 'मैं को जानने वाला हूँ,' इनको अलग करना बड़ा कठिन होता है। इसलिए युक्ति और धैर्य की जरूरत है। धैर्य से ही इसको अलग करना पड़ता है।

संस्कृत में धीर के दो अर्थ होते हैं : बुद्धि में रमण करने वाले को भी धीर कहते हैं एवं जो प्रयास को धारण कर सके अर्थात् धैर्य वाला हो उसे भी धीर कहते हैं। बुद्धि से विवेक करके ही, विचार करके ही आत्मा प्राप्त किया जा सकता है। और किसी भी साधन जप; पूजा, पाठ आदि से इसको प्राप्त नहीं कर सकते। यह विचार करके ही प्राप्त होगा। बुद्धि के निश्चय से निश्चयवाले बनो; बुद्धि का निश्चय होने पर भी प्रायः मन उड़ान भरता

है। तुम किसी निश्चय पर पहुँचो तो मन फिर संकल्प-विकल्प करता है कि 'यह भी तो हो सकता है।' इसीलिये मनन पर इतना ज़ोर देना पड़ता है कि 'श्रुतिमतस्तर्कोऽनुसन्धीयताम्'। वेद ने जो सिद्धांत बताया है उसके अनुकूल तर्कों को सोचो। तर्क से कभी निश्चय नहीं होता! इसलिये व्यास जी ने सूत्र बनाया 'तर्काऽप्रतिष्ठानात्' तर्क की कोई प्रतिष्ठा नहीं है। एक तार्किक एक बात कहता है, दूसरा उसे काट देता है। तर्क के बल से चलने वाले आजकल के वैज्ञानिक हैं। एक नियम का पता लगता है, दस-बीस साल बाद दूसरा वैज्ञानिक पहले वाले नियम को काटकर दूसरा चला देता है, फिर कोई और तीसरा सिद्धांत चला देता है। इससे सत्य का निर्णय कैसे हो? तर्क से वस्तुतः किसी का पता नहीं लग सकता। आत्मबोध में तर्क का सहारा तो लेना है, परन्तु वेद की बात का समर्थन करने वाला जो तर्क हो, उसे बार-बार मन में लाना है। मन बार-बार टक्कर देकर उससे विरुद्ध तर्क को लायेगा उठायेगा; उसको प्रश्रय मत दो। मन संस्कारों का पुंज है। तर्क मन में चलते रहे तो मन ही जीत जायेगा, निश्चय नहीं हो पायेगा। इस सृष्टि को बनाने वाले परमात्मा ने वेद का उपदेश दिया। सच्ची बात को उसने कह दिया। वहाँ कही हुई बात को समझने के लिये तर्क का उपयोग करना है। सत्य का निर्णय तर्क से नहीं, निर्णय तो श्रुति से ही होता है। बुद्धि में रमण करना अर्थात् श्रुति के अनुकूल तर्कों के प्रवाह पर ज़ोर देना है। इसीलिये स्पष्ट कहा है कि श्रद्धा ही बुद्धि का सिर है। और इस कार्य में धैर्य की भी जरूरत है क्योंकि यह दो-चार दिन का काम नहीं है।

दीर्घकाल तक जब ये संस्कार चलेंगे तब निश्चय परिपक्व होगा। जब ऐसा हो जाता है तब 'परब्रह्मैव जायते;' 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' अखण्ड ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर वह खुद ही ब्रह्म हो जाता है। इसका मतलब यह नहीं कि पहले ब्रह्म नहीं था! पहले ही था परन्तु अपने को ब्रह्मरूप समझ नहीं रहा था, अब समझा हुआ भी है, यह लाभ हो जाता है ।। ४२।।

धैर्य-पूर्वक और बुद्धिमत्ता से जैसे मूँज में से इषीका निकालते हैं उसी प्रकार आत्मा को पंचकोशों से युक्तिपूर्वक, विचार-पूर्वक निकाल लेने पर आत्मा परब्रह्म ही बच जाता है। इस विचार के अनुसार श्रुति का अर्थ समझ आता है यह कहते हैं–

परापरात्मनोरेवं युक्त्या सम्भावितैकता।
तत्त्वमस्यादिवाक्यैः सा भागत्यागेन लक्ष्यते।। ४३।।

पर और अपर आत्माओं की जो एकता यों युक्ति से सम्भावित है, तत्त्वमसि आदि वाक्यों से भागत्यागलक्षणाद्वारा वही समझायी गयी है।

पर आत्मा और अपर आत्मा; पर अर्थात् श्रेष्ठ। शुद्धसत्त्व-प्रधान माया श्रेष्ठ होने से तदुपाधिक को पर कहा और मलिनसत्त्व-प्रधान माया उपाधिवाला जीव होने से उसे अपर

कहा। मलिनसत्त्वप्रधान और शुद्धसत्त्वप्रधान इन दोनों उपाधियों को छोड़ देना ही उसका उद्धार है। जैसे पर आत्मा का सच्चिदानन्द लक्षण, वैसे ही अपर आत्मा का लक्षण भी सच्चिदानन्द है। पर और अपर दोनों का युक्ति से यह अभेद, एकत्व पता लग जाता है। जिसके लक्षण में कुछ भी भेद न हो वह वस्तु प्रायः एक ही हुआ करती है। देश काल आदि निमित्तक भेद भी हो सकता है। कलकत्ते में मोटर में जाते हुए एक सेठ को देखा, फिर आबू में फटे कपड़े और फटे जूते वाले उसी सेठ को देखा, देश काल और अवस्था तीनों अलग हैं; पहले देश कलकत्ता था, अब आबू है। काल वह तीन साल पहले का था और अब वर्तमान है। कपड़े आदि से अवस्था भी उसकी अलग दीख रही है, वहाँ बन-ठनकर जा रहा था, अब फटेहाल दीख रहा है। परन्तु कान-नाक-अंगूठा आदि सब वही हैं। उस देश काल अवस्था की उपाधि और इस देश काल अवस्था की उपाधि को छोड़कर कहते हैं 'यह वही सेठ है।' उपाधि को छोड़कर एक ही लक्षण होने से 'यह वही है' यह ज्ञान होता है। इसी प्रकार जब जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं और अन्नमय, प्राणमय आदि पाँचों कोशों की उपाधियों को छोड़ा, तब तीनों अवस्थाओं और पाँचों कोशों से अलग हो गये। अब न जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति वाले हैं और न अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय वाले हैं। सभी उपाधियों को छोड़ देने पर मेरा सच्चिदानन्द रूप तो एक ही रहा। उधर, सृष्टि स्थिति और लय करने वाला, जगत् के रूप में बनने वाला, निमित्त और उपादान दोनों कारणों की उपाधियों को छोड़कर भी सच्चिदानन्द ही है। अतः उपाधियों को छोड़कर दोनों का एक ही लक्षण 'सच्चिदानन्द' मिल रहा है तो सम्भव यही है कि एक ही चीज़ है। सम्भावित एकता पक्की कैसे हो? युक्ति से सम्भावित बात प्रमाण से सिद्ध हो जाये तो पक्की हो जाती है।

पहले (श्लो.१०) कहा था 'तयोरैक्यं श्रुत्यन्तेषूपदिश्यते'। श्रुति में कैसे बताया है? 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों से बताया है। श्रुति के बताने का तरीका यही है कि सृष्टि बनने के पहले केवल सत् था। उस 'सत्' ने ईक्षण करके यह सारी सृष्टि बनाई और बन भी गया। वह जो 'सत्' है, उसकी दृष्टि से कहा 'हे श्वेतकेतु! वह तू है।' 'तत्त्वमसि' के द्वारा श्रुति ने 'तू है' कहा। न तो यह कहा कि 'तू ब्रह्म था' और न यह कहा कि 'तू ब्रह्म हो जायेगा,' बल्कि कहा 'है'। इस प्रकार से यह 'तत्त्वमसि' वाक्य एकता का प्रतिपादन कर देता है। 'तत्त्वमसि' कहने पर जो विरोध की प्रतीति होती है, उसे युक्ति से पहले ही हटा दिया, इसलिए 'सा लक्ष्यते' अर्थात् सम्भावित एकता 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों के द्वारा भागत्याग लक्षणा से लखा दीं जाती है अर्थात् लक्षित हो जाती है, अनुभव हो जाती है। ठीक जिस प्रकार से द्वितीया का चन्द्रमा दिखाई नहीं दे रहा हो तो उसे दिखाने के लिये कहते हैं 'यह जो नीम का पेड़ है उसकी दो डालियों के बीच में देखो, उसमें द्वितीया का चन्द्रमा दीख रहा है'। दो डालियों के बीच में तो चन्द्रमा हो नहीं सकता! दो डालियों के

बीच का अन्तर बित्ते भर का होगा जब कि चन्द्रमा तीन लाख योजन का है। परन्तु साथ वाला दो डालियों के बीच में देखता है तो उसे चन्द्रमा दीख जाता है। इसी प्रकार, मैं अपने को हमेशा ही साक्षात् अनुभव करता हूँ, अपरोक्ष अनुभव करता हूँ। कभी भी मैं अपने को परोक्ष नहीं दीखता। यह एक उपाधि है। सारे संसाररूप में बनने और बनाने वाला परमेश्वर दूसरी उपाधि है। जब बनना और बनाना नहीं है तब श्रुति ने उसे 'सदेव सोम्येदमग्रआसीद् एकमेवाद्वितीयं' कहा। बनने-बनाने के द्वारा उसका कारणरूप दीखता है। दुःख आदि के अनुभव वाला, पंचकोशों में दूसरा रूप दीखता है। दो डालियों के बीच में चन्द्रदर्शन की तरह सद्ब्रह्म के द्वारा कारणरूप से व्यापक और 'मैं'रूप से अपरोक्ष, इन दोनों डालियों से दूर–सर्वथा पृथक् अथवा अस्पृष्ट चन्द्र की तरह जो शुद्ध चिन्मात्र है, वह अनुभवरूप ही रह जाता है। इसी को भाग-त्याग कहते हैं। वह प्रतीति विषयरूप से नहीं है, चूंकि 'त्वं' से कहा है इसलिये अपरोक्षरूप से ही प्रतीति है। मैं ब्रह्म हूँ–इस रूप से ही प्रतीति होगी। मैं अर्थात् प्रत्यगात्मा को जो लक्षित कराता है। 'त्वं' में पंचकोशों के भाग का त्याग कर दिया और 'तत्' में से सृष्टि स्थिति लय की कारणता का त्याग कर दिया। पूरा त्याग 'त्वं' में भी नहीं किया और पूरा त्याग 'तत्' में भी नहीं किया। इसलिये इसको भागत्याग कहा। जैसे कलकत्ते वाले सेठ को भी नहीं छोड़ा और उसीको आबू में फटे हाल देखकर, उसको भी नहीं छोड़ा, परन्तु देश, काल, अवस्था की उपाधि को छोड़ दिया। इसलिये बिना किसी उपाधि वाला जो शुद्ध वही रह जाता है। इसलिये कहा 'सा भागत्यागेन लक्ष्यते'।

यहाँ जो सम्भावित एकता कहा है, इसमें एकता का अर्थ अभेद समझना। एकता का अर्थ 'एक' संख्या नहीं समझ लेना क्योंकि एक ब्रह्म है–यह ज्ञान मोक्ष का कारण नहीं है, बल्कि 'मैं ब्रह्म हूँ' यह ज्ञान मोक्ष का कारण है। एकता का मतलब 'एक' संख्या नहीं, अभेद है। सारे देवताओं में और सारे मनुष्यों में एक ब्रह्म ही है–यह ज्ञान और चाहे जितनी ऐसी उपासना कर ली जाये, मोक्ष का कारण नहीं बनेगा। सबकी ब्रह्मरूपता समझने मात्र से मोक्ष नहीं है। 'मैं ब्रह्म ही है, ब्रह्म मैं ही हूँ' यह ज्ञान ही मोक्ष का एकमात्र कारण है। जहाँ 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' आदि कहा है वहाँ 'सर्वम्' में मैं भी समझना ज़रूरी है इसलिये अन्यत्र उपनिषदों में दोनों प्रकार से मिलाकर कहा है, 'तत् त्वमेव त्वमेव तत्' इत्यादि। दोनों का एक ही लक्षण है–इतना ही कहने से ऐसी प्रतीति हो सकती है कि ब्रह्म बड़ा विस्तृत है और मैं उसमें एक अंश हूँ, मेरी उससे अतिरिक्त सत्ता नहीं है। परन्तु इतने मात्र का ज्ञान मोक्ष का कारण नहीं है। 'मैं ब्रह्म ही हूँ' और 'ब्रह्म ही मैं है' इस प्रकार सर्वथा अभेद का भान चाहिए। एक ही अधिकरण के अन्दर दो कल्पनायें प्राप्त होने पर दोनों कल्पनाओं को हटाने से अधिष्ठानमात्र रहे तब अभेद-बोध है। बिना तत्त्वमसि आदि महावाक्यों के और कोई उपाय नहीं है जिससे यह ज्ञान दिया जा सके। अतः लक्षण की एकता को युक्ति से जानना पर्याप्त नहीं, उससे सम्भावित को जब वाक्य कहे तभी अत्यन्त अभेद की प्रतीति होगी।। ४३।।

पर और अपर को स्वयं मूलकार बताते हैं–

जगतो यदुपादानं मायामादाय तामसीम्।
निमित्तं शुद्धसत्त्वां तामुच्यते ब्रह्म तद्गिरा।। ४४।।

तामसी माया लेकर जो जगत् का उपादान और शुद्धसत्त्व-प्रधान उसी माया को लेकर जो जगत् का निमित्त है वह ब्रह्म 'तत्'-शब्द से कहा जाता है।

ब्रह्म शब्द से कही वस्तु तत् पद से कही। तत् शब्द किसको कहता है? जो जगत् का उपादान कारण है, उसको कहता है। यह याद रखना कि संसार के अनेक धर्म और मत, कणाद, गौतम, पतञ्जलि ईश्वर को जगत् का कारण तो मानते हैं परन्तु उसे जगत् का उपादान कारण नहीं मानते। पतंजलि कहते हैं कि प्रकृति जगत् का उपादान कारण है, प्रकृति जगत् के रूप में बनती है। कणाद और गौतम परमाणु इत्यादि को जगत् का कारण मानते हैं। वेदांत में ब्रह्म ही जगत् बनता भी है और बनाता भी है। प्रायः यह समझने में मुश्किल पड़ता है। इसलिये श्रुति ने दृष्टांत दिया है कि जैसे मकड़ी का जाला मकड़ी खुद बनती है और खुद ही बनाती है, सामग्री कहीं से लाती नहीं। अथवा जिस प्रकार अपने नाखून हम खुद ही बढ़ाते हैं, हमारे मरने के बाद इनका बढ़ना नहीं हो पाता। इनको बनाने के लिये हमको कहीं किसी कम्पनी से कुछ खरीदना नहीं पड़ता। हम ही बन जाते हैं और हम ही बना लेते हैं। इन दृष्टांतों में देहविशिष्ट आत्मा कारण है अर्थात् देह के साथ आत्मा का तादात्म्य संबंध रहते हुए कहा जाता है कि मैं ही इसका कारण हूँ या मकड़ी ही जाले का कारण है। जैसे मकड़ी या हमारे अन्दर आत्मा देहविशिष्ट है, वैसे ही मायाविशिष्ट आत्मा ही जगत् का निमित्त कारण और उपादान कारण भी है। मायाविशिष्ट चेतन ही जगत् के रूप में भी बना और जगत् के रूप को बनाया भी। इसलिये जगत् की कारणता को समझाने के लिये ये दृष्टांत हैं, परन्तु शरीर के द्वारा बनने-बनाने वाले हैं तो हम ही, या जाले को बनाने वाली है तो मकड़ी ही। इसी प्रकार से अज्ञान के द्वारा या माया के द्वारा बनने-बनाने वाला तो ब्रह्म ही है

श्रुति ने ऐसा दृष्टांत दिया कि जो साधारण व्यक्ति भी समझ जाये। आचार्य शंकर ने दृष्टांत दिया कि जैसे रस्सी अज्ञान से सर्प बनती है। कौन सर्पाकार में बना? रस्सी ही बनी। इसलिये रस्सी की लम्बाई मोटाई ही दीखती है। और सर्प को किसने बनाया? रस्सी ने ही बनाया! दूसरा दृष्टांत है, जैसे लोटा-भर भाँग पीने के बाद ब्राह्मण कहता है, 'जानते हो, मैं सेठ हूँ!' लोटा-भर भाँग पीने के बाद तो उसके साथ एक हो चुकी है। स्वयम् को सेठ खुद उस ब्राह्मण ने बनाया और खुद ही सेठ बना भी, दूसरा तो उसे सेठ बनाने वाला कोई है नहीं। वह किससे बना? अपने स्वरूप के अज्ञान से बना; सचमुच में नहीं बना, बना हुआ प्रतीत हुआ। प्रतीत किसको हुआ? अपने आपको ही प्रतीत हुआ। दूसरा तो कोई उसे सेठ

नहीं मान रहा है। इसी प्रकार अपने अज्ञान से हम ही जीव और संसार बन गये। हमारे सिवाय न किसी को जीव, न संसार दीखता है। जैसे ही अज्ञान निवृत्त होता है वैसे ही न संसार रह जाता है, न जीव रह जाता है, केवल ब्रह्म ही रह जाता है। इसलिये महाराजा भर्तृहरि ने कहा 'पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिराम् उन्मत्तभूतं जगत्' वे क्षत्रिय थे, शराब पीते रहे होंगे, इसलिये उन्हें यह दृष्टांत सटीक लगा कि अज्ञान की शराब पीकर यह सारा जगत् उन्मत्त बना हुआ है।

इसलिये आचार्य ने कहा 'जगतो यद् उपादानम्'। जगत् का निमित्त कारण तो संसार में अनेक दूसरे आस्तिक दर्शन भी मानते हैं और वर्तमान काल में ईसाई, मुसलमान, यहूदी भी परमेश्वर को जगत् का निमित्त कारण मानते हैं। परन्तु सिवाय वेदांत के और कोई परमेश्वर को जगत् का उपादान कारण नहीं मानता। सृष्टि बताते हुए कहा था 'तमःप्रधानप्रकृतेः' (श्लो. १८) तमोगुण-प्रधान माया से उन्होंने आकाश आदि महाभूतों का निर्माण किया। महाभूतों का परिणाम ही यह सारा जगत् है। स्थूल और सूक्ष्म महाभूत जो दीख रहे हैं, दोनों ही तमोगुणी माया के कारण ही हैं। तामसी का अर्थ तमोगुणप्रधान। संसार के अन्दर सत्त्व, रज और तम तीनों गुण मिलते हैं परन्तु विषयरूप से होने के कारण वे सब तमोगुणप्रधान ही कहे जाते हैं। ठीक जिस प्रकार से बड़ा भण्डारा हुआ, बहुत भीड़-भड़क्का हुआ, दो चार आदमियों को धक्का भी लगा, एक-दो आदमी गिर भी गये। बीस हज़ार लोगों ने भोजन किया, दो-चार जनों को चोट लगी, फिर भी कहते हैं 'आज के आनन्द की जय'। दो-चार की चोट को नहीं गिनते क्योंकि बीस हज़ार को आनन्द आया। इसी प्रकार से पंच महाभूतों को बनाने वाली माया को तमोगुण ही कहा जाता है क्योंकि यह अज्ञान का ही फैलाव करती है। गहरी नींद में पंचमहाभूत नहीं हैं तो वहाँ दुःख भी नहीं है। उठने पर जब पंचमहाभूतों का कार्य स्थूल-सूक्ष्म आते हैं, तभी दुःख शुरू होता है। यदि यह दुःख न होता तो हम अपने स्वरूप ब्रह्म के ज्ञान के लिये प्रयत्न भी न करते। जिन स्थूल-सूक्ष्म शरीरों का आधार लेकर परमेश्वर के ऐश्वर्य का भान होता है उन्हीं से हमें अपनी बद्धता और दुःख का भी भान होता है। ठीक प्रकार से विचार करते हैं तो यज्ञ, दान आदि शुभ कर्मों में प्रवृत्ति करते हैं, ताकि यहीं बुद्धि को शुभ कर्म से शुद्ध करें। शुभ कर्म स्थूल पंचमहाभूतों से ही होगा। शुद्ध घी, विद्वान् ब्राह्मण आदि भौतिक सामग्री से ही पूजन, दान, होम आदि होते हैं जिनसे बुद्धि शुद्ध होगी। सब कर्म पंचमहाभूतों से ही सिद्ध होंगे। फिर उसके बाद अंतःकरण से उपासना करें तब एकाग्रता हो। कोई कहे कि यदि मन है ही नहीं, उसे असत् ही मानना है, तो एकाग्रता क्या करनी है! अंतःकरण में मल-विक्षेप रहते न अपनी ब्रह्मरूपता का पता चल सकता है और न अधिष्ठानज्ञान के बिना अध्यास की निवृत्ति हो पायेगी। ये स्थूल-सूक्ष्म ही बन्धन का कारण भी हैं और मुक्तिरूपी सुख भी इन्हीं की सत्ता से होना है। इस तामसी माया को लेकर ही जगत् का जो उपादान कारण ब्रह्म है, उसका पता लगता है।

'शुद्धसत्त्वां ताम् आदाय' अर्थात् जिसमें रजोगुण-तमोगुण बहुत ही क्षीण हैं ऐसी शुद्धसत्त्व माया के अन्दर जो ज्ञान और ऐश्वर्य का प्रकाश है उसके द्वारा निमित्त कारण भी वही है। शुद्धसत्त्व की उपाधि से बनाने वाला है और तमःप्रधान उपाधि से बनने वाला है। ठीक जिस प्रकार से लोटा-भर भाँग पेट में होकर जो ब्राह्मण सेठ बन जाता है, उसे सेठ बनाता कौन है? अंतःकरण की उपाधि के द्वारा वह अपने को बनाता है। अंतःकरण सत्त्वगुण का कार्य है। उससे वह बनाने वाला है। बनने वाला शरीर-प्रधान होकर है क्योंकि भाँग का लोटा गया तो शरीर में ही! शुद्धसत्त्व वाली माया को लेकर ब्रह्म को निमित्त कारण कहा जाता है। 'तद्गिरा'-तत्त्वमसि के अन्दर जो तत् शव्द है वह उस परमेश्वर को बताता है जो निमित्त और उपादान कारण है। निमित्त और उपादान कारण का फर्क उपाधि को लेकर है।। ४४।।

'तत्त्वमसि' में 'तत्' और 'त्वं' दो पद हैं। 'तत्' पद का अर्थ जगत् का निमित्त और उपादान कारण ब्रह्म है। अब 'त्वं' पद का अर्थ बताते हैं-

यदा मलिनसत्त्वां तां कामकर्मादिदूषिताम्।
आदत्ते तत्परं ब्रह्म त्वंपदेन तदोच्यते।। ४५।।

जब वह परम ब्रह्म कामना-कर्म आदि दोषों वाली मलिनसत्त्वप्रधान उस माया को ग्रहण करता है तब त्वम्-पद से कहा जाता है।

'यदा' (जब) शव्द का प्रयोग क्यों कर रहे हैं? यहाँ जब का अर्थ काल-विशेष नहीं लेना क्योंकि तब यह प्रतीति होगी कि उस काल से पहले जीव नहीं था! जैसे श्रुति ने कहा 'सदेव सोम्येदमग्रआसीत्' सत् ही पहले था। वहाँ भगवान् भाष्यकार ने समझाया है कि 'अग्रे' का मतलब 'पहले' लेने से प्रतीत होगा कि अब नहीं है। जैसे, 'पहले अंग्रेज़ों का राज्य था' अर्थात् अब नहीं है। 'अग्रे' और 'आसीत्' का प्रयोग श्रुति ने केवल इसलिये किया कि मनुष्य काल के बिना सोचने का आदी नहीं है। इसी प्रकार यहाँ जो यदा और तदा शब्दों का प्रयोग कर रहे हैं इसका मतलब यह नहीं है कि इसके पहले जीव नहीं था। वेदांत-सिद्धांत में छह चीज़ें हमेशा से हैं इसलिये हमेशा ही थीं। अज्ञान अनादि होने से हमेशा से है परन्तु ज्ञान से हट जाता है। इसलिए सब चीज़ें अनादि होने पर भी अनंत नहीं हैं। अनंत तो केवल एक शुद्ध चिन्मात्र ही है। 'यदा' का अर्थ मलिनसत्त्व वाली माया की उपाधिता दशा में।

'ताम्'-जिस माया की बात चल रही है वह माया मलिनसत्त्वा है। यद्यपि मलिनसत्त्वा प्रकृति को पहले अविद्या शब्द से कहा है तथापि यह बताने के लिये कि वस्तुतः अविद्या, माया, प्रकृति, तम आदि सभी शब्द एकार्थक हैं, एक ही चीज़ को बताते हैं, यहाँ ताम् से उसी का परामर्श कर लिया है। वह मलिनसत्त्वा क्यों है? 'कामकर्मादिदूषिताम्' काम, कर्म

आदि के द्वारा दूषित होने के कारण वह मलिन-सत्त्वा है। काम का मतलब अप्राप्त चीज़ को प्राप्त करने की इच्छा है। श्रुति ने परमात्मा का भी काम कहा है 'सोऽकामयत' इत्यादि श्रुतियाँ इसे बताती हैं। इसको देखकर कई अविचारी लोग ऐसा अर्थ कर लेते हैं कि परमात्मा को अच्छा नहीं लगा इसीलिये तो उसने यह दुनियाँ बनाई! परन्तु वस्तुतः अप्राप्त की इच्छा काम कही जाती है और परमेश्वर को कुछ भी अप्राप्त नहीं है। गीता में भगवान् ने स्पष्ट कह दिया है 'नानवाप्तमवाप्तव्यं' न कुछ है जो मुझे प्राप्त करने योग्य दीखे और न कुछ ऐसा है जो मुझे पहले से प्राप्त नहीं है। श्रुति ने परमेश्वर का काम इसलिये कहा कि हम लोग जब किसी चीज़ को बनाते हैं तो किसी न किसी कामना से बनाते हैं। इसलिये कहा भी जाता है कि प्रयोजन को सामने रखे बिना कोई मूर्ख भी कार्य नहीं करता। परमेश्वर की क्रिया तो बिना प्रयोजन के है! इसलिये भगवान् वेदव्यास ने कहा कि जैसे बड़े-बड़े राजाओं के पास सब कुछ है फिर भी खेलते हैं वैसे ईश्वर की सृष्टि है। पुराने ज़माने में कबड्डी का खेल खेलते थे, आजकल के ज़माने में क्रिकेट खेलते हैं। खेलकर उन्हें कुछ मिलने वाला नहीं है। वे अगर कोई चौपड़ आदि खेल लें तो भी उन्हें मिलने वाला कुछ नहीं है। न उन्हें यह इच्छा है कि दस-बीस रुपये मिल जायें। फिर भी खेलते हैं। व्यास जी ने कहा कि इस तरह खेल के लिये यह सृष्टि है 'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्'। भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि दृष्टांत में शरीर का व्यायाम या मन लगाना इत्यादि प्रयोजन हो भी सकता है, लेकिन वह प्रयोजन भी परमेश्वर में नहीं है। लीला-शब्द का प्रयोग प्रयोजनरहितता के लिये किया है। इसलिये कामना जीव का लक्षण है, परमात्मा का लक्षण नहीं है। कार्य देखकर कामना का अनुमान परमेश्वर में नहीं कर सकते। फिर भी श्रुति ने 'अकामयत' आदि कहा ताकि इस बारे में स्पष्टता हो जाये कि जगत्कारण चेतन है। हम चेतन-चेष्टा कामना से समझते हैं अतः जगत्कारण की चेतनता बताने के लिये उसमें कामना कही।

कामनापूर्वक जो कर्म होता है वह बन्धन का कारण होता है, इसलिये वह कर्म भी दूषित हो जाता है। इसलिये भगवान् ने कहा 'सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः' सारे ही कर्म दूषित हैं, कामना के दोष से ही दूषित हैं। इसलिये यहाँ 'कामकर्मादिदूषिताम्' कहा। ऐसे समझो कि हम लोग श्वास लेते हैं। श्वास लेने का कोई प्रयोजन हमारे सामने नहीं है। उससे जीवित रहना सिद्ध तो होता है, हम जीवित इसलिये हैं कि हम साँस लेते हैं, परन्तु साँस लेने के पहले 'मुझे जीना है, मैं साँस लूँ' ऐसी इच्छा नहीं होती। यह स्वाभाविक है। इसीलिये श्रुति को जहाँ बताना हुआ कि परमेश्वर से यह सारा ज्ञान प्रकट हुआ है वहाँ साँस की उपमा ली कि सारे वेद उसके निःश्वास से प्रकट हुए। हम लोगों के कर्म कामना से होने के कारण दूषित हैं। स्वाभाविक कर्म कामना-प्रयुक्त नहीं होते। देवताओं ने सोचा कि हमें रोज़-रोज़ असुरों से हारना पड़ता है इसलिये हम लोग कहीं बैठकर भजन करें और उससे शक्ति प्राप्त

करके असुरों को नष्ट कर दें। देवता जहाँ भजन करते थे वहाँ असुर विघ्न कर देते थे। देवता पहले वाणी में बैठे। असुरों ने देखा कि सारे देवता कहाँ चले गये! उन्होंने ढूंढना शुरू किया तो देखा कि वे तो वाणी में बैठे हुए हैं। उन्होंने वाणी को घूस देकर अपनी तरफ कर लिया। इसलिये घूस आदि लेने-देने का काम उसी ज़माने से अर्थात् अति प्राचीन काल से चला आया है। जैसे आजकल जजों को घूस देकर अपनी तरफ कर लेते हैं इसी प्रकार असुरों ने भी वाणी को अपनी तरफ कर लिया। इसीलिये वाणी सत्य और असत्य दोनों बोलती है, अच्छा शब्द और बुरा शब्द दोनो बोलती है। इस प्रकार वाणी असुरों के वश में होकर पाप से विद्ध हो गई। जिस जगह बैठकर भजन करो वह जगह यदि अशुद्ध है तो भजन का फल भी ठीक नहीं होगा। देवता जीभ को छोड़कर नासिका में बैठे। असुरों ने उसे भी बींध दिया। इसलिये नासिका केसर आदि की बढ़िया सुगन्ध भी सूँघती है और मरे गधे की दुर्गन्ध भी सूँघती है। नासिका भी अशुद्ध हो गई। फिर बेचारे देवता आँख में बैठकर भजन करने लगे। असुरों को पता लग गया, उन्होंने आँख को भी पाप से बींध दिया। इसलिए नेत्र से भगवान् विष्णु के भी दर्शन करते हो और परस्त्री को भी देखते हो। नेत्र भी पाप से विद्ध हो गये। इसी प्रकार कानसे दूसरे की निंदा भी सुनते हैं! इस प्रकार देवता प्रत्येक इन्द्रिय में बैठे, लेकिन असुर सबको कामना से बींधते चले गये। अंत में देवता प्राण में बैठ गये। असुर प्राण को बींधने गये तो, श्रुति वहाँ कहती है कि, जैसे मिट्टी के ढेले को बड़ी भारी चट्टान पर फैंको तो वही चूर-चूर हो जाता है, चट्टान का तो कुछ नहीं बिगड़ता, ऐसे असुर तिरस्कृत हो गये। बुरा कर्म तभी करते हैं जब आसुरी कामना करते हैं। दैवी कामना करके अच्छा कर्म भी करते हैं। परन्तु कामना रहेगी तो कभी आसुरी भी होगी। प्राण चूंकि बिना कामना के कर्म करते हैं इसलिये न वे अच्छा करते हैं और न बुरा करते हैं। मलिनसत्त्व तो वहाँ रहेगा जहाँ काम कर्म आदि रहेंगे। वही हमारा जीवभाव हो गया। माया मलिन इसलिये है कि वह काम व कर्म से दूषित है। परब्रह्म जब इसको उपाधिरूप से ग्रहण करता है तब उसे 'त्वं' पद से कहा जाता है।। ४५।।

माया के तीन रूप हो गये—एक तामस और दूसरा शुद्धसत्त्व, ये दोनों परमेश्वर की उपाधि हैं। तीसरा, मलिनसत्त्व-प्रधानरूप है जो जीव की उपाधि है। काम कर्म से दूषित होना ही मलिनता है। तीनों भेद माया में ही होने से परमेश्वर अभिन्न ही निर्धारित होता है, यह समझाते हैं—

त्रितयीमपि तां मुक्त्वा परस्परविरोधिनीम्।
अखण्डं सच्चिदानन्दं महावाक्येन लक्ष्यते।। ४६।।

आपस में विरोधी तीनों प्रकारों वाली उस माया को छोड़कर जो अखण्ड सच्चिदानन्द है वह महावाक्य से लक्षित होता है।

तत् और त्वं पदों के वाच्यार्थ बता दिये। तत् पद का वाच्यार्थ जगत् का अभिन्न-निमित्तोपादान कारण परमेश्वर और त्वं पद का अर्थ जीव जो मलिनसत्त्व-प्रधान है अर्थात् अविद्या, काम, कर्म वाला है। तीनों को अर्थात् तामस, शुद्धसत्त्व और मलिनसत्त्व, तीनों प्रकारों वाली माया को छोड़ दो तो माया-रहित आत्मा ही बचता है।

जब तीनों प्रकारों वाली माया को छोड़ दिया तब जीव और ईश्वर दोनों की उपाधि को छोड़ दिया अतः एक अखण्ड सच्चिदानन्द बच गया। वह महावाक्य के द्वारा लखा जाता है अर्थात् महावाक्य के द्वारा उसका साक्षात्कार हो जाता है। इन तीनों को क्यों छोड़ना है? क्योंकि वे प्रकार परस्पर विरोधी हैं, इसलिये छोड़ना है। तमःप्रधान तामसी और सत्त्वप्रधान सात्त्विकी, दोनों का आपस में विरोध है। तम और सत्त्व का विरोध है। शुद्धसत्त्व और मलिनसत्त्व का विरोध है। इस प्रकार से विरोध होने के कारण उनकी एकता नहीं बन सकती। ईश्वर जीव हो जाये, जीव ईश्वर हो जाये—यह तो बन नहीं सकता जबकि तत्त्वमसि वाक्य यही कह रहा है। विरोध की प्राप्ति इसलिये है कि ईश्वर सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् स्वतंत्र है, जीव अल्पज्ञ अल्पशक्तिमान् परतंत्र है। इस प्रकार जीव और ईश्वर का जो विरोध बताया जाता है वह उसकी उपाधि को लेकर कहा जाता है अतः परस्पर विरोध वाली उपाधि को छोड़ना है। क्या छोड़ने का यह मतलब है कि पाँच कोशों को छोड़ दें या मर जायें? ऐसा नहीं है, क्योंकि मरोगे तब भी प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय तो साथ जायेंगे ही, केवल अन्नमय ही छूट सकता है। समाधि में जायेंगे तो मनोमय, प्राणमय और विज्ञानमय छूट भी जायेंगे, तो भी आनन्दमय रह ही जायेगा। सिवाय विद्या के, कारण शरीर छूट ही नहीं सकता। इसलिये 'मुक्त्वा' का अर्थ इस प्रकार से छोड़ना नहीं है। उसका अर्थ है 'भागत्यागेन परित्यज्य;' उपाधि-भाग का बुद्धि के द्वारा या विद्या के द्वारा त्याग करना है। छोड़ना अर्थात् इस बात को जानना है कि आत्मा उपाधि से अलग है। ऐसे उसको छोड़ देने पर केवल सच्चिदानन्द ही रह जाता है।

अखण्ड सच्चिदानन्द रह जाता है अर्थात् ऐसा नहीं है कि शुद्ध ज़ीव अलग और शुद्ध ईश्वर अलग रह जाते हों और दोनों मिलकर एक हो जायें वरन् दोनों का औपाधिक भेद छूट जाता है इसलिये वह अखण्ड है। न वह अल्पज्ञ और न वह सर्वज्ञ रह जाता है। न वह अल्पशक्तिमान् और न सर्वशक्तिमान् तथा न वह शासक और न यह परतंत्र रह जाता है। सत्-चित्-आनन्द अलग-अलग नहीं हैं। ऐसा नहीं है कि वह सत् *भी* है, चित् *भी* है और आनन्द *भी* है। सच्चिदानन्द तो अखण्ड ही है। उसमें सत्, चित् और आनन्द तीन खण्ड हों ऐसी बात नहीं है। महावाक्य के द्वारा ही अखण्ड में लक्षणा हो सकती है। अन्यथा यही लग सकता है कि यह भी चैतन्य और वह भी चैतन्य है इसलिये एक हैं; परन्तु इतने से अखण्ड अर्थ की प्राप्ति नहीं होगी। अखण्ड अर्थ के लिये वाक्य से लक्षणा करना ही जरूरी है। यह अर्थ नहीं कि जो जीव था वही ईश्वर है। वेदांत की यह बात

ठीक से समझने की है : जो जीव था वह कभी ईश्वर नहीं हो सकता और जो ईश्वर है वह कभी जीव नहीं होता। दोनों ही उपाधियों को छोड़कर जो अखण्ड सच्चिदानन्द है-वही रह जाता है और उसी को भाग-त्याग लक्षणा लखाती है, दिखा देती है, अथवा ज्ञान करा देती है।। ४६।।

उदाहरण से अब लक्षणाद्वारा अखण्ड-बोध समझाते हैं–

सोऽयमित्यादिवाक्येषु विरोधात् तदिदन्तयोः।
त्यागेन भागयोरेक आश्रयो लक्ष्यते यथा।। ४७।।

'वही यह' इत्यादि वाक्यों में वह-पने और यह-पने का विरोध होने से उन हिस्सों के त्याग द्वारा जैसे एक आश्रय लक्षित होता है। (वैसे महावाक्य में अखण्ड ब्रह्म लक्षित होता है)।

'सोऽयं देवदत्तः–वह देवदत्त यही है' इस वाक्य से तो पता लगता है उस देवदत्त का जो न भूत काल से विशिष्ट है और न वर्तमान काल से विशिष्ट है। दोनों को छोड़कर जो देवदत्त है, उसी का पता लगता है। ठीक इसी प्रकार ब्रह्म को ही सर्वज्ञ सर्वेश्वर देखा और ब्रह्म को ही अल्पज्ञ अल्पशक्तिमान् देखा; अतः वही ब्रह्म महावाक्य से पता लगता है। जैसे कलकत्ते की दो साल पहले वाली उपाधि से वह रोल्सरॉयस् मोटर वाला सेठ था और आबू में फटे कपड़े की उपाधि वाला यह देवदत्त है। दोनों अवस्थायें एक ही देवदत्त की हैं; यह लक्षणा से पता लगता है। ब्रह्म को सर्वज्ञ सर्वेश्वर वेद से जाना, उसी को अहं या अहंकारात्मिका वृत्ति से अल्पज्ञ अल्पशक्तिमान् अनुभव से जाना। इन दोनों रूपों से जिसे जाना वह एक है–यह महावाक्यका अर्थ है। अध्यास (भ्रम) से दोनों में भेद कल्पित हैं। अथवा दूसरा दृष्टांत ले लो : जैसे एक हीं रस्सी देवदत्त के संस्कार के कारण साँप दीखी और यज्ञदत्त के संस्कार के कारण माला दीखी। दोनों संस्कारों की उपाधि छोड़ दो तो वहाँ केवल रस्सी ही है। ऐसे ही कहते हैं कि यह जो भुरभुरी मिट्टी है यह घड़ा ही है। इसमें भुरभुरापन और घड़ा दोनों ही नाम-रूप छोड़कर जो मिट्टीमात्र है, उसे ग्रहण करो। ऐसे वाक्यों में अखण्डार्थता रहेगी। शंका होगी कि लौकिक दृष्टांतों में जो देवदत्तादि पिण्ड (शरीर) लक्षणासे पता चलते हैं वे स्वयं तो देश-काल-वस्तुसे परिच्छिन्न अर्थात् सखण्ड ही हैं तो क्या ब्रह्म भी ऐसा ही है? समाधान है कि 'सदेव, एकमेवाऽद्वितीयम्' आदि प्रमाणसे ब्रह्म की वास्तविक अखण्डता निश्चित होने से उसमें खण्डों का, परिच्छेद का आरोप ही है। जैसा अखण्ड वह वाक्य से पता चलता है वैसा ही वह स्वरूप से भी है।

'विरोधात् तदिदन्तयोः' अर्थात् तत्ता और इदंता का विरोध होने से। तत् मायने वह, इदं मायने यह। जो चीज़ परोक्ष होती है वह 'तत्' और जो वस्तु सामने होती है वह 'इदं' कही जाती है। हिन्दी में 'यह' और 'वह' कहते हैं। 'यह वही सेठ है।' सेठ इस देश-काल की उपाधि से 'यह' है, किसी अन्य देश-काल की उपाधि से 'वह' है जो इस समय मौजूद

नहीं है। इसी प्रकार अहं की उपाधि वाला जो प्रत्यगात्मा अपरोक्ष है वही ईश्वर है जो परोक्ष है। ईश्वर में सर्वज्ञता, सर्वेश्वरता सब कुछ है, परन्तु उसमें दोष यह है कि वह परोक्ष है और हमेशा परोक्ष ही रहेगा। यदि कभी वह मायिकरूप लेकर आ भी जाये तो भी वह परोक्ष ही रहेगा। जैसे तुम शरीर लेकर आ गये तो तुम्हारा शरीर दूसरों को दीख जायेगा परन्तु तुम खुद तो परोक्ष ही रहोगे। तुम्हारा मन ही दूसरों को परोक्ष रहता है! तुम आँख में ग्लिसरीन डालकर हमारे सामने आकर रो दोगे तो तुम रोते हुए ही दीखोगे लेकिन सचमुच में तुम रो नहीं रहे हो। इसी प्रकार जब परमेश्वर मायिक रूप लेकर आयेगा तो जो करेगा वही दीखेगा। इसलिये जब भी परमेश्वर मायिक रूप लेकर आता है तब उनको देखकर लोगों को भ्रम होता ही है। प्रसिद्ध कहानी सुनी ही है कि राम जी को सीता के वियोग में देखकर पार्वती को ही संदेह हो गया था! मायिक रूप को देखकर कुछ पता नहीं लगता कि सच्चा रूप क्या है। इसलिये ईश्वर हमेशा परोक्ष रहेगा। प्रत्यगात्मा हमेशा ही अपरोक्ष है। मैं का पता 'मैं' को है ही, हम अपने को जानते ही हैं। परोक्ष न होने पर भी अविद्या-काम-कर्म से दूषित होने के कारण 'मैं सर्वव्यापक हूँ' यह जानते नहीं। ईश्वर सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान्, सब कुछ है, परन्तु उसमें परोक्षता का दोष है। जब 'तत्त्वमसि' वाक्य से कहा गया कि जो अपरोक्ष है वही ब्रह्म है, तब ईश्वर का परोक्षतारूपी दोष हट गया और पता लग गया कि परोक्ष नहीं है एवं जीव का जो परिच्छिन्नता या सीमिततारूपी दोष है वह भी दूर हो गया कि मैं परिच्छिन्न नहीं हूँ। इसलिये कहा कि तत्ता और इदंता का विरोध होने से विरुद्ध भागों का त्याग कर दिया तो एक आश्रय ही रहा। दृष्टांत में, भूत-वर्तमान काल आदि विरोधी भाग छोड़ने पर भूतकालीनता-वर्तमानकालीनता जिसमें रहती हैं वह आश्रयरूप देवदत्त ही समझ आ जाता है। इसी प्रकार कारणता उपाधि और कर्तृत्वादि उपाधि का त्याग कर देने पर एक अखंड ब्रह्म ही आश्रय समझ आता है। शुद्ध माया और अशुद्ध माया दोनों का आश्रय एक ही है ।। ४७।।

जिसे समझाने के लिये 'वही यह' आदि उदाहरण दिया, उस अखण्ड तत्त्व का लक्षित होना बताते हैं–

मायाऽविद्ये विहायैवमुपाधी परजीवयोः।
अखण्डं सच्चिदानन्दं परं ब्रह्मैव लक्ष्यते।। ४८।।

इसी प्रकार परमेश्वर और जीव की माया और अविद्या उपाधियाँ छोड़कर अखण्ड सच्चिदानंद परब्रह्म ही लक्षित होता है।

अविद्या, प्रकृति आदि शब्दों के प्रयोग से यह भ्रम नहीं कर लेना चाहिए कि पदार्थ दो हैं। श्लो.१६ में बता चुके हैं कि एक के ही ये दोनों रूप हैं। हमारी उपाधि अविद्या और परमेश्वर की उपाधि माया है, दोनों उपाधियों को छोड़कर, एक आत्मा पता चलता है। चूंकि

एक अखण्ड सच्चिदानंद में माया, अविद्या दोनों कल्पित हैं, इसलिये उन्हें छोड़ने से उस एक अखण्ड परब्रह्म का ही ज्ञान हो जाता है। 'तत्त्वमसि' के द्वारा पहले तो तत् और त्वं दोनों के वाच्यार्थ उपस्थित होंगे। 'तत्' को सुनकर मायावच्छिन्न चैतन्य उपस्थित होगा और 'त्वं' को सुनकर अविद्या का कार्य और तदवच्छिन्न चेतन उपस्थित होगा। पहले दोनों को सुनकर उनके वाच्यार्थ का ज्ञान होगा। जैसे, किसी ने कहा 'देवदत्त बम्बई गया' तो देवदत्त शब्द सुनकर उस आदमी का ज्ञान होगा, 'बम्बई' शब्द सुनकर उस शहर का ज्ञान होगा, 'गया' सुनकर गति का ज्ञान होगा। तब वाक्य से ज्ञान होगा कि जो देवदत्त यहाँ था वह बम्बई पहुँच गया। हमने देवदत्त सुना और तब तक दूसरी बात कह दी तो फिर पूछते हैं 'देवदत्तका क्या कह रहे थे?' इसीलिये देवदत्त सुनते ही देवदत्त का ज्ञान हो ही गया। इसी तरह पहले तत् का अर्थ और फिर त्वं का अर्थ उपस्थित होगा। चूंकि दोनों एक ही वचन और एक ही विभक्ति में अर्थात् प्रथमा एकवचन में कहे गये हैं इसलिये उनका आपसी अभेद पता लगता है। जैसे कोई कहता है 'नीलो घटः' तो सुनकर नीले घड़े का ज्ञान हो जाता है कि घड़ा और नीला एक ही वस्तु है। अर्थात् जो नीला है वही घड़ा है, इसी प्रकार यहाँ भी दोनों का एक ही अधिकरण है यह पता लगेगा। घड़ा तो नीला हो सकता है क्योंकि नीला रंग घड़े में रह सकता है किन्तु अल्पज्ञ और अल्पशक्तिमान्, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् दोनों एक हो नहीं सकते! दोनों का अभेद हो नहीं सकता इसलिये वाक्य का सुना जाता अर्थ अभिप्रेत होना असंगत होने से लक्षणा का अवसर आता है। तत् पदार्थ और त्वं पदार्थ के उपाधि वाले भाग का त्याग करना पड़ेगा। इसी को भाग-त्याग-लक्षणा कहते हैं। विरोध उपाधिभाग में ही है, उन विरुद्ध उपाधियों को छोड़ने पर जो चैतन्य रहा उसका अभेद वाक्यार्थ संगत है। इस प्रकार से ही ब्रह्माकार वृत्ति बनेगी।। ४८।।

इस अखण्ड वाक्यार्थ को सिवाय वेदांती के और कोई सहन करने को तैयार नहीं है! सामान्य विचारकों को लगता है कि जो सत् है उसमें सत्ता तो रहती ही है, जो चित् है उसमें चैतन्य तो रहेगा ही। मोटी भाषा में समझ लो : ब्रह्म है या नहीं? यदि जवाब दो कि 'ब्रह्म है' तो जैसे 'घड़ा है' अर्थात् एक घड़ा हुआ और एक उसमें है-पना हुआ अतः दो खण्ड हो ही गये है, इसी प्रकार 'ब्रह्म है' तो ब्रह्म में है-पना रहने से दो खण्ड होंगे ही। 'ब्रह्म नहीं है' यह तो शास्त्र कहता नहीं! केनोपनिषद् में यह विचार आया है कि गुरु जी ने उपदेश दे दिया तो शिष्य से पूछा 'क्या बात समझ गये?' शिष्य ने कहा—'जी, समझ गया कि ब्रह्म चैतन्यरूप है।' तब गुरु जी ने कहा 'जो समझा गया वह उसका अत्यंत अल्परूप है! अतः समझने की और कोशिश करो।' शिष्य बुद्धिमान् था। उसने विचार करके कहा 'गुरुजी, न मैं यह मानता हूँ कि नहीं जानता और न यही मानता हूँ कि जान गया।' तब गुरु जी ने उसकी पीठ थपथपा दी और कहा 'हाँ बेटा! तू ठीक समझा।' इसी प्रकार यदि कहते हो कि 'ब्रह्म है' तो ब्रह्म में सत्ता कह रहे हो और यदि कहते हो 'ब्रह्म नहीं है' तो मतलब

निकला कि अखण्ड ब्रह्म कुछ नहीं होता है। इसी तरह चेतन में चैतन्य है या नहीं है? यदि चेतनमें चैतन्य नहीं है तो क्या वह जड है? यह तुम कभी स्वीकार नहीं कर सकते। यदि कहते हो कि चैतन्य है, तो एक चेतन, दूसरा उसमें चैतन्य है, यों खण्ड रहने से अखण्डता असिद्ध है। किंतु जो अखण्ड या निर्विकल्पक चैतन्य का ज्ञान है उसी को मोक्ष का कारण माना है। सत्ता, चैतन्य आदि जो खण्ड आत्मा में प्रतीत होते हैं उन्हीं को 'विकल्प' कहते हैं। यदि किसी भी विकल्प के साथ उसका ज्ञान है तो वह मोक्ष का कारण नहीं है। किंच, लक्षणा से जिसे समझते हो उसमें लक्ष्यता है। इसलिये लक्ष्यता-रूप धर्म उसमें है ही। लक्षणा से तुम किसको लक्षित कर रहे हो–यह तो बताना पड़ेगा। जैसे गंगा में गाँव है कहेंगे तो 'गंगा' पद की लक्षणा 'किनारे' में करनी पड़ेगी। यह तो नहीं कह सकते कि गंगा पद की लक्षणा गंगा में होती है। इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' का लक्ष्यार्थ कौन है–यह बताओ। उसे किसी पद या शब्द से नहीं बताया जा सकता। यदि अन्य शब्द से बताते हैं तो जाति, गुण, क्रिया, सम्बन्ध में से कोई न कोई उसमें रहेंगे। अगर कहें 'ब्रह्म' तो व्यापकता धर्म का प्रतिपादन होगा। यदि कहें 'आत्मा' तो सातत्य का बोध करा देंगे। इसलिये लक्ष्य क्या है इसे किसी शब्द से कैसे कहें? लक्ष्य का मतलब ही है कि लक्षणा का विषय हो और यदि वह विषय है तो वह सखण्ड ही हुआ! अतः लक्षणा से भी तुमको तत्त्वमसि से जो ज्ञान होगा वह सखण्ड ही होगा जबकि निर्विकल्प ज्ञान से मोक्ष मानते हो।

इस शंका का दो प्रकार से जवाब देंगे। यह प्रश्न दो तरह के लोगों का हो सकता है। एक शिष्य को हो सकता है कि अखण्ड का, निर्विकल्प वस्तु का ज्ञान कैसे होगा? और दूसरे, किसी वादी का हो सकता है जो इसे असमाधेय मानता है कि वेदान्त सिद्धान्त-अनुसार मोक्ष असम्भव है। शिष्य की तो जिज्ञासा है कि बात ठीक है परन्तु मैं कैसे समझूँ, वह समझना चाहता है। वादी वह होता है जो तुम्हारी कही बात में दोष दिखाना चाहता है। शिष्य श्रद्धालु होगा, इसलिये वह मानता है कि बात ठीक है परन्तु मेरी समझ में कैसे आये। वह बात को काटने के लिये नहीं बोलता है। लेकिन वादी समझने की चेष्टा नहीं करता। वह तो सिद्धान्त में गलती बताने की चेष्टा करता है। इस प्रकार चूंकि यह प्रश्न दो तरह का हो सकता है इसलिये जवाब भी दो तरह से देंगे। वादी की ओर से पहले प्रश्न उठाते हैं–

सविकल्पस्य लक्ष्यत्वे लक्ष्यस्य स्याद् अवस्तुता।
निर्विकल्पस्य लक्ष्यत्वं न दृष्टं न च सम्भवि।। ४६।।

यदि लक्ष्य विकल्पयुक्त है (खण्डों सहित है) तो अवास्तविक, मिथ्या होगा और विकल्परहित का लक्ष्य होना न देखा गया है, न सम्भव ही है।

जो किसी प्रकार से विशिष्ट हो, उसी को सविकल्प कहते हैं। जैसे 'यह पेड़ है' कहने पर पेड़-प्रकारक 'यह' का ज्ञान होगा। यह सविकल्पक या सप्रकारक ज्ञान है। और 'यह

है' निर्विकल्प ज्ञान है क्योंकि इसमें कोई प्रकार या विशेषण नहीं है। दूर से कोई चीज़ दीखती है। 'यह है' इतना ज्ञान हुआ, क्या है–यह पता नहीं लगा। पास में जाने पर पता लगा कि यह वृक्ष है। पहले तो निष्प्रकारक ज्ञान हुआ और पास गये तो सप्रकारक ज्ञान हुआ। प्रश्न यह है कि महावाक्य से जिसे लक्षणा द्वारा जानना है वह यदि सविकल्प, सप्रकारक, किसी विशेषता वाला है तब तो घड़े-कपड़े आदि की तरह अवस्तु, असत्य, मिथ्या ही हो सकता है। तब उसके ज्ञान से मोक्ष कैसे? और यदि वह निर्विकल्प, निष्प्रकारक, बिना विशेषता वाला है तो, पहली बात कि ऐसी कोई चीज़ आज तक अनुभव में नहीं आयी कि स्वीकारा जाये कि निर्विकल्प हो सकता है। और दूसरी बात, उसे लक्ष्य मानते हुए यह कहना संभव नहीं कि वह निर्विकल्प है क्योंकि किसी-न-किसी विशेषता से ही कुछ भी लक्ष्य बनता है। कोई भी वादी जगत् को मिथ्या मानने को तैयार नहीं हैं इसलिये उनको लगता है कि वेदान्ती जिसे निर्विकल्प ज्ञान कह रहा है, वह हो ही नहीं सकता। वास्तविक निर्विकल्प वस्तु में मिथ्या विकल्प हो सकता है–यह बात वे नहीं समझ सकते। वादी का प्रश्न अर्थात् आक्षेप है कि ब्रह्म वास्तव में अखण्ड या निर्विकल्प नहीं है।। ४९।।

उक्त शंका का समाधान प्रतिबन्दी से देते हैं अर्थात् यह बताते हैं कि प्रश्न ही संगत नहीं है कि इसका उत्तर सोचा जाये–

विकल्पो निर्विकल्पस्य सविकल्पस्य वा भवेत्।
आद्ये व्याहतिरन्यत्रानवस्थात्माश्रयादयः।। ५०।।

(लक्ष्य सविकल्प है या निर्विकल्प ऐसा आपका किया) विकल्प निर्विकल्प के बारे में है या सविकल्प के बारे में ? यदि निर्विकल्प के बारे में है तो 'व्याघात' दोष है और सविकल्प के बारे में है तो 'आत्माश्रय, अनवस्था' आदि दोष होंगे।

वादी ने पूछा था कि लक्ष्य कौन है–सविकल्प या निर्विकल्प? 'या' अर्थात् जो उसने यह विकल्प पूछा है, यह किसके बारे में पूछा है? अर्थात् उसका उक्त विकल्प जिसके बारे में है उसे वह क्या मानता है–क्या उसे निर्विकल्प मानता है या सविकल्प मानता है? यदि निर्विकल्प मानते हुए उसके बारे में विकल्प उठा रहा है तो व्याघात अर्थात् परस्पर विरुद्ध बात बोलना रूप दोष है। जिसे स्वयं निर्विकल्प कह रहा है उसी के बारे में विकल्प उठा कर उसे सविकल्प बता रहा है अतः अपनी ही मान्यता की काट कर रहा है। अतः निर्विकल्प के बारे में विकल्प है–यह कहना ग़लत हो जाता है। अतः यही कह सकता है कि उसका उठाया विकल्प सविकल्प के बारे में है। किन्तु इसमें समस्या है कि उक्त विकल्प उठ सके इसके लिये विषय को सविकल्प होना पड़ेगा तभी 'सविकल्प के बारे में' कहा जा सकता है। उक्त विकल्प से पूर्व जो विकल्प उस विषय में है वह भी विकल्प होने से सविकल्प में ही रहेगा तो एक अन्य विकल्प चाहिए और इस तरह अनन्त विकल्पों की कल्पना करनी

पड़ेगी जिनके होने में प्रमाण कोई है नहीं। यही अनवस्था दोष है। यदि वादी कहे कि उसके उठाये विकल्प से ही विषय सविकल्प है अतः विकल्पान्तर नहीं चाहिए, तो आत्माश्रय दोष है क्योंकि विकल्प जब सविकल्प में रहेगा तो अपने आश्रय में उसे स्वयं की ही जरूरत पड़ रही है! उदाहरणार्थ, आदमी का विवाह पत्नी से होता है या ग़ैर-पत्नी से? 'पत्नी से' कहें तो विवाह से पूर्व वह किसकी पत्नी है? उसी आदमी की है तो विवाह व्यर्थ है और दूसरे की है तो विवाह अवैध है! श्लोकस्थ 'आदि' से अन्योन्याश्रय और चक्रिका दोप समझने चाहिए। यदि पूछा गया विकल्प, अपने से अन्य विकल्प से युक्त के बारे में है और वह अन्य विकल्प इस पूछे गये विकल्प से युक्त में रहता है तो दोनों विकल्प एक-दूसरे का सहारा चाहने वाले होंगे जिसे अन्योन्याश्रय दोष कहते हैं। यदि इन्हें तीसरे विकल्प का सहारा दें लेकिन वह पुनः पूछे गये विकल्प के सहारे रहे तो चक्रिका दोष होगा। तात्पर्य यही है, कि लक्ष्य को सविकल्प-निर्विकल्प के बन्धन में बाँधने का प्रयास स्वयं ही तार्किक रीति से v l ar gSv r% oknh ;g i'zu ughamBk ldrk|| ५०||

एक विकल्प के बारे में ही नहीं, भेदवादियों को स्वीकृत सभी पदार्थों के बारे में यही दोष लागू होता है–

इदं गुणक्रियाजातिद्रव्यसम्बन्धवस्तुषु।
समं तेन स्वरूपस्य सर्वमेतदितीष्यताम्।।५१।।

गुण, क्रिया, जाति, द्रव्य, सम्बन्ध–सभी वस्तुओं के बारे में ये दोष समान हैं। अतः यही स्वीकार्य है कि ये सब स्वरूप में होते हैं।

जो बात विकल्प के बारे में कही, वह सब चीज़ों के बारे में समझ लेना। तुम पूछो कि क्या ब्रह्म सगुण है? तो सगुण ब्रह्म के बारे में पूछ रहे हो या निर्गुण के बारे में? यदि सगुण को गुणवान् होना मानो तो आत्माश्रयादि और निर्गुण को मानो तो व्याघात होगा। इसी प्रकार ब्रह्म को 'सक्रिय है या निष्क्रिय'–यह पूछना नहीं बनता। इसी प्रकार जाति-व्यक्ति में है : घटत्व जाति बिना जाति वाले घट में रहेगी या जाति वाले घट में रहेगी? यदि बिना जाति वाले घट में रहे तो व्याघात होगा। यदि जाति वाले घट में रहेगी तो आत्माश्रयादि होंगे। ब्रह्म ही नहीं, किसी के भी बारे में ये प्रश्न करना अनुचित होगा। इसलिये तार्किकों को यह मानना पड़ता है कि घट बनते ही एक क्षण के लिये गुण आदि से रहित रहता है! अर्थात् एक क्षण के लिये तो निर्विकल्प वस्तु मान ही लेते हैं। इसी प्रकार द्रव्य है। घड़ा द्रव्यवाले में रहता है या बिना द्रव्य वाले में? इसी प्रकार से सम्बन्ध ससम्बन्ध (अर्थात् सम्बद्ध) में रहता है या असम्बन्ध (अर्थात् असम्बद्ध) में? वैशेषिक लोग एक 'विशेष' नामक पदार्थ मानते हैं। हर चीज़ में एक विशेष होता है जो उसे दूसरी चीज़ों से अलग करता है। विशेष भी निर्विशेष में रहता है या सविशेष में रहता है? इत्यादि वही दोष सर्वत्र लागू होते

हैं। तात्पर्य है कि लक्ष्यभूत तत्त्व को तुम न सविकल्प कह सकते हो और न निर्विकल्प कह सकते हो। इसलिये जाति गुण आदि जितने विकल्प हैं वे, चीज का जो स्वरूप है उसी में मानने पड़ेंगे। वस्तुतः ब्रह्म का स्वरूप पहले ही कह दिया कि तीनों प्रकार के परिच्छेद से रहित है। जैसे सब विकल्प वस्तुस्वरूप में मानने पड़ेंगे वैसे ही ब्रह्मस्वरूप को लक्ष्य कहा जाता है। इस प्रकार श्लोक ४६ में वादी द्वारा उठाये प्रश्न का उत्तर दे दिया कि वह अपने प्रश्न की सार्थकता जिस 'स्वरूप' से सिद्ध कर सकता है उसी स्वरूप से सिद्धान्ती निर्विकल्प को लक्ष्य कह रहा है।। ५१।।

परमात्म-वस्तु के अन्दर भाव और अभाव दोनों ही कल्पित होते हैं जैसे रस्सी में सर्प और सर्प का अभाव दोनों कल्पित हैं। रस्सी में जो साँप दीख रहा है वह भी नहीं है और सर्प का अभाव भी वहाँ नहीं है। अभाव-बोध का नियम है कि जो प्राप्त हो, उसीका निषेध अर्थात् अभावज्ञान होगा। व्यावहारिक सर्प की रस्सी में अभेदेन प्राप्ति ही नहीं है इसलिये उसका निषेध अर्थात् अभाव भी वहाँ नहीं है। जैसे सर्प प्रातीतिक वैसे ही सर्प का अभाव प्रातीतिक है। जब कहते हैं 'यह सर्प नहीं है' तब उसका मतलब है कि प्रातीतिक सर्प नहीं है क्योंकि वास्तविक (व्यावहारिक) सर्प की तो वहाँ अभेदेन प्राप्ति ही नहीं है। इसी प्रकार परमात्मा में कल्पित होने से सारे जगत् का भाव भी नहीं है और ऐसे कल्पित का जो अभाव कहा जाता है वह भी नहीं है। अतः परमात्मा को लक्ष्य एवं अखण्ड, निर्विकल्प, निर्धर्मक कहना संगत है यह निर्णय करते हैं—

विकल्पतदभावाभ्याम् असंस्पृष्टात्मवस्तुनि।
विकल्पितत्वलक्ष्यत्वसम्बन्धाद्यास्तु कल्पिताः।। ५२।।

विकल्प और उसके अभाव, दोनों से अछूती आत्मरूप वस्तु में विकल्पितता, लक्ष्यता, सम्बन्ध आदि कल्पित ही हैं।

विकल्प और उसका अभाव, दोनों का ही जिस आत्मवस्तु में कोई स्पर्श ही नहीं है उसी के अन्दर व्यावहारिक दृष्टि से विकल्पितत्व अर्थात् उसके बारे में विकल्प उठते हैं। व्यावहारिक दृष्टि से कहा जाता है कि अद्वितीय ब्रह्म ने ईक्षण करके जगद्रूप धारण किया। यों सारा विकल्प प्राप्त हुआ अतः 'नेति नेति' से सबका निषेध भी हो गया। निषेध से निश्चित है कि विकल्प था ही नहीं और इसीलिये निषेधक के भी कोई मायने नहीं, लेकिन यों विकल्प-पूर्वक निषेध से अद्वितीय ब्रह्म समझ आ जाता है। इसी तरह ब्रह्म लक्ष्यतारूप किसी धर्म वाला न होने पर भी (लक्ष्यतावच्छेदक वाला न होने पर भी) लक्षणा से समझ आ जाता है अतः लक्ष्यता भी उसमें व्यवहारयोग्य हो जाती है। लक्षणा के लिये जो उपादानत्व, निमित्तत्व इत्यादि सम्बन्ध जरूरी हैं, वे भी आत्मा में न होते हुए भी व्यवहार्य हैं। अन्य भी जितनी चीज़ें हैं वे सब उसी पर कल्पित हैं। वस्तुतः ब्रह्म में अज्ञान नहीं है, परन्तु कल्पित

अज्ञान को लेकर कल्पित निषेध भी कर दिया जाता है। जिस प्रकार रस्सी के अन्दर सर्प का कोई सम्बन्ध नहीं है, परन्तु तुमको वहाँ पर सर्प की प्रतीति हुई, इसीलिये उस सर्प का निषेध भी कर दिया जाता है। वस्तुतः रस्सी में न तो सर्प है और न सर्प का अभाव है। जिस सत्ता का कल्पित अज्ञान है उसी सत्ता की यह लक्ष्यता है अर्थात् कल्पित है।

तुम कहते हो 'मैं दुःखी हूँ।' दुःख का तुम्हारे साथ तीनों काल में सम्बन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि सुख-दुःख तो मन में होंगे। यदि तुम में सुख-दुःख होते तो जब तुम सो जाते हो तब भी होने चाहिए पर होते नहीं, इसलिये तुम में वे नहीं हैं। जब मन है तब सुख-दुःख होते हैं। तुम्हें दर्द होता है तो डाक्टर के पास जाते हो। वह तुम्हें अफीम या नशे की दवा देता है, फलतः तुम्हें दर्द नहीं होता। इसलिये जब तक मन है तब तक दुःख है, मन नहीं तो दुःख भी नहीं। दुःख का कारण अज्ञान और अज्ञान की निवृत्ति के लिये ज्ञान का उपदेश होता है। पारमार्थिक दृष्टि से तो अज्ञान और ज्ञान दोनों ही नहीं हैं। व्यावहारिक दुःख आदि हैं इसलिये व्यावहारिक अज्ञान से हैं, पारमार्थिक नहीं हैं। इसलिये परमेश्वर में जैसे वाच्यता नहीं है वैसे ही लक्ष्यता भी नहीं है। वेद यह कहता है कि ब्रह्म शब्द का विषय नहीं है। फिर यह सारा उपदेश क्यों दिया जाता है? वाणी से जो उपदेश दिया जाता है वह तो व्यावहारिक है किंतु 'जिसका' उपदेश दिया जाता है वह विषय नहीं है। विषय के बारे में उपदेश है या अविषय के बारे में? इसका उत्तर है कि स्वरूप के बारे में उपदेश है और प्रयोजन है अनुभूयमान अज्ञान की निवृत्ति। जैसे पार्थिव फिटकरी जल से मिट्टी और खुद को भी पृथक् कर देती है वैसे वेद का उपदेश ब्रह्म से सारे संसार का आरोप और उपदेशविषयता दोनों को हटा देता है। हम लक्ष्यत्व धर्म को भी कल्पित मानते हैं। उससे स्वरूपवोध होता है, केवल इसलिये उससे हमारा तात्पर्य है। इसीलिये यदि ऐसी कल्पित वाच्यता से भी अखण्डार्थबोध संभव हो तो वेदान्ती को कोई विरोध नहीं यह परिभाषा आदि के अनुसन्धान से स्पष्ट है।। ५२।।

श्लोक ४३ से प्रारम्भ चर्चा का निष्कर्ष बताते हुए मनन का अर्थ कहते हैं–

इत्थं वाक्यैस्तदर्थानुसन्धानं श्रवणं भवेत्।
युक्त्या संभावितत्वानुसन्धानं मननं तु तत्।। ५३।।

इस तरह वाक्यों से वाक्यार्थ का अनुसन्धान श्रवण है। उस अर्थ को युक्ति से सम्भव समझना तो मनन है।

श्रुति ने आत्मदर्शन के लिये श्रवण, मनन, निदिध्यासन का विधान किया है 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः'। आत्मा का दर्शन या साक्षात्कार श्रवण, मनन, निदिध्यासन से होगा। आत्मदर्शन से ही कल्याण सम्भव है इसलिये परमार्थ का साधन यही है। इसी बात को स्मृतियों ने भी कहा है 'श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः।

मत्त्वा च सततं ध्यायेद् एते दर्शनहेतवः।।' श्रुतिवाक्यों से श्रवण करे और उपपत्ति अर्थात् श्रुति के अर्थ को सिद्ध करने की जो युक्तियाँ उनसे मनन करे। जब श्रवण-मनन से अर्थ निर्विचिकित्स हो जाये अर्थात् उसमें कोई संदेह या जिज्ञासा न रह जाये, तब उसका ध्यान करे। इसीलिये इस ध्यान को निदिध्यासन कहा है। प्रक्रिया तो ध्यान वाली है लेकिन थोड़ा भेद है : किसी चीज़ को जानने के लिये या साक्षात् करने के लिये करते हो तो ध्यान कहते हैं जैसे शालिग्राम में विष्णु का ध्यान करते हो कि ध्यान करते-करते विष्णु-दर्शन हो जायेगा। सचमुच में तो विष्णु का पता तभी लगेगा जब उनका दर्शन हो जायेगा। किसी भी मनन से यह पता नहीं लग सकता कि भगवान् विष्णु के चार हाथ किस तरह हैं, दोनों तरफ दो-दो हाथ हैं या वे हाथ आगे-पीछे हैं, या ऊपर-नीचे हैं इत्यादि, यह तो, जब तक उनका दर्शन न हो, लाख श्रवण करो, निश्चित नहीं हो सकता। ध्यान के फलस्वरूप जहाँ दर्शन होगा, तब निःसंशय ज्ञान होगा। परन्तु निदिध्यासन में इसके विपरीत है; पहले तुमको सन्देह-रहित हो जाना पड़ेगा कि कैसे जीव-ब्रह्म की एकता है फिर उस निर्विचिकित्स भाव के अन्दर तुम्हारा अंतःकरण सर्वथा स्थिर हो जाये, इसलिये निदिध्यासन करते हो। अर्थात् निश्चय होने के बाद सतत ध्यान करते हैं। बाकी ध्यान दो-चार या आठ-दस घण्टे करोगे, परन्तु यह निरन्तर ध्यान करना है। नित्य भी करना है, और निरन्तर भी करना है। यदि तुम नित्य नहीं करोगे तो विस्मृति सम्भव है। अन्तःकरण के जो पुराने संस्कार हैं वे कब वापिस घेर लें इसका कोई ठिकाना नहीं है। यदि निरन्तर नहीं करोगे तो जगत्-मिथ्यात्व का निश्चय नहीं हो पायेगा। इसलिये अपने स्वरूप का ध्यान नित्य भी होना चाहिए और निरन्तर भी होना चाहिए।

प्रश्न होता है कि यदि निरन्तर ध्यान करेंगे तो दाल-रोटी कैसे खायेंगे? भगवान् ने इसलिये कह दिया 'तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।' भगवान् ने सब कालों में स्मरण करने को कहा', यह नहीं कहा कि सवेरे-शाम ध्यान करना; भगवान् ने कहा कि एक क्षण भी ऐसा न हो जब तुम ध्यान से रहित हो बल्कि कहा कि मेरा ही अनुस्मरण करो। प्रायः इसका अर्थ करते हैं कि भगवान् को 'याद' करो। परन्तु 'अनुस्मरण' का अर्थ होता है अनुभव के पश्चात् स्मरण। किसी भी चीज़ का स्मरण तभी होता है जब पहले उसका अनुभव हुआ हो, अनुभव के पश्चात् ही स्मरण होता है, फिर 'अनु' क्यों जोड़ा? कोई भी सगुण रूप ऐसा नहीं जिसका अनुभव के बाद स्मरण करना पड़े क्योंकि यदि भगवान् के सगुण रूप का दर्शन हो गया तो भक्त कृतकृत्य हो गया। इसलिये अहं-प्रत्यय के अन्दर ब्रह्म का जो अनुभव श्रवण-मनन से हो जाता है, उसके अनन्तर स्मरण का विधान समझना चाहिए। अनुस्मरण के साथ ही यह भी कहा 'सर्वेषु कालेषु युध्य च' अर्थात् सब समय युद्ध भी करो! तुम संसार में कोई काम करो, एक चीज़ को कभी नहीं भूलते और वह 'मैं' है। यह संदेह कभी नहीं होता कि 'आज मैं बहुत काम में लगा रहा, देखूँ तो सही कि मैं चेतन

हूँ या मर गया'। सब समय अपने को जानते हो। कैसे जानते हो? मैं ब्राह्मण हूँ, क्षत्रिय हूँ, इस रूप से जानते हो। श्रवण-मनन से निश्चय होगा कि यह सब मैं नहीं हूँ। तब शरीर अपना काम करता है, इन्द्रियाँ अपना काम करती हैं। सब अपने-अपने विषयों की तरफ जाते हैं, पर तुम याद रखते हो कि तुम कौन हो। भगवान् ने कह दिया 'गुणा गुणेषु वर्तन्ते' जिस गुण से जो इन्द्रिय पैदा हुई वह इन्द्रिय उसी में वर्तन करती है। तुम यह सब करने वाले नहीं हो। तुम्हारा रूप तो 'तत्त्वमसि' महावाक्य से उद्घाटित हो गया है। तुम अधिष्ठान हो, इसलिये ये सब तुम में कल्पित रूप से प्रतीत हो रहे हैं। जिस प्रकार से रस्सी अधिष्ठान है तब उसमें सर्प, जलधारा, दण्ड आदि सब दीखते हैं और जैसे ही रोशनी आती है वे सब नहीं रहते, इसी प्रकार स्वरूप में स्थित रहते हुए ये सब अज्ञान से प्रतीत होते हैं।

अज्ञान तो खत्म हो गया लेकिन प्रारब्ध भुगवाने वाला थोड़ा बाकी रह गया है। इसलिये प्रारब्ध-भोग काल में अज्ञान के लेश की प्रतीति है, साथ में शरीर, मन आदि की प्रतीति है; लेकिन प्रतीति-काल में भी मैं अधिष्ठान हूँ—यह बोध बना ही रहता है। अथवा दूसरे दृष्टांत से समझ लो : जैसे एक चित्र का कपड़ा या काग़ज हो, तुमने उसे देखा हुआ है। उसके ऊपर कोई चित्रकार राम, लक्ष्मण और सीता का बढ़िया चित्र बनाता है। उसे देखकर बड़ी प्रसन्नता होती है। भगवान् को माला पहना देते हैं, उसपर चन्दन भी लगा देते हैं। ये सब करते हुए भी तुम जानते हो कि है तो वहाँ व्यावहारिक काग़ज या चित्रपट ही, और वहाँ कुछ नहीं है। जैसे काग़ज या कपड़े को जानते हुए दीखता है कि रामजी प्रतीत हो रहे हैं, तदनुरूप व्यवहार भी कर लेते हैं, फिर भी जानते हैं कि यह रामजी नहीं हैं; इसलिये यदि वह चित्र अकस्मात् दीवार से गिर जाता है या कपड़ा फट जाता है तो क्या बैठकर रोते हो कि 'हाय रामजी मर गये'! ठीक इसी प्रकार अपने अधिष्ठान रूप को जानते हुए भी प्रारब्धभोग के लिये संस्कार के जाग्रत् होने पर भी जानते ही हो कि यह सब व्यर्थ प्रतीत हो रहा है। प्रतीति अज्ञान से है। कोई उसे अविद्या-लेश कहता है। कोई अविद्या-गन्ध कहता है। किसी भी नाम से कहो, जानते हो कि हूँ तो मैं एक अखण्ड सच्चिदानन्द रूप ही। जैसे ही वह लेशाविद्या समाप्त हो जाती है वैसे ही वह प्रतीति भी समाप्त हो जाती है। इसी को निदिध्यासन कहा।

उसी को स्मृतिकारों ने कहा 'मत्त्वा च सततं ध्यायेत्' ये श्रवण, मनन, निदिध्यासन ही अधिकारी के अनुसार मिलकर भी और अलग-अलग भी साक्षात्कार के साधन हैं। श्रुति-वाक्यों को तुम गुरुमुख से सुनो अथवा अन्य प्रकार से सुनो, करना बार-बार श्रवण ही है। जिस प्रकार तुम छोटी कक्षा में गलत वर्णन्यास लिखते हो तो अध्यापक तुम्हारा हाथ पकड़कर ठीक प्रकार से वह वर्ण-न्यास लिखवा देते हैं, फिर कहते हैं खुद लिखो। जैसी वर्णमाला होती है वैसे ही बिन्दु लगा देते हैं, बिन्दुओं पर कलम चलाओ तो अक्षर बन जाता

है। बिंदुओं से लिखा होता है फिर खाली जगह होती है उस पर अपने-आप लिखना पड़ता है। इसी प्रकार गुरुजी दो-चार बार सुना देंगे, लेकिन उसके बाद खुद ही श्रवण करना पड़ेगा। चाहे तुम किताब देखकर करो; याद हो गया तो उन मंत्रों को बार-बार बोलकर करो। इसी प्रकार चाहे गुरुमुख से सुनो अथवा चाहे किसी प्रकार से उन श्रुति-वाक्यों को दोहराकर विचार करो। 'वाक्य' न कहकर 'तदर्थानुसंधान' करना कहा है। वाक्यों के द्वारा ही श्रवण अर्थात् उनके अर्थ का अनुसंधान करना है। सारे प्रकरण का असली अर्थ या प्रयोजन क्या है इसका बार-बार अनुसंधान करना है। अभिन्न निमित्तोपादान कारण से पंचमहाभूत कैसे (उत्पन्न) हुए; उन पंच महाभूतों के सत्त्वांश से क्या हुआ, राजस अंश से क्या हुआ और तामसांश से कैसे पंचीकरण हुआ; कैसे विषय पैदा हुए; इत्यादि इन चीज़ों का बार-बार अनुसंधान करना है ताकि कार्यभूत जगत् का कोई हिस्सा परमात्मा से पृथक् है यह सम्भावना न रह जाये। अभ्यास हो जाने पर बिना क्रम सोचे हुए ही तुम हर विषय के अधिष्ठानरूप से सच्चिदानन्द को ग्रहण कर सकते हो। उससे अतिरिक्त कुछ नहीं है यह बोध बना रहता है। ज़ब विचार पक्का हो जाता है तब क्रम की जरूरत नहीं पड़ती। अर्थानुसंधान करना है, केवल शब्दों का अनुसंधान नहीं करना है। यदि केवल शब्दों का अनुसंधान करोगे तो केवल स्वाध्याय-विधि का पालन होगा, श्रवणविधिका नहीं। आत्मा किसी एक अक्षर या एक शब्द से तो कहा नहीं जायेगा। 'सदेव सोम्येदमग्रआसीत्' से लेकर 'तत्त्वमसि' तक जब समझेंगे तब प्रसंग पूरा होगा। उपनिषद् का पाठ करते रहोगे तो प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा, बार-बार उसके अर्थ का अनुसंधान करना पड़ेगा।

शंका होती है कि यदि अर्थ का अनुसंधान करना है तो वाक्य पर ही ज़ोर क्यों दिया गया है, किसी भी वाक्य से कर लेते? श्रवण-विधि इसीलिये की गई कि परमात्मा का साक्षात्कार दृष्टफल तो देता ही है, परन्तु यदि हमारा कोई पाप प्रतिबन्धक है तो जब हम उन्हीं वाक्यों से अनुसंधान करेंगे तो प्रतिबन्धक दूर होते चले जायेंगे। अगर किसी के प्रतिबन्धक नहीं हैं तो वाक्य से ज्ञान हो ही जायेगा। प्रतिबंधकों की निवृत्ति वेदवाक्य के उच्चारणादि से हो जाती है। वेदवचनों से श्रवण करते रहोगे तो प्रतिबन्धक भी हटता जायेगा और अर्थानुसंधान से दृढता भी होगी। श्रुति ने यह नहीं कहा है कि वेद का श्रवण करो; श्रुति ने तो इतना हि कहा है कि *आत्मा* का श्रवण करना है। आत्मा कोई शब्द तो है नहीं जिसका श्रवण किया जा सके! श्रवण तो केवल क, ख, ग आदि का किया जा सकता है। षड्ज आदि का तो श्रावण प्रत्यक्ष हो सकता है, आत्मा ऐसा है नहीं कि उसका श्रवण हो जाये। इसलिये तात्पर्य यही है कि श्रुति से उत्पन्न होने वाला जो शाब्दबोध है, उसी को सम्पन्न करो। बार-बार श्रुति के द्वारा यह शाब्दबोध करने से प्रतिबन्धकों की निवृत्ति हो जायेगी एवं आत्मज्ञान हो जायेगा। उसका नाम श्रवण है।

अर्थानुसंधान वेदवाक्यों का करना है और वह भी अपनी बुद्धि से नहीं करना है, गुरु के द्वारा प्रदर्शित मार्ग के द्वारा ही करना है। गुरु का श्रोत्रिय अर्थात् वेदज्ञ एवं ब्रह्मनिष्ठ

होना जरूरी है क्योंकि तभी वह सम्यक् प्रकार से ब्रह्म में तात्पर्य प्रतिपादित कर सकेगा। जो इस ब्रह्मनिष्ठ-परम्परा वाले नहीं हैं, असम्प्रदायवित् हैं, उनसे श्रवण नहीं करना है, क्योंकि वेदों के चरम तात्पर्य का निर्णय करने के लिये अपनी बुद्धि काफी नहीं पड़ती है। सारे शास्त्रों को अपनी मनीषा से पढ़ ले परन्तु यदि उसने ब्रह्मनिष्ठों की परम्परा से अर्थ प्राप्त नहीं किया है तो उसकी बात को मूर्ख की बात की तरह से उपेक्षा की दृष्टि से देखना चाहिए। उसने केवल तर्क से विचार करके तात्पर्य-निर्णय किया है और तर्क की कोई प्रतिष्ठा नहीं है। सत्य का निर्णय तर्क या बुद्धि से अथवा युक्ति से नहीं हो सकता। सत्य का निर्णय तो अनुभव ही कर सकता है। इसलिये यदि ब्रह्मनिष्ठों की परम्परा से श्रवण नहीं किया है तो तत्त्वज्ञान नहीं हो सकता। केवल सम्प्रदाय से तदर्थ-श्रवण कर लेना भी पर्याप्त नहीं है। हमने श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ से वेदान्त के तात्पर्य को सुन लिया तो इस बोध का उदय हो जायेगा कि क्या कहा गया है। तदनन्तर गुरु ने जिन वाक्यों का जो तात्पर्य बताया है, बार-बार उनका वैसा अनुसंधान करना है। इसीलिये भगवान् वेदव्यास ने नियम किया 'आवृत्तिरसकृद् उपदेशात्'। पिता ने पुत्र को 'तत्त्वमसि' का उपदेश एक बार नहीं, नौ बार दिया अर्थात् आवृत्ति की। उद्दालक महर्षि जैसे पढ़ाने वाले और श्वेतकेतु जैसा पढ़ने वाला, फिर भी नौ बार उपदेश किया। अतः तब तक आवृत्ति करनी है जब तक उसका साक्षात् अनुभव न हो जाये।

याज्ञवल्क्य महर्षि ने उसे साक्षात् अपरोक्ष कहा है। सामान्य रूप से तो अपरोक्ष कहो या साक्षात् कहो, एक ही अर्थ है। अपरोक्ष पदार्थ का प्रमा ज्ञान तो हमेशा अपरोक्ष ही होगा और चूंकि प्रत्यगात्मा हमेशा ही अपरोक्ष है इसलिये प्रत्यगात्मा के बारे में सर्वथा सही ज्ञान अपरोक्ष ही होगा। फिर भी, अपरोक्ष ही नहीं, साक्षात् अपरोक्ष होना चाहिए। हमने तुमसे कहा 'यह आदमी राजेश है,' ऐसा उसका परिचय करा दिया। किंतु फिर दीर्घ काल तक मुलाकात न हो तो मिलने पर भी पहचान नहीं पाते। इससे विपरीत, यदि परिचय के बाद लम्बे समय मिलते रहो तो पीठ-पीछे से देखकर भी पहचान लेते हो, दीर्घ अन्तराल के बाद भी पहचान लेते हो।

इसी प्रकार जब पहली बार ज्ञान कराया तो वह अपरोक्ष ज्ञान ही हुआ परन्तु पुराने संस्कारों के कारण मन आदि सबके अन्दर फिर अहं-बुद्धि हो जाती है कि यह मैं हूँ। फिर जब विचार करते हैं, ध्यान करने बैठते हैं तब पता लगता है कि ये तो मैं नहीं हूँ, मैं तो इन्हें जानने वाला हूँ। ये सब ज्ञान का विषय हैं इसलिये मुझ से अलग हैं। ध्यान करके उठे, किसी ने ज़ोर से घूंसा मारा, तो लगता है कि मुझे मारा! फिर विचार करो तो ज्ञान होगा कि 'मुझे तो मार नहीं सकता। मैं क्रिया का अविषय हूँ' किंतु यह नहीं पहचाना कि जिसने घूंसा मारा वह भी मैं ही हूँ! वह कोई दूसरा ही है यह झट अध्यास उपस्थित हो जाता है। परन्तु जब साधक सतत इस अद्वैत बुद्धि में रहता है तब, यथा कथंचित् प्रारब्ध के कारण घूंसा लगा तो भी जानता है कि मुझे नहीं लगा। इसीलिये असकृत् आवृत्ति आवश्यक है।

अनुसंधान कैसा है? 'इत्थं' इस प्रकार से अर्थात् जिस प्रकार से हमने पहले बताया पाँचों महाभूतों का विवेक, पंचमहाभूतों से सूक्ष्म शरीर की उत्पत्ति, स्थूल विषयों का उत्पन्न होना, तत् पदार्थ, तीन प्रकार की शक्तियाँ इत्यादि जो प्रकार बताया उस प्रकार से अनुसंधान करना है। वाक्य का तो सहारा लेना ही है लेकिन उक्त प्रकार से लेना है। जिस प्रकार से आचार्य ने बताया है उस व्यवस्थित क्रम से तो उपनिषदों में मिलेगा नहीं इसलिये जिस प्रकार से बताया है उस प्रकार से अनुसंधान करना है। जब इस प्रकार से दीर्घकाल तक अनुसंधान होता है तब श्रवण सम्पन्न होता है। 'सम्भावितस्य युक्त्या अनुसंधानं' जिस समय श्रवण नहीं कर रहे हैं उस समय उसी अर्थ का युक्ति के द्वारा 'यही सम्भव है' यह विचार अर्थात् मनन करना है। जो वेद ने कहा है वही सम्भावित है अर्थात् युक्ति से भी यही अर्थ सिद्ध होता है—ऐसा अनुसंधान करना मनन है। युक्ति से क्या सिद्ध हो सकता है—यह विचार नहीं करना है बल्कि 'युक्ति से यही सिद्ध हो सकता है' यह विचार करना है। युक्ति तो दोनों तरफ चल जाती है। दोनों तरह की युक्तियों के संस्कारों का प्रवाह रहेगा तो निश्चित अर्थबोध नहीं हो पायेगा। इसीलिये श्रौत अर्थ का ही युक्ति से अनुसंधान करना मनन है। श्रुति जो कहती है वह अर्थ नहीं बनता है—इस बात को हटाने की युक्ति को सोचना है क्योंकि यही अर्थ बनता है यह निश्चय करना है। इसलिये भाष्यकार ने कहा 'श्रुतिमतस्तर्कोऽनुसन्धीयताम्, दुस्तर्कात् सुविरम्यताम्' जो श्रुतिमत से विरुद्ध ले जाने वाला तर्क उससे विरत हो जाना है, उसमें रमण नहीं करना है और श्रुति जिस बात को कहती है उसका तर्क से अनुसंधान करना है।

ब्रह्म के विषय में श्रुति ही प्रमाण है। श्रुति ब्रह्म को जैसा बताती है वैसा ही ब्रह्म है। जितनी युक्तियाँ हमारे पास हैं वे सारी देह से लेकर अहंकार पर्यन्त तादात्म्य अध्यास को लेकर हैं। अतः युक्ति व तदनुसार कथनादि अध्यासपूर्वक ही होगा। इसलिये श्रुति को अपौरुषेय या ईश्वर के द्वारा प्रकट हुई कहते हैं। श्रुति किसी जीव के द्वारा प्रकट नहीं हुई; इस विषय में सभी वैदिकों का एक ही निश्चय है कि किसी जीव ने श्रुति नहीं बनाई। यदि पुरुष बनाये तो अध्यास के बाद ही बनायेगा। परमेश्वर को कभी अध्यास हुआ नहीं इसलिये या उसका कथन होने से वेद प्रमाण है या स्वयंभू होने से वेद स्वतः प्रमाण है। जिस *अर्थ* का प्रतिपादन श्रुति करती है वह अध्यास के अन्तर्गत नहीं है। ब्रह्मनिष्ठ का अनुभव तो नैसर्गिक अध्यासों के द्वारा ही होगा, 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्,' मन से ही होगा, परन्तु *जो* प्रकट होता है वह अध्यास नहीं है, वह अधिष्ठान है, सत्य है इसलिये वेदार्थ-अनुसंधान करना है और उसके विरुद्ध जो-जो दुस्तर्क आते हैं उन्हें हटाते चले जाना है। वह 'युक्त्या सम्भावित' इसलिये कहना पड़ता है कि तुम युक्ति से विचार करते हो तो तुम्हें दो पक्ष देखने ही पड़ेंगे। विपरीत कोटि की उपस्थितिकाल में ही विचार होगा। परन्तु उन दोनों कोटियों में से एक कोटि तुमको युक्ततर लगेगी, दूसरी तुम्हें युक्ततर नहीं लगेगी। श्रवण और मनन में यह

फ़र्क रहेगा; श्रवण-काल में दूसरे पक्ष को उपस्थापित करने की आवश्यकता नहीं है जब कि मनन में है।। ५३।।

शास्त्र से पता लगने पर भी, युक्ति से समर्थित होने पर भी, क्योंकि हमारा स्वानुभव द्वैत एवं कर्तृत्वादिका है इसलिये वेदार्थ अंगीकार नहीं होता, जैसा श्रुति ने कहा 'शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः' सुनते हुए भी समझ या साक्षात्कार नहीं कर पाते। इसलिये वेद ने तीसरे साधन निदिध्यासनका विधान किया, उसका वर्णन करते हैं–

ताभ्यां निर्विचिकित्सेऽर्थे चेतसः स्थापितस्य यत्।
एकतानत्वमेतद्धि निदिध्यासनमुच्यते।। ५४।।

श्रवण-मनने से जिसके बारे में संदेह हट चुके हैं उस आत्मरूप अर्थ में स्थिर किये चित्त की वृत्तियों का एकाकार प्रवाह बना रहना निदिध्यासन कहा जाता है।

श्रवण और मनन के द्वारा निर्विचिकित्स अर्थ का ज्ञान होता है अर्थात् उस अर्थ में अव संदेह नहीं रहता है। मनन करने से तो 'ऐसा नहीं हो सकता' यह समाप्त हुआ और 'ऐसा नहीं है' यह श्रवण से गया। श्रवण-मनन से अर्थ का तो निश्चय हो जाता है परन्तु अध्यास के संस्कार अंतःकरण में इतने प्रबल हैं कि गलत जानने पर भी पुराने संस्कारों से पुनः वैसी प्रवृत्ति हो जाती है। मन तो जैसे संस्कारों वाला है वैसा ही चलेगा।

एक राजा भगवान् शंकर का भक्त था। उसका नियम था कि प्रातः काल जो महात्मा आता था उसके चरण धोकर भोजन कराता था। एक दिन उसके नौकर ने महल में चोरी की और पकड़ा गया। उसे दण्डित किया गया, तीन महीने की जेल हो गई। तीन महीने बाद छूट गया। एक दिन प्रातः काल वह भी भस्म लगाकर और रुद्राक्ष धारण करके भिक्षा के लिये राजा के यहाँ महात्माओं की लाईन में खड़ा हो गया। रानी सोने की झारी से पानी डालती थी और राजा चरण धोता था। उस दिन रानी ने राजा के कान में कहा कि 'यह वही चोर नौकर है जो पकड़ा गया था।' राजा ने झट रानी के हाथ से पानी की झारी ली और खुद ही उसके चरण धोये, पूजा करके उसे भोजन करने के लिये भेज दिया। रानी ने राजा से पूछा 'क्या आपने मेरी वात नहीं सुनी?' राजा ने कहा–'मैंने सुन लिया था।' रानी ने कहा–'फिर भी आपने उसे कुछ नहीं कहा!' राजा ने कहा–'अब वह नौकरी लेने तो आया नहीं था। भस्म रुद्राक्ष धारण करके वह तो साधु बन कर आया था। क्या पता अब तक उसके जीवन में कितने परिवर्तन हो गये होंगे, हमें संदेह क्यों करना चाहिए? इसीलिये मैंने तुम्हारे हाथों से झारी ली कि तुम्हारे मन में अभी भी उसके प्रति चोर की भावना थी, तुम पानी डालती तो उस विचार से पानी अपवित्र हो जाता। मेरी दृष्टि में आज वह शिवभक्त ही था।' राजा के प्रबल संस्कार थे कि जो भस्म रुद्राक्ष धारण करके आ गया वह शिवभक्त ही है, आगे और कुछ क्यों सोचना! कुछ-कुछ ऐसा ही गीता में भगवान् ने भी कहा है 'अपि चेत्सुदुराचारो भजते माम् अनन्यभाक् साधुरेव स मन्तव्यः सम्यक् व्यवसितो हि सः।।' केवल

दुराचारी ही नहीं, अत्यन्त दुराचारी भी हो परन्तु अब उसने निश्चय कर लिया कि 'मुझे अनन्यरूप से भगवान् का भजन ही करना है' तो उसे शुद्ध ही समझना चाहिए, उसने अव ठीक निश्चय कर लिया है। ऐसे ही उस राजा में मन के संस्कारों का प्रवाह दृढ हो गया था, रानी में वह नहीं था।

इसी प्रकार से जिसका अपने अकर्त्ता-अभोक्तापन का बोध दृढ हो गया, वह शरीर से लेकर अहंकार पर्यन्त कुछ भी करे, उसका यह ज्ञान हमेशा बना रहता है कि 'मैं अकर्त्ता-अभोक्ता हूँ।' परन्तु जिसका यह बोध दृढ नहीं हुआ है उसे यह सब करते देखकर फिर प्रतीति हो जाती है कि 'मैं कर रहा हूँ'। संशय से रहित ज्ञान तो हो गया है, कोई संदेह नहीं है, परन्तु बार-बार उस संस्कार को दृढ करना है अर्थात् आत्मैक्य-वृत्ति की दृढता करनी है। इससे नया ज्ञान नहीं होगा परन्तु देह आदि की प्रवृत्ति को देखकर जो कर्तृत्वादि की प्रतीति हो जाती है, वह प्रतीति भी न हो इसके लिये आत्मैक्यवृत्ति आवश्यक है। एकतानता अर्थात् निरंतरता से अकर्तृत्व-अभोक्तृत्व की वृत्ति बनी रहे। वृत्ति की एकतानता होगी तो उसमें श्रुत मत अर्थ का अनुसंधान रहेगा। इसको ब्रह्मस्थिति नहीं समझ लेना चाहिए। ब्रह्मस्थिति में अंतःकरण ही अनुपस्थित हो जाता है। परन्तु वृत्ति की एकतानता में अन्तःकरण उपस्थित रहते हुए उसके अन्दर ब्रह्मरूपता की प्रतीति है। एकतानता को निदिध्यासन कहा जाता है। प्रश्न होता है कि यह एकतानता कम से कम कितनी देर में सिद्ध होती है? कुछ आचार्यों ने काल का माप बताया भी है कि इतनी देर स्थिरता रखनी चाहिये। बात इतनी ही है कि तब तक करना चाहिये जब फिर कभी भी अपने कर्त्ताभोक्ता-भाव की प्रतीति नहीं हो और यदि कभी हो जाये, तो घबराना भी नहीं चाहिये! जिस प्रकार से तुम्हारी जेब में एस्प्रो की सौ गोलियाँ पड़ी हैं। लम्बे समय से सिरदर्द नहीं हुआ तो पड़ी ही रहेंगी, परन्तु भरोसा है 'हमें सिरदर्द होगा तो गोली खा लेंगे'। इसी प्रकार जब तक कर्त्ता-भोक्तापने की प्रतीति नहीं होती है तब तक कुछ नहीं करना है, परन्तु यदि किसी समय फिर कर्त्ता-भोक्तापने की प्रतीति हो गई तो पुनः ब्रह्मात्मैक्य का अनुसंधान अर्थात् समाधि लगा लो ताकि तुरन्त वह कर्त्ता-भोक्तापना दूर हो जाये।। ५४।।

श्रवण-मनन के द्वारा उपाधि का बाध करके जो लक्ष्य की एकता ज्ञात होती है उसके अन्दर मन को स्थापित करना और तैलधारा की तरह अर्थात् जैसे तैलधारा बिना टूटे हुए निरन्तर चलती है वैसा चित्त को एकतान कर देना, इसी को निदिध्यासन कहते हैं। 'ध्यै चिन्तायां' धातु से ही निदिध्यासन शब्द बनता है अर्थात् चिन्तन करना। ध्यान के अन्दर तीन स्तर होते हैं। एक, 'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।' चाहे बाहर सूर्य, चन्द्र आदि में, चाहे अन्दर मूलाधार आदि में, किसी एकदेश के अन्दर चित्त को स्थिर करना धारणा है अथवा शंकर आदि मूर्ति में स्थिर करना धारणा है। दस प्राणायाम-काल तक हो, तब तक उसे धारणा और बारह प्राणायाम के समय तक रहे तो उसे ध्यान कहते हैं। जब

तक ध्यान के अन्दर देश की प्रधानता है, जैसे यदि दहर विद्या की साधना कर रहे हैं तो हृदय के अन्दर ध्यान करना है अतः हृदय देश की प्रधानता है, तब तक धारणा है; जब तदाकार वृत्ति प्रधान है अर्थात् प्रयत्नपूर्वक वृत्ति को बनाया जा रहा है अतः ध्येयाकार वृत्ति प्रधान है, तब तक ध्यान है। इसलिये पतंजलि महर्षि ने लक्षण किया है 'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।' इन दोनों को छोड़ दो, तब समाधि है। ऐसी निदिध्यासन की गम्भीरतारूप समाधि को बताते हैं–

ध्यातृध्याने परित्यज्य क्रमाद्ध्येयैकगोचरम्।
निवातदीपवच्चित्तं समाधिरभिधीयते।।५५।।

क्रमशः ध्याता व ध्यान छोड़कर केवल ध्येय को चित्त वैसी स्थिरता से विषय करे, जैसे वायु-प्रवाह-रहित स्थान पर दीपशिखा स्थिर रहती है तो उसे समाधि कहते हैं।

ध्यान में तीन चीज़ें होती हैं ध्याता–ध्यान करने वाला; ध्यान की क्रिया और ध्येय–जिसका ध्यान कर रहे हैं। ध्याता–अर्थात् जो चेतन अहंकार के द्वारा ध्यानकर्त्ता बना है। चेतन का प्रधान स्थल हृदय बताया है इसलिये ध्याता हृदय देश में स्थित है और 'मैं' ऐसी वृति बना रहा है। 'मैं वृत्ति बना रहा हूँ' ऐसा अभिमान रहते मैं ध्याता हूँ। जिसकी वृत्ति बना रहे हो वह व्यापक अर्थात् ब्रह्मरूप प्रत्यगात्मा है, जिसे पहले साक्षात् अपरोक्ष कहा था। वही ध्येय हो गया। प्रारम्भ में तो ध्याता, ध्यान और ध्येय तीनों भासित होंगे कि 'मैं ब्रह्मरूप आत्मा की एकता का ध्यान कर रहा हूँ।' धीरे-धीरे जैसे-जैसे ध्यान का परिपाक होता जायेगा वैसे-वैसे पहले 'मैं प्रयत्नपूर्वक ध्यान कर रहा हूँ' यह भान नहीं होगा। फिर, 'ध्यान दे रहा हूँ' यह भी भान नहीं रहेगा। धीरे-धीरे क्रम से केवल जीव-ब्रह्म की एकता ही रह जायेगी, जीव-ब्रह्म की एकता के आकार का चित्त रहेगा। जहाँ हवा बिलकुल न चल रही हो, वहाँ दीपक एक जैसा जलता रहता है, इसी प्रकार चित्त को स्थिर रखना है। ध्याता, ध्यान और ध्येय तीनों का भान रहते त्रिपुटी है। समाधि में, त्रिपुटी न रह जाये ऐसी स्थिति होती है।

यह नहीं है कि वहाँ त्रिपुटी होती नहीं है। त्रिपुटी होगी तो ज़रूर परन्तु उसका *भान* नहीं रहेगा। उपासना या ध्यान मानसी (मन की) क्रिया है। ज्ञान का साधन और क्रिया का साधन अलग-अलग है। निदिध्यासन करने वाले को ज्ञान तो है परन्तु संस्कारों से विपरीत प्रतीति होने से उधर से ध्यान हट जाता है। जब अन्तःकरण की ध्यानरूप क्रिया की जा रही है तब उसमें नये संस्कार पड़ जाते हैं। भगवान् ने मन को ऐसा बनाया है कि पुराने संस्कार खत्म तो नहीं होते लेकिन नयों के नीचे दब जाते हैं इसलिये कार्यकारी नहीं रह जाते। जैसे निवात में एक ढंग से ही दीपक जलता है वैसे ही जब चित्त 'मैं ब्रह्म हूँ, ब्रह्म ही मैं हूँ' इस प्रकार केवल एक ढंग से ही स्थिर रहे, तब समाधि है जिससे विरुद्ध संस्कार

निष्प्रभावी हो जाते हैं। इसी बात को स्मृतियों ने भी कहा है 'मत्वा च सततं ध्यायेत्'; सतत ध्यान की बात इसी दृष्टि से कही है। ज्ञान का फल अज्ञान की निवृत्ति है, परन्तु जीवन्मुक्ति के सुख के विलक्षण आनन्द के लिये इस समाधि अवस्था की आवश्यकता है। इसके बिना जीवन्मुक्ति का अनुभव नहीं हो सकता।।५५।।

उक्त समाधि में वृत्ति का रहना बताते हैं–

वृत्तयस्तु तदानीमज्ञाता अप्यात्मगोचराः।
स्मरणादनुमीयन्ते व्युत्थितस्य समुत्थितात्।। ५६।।

समाधि से उठे हुए को उत्पन्न होने वाले स्मरण से समाधिकाल में आत्मविषयक वृत्तियों का अनुमान होता है, भले ही समाधि के दौरान वे वृत्तियाँ अज्ञात रहती हैं।

समाधि में 'अहं' इत्याकारक वृत्ति या ध्यानाकार वृत्ति न रहे ऐसी बात नहीं है। उस समय वृत्तियाँ हैं तो सही परन्तु उनका ज्ञान नहीं है। जब कहा 'ध्यातृध्याने परित्यज्य' तब मतलब यही लग जाता है कि ध्यानाकार वृत्ति नहीं रही; इसलिये स्पष्ट करना ज़रूरी है कि वह मौज़ूद तो है परन्तु तब भान का विषय नहीं है। जिस प्रकार, किसी मनुष्य के चेहरे के ऊपर तुम्हारा ध्यान टिका हुआ है तो ऐसा नहीं कि उसकी कमीज़ या कोट का तुम्हें ज्ञान न हो, क्योंकि आँख के सामने वे भी हैं, परन्तु चूंकि तुम केवल मुख की तरफ ही ध्यान दे रहे हो इसलिये उसके कोट आदि का प्रतिबिम्ब आँख के पर्दे पर पड़ने पर भी नहीं पड़ने जैसा ही है। इसी प्रकार वहाँ ध्यान तो है परन्तु तुम ध्यान की तरफ नहीं, वरन् ध्येय के भान की तरफ ही सावधान हो। 'वृत्तयः आत्मगोचराः' अर्थात् प्रत्यगात्मा की ब्रह्मरूपता को विषय करने वाली वृत्तियाँ तब भी रहती हैं। केवल अहं का साक्षी नहीं वरन् जो सर्वव्यापक साक्षी है उसका भान रहता है। निदिध्यासन में ब्रह्मात्मैक्य को विषय करने वाली वृत्ति रहती है। वृत्तियों में प्रमाण बताया 'व्युत्थितस्य समुत्थितात् स्मरणाद् अनुमीयन्ते'। जब समाधि छोड़कर उठता है तब स्मरण का रूप यही रहता है 'इतनी देर मैं समाहित रहा' अर्थात् मैं का स्मरण है, समाहित होने का भी स्मरण है, ब्रह्मात्मैक्य का भी स्मरण है। इस स्मरण से ही अनुमान करते हैं कि वहाँ वृत्तियाँ थीं। वृत्तियों का स्मरण नहीं है क्योंकि समाधि में वे अज्ञात थीं, और स्मरण उसी का संभव है जिसका अनुभव हुआ है। फिर भी उनका अनुमान अवश्य होता है। समाधि में वे अज्ञात थीं पर जगने पर उनको अनुमान से समझा जाता है। यह समझ लेना चाहिये कि स्मृति से ज्ञात वस्तुओं का तो अनुमान होता ही है, लेकिन स्मृति के उत्थान से यह भी अनुमान होता है कि इसका उत्पादक संस्कार मौजूद था और संस्कार तभी हो सकता है जब उस समय वृत्तियाँ रही हों। इस प्रकार समाधि में अज्ञायमान भी वृत्तियाँ, व्युत्थान काल के स्मरण के हेतु संस्कारों के कारणरूप से अनुमित हो जाती हैं। मन ज्ञान का साधन भी है और क्रिया का भी। वृत्ति मन की क्रिया

है। वृत्ति बनकर खत्म हुई तो उसका संस्कार रहेगा जिससे स्मृति होना संगत है। तुमने श्रवण-मनन के द्वारा पहले अर्थ का निर्विचिकित्स निश्चय कर लिया, फिर उसके संस्कार बनाने के लिये निदिध्यासनरूप क्रिया कर रहे हो। इसमें अंतःकरण ध्याता और ध्यान की तरफ ध्यान नहीं देता है, वे भी वहाँ मौजूद हैं, परन्तु तुम उनको जान नहीं रहे हो। इसलिये उनको अज्ञात कहा। जिस आत्मरूप अर्थ को तुम वहाँ जान रहे हो उसको श्रवण-मनन के द्वारा जाना हुआ है। ध्याता और ध्यान कोई ऐसी चीज़ें तो हैं नहीं कि जेब से निकाली और बाहर फेंक दीं! इसलिये 'परित्यज्य' का मतलब है कि उसके बाध का निश्चय भी है, यही उसका परित्याग है। इस प्रकार ध्याता-ध्यान वहाँ मौजूद हैं परन्तु अज्ञात हैं। उनके संस्कार पड़े हैं इसलिये बाद में स्मरण हो जाता है।। ५६।।

प्रश्न होता है, वृत्तियाँ मनमें बनानी पड़ती हैं, स्वयमेव तो बनती नहीं। समाधि में वृत्तियाँ थीं तो उन्हें बनाया जाता रहा होगा; लेकिन यदि वृत्तियाँ बनाने का प्रयास होता रहा तो समाधि ही नहीं हो सकेगी! अतः वृत्तियाँ थीं यह कैसे? इसके उत्तर में कहते हैं–

वृत्तीनामनुवृत्तिस्तु प्रयत्नात् प्रथमादपि।
अदृष्टासकृदभ्याससंस्कारसचिवाद् भवेत्।। ५७।।

समाधि में वृत्तियों का प्रवाह तो पुण्य और बारम्बार किये अभ्यास के संस्कारों की सहायता से समाधि के प्रारम्भ में किये प्रारम्भक प्रयत्न से भी हो जाता है।

साइकिल चलाई होगी तो जानते होगे कि पहले खूब ज़ोर से पैडल मारा और फिर अकस्मात् पैडल मारना छोड़ दिया, तब भी साइकिल चलती रहती है। पैडल मारने से चलने वाली साइकिल, पैडल नहीं मार रहे हैं तो भी चल रही है क्योंकि पहले मारा हुआ पैडल उसे अब भी चलाता है। यह ज़रूरी नहीं कि उसी समय पैडल मार रहे हो। इसी प्रकार पहले तुमने ज़ोर से वृत्तियाँ बनाई, उसके बाद तुमने ध्याता-ध्यान के भाग छोड़ दिये। जैसे पैडल नहीं चलाते हैं तब भी साइकिल की गति बनी रहती है वैसे पहले किये हुए प्रयत्न से ही मन की ध्येयाकार वृत्ति बनी रहती है। प्रवाहरूप से उसकी उत्पत्ति समाधि के पहले अर्थात् धारणा और ध्यान के समय में हो चुकी है। कई बार ऐसा होता है कि जैसे ही छोड़ते हैं वैसे ही अंतःकरण दूसरी वृत्ति बना लेता है लेकिन सही ढंग से और काफी देर करते हैं तो प्रवाह चलता रहता है। अदृष्ट अर्थात् प्रारब्ध भी कारण बनता है। यदि तुम्हारा बहिर्व्यवहार का तीव्र प्रारब्ध है तो वह तुम्हें उत्तम या ऊर्ध्व भूमिकाओं में नहीं जाने देता। केवल जितनी देर ध्यान किया उतनी ही देर रहेगा। जहाँ प्रारब्ध का वेग ज्यादा रहता है वहाँ उत्तम भूमिकाओं में जीवन्मुक्ति का अधिक आनन्द नहीं हो पाता। जहाँ अदृष्ट या प्रारब्ध उतने ज़ोर वाला नहीं वहाँ उत्तम भूमिकायें प्राप्त हो जाती हैं।

इसलिये व्यासजी ने 'असकृत्' अर्थात् बार-बार अभ्यास करना बताया है जिससे संस्कार

बढ़ते जायें। बार-बार अभ्यास करने से भी निरन्तर प्रवाह नहीं होता है तो अदृष्ट या प्रारब्ध रुकावट में कारण निर्धारित होता है। इसलिये प्रारब्ध और प्रयास दोनों अपेक्षित हैं। जिस कार्य का बहुत समय तक अभ्यास कर लिया जाता है, वह बिना उधर ध्यान दिये, या बिना उसे करने की इच्छा किये भी चलता रहता है। जैसे यदि पचास साल से महिम्नःस्तोत्र का पाठ कर रहे हो तो तुम कुछ दूसरी बात भी सोचते रहो, और पाठ बोलते रहते हो, तो ध्यान दिये बिना भी महिम्नःस्तोत्र का पाठ ठीक हो जायेगा; अकस्मात् कोई बीच में रोक कर पूछे कि 'कौन-सा श्लोक बोल रहे थे?' तो दायें-बायें देखने लगोगे! तुम्हें खुद ही पता नहीं है कि कौन-सा श्लोक बोल रहे थे! उधर ध्यान भी नहीं है और तुम्हें खुद पता भी नहीं, फिर भी असकृत् अभ्यास होने से वह पाठ चलता रहता है। इसी प्रकार असकृत् अभ्यास वाले का ब्रह्मानुसंधान बिना प्रयत्न किये हुए, उधर ध्यान दिये बिना भी, चलता रहता है।

'अनुवृत्ति' क्यों मानें, वृत्ति ही मान लें? सिद्धांत में वृत्ति किञ्चित् काल स्थायी होती है इसलिये अनुवृत्ति कहना पड़ता है। पता इसलिये नहीं लगता है कि अभ्यासातिशयवश स्वतः चलता रहता है। जिसकी समाधि स्थिर हो गई उसकी वह स्थिति चलती ही रहती है।। ५७।।

जिस समय नाम-रूप का दर्शन हो उस समय उसका बाध करके सच्चिदानन्दरूप से ब्रह्म की दृष्टि बनाने का अभ्यास भी साथ ही समझ लेना चाहिये। इसे दृष्टांत-युक्त भगवान् के वचन से समर्थित करते हैं–

यथा दीपो निवातस्थः इत्यादिभिरनेकधा।
भगवानिममेवार्थमर्जुनाय न्यरूपयत् ।। ५८।।

'निवात-स्थान में दीपक की तरह' इत्यादि अनेक तरह से भगवान् ने अर्जुन के लिये इसी बात का निरूपण किया।

भगवान् ने अनेक प्रकार से समाधि को अर्जुन के लिये निरूपित किया है अर्थात् यह बात सम्प्रदाय-सिद्ध है। गीता में (६.१९) आत्मस्थिति की दृढता के लिये आवश्यक समाधि स्पष्ट विहित है एवं 'आत्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति' (२०) 'उपैति शान्तरजसम्' (२७) 'ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते' (३८) उसका फल प्रतिपादित है।। ५८।।

प्रश्न होता है कि इस समाधि का लाभ क्या? ज्ञान हो गया, संशय-विपर्यय हट गये तो फिर समाधि के अभ्यास का क्या लाभ है? इसके उत्तर में कहते हैं कि मोक्ष तो ज्ञान से ही होगा लेकिन–

अनादाविह संसारे संचिताः कर्मकोटयः।
अनेन विलयं यान्ति शुद्धो धर्मो विवर्धते।। ५९।।

इस अनादि संसार में करोड़ों कर्म इकट्ठे हुए हैं, वे इस (समाधि) से विलीन होते हैं और शुद्ध धर्म बढ़ता है।

जिसमें संसरण अथवा जन्म-मरण का प्रवाह चलता रहता है, वह संसार है। यह संसार अनादि है अर्थात् संख्याओं को कितना ही बढ़ाते चले जाओ, फिर भी यह नहीं कह सकते कि संसार इतने समय से है क्योंकि उससे पहले से भी है। इसीलिये यह संसार अनादि है। इस अनादि संसार में हर जगह हमने कर्म किया है। हर जन्म के करोड़ों कर्म कर लेते हैं। एक दिन में ही शाम तक कितने कर्म कर लेते हैं! एक जीवन में अनन्त कर्म और ऐसे अनंत जन्म, इसलिये कितने कर्म हम लोगों के इकट्ठे किये हुए हैं! कोई ठिकाना नहीं है। ये सब हमारे संचित कर्म हैं। कह सकते हैं कि अश्वमेध आदि करके हम उन्हें खत्म कर सकते हैं, लेकिन अश्वमेध आदि सीमित हैं और उनसे सीमित ही कर्म समाप्त हो सकते हैं। ये असीम कर्म कैसे समाप्त हों?

एक राजा ने कहा कि हमें कोई ऐसी कहानी सुनाये जिसमें मेरा मन लगा रहे और कहानी ख़त्म न हो। कहानी खत्म हो गई तो इनाम नहीं मिलेगा। कोई कहाँ तक सुनायेगा कहानी! ख़त्म हो ही जाती थी। इसलिये किसी को इनाम नहीं मिला। कुछ दिनों बाद एक समझदार आदमी आया और उसने कहानी सुनाना शुरू किया : एक बहुत बड़ा सेठ था। उसने बहुत बड़ा कोठार बनाया जिसमें हज़ारों मन गेहूँ भर दिया। ग़लती से उस कोठार में एक छेद रह गया। उसमें एक गौरैया चिड़िया अन्दर गई, गेहूँ का एक दाना मुँह में लिया, बाहर आई और उड़ गई। तब तक दूसरी चिड़िया आई उसने भी एक दाना मुँह में लिया और उड़ गई। इसी प्रकार कहते-कहते दस-बीस बार बोला तो राजा ने कहा 'आगे चलो, फिर क्या हुआ?' उस आदमी ने कहा 'ऐसे कैसे आगे चलें? वह कोठार खाली होगा तभी कहानी आगे बढ़ेगी। राजा समझ गया और उसे इनाम दे दिया। इसी प्रकार अश्वमेध, कृच्छ्र चान्द्रायण आदि करके एक-दो पापों को नष्ट करते रहोगे, लेकिन अनन्तकोटि कर्मों का कोठार कैसे खत्म होगा?

इसके लिये कहते हैं, 'अनेन विलयं यान्ति' यह जो ब्रह्मात्मैक्य की समाधि है इससे वे अनंत कर्म विलीन हो जाते हैं। विलय का यहाँ मतलब 'कारण में जाना' नहीं वरन् उनका दृढ बाध हो जाना है। सचमुच तो उन कर्मों को जलाने वाली ज्ञानाग्नि है। लेकिन ज्ञानाग्नि पूर्ण तेज़ी से जल सके इसके लिये उन कर्मों को समाप्त करने वाली यह समाधि है। इस प्रकार से द्वैत का बाध दृढ होने को बाधितानुवृत्ति कहते हैं अर्थात् तब क्षणभर को भी अपने में कर्तृत्व-भोक्तृत्व का बोध नहीं होता और रूप आदि के अन्दर सत्यत्व का बोध नहीं रहता। इसलिये अब संचित कर्म तुम्हें फल नहीं दे सकता, कर्म के शिकंजे से निकल गये। कर्म तो ज़्यादा से ज़्यादा अहंकार तक को पकड़ता है, कर्म शरीर को भी तब पकड़ता है जब उसमें अहम् है। जब शरीर में अध्यास नहीं रहा, मन का भी बाध कर रखा है, अहंकार भी गया, तो संचित कर्म विलय को प्राप्त कर जाता है, अर्थात् सदा के लिये बाधित है।

अभी जो हम लोगों के धर्म हैं, वे अशुद्ध धर्म हैं क्योंकि कितनी भी सावधानी से धर्म करो, कहीं-न-कहीं कोई-न-कोई कमी रह ही जाती है, वह कभी-न-कभी अपना फल देगी। परन्तु यह जो समाधि का अभ्यास है, इसके अन्दर कहीं कमी रहने का प्रश्न ही नहीं रहता है इसलिये शुद्ध धर्म ही रह जाता है। संचित कर्मों का नाश एक बार की समाधि के अभ्यास से नहीं होगा। तत् तत् काल के लिये जो फल देने वाले कर्म हैं उनका बाध तो तत्काल के विचार से हो जाता है। परन्तु संचित कर्म नष्ट हो जायें इसके लिये दृढ समाधि का अभ्यास हो जाना पड़ता है। 'शुद्ध धर्म बढ़ता है' कहने का मतलब ही यह है कि जितना-जितना समाधि का अभ्यास करोगे उतना-उतना शुद्ध धर्म का विवर्द्धन होगा। धर्म अर्थात् जो सुख देने वाली चीज़ है। धर्म से ही सुख होता है, यह शास्त्र का सिद्धान्त है। परन्तु जो भी सुख होता है उसमें कुछ न कुछ दुःख मिला होता है क्योंकि कोई भी कर्म करते हैं तो उसमें कोई न कोई त्रुटि रह जाती है। इसलिये जब सुख होता है तब साथ में कुछ न कुछ दुःख भी होता है। जैसे बढ़िया मिर्च का अचार खाओ तो मज़ा भी खूब आता है परन्तु साथ में मुँह भी जलता है। घी खाओ तो थोड़ी देर बाद जीभ बन्द हो जाती है। घी दस-पाँच घूँट लेते-लेते जीभ आगे घी खाना मना कर देती है। मिर्च, चीनी आदि से स्वाद बदलना पड़ता है। इसलिये जहाँ भी सुख होगा, कुछ-न-कुछ दुःख भी होगा। परन्तु इस समाधि से बाधितानुवृत्ति बन जायेगी अतः चूंकि नित्यनिरंतर अपनी आनंदरूपता की अनुभूति है, इसलिये वहाँ दुःख का स्पर्श भी नहीं है। 'विवर्द्धते' के द्वारा बता दिया कि जितना-जितना करोगे उतना-उतना बढ़ता जायेगा। केवल एक बार करने मात्र से कार्य नहीं होगा। तात्पर्य यह है कि यह अभ्यास दीर्घकाल तक करना चाहिये।। ५९।।

समाधि से शुद्ध धर्म के संचय में योगशास्त्र-प्रसिद्ध समाख्या अर्थात् नाम को प्रमाणरूप से उद्धृत करते हैं–

धर्ममेघमिमं प्राहुः समाधिं योगवित्तमाः।
वर्षत्येष यतो धर्मामृतधाराः सहस्रशः।। ६०।।

योगज्ञश्रेष्ठ इस समाधिको 'धर्ममेघ' कहते हैं क्योंकि यह हज़ारों की तादाद में धर्मरूप अमृत की धाराएँ बरसाती है।

योगवित्तमाः शब्द यह कहने के लिये है कि समाधि का यह नाम पतंजलि ने लिखा है। जिस प्रकार बादरायण महर्षि ने जो ब्रह्मसूत्र लिखे उन्हीं पर वेदांत का सारा विचार आधारित है इसलिये वे ही वेदान्तज्ञों में सबसे श्रेष्ठ हैं, इसी प्रकार योग के बारे में सूत्र लिखने वाले पतंजलि महर्षि उस विषय में सर्वश्रेष्ठ ज्ञाता हैं। योगसूत्र है 'प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेः धर्ममेघः समाधिः' (४.२९)। 'कुसीद' ब्याज को कहते हैं। प्रसंख्यान के ब्याज अर्थात् लाभ को भी जो नहीं चाहता उसे इस धर्मामृत धाराओं की प्राप्ति होती है। इसके

द्वारा परिपूर्ण बोध होकर और सारे प्रतिबन्धक हटकर जीवन्मुक्ति का अनुभव हो जाता है। निदिध्यासन के बिना जीवन्मुक्ति के सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती, इसलिये मुमुक्षु के लिये प्रसंख्यान की विधि आवश्यक है। जब इस धर्ममेघ समाधि की प्राप्ति हो जाती है तब प्रसंख्यान की कोई उपयोगिता नहीं रह जाती, परिपूर्णता हो जाती है। जब तक यह असम्प्रज्ञात स्थिति नहीं हो गई तब तक शुद्ध धर्म की वृद्धि के लिये समाधि-अभ्यास की आवश्यकता है। जब स्थिति हो गई तब प्रयास अनपेक्षित है। सांख्य-प्रक्रिया के अन्दर विवेकख्याति ही मोक्ष का कारण है। सत्त्व अर्थात् अंतःकरण से जब पुरुष अर्थात् अपने को अलग जाननारूप विवेकख्याति की पूर्णता की प्राप्ति होती है अर्थात् विवेकख्याति दृढ बनी ही रहती है तब धर्ममेघ समाधि सिद्ध होती है। जैसे मेघ (बादल) से पानी बरसता है वैसे ही इस धर्ममेघ समाधि से धर्म बरसता है।। ६०।।

समाधि से शुद्ध धर्म की उपलिब्ध में प्रमाण बताकर उसका प्रयोजन समझाते हैं–

अमुना वासनाजाले निःशेषं प्रविलापिते।
समूलोन्मूलिते पुण्यपापाख्ये कर्मसंचये।। ६१।।

इस समाधि से वासनाओं का समूचा जाल प्रविलीन कर दिये जाने पर एवं पुण्य-पाप नामक कर्म का संचय मूल-समेत उखाड़ दिये जाने पर (वाक्यार्थ का अपरोक्ष होता है)।

जैसे बादल बरसते हैं तो सड़क की सारी गन्दगी साफ हो जाती है इसी प्रकार यह धर्ममेघ समाधि चित्त के सारे दोषों की निवृत्ति का कारण हो जाती है। चित्त में वासना-जाल ही दोष है। जीवन्मुक्ति के सुख के लिये वासनाक्षय आवश्यक होता है। समाधि द्वारा सारी वासनाओं का जाल नष्ट हो जाता है। वासनाओं का जाल दो कारणों से कहा : एक तो, जाल में पक्षी फँसता है इसलिये बंधन करने वाला जाल है। इसी प्रकार जीव भी इन वासनाओं में ही बँधा रहता है। प्रारब्ध कर्म के अनुसार वासनायें आती रहती हैं, और उसी के अन्दर जीव फँसा रहता है। दूसरा कारण यह भी है कि जाल की यह विशेषता होती है कि एक तरफ से खींचो तो सारा जाल खिंचकर इकट्ठा हो जाता है। जाल को समेटने वाला जो सूत्र होता है उसे खींचो तो सारा जाल बँध जाता है। इसी प्रकार से वासनाएँ भी एक ज्ञान से दूसरे ज्ञान का स्मरण कराते हुए जाल की तरह फैली रहती हैं। कई बार हम लोगों को कहते हैं कि मन को देखने के लिये एक काग़ज पेंसिल सामने रखो और मन में जो विचार आये उसे तुरन्त लिखते जाओ। देखोगे कि जिन बातों की तुम कल्पना नहीं कर सकते, ऐसी एक बात से दूसरी बात की याद आ जाती है। कई बार स्वयं को ही आश्चर्य होता है कि इसके बाद यह बात क्यों मन में आ गई? कौन-सी वासना का किस ज्ञान के साथ कैसा सम्बन्ध है, यह अकल्पनीय है। ज्ञान एक-दूसरे में फँसे हैं। इस समाधि से वासना का वह सारा का सारा जाल नष्ट हो जाता है। इसी को भगवान् वशिष्ठ ने वासनाक्षय नाम से कहा है। परवर्ती आचार्यों ने वासनाक्षय का काफी वर्णन किया है।

जब वासना-जाल का क्षय हो जाता है तब पुण्य-पापरूप कर्म का जो संचय है वह समूल नष्ट हो जाता है। इसलिये भगवान् भाष्यकार लिखते हैं कि मुमुक्षु के लिये पुण्य भी पाप ही है क्योंकि जैसे पाप ब़न्धन करता है वैसे ही पुण्य भी बन्धन करता है। पाप दुःख का भोक्ता बनाता है और पुण्य सुख का भोक्ता बनाता है। शुरू में यह बात समझ में आना मुश्किल है क्योंकि मनुष्य को सुख का बन्धन, बन्धन नहीं लगता, वह केवल दुःख को ही बन्धन समझता है। परन्तु विचार करो तो यह ठीक वैसा ही है कि जैसे जंग लगे हुए लोहे के पिंजड़े में बँधे हुए पक्षी को हीरे लगे हुए सोने के पिंजड़े में बैठा हुआ पक्षी धन्य लगता है कि इसे कितना बढ़िया पिंजड़ा मिला हुआ है, जबकि है तो पिंजड़ा ही! विचार करो; दस-बारह लाख की बी.एम.डब्ल्यू. मोटर में कोई जा रहा है और दूसरा साठ-सत्तर हजार की मारुति में जा रहा है। उस समय सत्तर हज़ार वाली मोटर वाले को लगता है कि 'बी. एम.डब्ल्यू. वाला बहुत बढ़िया गाड़ी में जा रहा है जबकि मैं घटिया गाड़ी में जा रहा हूँ।' दुःखी होता है। लेकिन सामने से ट्रक टक्कर मारेगा तो बी.एम.डब्ल्यू गाड़ी का जो हाल होना है वही मारुति का होना है। जब तक टक्कर नहीं लगती तभी तक वह बढ़िया लगती है। इसी प्रकार हम स्वर्ग का वर्णन सुनते हैं तो मन में होता है कि ये देवता लोग हम लोगों से कितने ज़्यादा सुखी हैं। परन्तु जब स्वर्ग से गिरते हैं तब पता लगता है कि ये भी तो महादुःखी ही हैं। अविवेकी को तो लगता है कि स्वर्ग देने वाला पुण्य अच्छा है और निकृष्ट स्थानों को ले जाने वाला पाप बुरा है। परन्तु जिसने जगत् के स्वरूप का विचार कर लिया है वह जानता है कि पुण्य भी खत्म ही होना है जैसे पाप खत्म होना है। इसलिये पुण्य और पाप नाम के दोनों कर्मों का जो संचय है, उसमें पाप की निवृत्ति के लिये तो शास्त्र के अन्दर कई प्रायश्चित्तों का विधान है, परन्तु पुण्य-निवृत्ति के लिये तो किसी प्रायश्चित्त का विधान नहीं है। इस दृष्टि से देखा जाये तो पुण्य ज़्यादा हमारे पीछे पड़ता है इसलिये यम आदि आधिकारिक पुरुष नचिकेता जैसे को देखते हैं तो उनका निश्चय होता है कि 'हम बहुत पुण्यों के कारण ही संसार का शासन करने के लिये नियुक्त कर दिये गये हैं'। यमराज नचिकेता को उपदेश करते हुए कहते हैं कि 'तू मुझसे बहुत अच्छा है, क्योंकि मैंने तो बहुत कर्म उपासना करके इस याम्य पद को प्राप्त कर लिया तो अब मुझे समझ में आ गया कि यह पद व्यर्थ है फिर भी जितने काल के लिये इस पद का भार मिल गया है, जब तक यह खत्म नहीं होगा, तब तक मुझे निर्विषयक मोक्ष की अनुभूति नहीं होगी। तू तो अभी से ही मुक्त हो जायेगा क्योंकि तू ऐसे पद से बच गया।' हम लोग सोचते हैं कि इन्द्र आदि बड़े-बड़े देवता हमसे अच्छे हैं परन्तु वे लोग भी इस बात को जानते हैं कि 'जिसने ब्रह्मनिष्ठा को प्राप्त कर लिया उसने वस्तुतः अपना काम बना लिया, बाकी तो देवताओं के ये पद व्यर्थ हैं।' शंका होती है कि हम पुण्य-पाप नष्ट करेंगे परन्तु पुण्य-पाप क्या फिर हो जायेंगे? अतः कहते हैं कि केवल पुण्य-पाप ही नष्ट नहीं होते वरन् पुण्य-पाप का कारण जो अविद्या और

काम हैं वे भी नष्ट हो जाते हैं। पुण्य-पाप कर्मरूप हैं, राग-द्वेष-मोह आदि सब काम का रूप हैं। राग-द्वेष की निवृत्ति-पूर्वक कर्म का क्षय आत्यन्तिक है अर्थात् यह कर्म की निवृत्ति ऐसी है कि राग-द्वेष भी उखाड़ दिये गये हैं। मूल ही न बचने से नये कर्मों की सम्भावना समाप्त हो जाती है।। ६१।।

धर्ममेघ समाधि से कर्मक्षय और शुद्ध धर्म के संचय से प्राप्य फल बताते हैं–

वाक्यमप्रतिबद्धं सत् प्राक् परोक्षावभासिते।
करामलकवद् बोधमपरोक्षं प्रसूयते।। ६२।।

प्रतिबंधों से रहित हुआ वाक्य, पहले परोक्षरूप से अवभासित अर्थ के बारे में हाथ में रखे आँवले जैसा अपरोक्ष बोध उत्पन्न कर देता है।

गुरु जो तत्त्वमसि इत्यादि वाक्य का उपदेश देता है उससे प्रारम्भ में प्रतिबद्ध ज्ञान होता है इसलिये वह तत्त्व परोक्ष की तरह लगता है। चूंकि त्वं-पदार्थ नित्य अपरोक्ष है इसलिये जब उसको ब्रह्म कहा जायेगा तो 'जो मैं हूँ वही ब्रह्म है' ऐसा अपरोक्ष पदार्थ के बारे में ही ज्ञान होता है परन्तु परोक्ष की तरह इसलिये रहता है कि अभी 'मैं' अपरोक्ष तो है परन्तु शरीर से लेकर अहंकार तक की उपाधि के सहित है। वेद कह रहा है कि 'मैं ब्रह्म हूँ' लेकिन मैं स्वयं को इन सारों से ससीम जानता हूँ। अतः ब्रह्मरूप मैं तो परोक्ष की तरह है, मानों 'तत्त्वमसि' जिसका उपदेश दे रहा है वह कभी किसी समय हमको अपरोक्ष या साक्षात् होगा। इसलिये 'प्राक्' अर्थात् उपदेशकाल में वह परोक्ष की तरह अवभासित होता है। इस धर्ममेघ समाधि के अभ्यास से उस प्रतिबन्धक की निवृत्ति होती है जिसके कारण अपरोक्ष नहीं होता। इसलिये अब दृढ अपरोक्ष ज्ञान प्रसूत हो जाता है, प्रकट हो जाता है, करामलक की तरह साक्षात् हो जाता है। यही दृष्टांत भाष्यकार ने दिया है कि जैसे हाथ में रखा हुआ आँवला निस्संदिग्ध स्पष्ट भान होता है वैसे ही यह ब्रह्मात्म-बोध स्पष्ट भान होता है। यह दृष्टांत केवल इतने ही अंश में लेना कि बिलकुल स्पष्ट भान होता है। अन्यथा, हाथ में रखा हुआ आँवला विषयरूप से ग्रहण होता है जबकि आत्मज्ञान विषयरूप होगा नहीं। अतः भाव इतना ही है कि साक्षात् अपरोक्ष हो जाता है अर्थात् स्पष्ट भान हो जाता है। विषयत्वेन भान होता है ऐसा कहने में तात्पर्य नहीं है।। ६२।।

प्रतिबंधक हटाने से पहले गुरु से जो तत्त्वमसि का श्रवण होता है, वह क्या व्यर्थ जाता है? ऐसा नहीं है–

परोक्षं ब्रह्मविज्ञानं शाब्दं देशिकपूर्वकम्।
बुद्धिपूर्वकृतं पापं कृत्स्नं दहति वह्निवत्।। ६३।।

गुरुमुख से प्राप्त आगमजन्य ब्रह्म का परोक्ष-विज्ञान समझकर किये सारे पापों को आग की तरह जला डालता है।

उपदेश देने वाले गुरु को देशिक कहते हैं अर्थात् जो दिशा-निर्देश कर देता है। जैसे द्वितीया का चन्द्रमा नहीं दीख रहा है; जानकार व्यक्ति कहता है 'सामने नीम के पेड़ की दो डालियों के बीच में देखो, वह चन्द्रमा दीख रहा है।' दो डालियों के बीच में चन्द्रमा दीख ही नहीं सकता। चन्द्रमा करोड़ों मील लम्बा चौड़ा है और दो डालियों के बीच में एक बित्ते की जगह है। और, वे डालियाँ दो सौ मीटर की दूरी पर हैं जबकि चन्द्रमा करोड़ों मील दूर है। इसलिये चन्द्रमा दो डालियों के बीच में नहीं है फिर भी उसने तुमको देखने की दिशा बता दी कि दो डालियों के बीच में देखो। देखना तुम्हें ही पड़ेगा, उनमें देखते हो तो तुम्हें चन्द्रमा दीख जाता है। ठीक इसी प्रकार से 'तत्' और 'त्वं' दो ही चेतन प्रसिद्ध हैं। इन दोनों चेतनों के स्वरूप को सच्चिदानंद-रूपता के द्वारा देखो, यह दिशा-निर्देश कर दिया। देखना तुम्हें ही पड़ेगा। इसमें सावधानी चाहिये कि ब्रह्म के परिचय के लिये जो उपाधि सुनायी दे उसी में मन न उलझ जाये।

ब्रह्म का लक्षण किया गया कि वह जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, लय करने वाला है। गुरु तो 'ब्रह्म' बता रहा है लेकिन हमारा ध्यान सृष्टि, स्थिति, लय की तरफ जाता है, ब्रह्म अर्थात् सच्चिदानंद की तरफ नज़र नहीं जाती। प्रतीत यह होता है कि 'मैं कहाँ, और जगत्कारण कहाँ!' औपाधिक भेद की तरफ दृष्टि चली जाती है। शब्द से होना तो चाहिये ब्रह्मविज्ञान, परन्तु पहले किये हुए पाप कर्मों के कारण जो दूसरी आसक्तियाँ हैं उनके कारण वह ब्रह्म परोक्ष की तरह ही लगता है। 'मैं सृष्टि, स्थिति, लय करने वाला नहीं हूँ' ऐसा इसीलिये लगता है क्योंकि 'शरीर से लेकर अहंकार की उपाधि वाला मैं हूँ' यही अनुभव है। परन्तु जब धर्ममेघ समाधि का अभ्यास होता है तब वह अपरोक्ष हो जाता है। यह जो शब्द से होने वाला परोक्ष भी ज्ञान है, यह बुद्धिपूर्वक, निश्चयपूर्वक किये हुए पापों को नष्ट कर देता है। शास्त्र में जहाँ पाप का प्रायश्चित्त कहा है वहाँ बताया है कि जो पाप एक बार अनजाने में किया हो वह तो प्रायश्चित्त से दूर हो जाता है परन्तु निश्चयपूर्वक बार-बार पाप करें तो वह पाप प्रायश्चित्त से दूर नहीं होता। जैसे हम लोगों का झूठ बोलना; हम लोग मकरसंक्रांति पर तीर्थराज प्रयाग में जाकर गंगा-यमुना के संगम पर गोता लगाते हैं तो पहले के पाप नष्ट हो जाते हैं। लेकिन अगले दिन से फिर पाप बटोरना शुरू कर देते हैं; इस प्रकार के जो बुद्धिपूर्वकृत पाप हैं उन पापों को भी यह परोक्ष ब्रह्मविज्ञान जैसे ईंधन को आग जला देती है वैसे ही जला देता है। भगवान् ने भी यही कहा है 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा' ज्ञानाग्नि सारे पापों को जला देती है। बुद्धिपूर्वक या जानबूझकर किये हुए पापों को यह नष्ट कर देता है।। ६३।।

परोक्ष ज्ञान का फल बताकर अपरोक्ष ज्ञान का फल बताते हैं–

अपरोक्षात्मविज्ञानं शाब्दं देशिकपूर्वकम्।
संसारकारणाज्ञानतमसश्चण्डभास्करः।। ६४।।

गुरुमुख से प्राप्त आगमजन्य आत्मा का अपरोक्ष अनुभव संसार के कारण अज्ञानात्मक अंधेरे के लिये दोपहर के सूर्य की तरह है।

मनन और निदिध्यासन के साथ हो जाने पर ज्ञान प्रतिबन्धक-रहित हो जाता है। मनन और निदिध्यासन से संशय और विपरीत भावना, दोनों प्रतिबन्धक निवृत्त हो जाते हैं। धर्ममेघ समाधि के द्वारा पापों की निवृत्ति से चित्त शुद्ध हो जाता है। कई जगह शास्त्रों में वचन आता है 'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसः क्षयात् पापस्य कर्मणः' पाप कर्म क्षय हो तब ज्ञान होता है। पाप कब क्षय हो? महाभारतकार कहते हैं : आत्मदर्शन नहीं करना ही सब से बड़ा पाप है 'किन्तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा' जिसने आत्मदर्शन नहीं किया उसने कौन-सा पाप नहीं कर लिया, अर्थात् उसने सारे ही पाप कर लिये। इसलिये यह धर्ममेघ समाधि ही उन सारे पापों को नष्ट करने का एकमात्र साधन है। उसके पहले सब पापों को निवृत्त कर सको यह असंभव है। आत्मा का अपहरण करते हुए कभी भी सब पापों की निवृत्ति हो ही नहीं सकती, पाप कम हो जाये यही सम्भव है। यह धर्ममेघ समाधि ही सारे पापों को दूर करने में समर्थ है और विक्षेप को दूर करने की सामर्थ्य भी इसी में है। अतः ऐसा नहीं समझना कि आज के जीवन में कुछ नहीं कर सकते; इस धर्ममेघ समाधि से पापक्षयपूर्वक आत्मकल्याण कर सकते हैं। यह अपरोक्ष आत्मविज्ञान तभी होगा जब देशिकपूर्वक अर्थात् गुरु के शब्द के द्वारा ज्ञान होगा। जैसा श्रवण-मनन पूर्वक परोक्ष अवभासित हुआ वैसा ही अपरोक्ष भी होगा। अब मल-विक्षेप की निवृत्ति हो जाने से ज्ञान अपरोक्ष हो पाता है। गुरु के मुख से 'तत्त्वमसि' महावाक्य के श्रवण से जो प्रतिबद्ध ज्ञान होता है वह परोक्ष है वही अब अपरोक्ष अनुभव हो जाता है अर्थात् 'मैं ब्रह्म ही हूँ और ब्रह्म मैं ही हूँ' इस तरह सब प्रकार से अपना ब्रह्म से अभिन्न बोध हो जाता है। सृष्टि-स्थिति-लय करने वाला सच्चिदानंद मैं ही हूँ और मैं की वृत्ति में प्रतिबिम्बित होने वाला भी सच्चिदानंद ही है यह साक्षात् हो जाता है। है तो एक ही सच्चिदानंद पर चूंकि भेद दिखाने वाला उपाधियों का प्रादुर्भाव अज्ञान से ही हुआ है, अतः आवरणनिवृत्ति के कारण केवल सच्चिदानंद का भान रह जाता है। जैसे प्रकाश आते ही सर्प, जलधारा, दण्ड आदि सब नहीं रह जाते, केवल रस्सी ही रह जाती है इसी प्रकार ऐसा नहीं होता है कि इस प्रकार का दृढ अपरोक्ष होने पर सिवाय सच्चिदानंद ब्रह्म के और कुछ रह जाये। है वह पहले वाला ही ज्ञान; फ़र्क़ केवल इतना है कि पहले परोक्ष था, अब अपरोक्ष है। ऐसा दृढ अपरोक्ष ज्ञान संसार के कारण मूल अज्ञान की निवृत्ति के लिये आवश्यक है। जैसे सर्प, जलधारा, दण्ड आदि की निवृत्ति के लिये सौ

वाट् के लट्टू का प्रकाश चाहिये वैसे ही संसार के मूल कारण अज्ञान की निवृत्ति के लिये यह अपरोक्ष ज्ञान चाहिये। यह ज्ञान कैसा है? अंधेरा मिटाने में तो सौ वाट् के लट्टू से काम चल जाता है परन्तु यह ज्ञान चण्डभास्कर है। अर्थात् जेठ के महीने में दोपहर के बारह बजे जैसा सूर्य होता है; उसे देखने जाओ तो सूर्य क्या दीखेगा, आँखें और चौंधिया जायेंगी! इसी प्रकार यह ज्ञान भी चण्डभास्कर है। इसके अन्दर मन सर्वथा निवृत्त हो जाता है। जैसे उस सूर्य के प्रकाश में आँखें चौंधिया जाती हैं, उस समय किसी दूसरी चीज़ को देखना चाहो तो कुछ नहीं दीखता, इसी प्रकार इस अपरोक्ष ज्ञान में किसी भी अन्य मिथ्या चीज़ का ज्ञान नहीं रह जाता! इसलिये कहा कि चण्ड भास्कर जैसे तम को दूर कर देता है वैसे ही यह दृढ अपरोक्ष ज्ञान मूल अज्ञान को दूर कर देता है।। ६४।।

प्रकरण समाप्त करते हैं–

इत्थं तत्त्वविवेकं विधाय विधिवन्मनः समाधाय।
विगलितसंसृतिबंधः प्राप्नोति परं पदं नरो न चिरात्।। ६५।।

इति श्रीविद्यारण्यमुनिविरचितायां पञ्चदश्यां तत्त्वविवेकाख्यं प्रथमं प्रकरणम्।।

इस प्रकार यथाविधि मन समाहित कर तत्त्व का विवेक सम्पन्न कर नर संसार-बन्धन से छूट शीघ्र ही परम पद पा जाता है।

संसार का अभिन्न निमित्तोपादान कारण सच्चिदानंद है। वह सच्चिदानंद ब्रह्म कहाँ अनुभव में आता है? 'मैं' में अनुभव में आता है। उस अनुभव की दृढता के लिये क्या चाहिये! मेरे सिवाय दूसरा कोई सच्चिदानंद हो ही नहीं सकता। मनन के द्वारा 'मैं' की ही सच्चिदानंदरूपता का निश्चय होता है। यह निश्चय भी परोक्ष की तरह रहता है। उसके बाद जब इस निर्विचिकित्स ज्ञान के अनन्तर निदिध्यासन करते हैं तब धर्ममेघ समाधि के द्वारा सारे पुण्य-पापरूपी दोषों की निवृत्ति होकर वासनाजाल समाप्त हो जाता है तब तेजस्वी अप्रतिबद्ध जो अपरोक्ष साक्षात्कार है, उसका उदय होता है। जो सारा प्रकार इस प्रकरण में बताया उसी प्रकार से जो करता है अर्थात् सच्चिदानंद और असत्-जड-दुःखरूप नामरूपात्मक संसार का जो दृढ विवेक करता है उसमें इस अपरोक्ष साक्षात्कार का उदय होता है। केवल विवेक न कहकर 'तत्त्वविवेक' इसलिये कहा कि विवेक तो सांख्य पक्ष में भी हो जाता है; सत् ही तत्त्व है एवं असत् तीनों कालों में नहीं है इसका निश्चय सांख्य पक्ष में नहीं होता। इसलिये तत्त्वविवेक कहा। 'विधिवत्' अर्थात् जैसा श्रवण-मनन बताया है वैसा करने के द्वारा जो सच्चिदानंद तत्त्व अलग से जाना है उसके अन्दर मन को सर्वथा समाहित करे, उससे 'विगलितसंसृतिबन्धः' संसार में जन्म-मरण का बन्धन गल जाता है। जब बर्फ पानी में डाली जाती है तो गल जाती है, फिर उस बर्फ और पानी में कुछ फर्क़ नहीं रहता, उसको विगलित कहते हैं। अगर उस पानी में तुम नमक की डली डालते हो तो दीखेगी वह भी नहीं, परन्तु

वह विगलित नहीं होती। वह लीन तो हो जाती है इसलिये तुम्हें दीखती नहीं, परन्तु उसमें अलग से रहती है। अगर पानी उड़ गया तो फिर वही नमक रह जायेगा। समुद्र के किनारे बड़े-बड़े खेत बना देते हैं। उनमें समुद्र का पानी आता है, फिर जब समुद्र पीछे जाता है तो समुद्र का पानी खेत की उन क्यारियों में रह जाता है। वही फिर धीरे-धीरे सूखकर नमक बन जाता है। उसे कुरेद कर अलग कर देते हैं। समुद्र के पानी में नमक दीखता तो नहीं है लेकिन वह अलग किया जा सकता है। परन्तु जो बर्फ तुमने पानी में डालकर गला दी है, वह फिर पानी से अलग नहीं हो सकती। इसलिये कहा कि वह संसरण ऐसा विगलित हो जाता है कि फिर आत्मा बंधन में आ ही नहीं सकता। जो यह संसरण विगलित कर लेता है, वह नर है। 'नर' शब्द से कह रहे हैं कि वह विषयों में रमण नहीं करता है। जब विषयों को छोड़ देता है तभी व्यक्ति इस मार्ग में जाता है। 'न रमते विषयेषु इति नरः' वही परम पद को प्राप्त करता है।

श्रुति कहती है 'तस्य तावदेव चिरं यावत् न विमोक्ष्ये अथ सम्पत्स्ये' (छां ६.१४.२) श्रवण-मनन से ज्ञात निश्चित अर्थ में जो स्थिर रहता है उसको केवल इतनी ही देरी है कि जब तक मर नहीं जाता; अर्थात् प्रारब्ध-भोग के सुख-दुःख आदि का अनुभव करता है, केवल इतनी ही देरी है। 'अथ सम्पत्स्ये' फिर तो वह ब्रह्मरूप से अभिन्न ही रहता है। परन्तु इस प्रकार धर्ममेघ समाधि के अभ्यास से जिसने यह निश्चय कर लिया, वह यहीं अनुभव कर लेता है, यहीं छठी-सातवीं भूमिका का आनन्द लेता है अर्थात् उसे प्रारब्धक्षय की भी इन्तजार नहीं करनी पड़ती। कोई मुख में कौर डाल देता है तो वह पहले की स्थितियों में निगल लेता है पर बाद में निगलता भी नहीं है। ऐसा तब करता है जब प्रारब्ध-भोग समाप्ति पर होता है। शरीर छूटने में कहीं दो-एक दिन का समय भी लगता है परन्तु उसे वह प्रतीत होता ही नहीं। पूर्व के प्रवाह से मिले वेग के कारण उसका शरीर कुछ काल तक चल गया तो दूसरों को प्रतीति हो जाती है। इसलिये भगवान् ने भी कहा (४.३९) 'परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।' इसी प्रकार यहां 'न चिरात्' कहा अर्थात् परम पद मिलने में विलम्ब नहीं होता। अनादि संसार में प्रारब्धसमाप्ति तक की देर को विलम्ब कहना बनता नहीं। किंच स्वयं की दृष्टि से ज्ञान-समकाल प्राप्ति एवं प्रातीतिक दृष्टि से ही यत्किंचित् कालक्षेप होने से 'न चिरात्' ही कहना ठीक है।।६५।।

पंचदशी का प्रथम 'तत्त्वविवेक' नामक प्रकरण पूर्ण हुआ।

द्वितीय
महाभूतविवेक प्रकरण

तत्त्वविवेक प्रकरण में मूलतः उपाधि और अधिष्ठान को बताया। अधिष्ठान ही तत्त्व है, उपाधि नहीं। महाभूतविवेक नामक दूसरा प्रकरण प्रारम्भ करते हैं। इस प्रकरण में पाँचों महाभूतों का, उनके अनुभवों का और उनमें कितना अंश ईश्वरकृत है और कितना जीवकृत है, इसका प्रतिपादन करेंगे। जीवकृत को हटाना है, ईश्वरकृत को स्वीकारना है। तत्त्वविवेक से यह निश्चय हो गया कि जीवकृत अतत्त्व है। अतत्त्व होने पर भी ईश्वरकृत प्रतीत होता ही रहेगा। परन्तु जीव जो निर्माण कर लेता है उसका उपसंहार कर सकता है। बहुत-से लोग चाहते हैं कि ईश्वरसृष्ट संसार हमारे मन के अनुकूल हो जाये! इस प्रकरण के विचार से यह दुराशा दूर हो जाती है। संसार का निर्माण करने वाला और उसको चलाने वाला ईश्वर है। न हमने इसे बनाया है, न हम इसे चलाते हैं और न हम इसके लिये ज़िम्मेदार हैं। यह समझने पर बहुत बड़ा भ्रम दूर हो जाता है कि संसार को हम मनोनुकूल बना सकते हैं। प्रकरण का उपोद्‌घात करते हैं–

सदद्वैतं श्रुतं यत्तत् पञ्चभूतविवेकतः।
बोद्धुं शक्यं ततो भूतपञ्चकं प्रविविच्यते।।१।।

श्रुतिसम्मत जो सद्वस्तु का अद्वैत वह पाँच भूतों के विवेक से समझा जा सकता है इसलिये भूतपंचक का विस्तृत विवेचन प्रारम्भ किया जाता है।

श्रुतियों के अन्दर सत् की अद्वितीयता सुनी गई है 'सदेव सोम्येदमग्रआसीद् एकमेवाद्वितीयम्'। सत् की अद्वितीयता को बताने के लिये तीन विशेषण दिये। तीन प्रकार से किसी चीज़ से कोई चीज़ भिन्न होकर प्रतीत होती है; एक सजातीय भेद होता है। जैसे कोई कह दे कि इस गाँव में केवल ब्राह्मण रहते हैं। या, कि अकेले ब्राह्मण ही रहते हैं। 'अकेले' से क्षत्रिय, वैश्य आदि की तो व्यावृत्ति हो गई अर्थात् यह तो पता लग गया कि इस गाँव में क्षत्रिय, वैश्य नहीं रहते, परन्तु ब्राह्मण परस्पर अलग हैं ही, ब्राह्मणों के पचास घर हैं ही, अन्यथा गाँव कैसे कह सकते हैं! अकेले ब्राह्मण रहते हैं का मतलब हुआ कि ब्राह्मणों से भिन्न जाति के अर्थात् विजातीय क्षत्रिय, वैश्य नहीं रहते। यह भी कह सकते हैं कि 'इस गाँव में देवदत्त अकेला ब्राह्मण है।' इसका मतलब होगा कि यहाँ उसकी जाति का अर्थात् ब्राह्मण जाति का कोई और नहीं है; परन्तु विजातीय क्षत्रिय, वैश्य हैं ही। पहले

वाक्य में विजातीय की निवृत्ति थी और दूसरे में सजातीयों की निवृत्ति है। ये सजातीय और विजातीय दो तरह के भेद हैं। तीसरा, किसी देवदत्त ब्राह्मण को हम कहते हैं 'आप आज अकेले ही भोजन करने आना' तो वह अपनी पत्नी और बच्चों को साथ नहीं लाता। सामान्यतः ब्राह्मण को निमंत्रण देने का मतलब होता है कि घर के सब लोग आयें। यही अपनी प्राचीन परम्परा है। जैसे केवल राष्ट्रपति को बुलाते हैं तो उनके अंगरक्षक आदि सब आ ही जाते हैं। उन सबके आने पर 'हमने सबको तो बुलाया नहीं था, इन्हें यहाँ से हटाओ' यह कहना नहीं बनता। जब ब्राह्मण को निमंत्रण देते हुए कहते हैं कि 'अकेले ही आना' तब वह अपने साथ आँख, कान, जीभ, और भूख भी साथ लेकर आयेगा, हाथ-पैर, आँख-कान या भूख आदि को घर में रखकर नहीं आयेगा! देवदत्त अकेला आयेगा तो उसके अन्दर होने वाले हाथ-पैर, जीभ, भूख आदि तो साथ आयेंगे ही। अपने अंगों से अंगी में जो अन्तर है उसे स्वगत भेद कहते हैं। उसे न सजातीय और न विजातीय कह सकते हैं; अपने अन्दर ही होने वाले पदार्थों से वह भेद है। विचार करके देखो तो एक चीज़ से दूसरी चीज़ में केवल ये तीन ही भेद मिल सकते हैं—सजातीय, विजातीय और स्वगत। श्रुति ने 'एकम् एव अद्वितीयम्' तीन तरह से एकता को बताकर सजातीय, विजातीय, और स्वगत तीनों भेदों की व्यावृत्ति कर दी अर्थात् सत् से भिन्न जो है वह है ही नहीं। ऐसा असत् कुछ नहीं है जो सत् से भिन्न होकर रहे। इसलिये यदि असत् को भी कहना पड़ता है तो बाध्य हो कहते हैं कि 'असत् है या शून्य है'। बिना 'है' जोड़े केवल 'शून्य' कहें, तो वाक्य ही न बनने से कुछ अर्थ ग्रहण नहीं होगा। अतः असत् कुछ भी नहीं है तो सत् से विजातीय की सम्भावना समाप्त है। सत् दो नहीं है, इसलिये सत् की समान जाति का भी कोई नहीं है अर्थात् सजातीय द्वितीय नहीं है। और सत् के अन्दर कोई विभाग भी नहीं हैं कि सत् में स्वगत भेद हो सके। इस प्रकार से तीनों भेदों की व्यावृत्ति के लिये कह दिया 'एकम् एव अद्वितीयम्'।

वेद ने सत् की अद्वितीयता को बताया कि वह सत् ही सृष्टि बनने के पहले अकेला था। भाष्यकार ने प्रश्न उठाया है कि फिर क्या वह सृष्टि-काल में नहीं है? उत्तर दिया है कि सृष्टि-काल में तो वह है ही। जब सृष्टि-काल में भी वह है तब 'आसीत्' या था, ऐसा क्यों कहा? इसलिये कि सृष्टि-काल में हमको इतने भेद दीख रहे हैं, उसी काल में 'ब्रह्म ही है' ऐसा कहते तो शिष्य घबरा जाता! जैसे पानी में डुबकी लगाने पर आदमी को कुछ भी नहीं दीखता, वहाँ वह चाहे जितनी आँख खोलने की कोशिश करे, ऐसे ही इतने भेद दीखते काल में यदि कहते कि 'केवल ब्रह्म है' तो शिष्य की बुद्धि विह्वल हो जाती। लेकिन ऐसा कहने पर कि 'सृष्टि बनने के पहले केवल एक ब्रह्म ही था' श्रोता की समझ में सम्भव बात आ जाती है। वेद का तात्पर्य, पहले 'आसीत्' से शुरू करके, अंत में 'तत्त्वमसि' में स्पष्ट हो जाता है। इसलिये कहा कि प्रकट होने के पहले वही एक था। जो पहले हुआ करता है वह कारण हुआ करता है और जो बाद में हुआ करता है वह कार्य हुआ करता

है। जैसे पहले मिट्टी हुआ करती है और फिर चाक पर चढ़कर घड़ा इत्यादि हुआ करते हैं इसलिये मिट्टी को कारण और घड़े इत्यादि को कार्य कह देते हैं। अथवा पहले रुई होती है, कपड़ा बाद में होता है इसीलिये रुई को कारण और कपड़े को कार्य कह देते हैं। इसी प्रकार अद्वितीय ब्रह्म पहले था इसका मतलब ही यह हुआ कि वही जगत् का कारण है। लोक में कारण दो प्रकार के होते हैं–एक, बनाने वाला कारण और दूसरा, बनने वाला कारण। घड़े के बनने से पहले दो चीज़ें थीं–एक, मिट्टी और दूसरा, कुम्हार था। केवल मिट्टी से घड़ा नहीं होगा, केवल कुम्हार से भी घड़ा नहीं बनेगा। दोनों हों तब घड़ा बनेगा। कुम्हार घड़ा बनाने वाला और मिट्टी घड़ा बनने वाली। कुम्हार भी पहले से सिद्ध है और मिट्टी भी पहले से ही सिद्ध है। इसलिये इनके 'होने' को भी कारण कहते हैं। शास्त्रीय भाषा में एक को उपादान कारण और दूसरे को निमित्त कारण कहते हैं। यहाँ श्रुति ने कहा कि सत् पहले एक ही था तो उसी एक को निमित्त कारण भी होना पड़ेगा और उपादान कारण भी होना पड़ेगा। वह उपादान और निमित्त दोनों कारण कैसे है–इसको आगे बतायेंगे। संसाररूप से बना भी वही और संसाररूप को बनाया भी उसी ने।

सृष्टि के रूप में बनने वाले और बनाने वाले परमेश्वर के ज्ञान से ही मोक्ष बताया है। परमेश्वर का साक्षात्कार करके ही मोक्ष होगा। वेद ने नियम कर दिया है 'तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति' सृष्टि के पहले एकमात्र जो था, अथवा यह सारा नाम-रूप का प्रपंच प्रकट होने के पहले जो था, उसी का स्वरूपज्ञान कैवल्यप्रद है। जहाँ तक नाम-रूप हैं वहाँ का ज्ञान कभी मोक्ष नहीं दे सकता। इसलिये सगुण ब्रह्म के ज्ञान से कैवल्य सम्भव नहीं। वाणी, मन और इन्द्रियाँ सब जिसको जान सकती हैं वही सगुण है। शंख-चक्र-गदा-पद्म-धारी सामने खड़े हैं–यह ज्ञान आँख से होता है। शब्द से ज्ञान होता है कि एक वैकुण्ठ धाम है जहाँ भगवान् विष्णु बड़े आनन्द से रहते हैं। इसी प्रकार अनुमान से ज्ञान होता है कि जगत् का निमित्त कारण ईश्वर है। जो-जो कार्य हैं उन सबको बनाने वाला कोई होता है; जगत् कार्य है इसलिये इसको भी कोई बनाने वाला होना चाहिए। किंतु यों स्वयं अनुमान करने से अखण्ड वस्तु नहीं समझ सकते। निर्विशेष को खुद जानना असम्भव है। क्योंकि तुम उसे केवल बनाने वाला समझोगे अतः बनने वाले परमाणु, प्रकृति आदि भिन्न, स्वतंत्र, परिच्छेदक बने रहेंगे। अगर कहो कि परमाणु आदि बिना बनाये ही हैं, तो यह संसार जैसा दीख रहा है इसी को बिना बना हुआ मान लो! इसलिये जो वाणी और मन का विषय नहीं है उसको हम प्रत्यक्ष, शब्द, अनुमान के द्वारा नहीं जान सकते।

इसलिये वेद ने 'एकमेवाद्वितीयम्' कह दिया अर्थात् वह सब भेदों से शून्य है। तीनों भेदों से रहित क्या है? यह कुछ नहीं समझ में आता। इसलिये श्रुति ने केवल 'सदेव सोम्येदमग्रआसीद् एकमेवाद्वितीयम्' कहकर नहीं छोड़ दिया, वरन् 'उसने इस सारी सृष्टि को बनाया जिसे हम देखते-सुनते हैं' यह भी कहा। पंचभूतों की उत्पत्ति को बताना इस तरीके से है कि जिससे यह स्पष्ट हो कि अधिष्ठान वैसा ही बना रहता है। संसार बिना बने हुए

बन जाता है और ईश्वर बिना बनाये हुए बनाने वाला हो जाता है! यही परमेश्वर की विशेषता है। आचार्य शंकर ने कहा 'महदिदम् इन्द्रजालम्' परमेश्वर तो बाजीगर की तरह है। पी.सी. सरकार को देखा होगा। वह एक लड़की लिटाता है, उसके दो टुकड़े करता है। दोनों टुकड़े अलग दीखते हैं। फिर उन दोनों टुकड़ों को मिला देता है। तुमको लड़की दीखी, फिर उसके टुकड़े भी दीखे, वापिस उन टुकड़ों को जुड़ते भी देखा। परन्तु तुम जानते हो कि न टुकड़े किये और न उन्हें जोड़ा, कुछ नहीं किया लेकिन तुम्हें सब कुछ दीखा। आचार्य शंकर कहते हैं कि ऐसे ही यह सारा इन्द्रजाल है। सृष्टि आदि सब कुछ नहीं बना और तुम्हें दीख गया। जैसे वहाँ लड़की के कटने और जुड़ने से तुम्हें पता लग गया कि यह जादूगर है इसी प्रकार जगज्जन्मादि के आधार पर ईश्वर का पता लग जाता है। शास्त्र बार-बार कहता है कि यह माया है, यह सब कुछ नहीं है, फिर भी जँचता है कि 'कुछ ज़रूर है, सारा मायाजाल थोड़े ही हो सकता है।' यदि बाजीगर खेल न दिखाये तो तुम्हें पता नहीं लगेगा कि यह बाजीगर है और खेल दिखाये तो तुम उसे सच्चा मान लेते हो, बाजीगर को भूल जाते हो! इसी प्रकार परमात्मा ने यह पांचभौतिक सृष्टि न की होती तो तुम उसे सिद्ध कैसे करते? इतना अनंत संसार बनाया तब सिद्ध होता है कि वह भी अनंत है। उसने अनंत संसार दिखाया तो इसलिये कि हम इसके दिखाने वाले को समझें, परन्तु हम उसे भूल गये। शास्त्र कहता है 'आरामम् अस्य पश्यन्ति न तं पश्यति' इस बगीचे को देखने पर भी इसे बनाने वाले को देखना भूल गये। हमें लगता है कि ईश्वर कुछ नहीं है और यदि है भी तो उसके बारे में किसी को कुछ पता नहीं है। बनाया तो उसने इसलिये था कि 'मुझे देखकर अर्थात् मेरी अनंतता समझकर प्राणी मुक्त हो जायेंगे'। उसने पंचभूत इसलिये बनाये कि इनका विवेक करके हमें परमेश्वर का ज्ञान हो। पंचभूत-विवेक कोई विज्ञान की किताब नहीं है कि हमें इससे पता लगे कि कार्बन या हाईड्रोजन के क्या गुण हैं! बल्कि यह जो सिद्धांत है 'सदेव सोम्येदमग्रआसीत्' इसे समझें, इसलिये यह प्रकरण है। 'है'-रूप के अवबोधन के लिये पंच-महाभूतों का विवेक करते हैं। हम लोग पंचभूत इसलिये मानते हैं कि हमारे पास पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। इस मार्ग के द्वारा ही संसार के स्वरूप को समझने में मदद मिल सकती है।। १।।

भूतों के गुण बताते हैं ताकि पाँचों का अन्तर पता चले–

शब्दस्पर्शौ रूपरसौ गंधो भूतगुणा इमे।
एकद्वित्रिचतुःपंचगुणा व्योमादिषु क्रमात्।। २।।

आकाशादि में क्रमशः एक, दो, तीन, चार, पाँच ये भूतगुण हैं–शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध।

पंचमहाभूतों के क्या-क्या गुण हैं, यह बताते हैं : शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध–ये पाँच गुण पाँचों भूतों के हैं। गुण से गुणी का ज्ञान हो जाता है। प्रश्न होता है कि इनसे

जिस गुणी का ज्ञान होता है उसमें क्या ये पाँचों गुण रहते हैं या इनमें से चार, तीन, दो या एक गुण रहता है? इसके उत्तर में कहते हैं कि आकाश आदि में क्रम से एक-दो-तीन-चार और पाँच गुण रहेंगे। व्योम में शब्द रहेगा, वायु में शब्द और स्पर्श रहेंगे, तेज में शब्द, स्पर्श और रूप तीन गुण रहेंगे, जल में शब्द, स्पर्श, रूप और रस चार गुण रहेंगे, पृथ्वी के अन्दर पाँचों रहेंगे।। ३।।

यह कैसे समझ में आये? इसे बताते हैं, भूतों में गुण ही दिखाते हैं–

प्रतिध्वनिर्वियच्छब्दो वायौ बीसीतिशब्दनम्।
अनुष्णाशीतसंस्पर्शो वह्नौ भुगु-भुगुध्वनिः।। ३।।
उष्णः स्पर्शः प्रभा रूपं, जले बुलुबुलुध्वनिः।
शीतः स्पर्शः शुक्लरूपं रसो माधुर्यमीरितम्।। ४।।

आकाश में प्रतिध्वनिरूप शब्द है। वायु में बी-सी यों शब्द और न गरम न ठण्डा ऐसा स्पर्श है। वह्नि में भुगु-भुगु यों शब्द, गरम स्पर्श है और प्रभात्मक रूप है। जल में बुलु-बुलु ऐसा शब्द, ठण्डा स्पर्श, सफेद रूप और मीठा रस (स्वाद) है।

आकाश में एक ही गुण, शब्द है। जब दो चीज़ों में परस्पर आघात हो तब शब्द होता है। लोक में भी कहते हैं कि ताली दो हाथ से बजती है अर्थात् दो हाथ आपस में टकरायेंगे तब शब्द होगा। घण्टे का लम्ब जब घण्टे की दीवार से भिड़ाओगे तब शब्द होगा। इसी प्रकार वायु से कण्ठ भिड़ाओगे तो आवाज़ होगी। जहाँ भी टक्कर होगी वहाँ शब्द ज़रूर होगा। अंगूठे से अंगुली को ज़ोर से घिसो तो चुटकी बजेगी! सब आघातों के लिये आकाश ज़रूरी है। दो चीज़ों के बीच में कुछ दूरी होगी तभी उन को मिलाकर आघात करोगे। चीज़ों के बीच की दूरी का नाम ही आकाश है। बीच में कुछ नहीं होने से यह नहीं समझना कि वहाँ कुछ भी नहीं है वरन् जगह के सिवाय कुछ नहीं है। जगह का मतलब ही आकाश है। लोक में भी जगह इसी अर्थ में प्रसिद्ध है।

आकश में ही शब्द रहता है तभी वहाँ टक्कर लगने से शब्द प्रकट होता है। वायु में दो गुण, शब्द और स्पर्श हैं। तेज़ हवा चले तो हिन्दी में भी कहते हैं कि सांय-सांय हवा चल रही है। आकाश में प्रतिध्वनि और वायु में बी-सी ये शब्द होते हैं। वायु के परमाणु टकराते हुए चलते हैं तब बी-सी शब्द होता है। अग्नि के अन्दर 'भुक्-भुक्' ध्वनि होती है। आग ज़ोर पकड़ती है तो 'भुक्भुक्' करते हुए शोर होता है। वायु का अपना गुण स्पर्श है। वह स्पर्श न ठंडा है और न गर्म है। हम लोगों को हवा में जो गर्मी लगती है वह अग्नि के कारण है। इसलिये धूप तेज हो तो हवा गर्म लगती है, जेठ के महीने में तेज लू में हवा और ज़्यादा गर्म लगती है। हवा जो ठण्डी लगती है वह आर्द्रीकरण के कारण है। खुद वायु में न ठण्डक और न गर्मी है। शब्द आकाश, वायु, अग्नि में है परन्तु आकाश में उष्णता और

स्पर्श नहीं है। वायु में शब्द और स्पर्श है परन्तु उष्ण या शीतल स्पर्श नहीं है। अग्नि में ध्वनि और स्पर्श है, लेकिन उसका अपना गुण रूप भी है। अग्नि में भुक्-भुक् ध्वनि आकाश से आया गुण है। आग में गर्म स्पर्श और चक्षुर्ग्राह्य प्रभारूप भी है। प्रभा अर्थात् प्रकाश। गर्मी के मौसम में हवा गर्म लगती है तो पता लग जाता है कि हवा के अन्दर अग्नि है, धूप के कारण उसमें गर्मी या अग्नि होती है। जब आग को जलता देखते हैं तो उसमें भुक्-भुक् ध्वनि होती है और प्रकाश-रूप भी दीखता है। जब जल बहता है तो उसमें बुद्-बुद् या बुलु-बुलु ध्वनि होती है। जल का स्पर्श ठण्डा है। इसलिये बद्रीनारायण के गर्म कुण्ड में नहाते हैं तो मनुष्य को आश्चर्य होता है कि यहाँ पानी गर्म कैसे है; आश्चर्य इसीलिये होता है कि हम लोगों को पता है कि जल का स्पर्श शीत या ठण्डा है; वहीं अलकनन्दा भी बह रही है, उसमें गोता लगाते हैं तो शरीर काँपने लगता है, फिर भी कोई नहीं पूछता कि 'यह पानी ठण्डा क्यों है?' पानी गर्म हो तो आग की चमक न दीखने पर भी वहाँ अग्नि मानते हैं। इसी प्रकार जहाँ ठण्डक होती है वहाँ प्रतीत न होने पर भी जल मानते हैं। जल का रूप शुक्ल है अर्थात् जल का सफेद रंग होता है। जलका अपना गुण रस अर्थात् स्वाद है। जल का रस माधुर्य है, पानी स्वभाव से मधुर होता है। कभी पाली वगैरह मारवाड़ में यह पाठ पढ़ायें तो लोगों को यह नहीं जँचता कि पानी का मधुर रस होता है क्योंकि वहाँ सारे कुएँ खारे हैं। कहीं दस-बीस मील दूर मीठे पानी का कोई कुआँ मिलता है। किंतु गैर-मीठा स्वाद जलभिन्न पार्थिव अंशों के कारण है अतः बाष्पीकरण से पार्थिवांश हटा लेने पर जल का स्वाभाविक मिठास ही उपलब्ध होता है।।३-४।।

पृथ्वी के गुण बताते हैं। उस में पाँचों गुण हैं–

भूमौ कडकडा-शब्दः काठिन्यं स्पर्श इष्यते।
नीलादिकं चित्ररूपं मधुराम्लादिको रसः।। ५।।
सुरभीतरगन्धौ द्वौ गुणाः सम्यक् विवेचिताः।

पृथ्वी में कड-कडा आवाज़ है, कठोर स्पर्श है, नील आदि मिला-जुला रूप है, मीठा-खट्टा आदि स्वाद और अच्छी-बुरी दोनों तरह की गन्ध है। यों गुणों का ठीक-ठीक विवेचन हुआ।

दो कंकड़ लेकर उन्हें आपस में भिड़ाओ तो कड़कड़ शब्द होगा। भूमि का स्पर्श कड़ा होता है। इसलिये जिस ज़मीन पर अखाड़ा आदि खोदते हैं उसे ऐसा बनाना पड़ता है, कि गिरें तो चोट न लगे। नीला आदि पृथ्वी का रूप है। मिट्टी कहीं काली तो कहीं भूरे रंग आदि की होती है अर्थात् उसके भिन्न-भिन्न रूप होते हैं। उड़ीसा इत्यादि प्रान्तों में लाल मिट्टी भी मिलेगी। मुलतान के आसपास मिट्टी पीली मिलती है। मिट्टी एक रंग की न रहकर अनेक रंगों की होती है। मिट्टी में कई तरह के स्वाद भी हैं। कहीं मिट्टी खट्टी, कहीं कड़वी तो कहीं नमकीन होती है। अलग-अलग स्थानों में अलग-अलग तरह के स्वाद की मिट्टी मिलती है। उसमें स्पर्श का भी भेद है अर्थात् सर्वत्र समान कठोरता नहीं है। रस का भी भेद है। इसलिये

जहाँ जो फल, सब्जी आदि पैदा होती है, वहाँ की मिट्टी के अनुसार उसके स्वाद में फ़र्क मिलता है। जैसी एक ज़मीन में पैदा होती है वैसी दूसरी ज़मीन में पैदा नहीं होती। मिस्र देश में जो रुई पैदा होती है, उसका धागा जितना लम्बा बन सकता है उतना लम्बा धागा अन्य किसी भी देश की मिट्टी में पैदा रुई से नहीं बन सकता। और स्पर्श का फ़र्क है इसके कारण ही उसमें होने वाले फल, फूलों का भी भेद हो जाता है। पृथ्वी में आकाश से कड़-कड़ शब्द आया क्योंकि आकाश का गुण शब्द है। वायु से स्पर्श आ गया, रूप अग्नि से आ गया और मीठा इत्यादि स्वाद जल से आ गया। पृथ्वी की अपनी विशेषता दो तरह की गन्ध है, सुरभि, अच्छी गन्ध और उससे इतर या भिन्न अर्थात् दुर्गन्ध। भगवान् ने गीता में 'पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च' से पृथ्वी में अपनी विभूति सुगन्ध को माना। दुर्गन्ध को भगवान् ने अपनी विभूति में नहीं गिना, यद्यपि पृथ्वी में दोनों प्रकार की गन्ध है। इस प्रकार पृथ्वी के पाँचों गुण और बाकी भूतों में आकाश आदि क्रम से एक, दो, तीन और चार गुण अच्छी प्रकार से विविक्त करके समझाये।। ५।।

इन गुणों के ज्ञान के साधन अर्थात् इन्द्रियाँ भी इन्हीं महाभूतों से बने हैं। उनका संग्रह करते हैं–

श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा घ्राणं चेन्द्रियपञ्चकम् ।। ६।।

श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जीभ, घ्राण–ये पाँच (ज्ञानोपायभूत) इन्द्रियाँ हैं।

शब्दज्ञान का साधन कान अर्थात् श्रोत्र है। कान से ध्वनिका ग्रहण होता है। जिसे साधारण भाषा में आवाज़ कह देते हैं वह कान से ग्रहण होती हैं। परन्तु सार्थक शब्द का ग्रहण तो उस शब्द के संस्कार वाले मन से होता है। यहाँ सब कान वाले बैठे हैं। यहाँ कोई चीन की भाषा में बोलने लगे तो सभी कान से ध्वनि वही सुनेंगे परन्तु 'शब्दों' का पता नहीं लगेगा। हम लोग हिन्दी में बोल रहे हैं, यहाँ बैठे चीनी व्यक्ति को समझ नहीं आयेगा कि क्या कह रहे हैं। जो हिन्दी भाषा के संस्कार वाला मन है वह शब्दों को अलग सुन लेगा और समझ जायेगा। संस्कारों से रहित को केवल ध्वनि ही सुनाई देगी, शब्द का उसे कुछ पता नहीं लगेगा। आकाश का गुण जो शब्द है वह ध्वनिरूप है अर्थात् कान से तो वही ग्रहण होता है। इसी प्रकार स्पर्श का केवल त्वक् से ही ग्रहण होता है। त्वक् इन्द्रिय से ही स्पर्श का पता लगता है। आँख की इन्द्रिय से ही रूप का पता लगता है। स्वाद का पता जिह्वा से ही लगता है और घ्राण से ही गन्ध का पता लगता है। जब गन्ध का पता लगेगा तभी मालूम चलेगा कि यह पृथ्वी है। जब तक किसी के विशेष गुण का ग्रहण नहीं करो तब तक 'यही चीज़' है इसका पता नहीं लगेगा। नासिका से जिसका पता लगेगा वह पृथ्वी होगी। उसमें गुण पाँचों रहें, परन्तु पृथ्वी है इसका निश्चय करने के लिये गन्ध की प्राप्ति आवश्यक है। इसी प्रकार रस की प्राप्ति होने पर ही कह सकते हो कि जल है। इसी प्रकार रूप का पता आँख से ही लगेगा। जन्मान्ध को तुम किसी भी प्रकार से रूप नहीं समझा सकते। इसी

प्रकार स्पर्श का पता त्वक् से ही लगता है, शब्द का पता श्रोत्र से ही लगता है। गुणानुसार महाभूतों का भेद और उन गुणों का ग्रहण जिन ज्ञानेन्द्रियों से होता है वे बता दिये।। ६।।

अब बताते हैं कि ये श्रोत्र त्वक् और चक्षु आदि कहाँ रहते हैं–

कर्णादिगोलकस्थं तच्छब्दादिग्राहकं क्रमात्।
सौक्ष्म्यात् कार्यानुमेयं तत् प्रायो धावेद् बहिर्मुखम्।। ७।।

कान आदि गोलकों में स्थित इन्द्रियाँ क्रमशः शब्दादि ग्रहण करती हैं। सूक्ष्म होने से वे कार्यद्वारा अनुमित हो सकती हैं और अधिकतर विषयों की तरफ ही दौड़ती हैं।

श्रोत्रेन्द्रिय कान में, त्वक् चमड़े में, चक्षु आँखों में, जिह्वा मुँह में, घ्राणेन्द्रिय नाक में रहेगी। कान आदि गोलकों में तत्तदिन्द्रिय रहती है। श्रोत्र से शब्द, त्वक् से स्पर्श, चक्षु से रूप, जिह्वा से स्वाद, और घ्राण से गन्ध का ग्रहण होता है। हमें गोलकों का पता लगता है, आँख, कान, नाक, जीभ, त्वचा दीखते हैं। ये सब गोलकें हैं परन्तु इन गोलकों में इन्द्रिय नाम की कोई चीज़ नहीं दीखती अतः कहते हैं कि चूंकि इन्द्रियाँ सूक्ष्म हैं इसलिये प्रत्यक्ष का विषय नहीं होतीं अर्थात् नहीं दीखतीं। गोलकें स्थूल हैं इसलिये प्रत्यक्ष का विषय हैं। सूक्ष्म का मतलब यहाँ छोटा नहीं समझना। सूक्ष्म हैं अर्थात् उनको तुम इन्द्रियों से अनुभव नहीं कर सकते। चूंकि गोलकें स्थूल महाभूतों का कार्य हैं इसलिये दिखती हैं। सूक्ष्म इन्द्रियाँ कार्यानुमेय हैं, उनका पता कार्य से लगता है। अंधे की आँख की गोलक वैसे ही दीखेगी जैसी हम लोगों की दीखती है लेकिन उसकी इन्द्रिय कार्यकारी नहीं होती। चेहरा देखो तो पता नहीं लगता कि आँख चली गई है। गोलकरूप आँख तो ठीक ही दीखती है लेकिन इंद्रिय काम नहीं करती है। यदि रूप की उपलब्धि नहीं हो रही है तो इसका मतलब है कि आँखरूपी इन्द्रिय कार्यकारी नहीं है। यदि रूप का ज्ञान हो रहा है तो समझ आता है कि कोई साधन है जिससे रूप का ज्ञान हो रहा है। साधन को ही इन्द्रिय कहते हैं। इसलिये इन्द्रिय कार्यानुमेय है। अपंचीकृत पंचमहाभूतों का कार्य होने से उसका प्रत्यक्ष अनुभव नहीं होता, लेकिन उसके कार्य का अनुभव होता है। यही बात सभी गोलकों में समझ लेना। कान इतने बड़े दिखाई देते हैं, लेकिन श्रोत्र इन्द्रिय कहीं नहीं दीखती। बहरों की कानरूपी गोलक तो पूरी दीखती है लेकिन इन्द्रिय नहीं होने से उन्हें शब्द की उपलब्धि नहीं होती। इसी से पता लग जाता है कि इनकी इन्द्रिय नहीं है। जीभ की इन्द्रिय तो कई बार प्रतिबद्ध हो जाती है। जब कभी ज़ोर का जुकाम हो जाये तब कुछ भी खाओ, सब चीज़ें, भूसे की तरह लगती हैं। इसी प्रकार पीनस रोग में गन्ध का पता नहीं लगता। नाक गोलक बहुत अच्छी दीखती है, उसमें छेद (नथुने) भी स्पष्ट रहते हैं लेकिन उससे गन्ध नहीं आती।

ये इन्द्रियाँ प्रायः बाहर की तरफ मुख करके दौड़ती हैं। कभी-कभी अन्दर भी देख लेती हैं, लेकिन प्रायः बाहर की तरफ ही देखती हैं क्योंकि इन सबको बाहर की तरफ ही खोला

गया है। दरवाज़े (गोलकें) बाहर की तरफ खुलते हैं, इसलिये ये झट बाहर की तरफ दौड़ती हैं। इन्द्रियों का ऐसा स्वभाव क्यों है? वेद स्वयं बताता है कि स्वयंभू ब्रह्मा ने सोचा कि यदि इन्द्रियाँ अन्तर्मुख होंगी तो कहीं ये आत्मा के स्वरूप का ज्ञान न कर लें! इसलिये उन्होंने इन्हें बाहर दौड़ने वाला बना दिया ताकि बाहर ही देखती रहें। उसी को वेद ने कहा कि ब्रह्मा जी ने हमारी हिंसा कर दी। हमें बाहर की चीज़ें लगती तो बड़ी मीठी हैं परन्तु उन इन्द्रियों की बहिर्मुखता के कारण हम जन्म-मरण के चक्र में फँसे हैं। ब्रह्मा जी ने चूंकि सृष्टि की है, इसलिये वे कभी नहीं चाहते कि लोगों को ज्ञान हो जाये क्योंकि जीवों को ज्ञान हो जायेगा तो ब्रह्मा जी का खेल खत्म हो जायेगा। इसलिये उन्होंने सोचा कि इन्द्रियाँ बहिर्मुखी रहेंगी तो खेल चलता रहेगा। बहिर्मुखता के लिये इन्द्रियों को कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता। अन्दर की तरफ ले जायें तो बड़ी मुश्किल होती है, अन्दर जाना ही नहीं चाहती। अगर कभी मूलाधार से ऊपर सुषुम्णा की तरफ जाओ तो बड़ी सुन्दर ध्वनियाँ सुनाई देती हैं, परन्तु उधर जाने में पहले बड़ी कठिनाई होती है। बाहर कहीं बाजार के चौक में गाना हो रहा है तो आदमी को अपने कमरे में बैठे ही वह गाना सुनाई दे जाता है। बीच में थोड़ा न सुनाई दे तो कान उधर लगाकर सुनने की कोशिश करता है। इन्द्रिय भी बाह्य विषयों को सप्रयास देखती रहती हैं। कहीं बढ़िया नींबू पड़ा हो तो देखते ही जीभ में से झट पानी निकलने लगता है! इसलिये कहा कि इन्द्रियाँ बाहर दौड़ती हैं।। ७।।

आन्तरिक शब्दादि के लौकिक उदाहरण देते हैं–

कदाचित् पिहिते कर्णे श्रूयते शब्द आन्तरः।
प्राणवायौ जाठराग्नौ जलपानेऽन्नभक्षणे।। ८।।
व्यज्यन्ते ह्यान्तराः स्पर्शा मीलने चान्तरं तमः।
उद्गारे रसगन्धौ चेत्यक्षाणामान्तरग्रहः ।। ९।।

कभी कान बन्द होने पर भीतरी आवाज़ सुनाई देती है जो प्राणवायु या पेट की आग के जलने से उत्पन्न होती है। जल पीने एवं अन्न खाने पर भीतरी स्पर्श मालूम पड़ता है। आँखें मूंदने पर भीतरी अंधेरा दीखता है। डकार आने पर भीतरी स्वाद और गंध पता चलते हैं। यों कभी-कभी इन्द्रियाँ भीतरी विषय भी ग्रहण करती हैं।

जैसे ही कान बन्द करोगे, अन्दर का शब्द बिना किसी प्रयत्न के सुनाई देता है। प्रयत्न-पूर्वक दक्षिण (दाहिने) कान में सुनो तो पहले बादल, मृदंग या वीणा जैसी आवाज़ सुनाई देगी और अंत में 'ॐ' के जैसी अनाहत ध्वनि सुनाई देती है। वह ध्वनि कहीं बाहर की नहीं है, शब्द अन्दर ही सुनाई दे रहा है। कभी-कभी अकस्मात् किसी कारण के बिना अथवा प्रयत्नपूर्वक जब कान को अन्दर ले जाते हैं तब वह शब्द सुनाई देता है। यह अन्दर का शब्द किसका है? प्राणवायु का है। अन्दर निरन्तर हवा या प्राणवायु चलती रहती है।

वह वायु चलती है तो घर्षण होता है और उससे शब्द पैदा होता है। इसी प्रकार पेट में वैश्वानर अग्नि जलती रहती है, उसमें भी अग्नि की ध्वनि होती है। उसमें होने वाले जो भुक्-भुक् आदि शब्द होते हैं उन्हें आन्तर शब्द कहते हैं। आन्तर शब्दों का श्रवण कर्ण इन्द्रिय ही कर रही है।

अन्दर के स्पर्श का पता जल पीने से लगता है। पानी पीते हो तो जीभ से लेकर पेट तक सर्वत्र ठण्ड का अनुभव होता है। गर्म खीर पीते हो तो पीते समय होठ से लेकर पेट तक गर्मी का अनुभव होता है। तेज़ मिर्च खाने का मौका लगे तो उसे खाकर केवल जीभ नहीं जलती, पेट भी जलता है। प्रातः काल जब मल निकलेगा तब वहाँ भी जलन होगी। जीभ से लेकर पेट के अन्दर और नीचे के अंग तक जो जलन का अनुभव होता है वह आन्तर स्पर्श है। इसी प्रकार आँख बंद कर लेने पर अंधकार दीखता है। लोग प्रकाश के न होने को अंधकार समझते हैं। किंतु प्रकाश का न होना अंधकार नहीं है। अतः भगवान् भाष्यकार ने अंधकार और प्रकाश को विरुद्ध स्वभाव वाला कहा है। तम भी एक भावपदार्थ है। प्रकाश व अंधेरा दोनों भाव वस्तुएँ होने से उनमें विरुद्ध स्वभाव या धर्म रह सकते हैं, अभाव के अन्दर तो कोई विशेषता नहीं रह सकती। अंधकार भावपदार्थ है, अभावपदार्थ नहीं है। आँख बन्द करते हो तो अंधेरा दीखता है। वह अंधकार कहाँ का दीख रहा है? कमरे में तो सौ वाट का लट्टू या हैलोजन लाइट जल रही है इसलिये बाहर अंधकार है नहीं; वह अन्दर का ही अंधकार है जो आँख बन्द करने पर व्यक्त होता है। खाने के पाँच-छह घण्टे बाद डकार आती है तब उसके अन्दर जो चीज़ खाई है उसका रस आता है। अगर आलू की टिक्की खाई है तो वैसा उद्गार नहीं आयेगा, जैसा बढ़िया लड्डू खाकर आयेगा। अगर बढ़िया हींग पड़ी हुई कढ़ी खा लो तो उसकी गन्ध आयेगी। और भगवान् न करे, यदि कहीं अम्ल बढ़ गया तो पानी-पूरी खाकर इतनी जलन होगी कि स्पर्श पता लगेगा। इस प्रकार अन्दर के शब्द स्पर्श, तम आदि रूप, रस और गन्ध बता दिये।

इतना समझ लेना कि विशेष प्रकार के योग का अभ्यास करने से जिस स्वाद को तुम चाहो, वही स्वाद प्रकट होने लगता है। अन्य लोग तो केवल बाह्य पदार्थ के रस को ही जान सकते हैं, परन्तु योगी आन्तर रस आदि को भी जानता है। इसी प्रकार नासिका के ऊपर ध्यान करने की जो विशिष्ट प्रक्रिया पतञ्जलि ने बताई है उसमें दिव्य गन्ध का अनुभव होता है। वह पृथ्वी वाली गन्ध नहीं है वरन् जिस गन्ध की तुम कल्पना भी नहीं कर सकते वह गन्ध आती है। इसी प्रकार दिव्य रस का अनुभव होता है। रस आदि बाहर नहीं सर्वथा अन्दर ही अनुभव हो रहे हैं। इस प्रकार, यह जो इन्द्रियों का अन्दर के विषयों का ग्रहण है, इसके लिये अगर तुम योगाभ्यास के द्वारा इन्द्रियों को अन्तर्मुख करके इन अनुभवों को करते हो तो धीरे-धीरे बाह्य विषयों के प्रति तुम्हारी इच्छा कम हो जाती है। एक न्याय है कि अगर तुम्हारे घर में नीम के पेड़ पर मधुमक्खी का छत्ता लगा है तो उसी में से शहद निकाल लोगे, जंगल में शहद लेने नहीं जाओगे। इसी प्रकार से जब पता लगता है कि सुन्दर से सुन्दर शब्द,

स्पर्श, रूप, रस और गन्ध सब अन्दर हैं तब फिर क्यों मेहनत करके बाह्य विषयों में जाया जाये! इसी प्रकार इन दिव्य गन्ध आदि के अनुभव से तीव्र वैराग्य होने का फ़ायदा हो जाता है। लेकिन, यह ज़रूर है कि बाह्य विषयों से वैराग्य होता है, सभी विषयों से वैराग्य नहीं हो पाता। इसलिये वेदान्त में उसकी उपयोगिता नहीं है परन्तु सामान्य व्यक्ति की बाह्य विषयों से निवृत्ति के लिये तो उपादेय हो ही जाता है।।८-६।।

कर्मेन्द्रियों की सिद्धि करते हुए उनके जिन व्यापारों (क्रियाओं) के आधार पर उन्हें स्वीकारना उचित है उन्हें बताते हैं–

पंचोक्त्यादानगमनविसर्गानन्दकाः क्रियाः।
कृषिवाणिज्यसेवाद्याः पंचस्वन्तर्भवन्ति हि।। १०।।

बोलना, लेना, चलना, (मलादि को) त्यागना और ग्राम्यधर्मरूप आनन्द करना ये पाँच क्रियायें हैं। खेती, व्यापार, सेवा आदि उक्त पाँचों के अन्तर्गत ही हैं।

पाँच प्रकार की क्रियायें देखने में आती हैं। मनुष्य बोलता देखा जाता है, बोलने की क्रिया करता है। बोलने की क्रिया का मतलब है कि मनुष्य शब्दों का उच्चारण करता है। आदान–मनुष्य चीज़ों को ग्रहण करता या पकड़ता है। गमन–मनुष्य चलता है। विसर्ग–शरीर से मल-मूत्र आदि छोड़ता है। व्यायाम आदि के द्वारा पसीना इत्यादि भी निकालता ही है, सामान्यतः भी कभी पसीना निकलता है। आनन्द–स्त्री के साथ आनन्दरूप रतिक्रिया करता है। केवल इन्हीं को गिनाया क्योंकि खेती भी करता है तो उसके अन्दर हल पकड़ता है, जोतने में चलता है, इत्यादि; इसलिये सभी क्रियायें इन पाँच के अन्तर्गत ही हैं। व्यापार करता है उसमें थान हाथ से ग्रहण करता है तभी फाड़ता है। कैंची इत्यादि को भी हाथ से ग्रहण करता है। ग्राहक से रुपये उगाहने जाता है, रुपया लेता है अर्थात् आदान क्रिया करता है, यदि वह रुपया नहीं देता तो उसे डाँटता है या गाली-गुफ़्तार करता है अर्थात् उक्ति क्रिया करता है। इस प्रकार व्यापार के अन्दर भी इन्हीं सब क्रियाओं को करता है। सेवा (नौकरी) करता है तो उसमें भी कहीं जाता है, बोझ आदि पकड़कर उठाता है, ग्राहक से मोल-भाव करता है अर्थात् वाणी से क्रिया करता है। कृषि, वाणिज्य, सेवा आदि से अन्य क्रियायें भी इन पाँचों के अन्तर्गत समझ लेना। अतः सारी ही क्रियायें इन पाँच में आ जाती हैं। कुछ क्रियायें इन पाँच के अन्तर्गत नहीं भी आ पाती हैं, जैसे आँख झपकना, डकार लेना आदि, इसलिये ऐसी क्रियाओं को प्राण का कर्म माना है, प्राण समय से उन्हें करता है। हम लोग कोशिश-पूर्वक पलकें नहीं झपकते। कहा जाता है कि एक मिनट में आँखें पैंतालीस बार झपक जाती हैं फिर भी 'हम झपका रहे हैं' ऐसा प्रतीत नहीं होता अतः उस कार्य के लिये इन्द्रिय भी नहीं माननी पड़ती। ऐसे ही अपान आदि के कार्योंमें समझ लेना चाहिये। ये क्रियायें प्राण आदि के द्वारा स्वाभाविक रूप से हो जाती हैं। चूंकि प्राण का अंतःकरण के

साथ सम्बन्ध है इसलिये कई बार व्यक्ति संकल्प व प्रयत्न पूर्वक डकार आदि ले लेता है, अधोवायु छोड़ देता है, आँखें झपका लेता है, परन्तु उनका नियंत्रण होता प्राण से ही है, किसी इन्द्रिय-प्रयोग से ये कार्य नहीं होते। इसीलिये प्राण की अलग से पाँच गतियाँ मान ली गई हैं। यद्यपि पाँच गिनाई हैं तथापि समझ लेना चाहिये कि जितनी भी इस प्रकार की क्रियाएँ हैं वे प्राण का कार्य हैं। जो क्रियायें पाँच कर्मेन्द्रियों से नहीं होतीं, वे सारी प्राण से मानी जाती हैं।। १०।।

ये क्रियायें किस-किस करण, इन्द्रिय से होती हैं यह बताते हैं–

वाक्पाणिपादपायूपस्थैरक्षैस्तत्क्रियाजनिः।
मुखादिगोलकेष्वास्ते तत्कर्मेन्द्रियपञ्चकम्।। ११।।

उक्त क्रियाओं की उत्पत्ति वाक्, पाणि (हाथ), पाद (पैर), पायु (विसर्गेन्द्रिय) और जननेन्द्रिय से होती है। वे, पाँचों कर्मेन्द्रियाँ मुख-आदि गोलकों में रहती हैं।

वाणी बोलने की क्रिया करती है, हाथ पकड़ने की या ग्रहण करने की क्रिया करता है। पाद या पैर चलने की क्रिया करता है। पायु मल-मूत्र-विसर्जन की और उपस्थ आनन्द की क्रिया करता है। इस प्रकार पाँचों इन्द्रियों के द्वारा विभिन्न निर्दिष्ट क्रियाओं को जीव उत्पन्न करता है। ये इन्द्रियाँ कहाँ रहती हैं? इनकी अपनी-अपनी गोलकें हैं। वाणी मुख में रहती है। वाणी के लिये जीभ को गोलक नहीं कहा जबकि जीभ ही प्रायः बोलने का कार्य करती है। चखने के लिये जीभ को इन्द्रिय कहा भी था। यहाँ इसलिये नहीं कहा कि बोलने में जीभ प्रधान होने पर भी वाणी के उच्चारण के आठ स्थान अलग-अलग बताये हैं। 'अकुहविसर्जनीयानां कंठः' इत्यादि से उच्चारण के अलग-अलग स्थान बताये गये हैं। क, ख आदि का उच्चारण कण्ठ से होता है। इ, च, छ आदि का उच्चारण तालु से होता है। 'ऋटुरषाणां मूर्धा' ऋ, ट, ठ आदि का उच्चारण मूर्धा से होता है। हिन्दी वाले मूर्धन्य 'ष' का उच्चारण कम कर पाते हैं क्योंकि वे बोलने में मूर्धा का प्रयोग कम करते हैं। पूर्व भारत में तो 'ष' का उच्चारण 'ख' कर देते हैं, 'पुरुष' न कहकर 'पुरुख' कह देते हैं। लृ, त, थ आदि के उच्चारण के लिये दाँतों की ज़रूरत पड़ती है। इसलिये जब आदमी बुड्ढा हो जाता है तब स का उच्चारण नहीं कर पाता। छोटे बच्चे से भी इसका उच्चारण नहीं हो सकता। उ, प, फ आदि के उच्चारण के लिये ओठों की ज़रूरत पड़ती है। ञ, म, ङ, ण, न आदि के उच्चारण के लिये नाक भी चाहिये, ज़ोर का जुकाम हो और नाक बंद हो जाये तो इनका उच्चारण नहीं कर सकते। इस तरह उच्चारण में जीभ के अलावा ये सब स्थान भी साधन हैं यद्यपि स्थानों में जीभ का स्पर्श जाता है, दंत्यके उच्चारण में जीभ दाँतों के ऊपर जायेगी, ऐसे ही मूर्धा और तालु में जीभ का स्पर्श होगा। यद्यपि जीभ का अगला भाग कण्ठ स्थान में नहीं ले जाना पड़ता तथापि जीभ के पिछले भाग को उठाना पड़ता है। अतः जीभ प्रधान है तथापि बाकी स्थान भी शुद्ध उच्चारण के लिये आवश्यक हैं। इसलिये गोलक मुख कहा क्योंकि ये आठों स्थान हैं तो मुख

में ही। यहाँ सब गोलकों का नाम नहीं लिया क्योंकि पाणि अर्थात् हाथ स्थूल शरीर में भी हाथ रूप से ही प्रसिद्ध हैं, पैर चलने वाले अंग के रूप में प्रसिद्ध हैं इत्यादि। शरीर के भागों को भी इन्हीं नामों से बोला जाता है इसलिये 'मुख आदि गोलकें' कहकर छोड़ दिया। ये सब गोलकें हैं। करणों का पता प्रत्यक्ष से नहीं लगता, यों अनुमान करना पड़ता है कि क्योंकि हर क्रिया किसी करण से होती है, उक्ति आदि क्रियायें हैं अतः वे भी जिनसे हो रही हैं वे करण (इन्द्रियाँ) हैं। जब मनुष्य को हाथ का फालिज हो जाता है तब गोलक-रूप हाथ वहीं बना रहता है, कहीं कटता या जाता नहीं है, फिर भी वह पकड़ने का काम नहीं कर सकता। इसलिये जब वह पकड़ने का काम कर सकता है तब मानना पड़ेगा कि वहाँ कोई करण है जिससे वह हाथ पकड़ने का काम करता है। इसलिये ये पाँचों कर्मेन्द्रियाँ भी ज्ञानेन्द्रियों की तरह कार्य के द्वारा ही अनुमेय हैं।। ११।।

अब इन सब इन्द्रियों का अध्यक्ष मन, जिसे आन्तर इन्द्रिय कहा था, उसका स्वरूप बताते हैं—

मनो दशेन्द्रियाध्यक्षं हृत्पद्मगोलके स्थितम्।
तच्चान्तःकरणं बाह्येष्वस्वातन्त्र्याद् विनेन्द्रियैः।। १२।।

दसों इन्द्रियों के प्रति अध्यक्षभूत मन हृदयकमलरूप गोलक में स्थित है और इन्द्रियों के माध्यम के बिना बाहरी विषयों से सम्पर्क में अस्वतन्त्र होने के कारण वह अन्तः या भीतरी करण है।

मन इन दसों इन्द्रियों का अध्यक्ष है। केवल ज्ञानेन्द्रियों का नहीं, कर्मेन्द्रियों का भी अध्यक्ष है। मन कहाँ रहता है? हृत्पद्मगोलक में रहता है। नाभि से दस अंगुल ऊपर हृदय कमल है। हृत्पद्म कहना इसलिये ज़रूरी होता है कि जिसको अंग्रेज़ी में हार्ट (Heart) कहते हैं उसको भी संस्कृत में हृत् कहते हैं। उस हृदय को यहाँ नहीं समझना उस हृदय को न समझ लिया जाये जहाँ से खून का आना-जाना होता है, इसलिये हृत्पद्म कहा। वह नाभि से दस अंगुल ऊपर शरीर के मध्य-भाग में रहता है। जब व्यक्ति अपना ज़िम्मा प्रकट करता है तब वह अपना हाथ उसी स्थान पर रखकर कहता है 'मैंने किया।' जबर्दस्त झूठ बोले तो दूसरा यही कहता है 'तुम अपने दिल पर हाथ रखकर कहो कि तुम सच कह रहे हो;' तब भी उसी जगह हाथ रखा जाता है। यह हृदय-कमल ऐसा है जिसमें अंतःकरण सहजरूप में रहता है। अंतःकरण के अन्दर ही 'अहं ब्रह्मास्मि' यह वृत्ति बननी है। अतः दहरविद्या में और सामान्यतः भी जब ध्यान आदि की बात कहते हैं, हृदय को ही आत्मा के रहने की जगह मानते हैं। आत्मा का वह स्वाभाविक स्थान नहीं है। चूंकि चेतन अंतःकरण में या 'मैं' में प्रकट होता है, प्रतिबिम्बित होता है इसलिये वह आत्मा का स्थान कहा-समझा जाता है। आत्मा ही ब्रह्म है इसीलिये आत्मा और ब्रह्म की एकता के ध्यान के लिये सामान्यतः हृदय

को श्रेष्ठ स्थान माना जाता है। दूसरे लोग भ्रूमध्य और सहस्त्रार में ध्यान बताते हैं परन्तु वेदांत का मुख्य ध्यान हृदय में ही होता है। इस लिये रमण महर्षि भी कहा करते थे कि आत्मा का केन्द्र हृदय ही है। यदि अंतःकरण को भ्रूमध्य या सहस्त्रार में ले जाओगे तो वह स्वाभाविक जगह नहीं है अतः सहजता से शान्त नहीं रहेगा, अतः शांत होने के लिये हृदय कमलरूपी गोलक में स्थित रहता है।

वहाँ रहता है लेकिन काम के लिये बाहर भी जाता है। तुम घड़ा देखते हो तो तुम्हारा मन घड़े पर जायेगा तभी तुम घड़े को देखोगे। इन्द्रिय घड़े पर जायेगी और इन्द्रिय के माध्यम से मन भी घड़े पर जायेगा। केवल इन्द्रिय वहाँ जाये तब भी ज्ञान नहीं होता। इसलिये योग की विधि में शाम्भवी मुद्रा के अभ्यास से तुम्हारी आँखें तो खुली रहेंगी लेकिन देखेंगी नहीं। कान, जीभ आदि सब खुले रहेंगे लेकिन कोई शब्द या स्वाद नहीं आयेगा। परीक्षण भी करते हैं कि इनकी शाम्भवी मुद्रा सिद्ध हुई या नहीं; इसके लिये अभ्यासी की जीभ पर चीनी और थोड़ा नींबू का रस डालते हैं, फिर जीभ पर फूंक मारते हैं। फूंक मारने पर यदि चीनी उड़ जाती है तब मानते हैं कि शाम्भवी मुद्रा की सिद्धि हुई अन्यथा, चाहे जितना नियंत्रण करो, थोड़ा-सा भी नींबू का स्पर्श करो, तो जीभ से लार निकलेगी और वह चीनी कुछ-न-कुछ चिपकी रह जायेगी। जब तक चिपकी रहे तब तक शाम्भवी सिद्ध नहीं हुई। स्वाद आदि ग्रहण करने के लिये मन का वहाँ जाना ज़रूरी है, केवल इंद्रिय जायेगी तो ज्ञान नहीं होगा। कार्य करने के लिये मन को बाहर जाना पड़ता है। जैसे ही पैर में काँटा लगता है वैसे ही हाथ झट से उसको निकालने में प्रवृत्त होता है। पैर और हाथ का यद्यपि कोई सम्बन्ध है नहीं, तथापि दोनों जगह मन है, इसलिये काँटा लगते ही मन को ज्ञान हुआ और अध्यक्ष होने के नाते उसने हाथ को हुक्म दिया जिससे हाथ तुरन्त उसे निकालने के लिये पैर में पहुँच जाता है। शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों के अन्दर काम करने के लिये मन जाता है। जिस समय कोई काम नहीं करता है तब वह हृदय पद्म पर आकर बैठता है। यहीं वह लीन अवस्था में भी रहता है अर्थात् जब हमें सुषुप्ति होती है उस समय अविद्या में लीन मन हृदय में है। अतः वहाँ मन की स्थिति स्वाभाविक होने से वहाँ ध्यान करो, तो कोई तनाव नहीं आयेगा। वहाँ से अतिरिक्त मन को कहीं और ले जाओगे तो मन थोड़ा-बहुत कार्य करता रह जायेगा।

'मन' शब्द के दोनों प्रयोग होते हैं—अंदर की चीज़ें जानने वाले अंतःकरण को भी मन कहते हैं और उसकी एक वृत्ति भी मन कही जाती है। इसलिये स्पष्ट कर दिया कि जिसे दसों इन्द्रियों का अध्यक्ष कहते हैं वह अंतःकरण यहाँ मन शब्द का अर्थ है। उसको अंतःकरण क्यों कहते हैं? घड़े को भी देखने वही जाता है तो अन्दर का करण ही क्यों कहा? क्योंकि 'विनेन्द्रियैः बाह्येषु अस्वातन्त्र्यात्' बाहर वह इन्द्रियों की सहायता के बिना नहीं जा सकता। योगी लोग इन्द्रियों के बिना भी मन का जाना मानते हैं, परन्तु वेदान्त इस बात को नहीं मानता। वेदांत की दृष्टि से मन दूर देश में अथवा वहाँ के दर्शन श्रवण आदि में *जाता* नहीं है, जो समष्टि मन हिरण्यगर्भ है, उस के अन्दर दूर की चीज़ों की भी उपस्थिति है, इसलिये

उसके द्वारा ही वह जान लेता है। अर्थात् जब व्यष्टि मन समष्टि मन के साथ अपनी एकता का अनुभव करता है तब वह उस ज्ञान को प्राप्त कर लेता है। इसलिये भगवान् सुरेश्वराचार्य ने सारी सिद्धियों को बताते हुए योगियों की अपेक्षा भेद बताते हुए कहा कि ये सब सिद्धियाँ स्वतः हैं अर्थात् प्रयत्नसाध्य नहीं हैं; समष्टि मन के साथ एक होने के कारण अपने आप ही हो जाती हैं, प्रयत्न नहीं करना पड़ता। इस तरह अंतःकरण बाह्य पदार्थों तक जाने में स्वतंत्र नहीं है, इन्द्रियों के द्वारा ही जा सकता है, इन्द्रियों के बिना नहीं जा सकता, इन्द्रियों के परतंत्र है। हिरण्यगर्भ स्वाभाविकरूप से सब चीज़ों के साथ युक्त है और हिरण्यगर्भ के साथ जीवों के मन की स्वतः एकता है, केवल अपनी सीमितता का भ्रम है जिसके कारण अभेद-प्रतीति नहीं है। इसलिये कहा गया है 'ऐश्वर्यमव्याहतम्' अर्थात् तत्त्वज्ञ का ऐश्वर्य व्याहत नहीं है, किसी भी प्रकार से देश, काल और वस्तु से सीमित नहीं है। योगियों का ऐश्वर्य ऐसा नहीं है। हर हालत में, बाह्य इन्द्रियों के द्वारा ही अंतःकरण बाहर जा सकता है, इन्द्रियों के बिना नहीं जा सकने के कारण परतंत्र है।। १२।।

ज्ञानेन्द्रियाँ बाहर और अन्दर दोनों को विषय कर सकती हैं। कर्मेन्द्रियाँ हर हालत में बाहर की क्रिया ही करेंगी। ये दोनों इन्द्रियाँ जीव को बाह्य जगत् से सम्बन्ध वाला बनाती हैं। कर्मेन्द्रियों के द्वारा बाह्य जगत् की क्रिया होती है और ज्ञानेन्द्रियों द्वारा बाह्य जगत् का ज्ञान होता है। ये ही दो चीज़ें हैं जो जीव को जगत् के साथ सम्बन्धित करती हैं। किंतु सम्बंध के लिये इन्द्रियों का अध्यक्ष मन अनिवार्य है। उसका वर्णन करते हैं–

अक्षेष्वर्थार्पितेष्वेतद्गुणदोषविचारकम्।
सत्त्वं रजस्तमश्चास्य गुणा विक्रियते हि तैः।। १३।।

इन्द्रियाँ विषयों से सम्बद्ध होने पर उनके गुण-दोष का विचार करने वाला मन है। सत्त्व, रज और तम इसके गुण हैं, क्योंकि उनसे यह बदलता है।

दसों इन्द्रियों का मालिक मन है जो अन्दर की चीज़ों को खुद जानता है जबकि बाहर की चीज़ों को जानने में इन्द्रियों के परतंत्र है। मन के बिना न कर्मेन्द्रियाँ और न ज्ञानेन्द्रियाँ चलेंगी, क्योंकि वह उनका अध्यक्ष है। उसके बिना क्रिया या ज्ञान कुछ नहीं हो सकता। परन्तु इन्द्रियों के बिना मन बाह्य जगत् से संबंध नहीं कर सकता। आन्तर जगत् के सम्बन्ध के लिये उसे बाह्य इन्द्रियों की ज़रूरत नहीं है। मन को अध्यक्ष क्यों कहते हैं? जब इन्द्रियों में विषय स्थापित हो जाता है अर्थात् आँखमें जब विषय (रूप) स्थापित हो जाता है तब मन विषय का विश्लेषण करता है। इसका मतलब यह नहीं है कि आँख विषय-देश में न जाये! आँख वहाँ जाकर विषय से सम्बन्धित होती है तो विषय उसमें स्थापित हो जाता है। इसी प्रकार कान शब्द में जायेगा, स्पर्शेन्द्रिय स्पर्श गुण वाले पदार्थ में जायेगी; तत्तद् इन्द्रिय के अन्दर वे रूप, रस, शब्द, स्पर्श स्थापित होंगे। इस प्रकार जब इन्द्रियों में विषयों का सम्बन्ध हो गया तब मन के द्वारा विषय का ज्ञान होता है। मन इसलिये इन्द्रियों का अध्यक्ष कहा

जाता है कि यह चीज़ों के गुणों और दोषों का विचार करता है कि यह अच्छा है या बुरा है। गुण, अर्थात् अच्छाई और दोष, अर्थात् बुराई, इसका विचार मन करता है। अच्छे और बुरे का निर्णय पूर्व संस्कारों के अनुरूप होता है। पहले हमने किसी चीज़ का अनुभव किया और उस चीज़ से हमको सुख हुआ तो संस्कार बनता है कि यह चीज़ अच्छी है। जैसे हमने रसगुल्ला खाया, अच्छा लगा, तब संस्कार बना कि यह अच्छा है। कभी हमने पत्थर खाया और दाँत में खूब ज़ोर से लगा तो अनुभव हुआ कि पत्थर खाना बुरा होता है। इस प्रकार अनुभव के आधार पर गुण-दोष का संस्कार मन में पड़ता है। यह ज्ञान का एक प्रकार हुआ। दूसरा प्रकार है जो अनुमान से होता है। प्रत्यक्ष में तो हम बढ़िया पूड़ी खाते हैं तो मज़ा आता है परन्तु शाम को अम्ल-पित्त बढ़ जाता है। एक-दो बार खाया, और हर बार तकलीफ़ हुई; दाल-भात खाते हैं तो अम्ल-पित्त नहीं बढ़ता। तब अनुमान करते हैं कि पूड़ी खाने के कारण अम्लपित्त होता है। खाने में अर्थात् प्रत्यक्ष तो पूड़ी अब भी अच्छी लगती है, परन्तु अनुमान से पता लग गया कि वह दुःखदायी है तो अगली बार पूड़ी कम खायेंगे।

कुछ चीज़ों की अच्छाई-बुराई का शब्द से पता लगता है। डाक्टर कहता है कि घी मत खाओ, जबकि प्रत्यक्ष में हमें घी खाने में कोई दोष नहीं लगता और बिना घी का भोजन बेस्वाद लगता है। इसमें अनुमान भी कुछ नहीं कि घी में कोई दोष है। डॉक्टर कहता है कि घी खाने से तुम्हारा कोलस्ट्राल या वसा बढ़ेगा और हृदयरोग होने की सम्भावना है। हमें कभी हृदयरोग नहीं हुआ, लेकिन डॉक्टर प्रामाणिक है अतः उसके शब्द से हमें ज्ञान हो जाता है। घी प्रत्यक्ष और अनुमान से दोषवाला न होने पर भी हमें आप्त वाक्य से उसके दोष का ज्ञान होता है। इसी प्रकार आप्त वाक्य होने से परमेश्वर का वाक्य प्रमाण है। परमेश्वर ने कहा है 'श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे' वेद और स्मृति परमेश्वर की आज्ञा हैं। अतः उन्होंने जो नुकसान के कार्य कहे हैं वे मत करना और उन्होंने जो करने को कहा है वह लाभप्रद है। शास्त्रानुसार विहित अपने को अच्छा, गुणवाला लगता है और निषिद्ध दोष वाला लगता है। लेकिन जिसकी वेद में प्रामाण्य-बुद्धि नहीं है वह उस शब्द को सुनकर भी वैध या निषिद्ध में गुण और दोष को नहीं देखेगा ठीक जिस प्रकार से जिसको ऐलोपैथिक डॉक्टर में आप्तबुद्धि नहीं है, अनाप्त बुद्धि है, वह कहेगा 'डॉक्टर तो ऐसे ही कहते रहते हैं, हमारे दादा जी खूब घी खाते थे, नब्बे साल जिये और उनका शरीर भी ठीक रहा। डॉक्टर के कहने से क्या होगा।' इसलिये यदि किसी व्यक्ति में आप्तबुद्धि नहीं है तो उसके वाक्य से हमें प्रमा नहीं होगी अर्थात् उसका कहना 'ठीक है' ऐसा निश्चय नहीं होगा। इसी प्रकार यदि वेद में हमारी आप्त-बुद्धि नहीं है तो वहाँ भी प्रमा नहीं होगी। शब्द में आप्त-बुद्धि होती है तो प्रत्यक्ष और अनुमान से होने वाले ज्ञान को भी वह शब्द प्रतिबद्ध कर देगा। प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द के जो संस्कार हैं उनके अनुसार ही गुण और दोष का विचार होता है।

यहाँ आचार्य ने 'विचारक' कहा है। तात्पर्य यह है कि गुण-दोष का सीधा ज्ञान नहीं होता। पूड़ी सामने आते ही पहले तो लगता है कि यह बहुत अच्छी चीज़ है। उसके बाद

अनुमान उसको रोकेगा। विचार आयेगा कि यह अच्छी दीखने पर भी और खाने में अच्छी होने पर भी दुःखदायी है। इसी प्रकार शब्द को सुनकर भी विचार करोगे तो शब्द की अपेक्षा अन्य बातें उपस्थित होंगी। जो व्यक्ति विचार करने में जितना कमज़ोर होता है वह उतना ही प्रत्यक्ष के अधीन हो जाता है। चार्वाक सर्वथा अविचारशील है इसलिये वह यही कहेगा 'ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्'। वह अनुमान भी करता तो सोचता कि जिससे ऋण लेकर वापिस नहीं चुकायेंगे वह मकान की कुर्की कर देगा। शब्द से विचार करता तो भी समझ लेता कि जिसका पैसा लूँगा वह कभी न कभी भरना पड़ेगा। परन्तु चार्वाक ऐसा विचार नहीं करता। वह सोचता है कि आज मज़ा मार लो, आज ऋण लेकर घी पी लो, कल मकान की कुर्की होगी तो देखा जायेगा। इसलिये पहले हम लोग जिस कर्ज को बुरी चीज़ मानते थे, आज वही सबसे ज़्यादा प्रचलित है। आजकल अंग्रेजी नाम 'क्रेडिट कार्ड' (Credit Card) रखा है अर्थात् उधार का प्रमाण-पत्र, जिससे उधार ले सकते हैं। ऐसी दुकानें हो गई हैं जो नकद पैसा न लेकर क्रेडिट कार्ड से पैसा लेती हैं; पहले लोग नगद देने वाले को अच्छा मानते थे, परन्तु 'कल किसने देखा है' यह नारा चार्वाकों का ही है और इस मत के प्रचार का ऐसा ही फल होना है कि लोग कम-कम विचारशील होंगे।

इसलिये गुण-दोष का विचार करने वाले को मन कहा। जो केवल प्रत्यक्ष के अधीन नहीं रहेगा वह अनुमान और शब्द की प्रमाणता समझकर विचार करेगा कि यह अच्छा तो लग रहा है मगर है हानिकर। शब्द या अनुमान से इष्टबुद्धि प्रतिबद्ध हो जायेगी कि 'अच्छा लगता है मगर अच्छा नहीं है'। तात्पर्य यह हुआ कि प्रमाता आत्मा है, जानने वाला आत्मा ही है। वह सारे ज्ञानों को साधारण रूप से जानेगा। आँखें इत्यादि इन्द्रियाँ केवल रूप इत्यादि के ज्ञान को ही उत्पन्न करेंगी। परन्तु उनके गुण-दोष का विचार करने वाला मन है। गुण-दोष का विचार ज़रूरी होता है। इसके बिना किसी भी स्तर का विकास असंभव है।

सभी व्यवहारों के लिये आवश्यक जो गुण-दोष का विचार, उसके साधनरूप से इस प्रकार से मन की सिद्धि होती है। सभी मन एक ही चीज़ को गुण मानें और एक ही चीज़ को दोष मानें यह भी नहीं होता। आँखें तो सब चीज़ों का एक जैसा ही रूप देखेंगी, नीले को नीला और पीले को पीला ही देखेंगी। किंतु यह निर्णय नहीं कर सकते कि हमें चावल गुण वाला लगता है तो सबको चावल गुण वाला ही लगे। इसी प्रकार, हमको वेद में प्रामाण्य-बुद्धि है तो सभी को वेद में प्रामाण्य-बुद्धि हो–ऐसा नहीं हो सकता। ऐसे लोग भी हैं जो वेद को गड़रियों का गीत कहते हैं। प्रत्येक मन पृथक् होनेसे हर-एक का विचार और निर्णय अलग होते हैं। मन में सत्त्वगुण भी रहता है और रजोगुण-तमोगुण भी रहते हैं। जिस मन में सत्त्वगुण रहेगा उसमें वैराग्य की भावना, जिसमें रजोगुण रहेगा उसमें राग की भावना, और जिसमें तमोगुण रहेगा उसमें प्रमाद की भावना होगी। सामने एक सुन्दर स्त्री खड़ी है। यह औरत पैंतालीस किलो वजन की, गोरी और हरी साड़ी पहने है–यह ज्ञान तो वहाँ जितने आदमी खड़े हैं सबको एक जैसा होगा। इन्द्रियों से ज्ञान सबको एक जैसा होगा। परन्तु वहाँ

सत्त्वगुण की प्रकृति वाला वैराग्यवान् खड़ा है तो इन्द्रिय से स्त्री शरीर देखते हुए उसके मन में होता है कि 'इसके अन्दर सिवाय मांस आदि के और कुछ नहीं है, यह तो मनुष्य को बांधने वाली चीज़ है'। राग वाले को लगेगा कि 'अत्यंत सुन्दरी है, यह मेरी अंकशायिनी बन जाये तो बड़ा अच्छा हो'। तीसरा वहाँ यदि प्रमादी खड़ा होगा तो उसके मन में तामसी विचार आयेगा। एक को लगता है कि इससे बचना चाहिए, दूसरे को लगता है कि इसका भोग करना चाहिए, तीसरा उसके प्रति मुग्ध होता है। इस प्रकार का भेद सत्त्व, रज और तमोगुणों को लेकर है। अंतःकरण में गुणों के द्वारा ही भिन्न-भिन्न प्रकार के भाव और क्रियायें होती हैं, भिन्न-भिन्न प्रकार के विचारों का फल उत्पन्न होता है। 'विक्रियते' शब्द का प्रयोग करके यह कहनां चाहते हैं कि यद्यपि अन्तःकरण सत्त्वगुण से उत्पन्न होता है इसलिये उसे चाहिये तो यह था कि वह हमेशा सत्त्वगुणी रहे, तथापि उसके अन्दर रजोगुण और तमोगुण के संस्कार भी पड़ जाते हैं, अतः अपने सत्त्वगुण के द्वारा तो उसमें सात्त्विक विचार आयेगा पर जो दूसरे संस्कार उसमें पड़ गये हैं उनके कारण राजस और तामस विचार भी आयेंगे।

सब प्रकार के वाक्य वेद में और स्मृतियों में भी मिलते हैं। एक वाक्य यह मिलता है कि परमेश्वर मन का विषय नहीं है, मन से परमेश्वर को जान ही नहीं सकते। दूसरा वाक्य यह भी मिलता है कि मन के द्वारा ही उसे जाना जाता है। ऐसे दोनों प्रकार के वाक्य शास्त्र में मिलते हैं। इसलिये प्रश्न होता है कि ये दोनों बातें तो परस्पर बिलकुल विरुद्ध हैं। तब आचार्य शंकर ने बताया है कि जो असंस्कृत मन है अर्थात् वेद आदि के प्रमाणों से जो मन संस्कृत नहीं हुआ है उससे तो परमात्मा का दर्शन कभी नहीं हो सकता। इसलिये कहा जाता है कि परमेश्वर मन का विषय नहीं है। और जिस मन के अन्दर वेदों के संस्कार भली प्रकार से दृढ हो गये हैं वह मन परमेश्वर का दर्शन कर सकता है। मन स्वरूप से तो सत्त्वगुणी होने पर भी रजोगण और तमोगुण के कारण असंस्कृत हुआ है। यदि वैदिक संस्कारों से उसमें से रजोगुण और तमोगुण हट जाते हैं, तो वही आत्मदर्शन में समर्थ है। मन तो अपने गुण से सत्त्वगुणी ही है इसलिये उससे रजोगुण और तमोगुण हट सकते हैं। वे हट जायेंगे तो वह अंतःकरण परमेश्वर को विषय कर लेगा।। १३।।

गुणों का अनुभूयमान रूप दिखाते हैं–

वैराग्यं क्षान्तिरौदार्यमित्याद्याः सत्त्वसंभवाः।
कामक्रोधौ लोभयत्नावित्याद्याः रजसोत्थिताः।।१४।।

विरक्ति, क्षमा, उदारता इत्यादि सत्त्व से उपजते हैं। कामना, क्रोध, लोभ, सक्रियता इत्यादि रजोगुण से पैदा होते हैं।

'सत्त्वसम्भवाः' सत्त्वगुण के होने पर क्या चीज़ सम्भव होती है? वैराग्य। इससे दोनों बातें समझ लेना : अपने अंतःकरण में सत्त्वगुण है या नहीं–यह इसी वैराग्यरूप पैमाने से पता

चलता है। हम अपने अंतःकरण को सत्त्वगुणी बनाने का प्रयत्न करें इसके लिये बार-बार सत्त्वगुणी चीज़ों को ही मन में लायें। वैराग्य सत्त्वगुणी है अतः उसे मन में लाने से मन और सात्त्विक होगा। बिना विचार के वैराग्य कभी नहीं आता। एक चीज़ से राग हटकर दूसरी चीज़ में राग चला जाये, यह तो प्रत्यक्ष और अनुमान से हो सकता है। डॉक्टर ने हमसे कहा—'तुम्हारे पेट में अल्सर हो गया है इसलिये मिर्च-मसाला मत खाओ।' हमको खूब चिरका भोजन अच्छा लगता है फिर भी डॉक्टर के कहने से मसाला खाना छोड़ देते हैं। लेकिन जब इस प्रकार दो साल तक उबली सब्ज़ी खाने लगते हैं तो धीरे-धीरे उबली सब्ज़ी का ही स्वाद आने लगता है। मसालेदार भोज़न खाने से तो राग हट गया, परन्तु बिना मसालेदार भोजन खाने की आदत पड़ गई। बिना मिर्च मसाले के लौकी, गोभी आदि का असली स्वाद पता लगता है। अभी तो मसाले का ही स्वाद होता है, सब्ज़ी का स्वाद पता ही नहीं लगता। जब केवल सब्ज़ी के स्वाद का पता लगने लगता है तब मसाले की इच्छा नहीं होती। एक चीज़ से राग हटकर दूसरी चीज़ में राग होने को वैराग्य नहीं कहते हैं। भगवान् कहते हैं 'दुःखयोनय एव ते' अर्थात् संसार की जितनी भी चीज़ें हैं वे दुःख ही देंगी। यह निश्चय कि दृश्य मिथ्या ही हो सकता है, विनाशी ही हो सकता है, विचार से प्राप्त होता है। संसार की सभी चीज़ें दृश्यमात्र हैं, *इसलिये* उनके प्रति जो वैराग्य है वह बिना विचार के संभव नहीं है। उस विचार का आधार शब्द ही है। 'नास्ति अकृतः कृतेन' आदि वेद बिलकुल दृढ कर देता है कि अकृत मोक्ष की प्राप्ति कृत अर्थात् कर्म से नहीं है अतः तुम्हारा वैराग्य इसके आधार पर दृढ हो सकता है। ऐसा वैराग्य सत्त्वगुण का कार्य है।

लौकिक लोगों को इस वैराग्य से डर लगता है। उनको वैराग्य की यह बात बताई जाती है तो वे कहते हैं कि 'फिर तो सारा मज़ा ही चला जायेगा। संसार में फिर किसी चीज़ का मज़ा ही नहीं रहेगा।' इसका कारण यह है कि उनको अभी यह निश्चय नहीं है कि ब्रह्म आनन्द-स्वरूप है। उस ब्रह्म के आनन्द के थोड़े-से कण पड़ जाते हैं, उसे ही लौकिक सुख समझते हो। वे इस ब्रह्मानन्द के आगे फीके पड़ जाते हैं। इसलिये वेद कहता है कि संसार के अन्दर जो आनन्द या सुख दीखते हैं, सारे के सारे उस ब्रह्मानन्द के अंशमात्र हैं। एकमात्र उपनिषद् ऐसा शास्त्र है जहाँ आनन्द का माप बनाया है। बाकी लोग दूसरी चीज़ों के माप बताते हैं परन्तु आनन्द के बारे में माप नहीं बनाते। उपनिषद् ने इसका नाप बनाया है। उसकी एक इकाई बताई है : कोई आदमी बहुत विद्वान् हो, सारे संसार का राजा हो, उसके राज्य में सब लोगों के पास खूब धन-धान्य हो, उसका शरीर दृढ हो, जवान उम्र का हो, सच्चरित्र हो, ऐसे व्यक्ति को जो आनन्द होता है वह आनन्द की इकाई है। उससे सौ गुणा आनंद किसका और फिर उससे भी सौ-सौ गुणा आनन्द किस-किस का होता है, इस प्रकार बताते हुए अन्त में ब्रह्मानन्द बताया है। फिर कहा है कि उसीके लवलेश बाकी सारे आनन्द हैं। उस ब्रह्मानन्द की दृष्टि को न जानने के कारण ही व्यक्ति कहता है कि 'संसार का मज़ा तो चला जायेगा।' लेकिन मज़ा नहीं जायेगा क्योंकि मज़ा अर्थात् आनन्द की परम सीमा

ब्रह्मानन्द की प्राप्ति ही है। क्योंकि इस समझ से ही यह दृष्टि संभव है इसलिये यह वैराग्य सत्त्वगुण से उत्पन्न होता है।

दूसरा भाव क्षान्ति बताई। कोई हमारा चाहे जितना नुकसान कर दे, परन्तु उस नुकसान का कोई महत्त्व नहीं प्रतीत हो, यह क्षान्ति या क्षमा है। इससे मन में भी यह नहीं होता कि उस आदमी का नुकसान हो। एक कथा आती है कि एक बार भगवान् विष्णु और नारद दोनों ब्राह्मण वेश लेकर बड़े धनी के यहाँ आये। जैसे ही उन्होंने कहा कि 'हम लोग बहुत भूखे हैं;' तो नौकर ने ही डाँट दिया। उन्होंने कहा कि 'अन्दर सेठ से कह तो दो।' उसने कहा 'सेठ से पूछूँगा तो वह आकर डण्डा मारेगा।' वे लोग नौकर को समझा रहे थे कि इतने में सेठ आ गया और नौकर को कहने लगा 'इन्हें डण्डा मार कर भगाते क्यों नहीं?' यह सुनकर दोनों वहाँ से चल दिये। थोड़ी दूर जा कर भगवान् ने सेठ के मकान की तरफ देख कर कहा कि 'इसका खूब धन बढ़े।' आगे चले तो एक त्यागी व्यक्ति झोपड़ी में बैठा था। उसके पास एक गाय थी। उससे कहा–'हमें बहुत भूख लगी है, कुछ खाने को दे दो।' उसने कहा–'आप बैठिये, मैं अभी दूध गरम करके ला रहा हूँ।' दूध लाकर दिया तो भगवान् अपने हिस्से का सारा दूध पी गये। नारद जी ने भी दूध पी लिया। भगवान् ने प्रसन्न होकर उससे कहा–'बहुत अच्छा किया, बढ़िया दूध पिलाया।' थोड़ी दूर चले तो भगवान् ने उसकी झोपड़ी की तरफ देख कर कहा–'आज शाम तक इसकी गाय मर जाये तो अच्छा हो।' नारद जी से रहा नहीं गया। भगवान् से कहा 'लगता है आपके सिर पर कलियुग चढ़ गया है! सेठ ने डण्डे मारने को कहा तो उसके लिये आपने कह दिया कि उसका धन खूब बढ़े और इस बेचारे के पास एक ही गाय है, उसको भी आपने मरने को कह दिया।' भगवान् ने कहा–'नारद, तू समझा नहीं। मेरा दर्शन अमोघ होता है। मेरा दर्शन जिसको होगा उसकी कामना ज़रूरी पूरी होगी। चाहे उसने हमें डण्डे मारने को कहा लेकिन उसने मेरा दर्शन किया है तो उसका फल होना ही है। उसे धन की कामना है इसलिये मैंने उसका धन बढ़ने को कहा। उसके पास अभी जो धन है, उसीसे वह इतना क्रूर हो गया है, और धन बढ़ेगा तो ज़्यादा क्रूर कर्म करेगा, तो अंततोगत्वा नरक की प्राप्ति करेगा। हमको मारने की प्रवृत्ति करने का फल भी नरक है जो उसे मिलेगा। त्यागी को भी मेरे दर्शन का फल अवश्य मिलेगा। उसकी वृत्ति और सब जगह से तो हट गई है लेकिन उसका मन अब केवल गाय में रमा हुआ है। बाकी समय तो वह मेरा ही चिन्तन करता है, जब उसकी गाय मर जायेगी तो दूसरी कोई वृत्ति उसकी है नहीं, अपने आप ही चौबीस घण्टे मेरा चिन्तन करके मेरे वैकुण्ठ धाम में आ जायेगा, मुझे प्राप्त कर लेगा।' जैसे, भगवान् को मारने की चेष्टा करने पर भी उनमें कोई दुर्भाव नहीं कि 'उसका कोई बिगाड़ हो जाये या वह डूब जाये,' बल्कि यह भाव हुआ कि 'उस व्यक्ति को धन की ही कामना है तो उसकी कामना पूरी हो;' इसी प्रकार जिसमें किसी के नुकसान की भावना बनती ही नहीं, वह क्षमा वाला है। जिसने अपकार किया उसे पाप होगा ही अतः अपने मन में आना कि 'इसका बिगाड़ हो,' व्यर्थ है। कोई चाहे जितना

हमारा नुकसान करे, अपने मन में उसके प्रति कभी भी यह भावना नहीं करनी चाहिये कि उसका नुकसान हो। जो मन में ऐसी भावना ही नहीं करेगा वह नुकसान की क्रिया करे, इसकी तो सम्भावना ही नहीं है। यह हुआ जो दुष्टता करे, उसके प्रति क्षान्ति का भाव होना।

उदारता—जो कोई भी किसी भी परिस्थिति में किसी सहायता की अपेक्षा से हमारे पास आये, उसकी सहायता कर देना उदारता है। यदि हमारे पास धन आदि की सामर्थ्य है तो उसमें बिना आगा-पीछा सोचे हुए उसकी सहायता कर देना ही उदारता है। जितनी भी चीज़ें हैं वे कई प्रकार से नष्ट हो सकती हैं। आप लोग जानते हैं कि कुछ साल पहले कच्छ, गुजरात में बड़ा भारी भूकम्प आया था। हमारे एक परिचित सज्जन थे, उनका भी मकान वहीं था। वकील थे, देने में उदार थे, अब तो मर गये हैं। जहाँ भूकम्प आया था वहाँ से पाँच मील दूर उनका घर था। प्रायः सारा गाँव नष्ट हो गया था, इनके यहाँ खेती अच्छी थी, इसलिये अनाज काफी था, बाकी सबका सब कुछ नष्ट हो गया था। खुद सुना रहे थे कि कोई भी किसी सहायता के लिये आता था तो हमारे पास जो चीज़ रहती थी, उसे दे देते थे। एक दिन लड़के कहने लगे 'ऐसे सब देते रहोगे तो अपने पास क्या बचेगा?' मैंने उनसे कहा—'विचार करो, जो लोग आते हैं, उनके पास दो दिन पहले खूब धन-धान्य था, हमसे ज़्यादा था, आज क्या रहा? कल हमारे पास भी यह सब बना रहेगा इसकी कोई गारण्टी नहीं है, इसलिये ज़रूरतमन्दों को बाँटो तो ठीक है, कल चला जायेगा तो रोते रहोगे कि बाँट देते तो अच्छा था; न बाँटा और न अपने काम आया।' यह उदारता की भावना है। यह भावना तब तक नहीं आती जब तक वेद सुनकर यह समझ में नहीं आता कि सब प्राणियों में रहने वाला आत्मा एक ही है, सामने वाला व्यक्ति दुःखी नहीं है वरन् उसके अंतःकरण के द्वारा तो मैं ही दुःखी हूँ। 'सर्वभूतात्मभूतात्मा' जितना-जितना समझ में आता है उतनी-उतनी उदारता आती है। जितना यह ज्ञान दृढ होगा कि 'मैं अलग हूँ और यह अलग है', उतना यह विचार दुःख देता रहेगा कि अपने लिये रखें। परन्तु जब यह पता है कि मैं ही उस अंतःकरण से दुःख पा रहा हूँ, तब जैसे अपने शरीर के अन्दर एक अंग के दुःखी होने से अपने सारे शरीर को दुःख होता है, इसलिये उस अंग के दुःख को दूर करने की तरफ प्रवृत्ति होती है; यह नहीं सोचते कि इस अंग के दुःख को दूर करने के लिये सोचेंगे तो दूसरे अंग में दुःख आ जायेगा; इसी प्रकार जब 'सर्वभूतात्मा' का भाव दृढ होगा कि एक ही आत्मा प्राणिमात्र के हृदय में है, अतः पता है कि उन-उन उपाधियों के द्वारा अनुभव करने वाला आत्मा मेरे आत्मा से भिन्न कोई नहीं है, तभी उदारता आती है। पदार्थों के प्रति वैराग्य, अपराध करने वाले के प्रति क्षान्ति और जो भी किसी आवश्यकता में है उसके लिये उदारता—इत्यादि अन्य वृत्तियाँ भी सत्त्वगुण के कारण होती हैं। जब अंतःकरण में सत्त्वगुण बढ़ा होता है तब ये भावनायें आती हैं। यह अंतःकरण की स्थिति है।

रजोगुण से उत्पन्न वृत्तियों के लिये उत्थित शब्द का प्रयोग किया है। सत्त्व से तो 'संभव' शब्द का प्रयोग किया था। रज से उत्थित अर्थात् उठना और सत्त्व से सम्भव अर्थात् होना

कहा है। इसके द्वारा ध्वनित किया कि अंतःकरण का स्वाभाविक सत्त्वगुण है इसलिये उससे ये वृत्तियाँ सम्भव हैं और रजोगुण चूंकि मन के स्वभाव से अलग है, इसलिये ये वृत्तियाँ उठती हैं। रजोगुण की वृत्तियाँ स्वाभाविक नहीं हैं, सत्त्वगुण की वृत्तियाँ स्वाभाविक हैं, अंतःकरण के अनुरूप हैं। रजोगुण से क्या-क्या होता है? 'कामना'। सत्त्वगुण से वैराग्य है क्योंकि संसार की सारी चीज़ें मिथ्यात्व अनित्यता इत्यादि दोषों वाली दीखने के कारण उनसे वैराग्य ही हो सकता है। रजोगुण बढ़ता है तो कामना होती है कि अमुक-अमुक विषय मेरे पास हो। कामना को अनल कहा है, अर्थात्, काम अग्नि है। अनल–न अलम् अर्थात् जिसमें कभी अलम्-बुद्धि नहीं होती है। कामना में ऐसा कभी नहीं होता कि 'काफी हो गया'। जितना मिलता जायेगा उतनी ही कामना बढ़ती चली जायेगी कि यह भी मिले, वह भी मिले। बहुत साल पहले इन्दिरा जी ने एक नारा दिया था 'गरीबी हटाओ'। उसी समय किसी ने एक लेख लिखा था कि राष्ट्रपति भी कहते हैं कि गरीबी हटनी चाहिये क्योंकि वे जब अमरीका के व्हाइट हाउस को देखते हैं तो मन में ज़रूर आता है 'मेरी ग़रीबी ज़रूर हटनी चाहिये।' राष्ट्रपति यही गरीबी हटाने के बारे में सोच रहा है। इसी प्रकार अमरीका का रॉकफेलर भी समझता है 'मैं भी गरीब हूँ।' इसलिये, गरीब कौन है–इसका निर्णय 'पर्याप्त है' इस निश्चय के होने-न होने से ही संभव है। तुम जैसे हो वैसे ही गरीब हो यदि अलम्-बुद्धि नहीं है, कामना है। कामना गरीब को होती है जब अपने को दरिद्र समझता है, कि 'हमारे पास नहीं है।'

एक आदमी को रास्ते में एक रुपया मिला तो उसने झट से जेब में डाल दिया। थोड़ी दूर चला तो मन में आया कि 'पता नहीं किस का था, मैंने उठाकर अच्छा नहीं किया, किसी को दे देना चाहिये।' आगे जाकर देखा एक महात्मा लंगोटी लगाकर बैठा था। सोचा, उसको दे दें। उसमें अपनी तरफ से एक पैसा मिलाकर उस महात्मा के सामने रखा। महात्मा ने कहा–'इसका मैं क्या करूँगा, किसी कंगले को दे देना।' महात्मा को देखकर उसने कहा–'आपके पास तो कुछ भी नहीं है, आपसे ज़्यादा कंगला और कौन मिलेगा?' महात्मा ने कहा–'जबान सम्भालकर बोल। मैं कंगला नहीं हूँ।' सामने हाथ दिखाकर कहा–'उसे दे दे। वह कंगला जा रहा है।' राजा की सवारी निकल रही थी! उसने सोचा, महात्मा कह रहा है तो देखना चाहिये। वहाँ पहुँचा, राजा को एक रुपया दिखाया। राजा ने सोचा–'नज़राना पेश कर रहा है।' झट से हाथी को बिठाकर नज़राना ले लिया। उसने समझ लिया, महात्मा ठीक ही कह रहा था। वापिस आकर महात्मा से कहा–'आपकी बात ठीक निकली, राजा ने तो रुपया लिया, वही दरिद्र है।' दरिद्र वह होता है जिसके अन्दर कामना है, वह चाहता है कि 'और हो'। यह कामना कभी ख़त्म होने वाली नहीं है। सत्त्वगुण में वैराग्य और रजोगुण में कामना है।

सत्त्वगुण में क्षमा है, अपराध करने वाले के प्रति भी कोई बुरी भावना नहीं होती है और रजोगुण में उसके विपरीत है; किसी ने थोड़ा-सा अपराध कर दिया, चाहे कल्पित अपराध ही

हो, तब भी क्रोध आ जाता है। अभी जिसने अपकार किया ही नहीं है उसपर भी क्रोध आ जाता है। बिना प्रमाण मान बैठना कि 'अमुक ने या किसी अज्ञात ने मेरे विरुद्ध कोई दुःखदायी दृष्ट या अदृष्ट उपाय किया है' भी इसी कोटि का विचार है। लोग कहते हैं—'केवल प्रारब्ध क्यों, दूसरे भी तो कुछ कर सकते हैं।' यह कल्पित अपराध है। किसी ने चाँटा मारा तो क्रोध आ गया, यह तो समझ में आया; लेकिन अपने मन में केवल कल्पित अपराध से भी दूसरे के प्रति क्रोध आ जाता है। यह क्रोध की विशेषता है कि कल्पित नुकसान के प्रति भी हो जाता है। सचमुच देखने में आ जाये कि उसने अपराध किया, तब तो क्रोध आयेगा ही, इसमें कहना ही क्या है! क्रोधी व्यक्ति यह कभी नहीं सोच सकता कि 'मेरे साथ कोई बुराई हो रही है तो उसका कारण मेरा अपना कर्म है। मैंने कुछ न कुछ किया होगा तभी मेरे प्रति लोगों के मन में यह भावना आ रही है।' आचार्यों ने तो कहा कि हमने अन्य कुछ नहीं किया तो भी हमारा ही कसूर है कि पैदा हुए! यदि यह गलती न करते, अर्थात् पैदा न होते, तो फिर यह सब सहना-सुनना नहीं पड़ता। इसलिये प्रयत्न करो कि जन्म न हो। शास्त्रकार यहाँ तक समझाते हैं, तुम्हारा चाहे जितना अपकार हुआ है उसका कारण कहीं-न-कहीं तुम खुद हो, इसलिये क्रोध करना नहीं। लेकिन रजोगुणी को तो क्रोध ही आता है, विचार नहीं आता।

तीसरा कार्य है, सत्त्वगुण में उदारता होती है, रजोगुण में उसका विरोधी लोभ है अर्थात् 'जो चीज़ मेरी है वह मेरी ही बनी रहे' ऐसा आग्रह। कामना और लोभ में फ़र्क है। कामना है कि 'यह चीज़ मुझे मिल जाये' जबकि लोभ है कि 'मेरी चीज़ मेरी ही बनी रहे।' लोभी में उदारता नहीं आ सकती है क्योंकि अलंबुद्धि या पर्याप्त-बुद्धि होना लोभी के लिये बहुत मुश्किल है। उसे हमेशा यही लगता है कि 'मेरा ही काम पूरा नहीं हो रहा है, मुझे ही अभी कुछ नहीं मिला है तो दूसरे को कहाँ से दूँ।' प्रायः अनुभव यही होता है कि जितना जिसके पास ज़्यादा हो, उतना ही उसका लोभ ज़्यादा होता है। आज के महंगाई के ज़माने में भी ऐसी बालविधवायें हैं जिनकी आमदनी केवल तीन सौ रुपये महीना है, परन्तु वे भी मन्दिर जाती हैं या सन्तों के पास आती हैं तो चवन्नी-अठन्नी *चढ़ाती* ही हैं। दूसरे लोग कह देते हैं 'अठन्नी तो आजकल कंगले भी नहीं लेते' क्योंकि उन्हें तो पता नहीं कि उनकी कुल आय क्या है। महत्त्व की बात तो है कि उसके मन में कुछ देने की भावना है। वैपरीत्येन, आज जो लोग लाख रुपया महीना कमाते हैं वे पाँच रुपये नहीं चढ़ा सकते! उनसे कभी बात होती है तो यही कहते हैं कि महंगाई बहुत है, अपना ही गुज़ारा मुश्किल होता है। 'काफी हो गया' ऐसा उन्हें कभी नहीं लगता। एक व्यक्ति आबू के रहने वाले थे, अब दिल्ली चले गये हैं। खुद दो लाख रुपया महीना कमाते हैं और डेढ़ लाख रुपया महीना उनकी पत्नी कमाती है। साढ़े तीन लाख कमाने के बाद भी उनकी चिट्ठी बाप के पास आती रहती है कि 'खर्चा पूरा नहीं हो रहा है कुछ रुपये भेज दीजिये।' जब इतने में ही अलंबुद्धि नहीं हो रही है तो कब होनी है! ऐसों से कभी भी कुछ उदारता की आशा नहीं हो सकती। इस प्रकार सत्त्व

गुण में वैराग्य, क्षान्ति, और उदारता हैं और रजोगुण में उसके विरुद्ध काम, क्रोध और लोभ हैं। रजोगुणी हमेशा चेष्टा करता ही रहता है, कुछ-न-कुछ करता ही रहता है। उसके करने का कोई फ़ायदा भी है या नहीं–इससे कोई मतलब नहीं, लेकिन कुछ-न-कुछ चेष्टा करता ही रहेगा। यह रजोगुण की विशेषता है। इसलिये उसमें शांति कभी हो ही नहीं सकती। वह हमेशा अशांत ही रहता है क्योंकि हमेशा प्रयत्न ही करता रहता है। साधारण लोग बड़ी प्रशंसा करते हैं कि वह तो हमेशा काम में लगा रहता है। लेकिन कभी कोई शांति से बैठकर विचार नहीं करता कि वह जो प्रयत्न कर रहा है उसका कोई नतीजा भी होता है या नहीं? इसी प्रकार अन्य भी कई प्रकार की ऐसी ही भावनाएँ, प्रवृत्तियाँ रजोगुणी के अंतःकरण में होती रहती हैं।। १४।।

सत्त्व से होने वाला वैराग्य आदि और रज से होने वाले काम-क्रोध आदि बताये। इन दोनों में जो 'इत्यादि' पद है, उसके द्वारा सत्त्व के अन्दर शम, दम आदि और रज से तीर्थयात्रा, गंगास्नान, देवदर्शन इत्यादि भी सब ले लेने चाहिये क्योंकि ये भी सभी गुणों के ही विकार हैं। अब तमोगुण को बताते हैं–

आलस्यभ्रान्तितन्द्राद्या विकारास्तमसोत्थिताः।
सात्त्विकैः पुण्यनिष्पत्तिः पापोत्पत्तिश्च राजसैः।। १५।।
तामसैर्नोभयं किन्तु वृथायुःक्षपणं भवेत्।
अत्राहंप्रत्ययी कर्तेत्येवं लोकव्यवस्थितिः।। १६।।

आलस्य, भ्रम, तन्द्रा इत्यादि तमोगुण से उठे विकार हैं। सात्त्विक विकारों से पुण्य संपन्न होता है, राजसों से पाप उत्पन्न होता है, तामसों से पाप-पुण्य तो नहीं होते पर आयु व्यर्थ बीतती है। इन वृत्तियों में 'मैं' ऐसे निश्चय वाला 'कर्त्ता' है, यह संसार में स्वीकार है।

अंतःकरण में तमोगुण का संस्पर्श होता है तब की स्थिति बताते हुए पहला विकार कहा आलस्य। कर्त्तव्यकर्म प्राप्त होने पर और सामर्थ्य होने पर भी उसको करने की प्रवृत्ति न होने को आलस्य कहते हैं। कर्त्तव्य कर्म को करने की सामर्थ्य न होने पर आलस्य नहीं कहते। कई बार आलस्य असामर्थ्य के रूप में प्रतीत हो जाता है। रामकृष्ण परमहंस की पत्नी शारदा जी को रात में बुखार आ गया। परमहंस रोज़ वहाँ जाते थे। उसने कहा–'आज बुखार आ गया इसलिये स्नान नहीं किया।' अगले दिन गये तो बुखार कम हो गया था लेकिन फिर भी स्नान नहीं किया था। तीसरे दिन बुखार उतर गया, फिर भी स्नान नहीं किया, कहा–'कमज़ोरी महसूस हो रही है।' तब परमहंस ने कहा कि 'यह शरीर गधे की तरह है। इसको एक बार आराम दे दिया तो फिर यह आरामपसंद हो जायेगा।' बहुत बार आलस्य असमर्थता का रूप ले लेता है कि 'नहीं हो सकता', उससे सावधान रहना चाहिये। सामर्थ्य हो और कर्त्तव्य कर्म प्राप्त होने पर उसे न करने को आलस्य कहते हैं। सामर्थ्य है परन्तु वह हमारा कर्त्तव्य नहीं है तो उसे नहीं करना आलस्य नहीं है।

भ्रांति—'अतस्मिन्स्तद्बुद्धिः' जो चीज़ जैसी नहीं है उसमें वैसी प्रतीति हो जाना भी तमोगुण से होता है। कोई छाया देखी, उसमें भूत का भ्रम हो जाता है। तमोगुण होता है तो भ्रम की पूरी सम्भावना हो जाती है। तन्द्रा—जगे होने पर भी इन्द्रियों का निद्रा की तरह प्रवृत्त होना तन्द्रा है। जैसे निद्रालु व्यक्ति इन्द्रियों से चीज़ों को ठीक-ठीक नहीं समझ पाता, सब चीज़ें धुंधली लगती हैं, शब्द भी अस्पष्ट सुनाई देते हैं; इसी प्रकार जगे होने पर भी इन्द्रियों का भली प्रकार से विषय न करना तन्द्रा है। 'आद्याः' इसी प्रकार के दूसरे विकार भी समझ लेना। जैसे किसी गलत काम के बारे में न उसे कहना कि तुमने गलती की और न सुधार या प्रतीकार करना, बल्कि मन ही मन प्रार्थना करना कि 'इसका नुकसान हो जाये'; यह तमोगुण का कार्य है। रजोगुणी थप्पड़ मारेगा, सत्त्वगुणी उसे समझायेगा, लेकिन तमोगुणी यह सब नहीं करेगा, केवल मन ही मन उसका अनिष्ट सोचेगा।

सत्त्व, रज और तम तीनों गुणों से पुण्यादि क्या उत्पन्न होता है, इसे बताते हैं : वैराग्य, क्षमा, उदारता अथवा गंगा-स्नान, देवदर्शन इत्यादि पुण्य को निष्पन्न करता है। देव-दर्शन, गंगास्नान आदि तो क्रियायें हैं अतः रजोगुण से होंगी, परन्तु सत्त्व की प्रधानता वाला जो रजोगुण होगा वही पुण्य को उत्पन्न करेगा। रजोगुण से, जो अपनी पत्नी नहीं है उसकी तरफ कुदृष्टि करने की प्रवृत्ति होगी अथवा अपनी पत्नी से भी निषिद्ध समय भोग आदि की प्रवृत्ति होगी। पापोत्पादक वह रजोगुण है जिसमें तमोगुण दबा हुआ है। सारे ही राजस कर्मों से पापोत्पत्ति नहीं होती, देवदर्शन आदि राजस कर्मों से पापोत्पत्ति नहीं है। इसलिये यहाँ 'चकार' से यह समझ लेना चाहिये कि तमोगुण से मिश्रित (राजस) कर्मों से पापोत्पत्ति होगी, सत्त्वमिश्रित से पुण्य-उत्पत्ति होगी, इसमें संदेह नहीं। पुण्य भी दो प्रकार के समझना—एक तो जिसमें सत्त्व की प्रधानता है जिसे यहाँ वैराग्य, क्षांति आदि से कहा और दूसरा जिस सत्त्व के अन्दर थोड़ा रजोगुण भी मिला हुआ है, उसे यहाँ औदार्य (उदारता) में गिनाया। उदारता में किसी दूसरे के प्रति कुछ करने की प्रवृत्ति है, 'करना' रजोगुण से होगा। वैराग्य, क्षांति आदि तो शुद्ध अंतःकरण के द्वारा ईश्वर की प्रसन्नता के लिये किये जायेंगे और उदारता इत्यादि के द्वारा स्वर्ग लोक से ब्रह्मलोक तक जाने का अवसर मिलता है। देवदर्शन आदि के द्वारा वैकुण्ठ लोक इत्यादि में जा सकते हो। ये दोनों ही प्रकार के पुण्य निवृत्ति मार्ग और प्रवृत्ति मार्ग में ले जाने वाले होंगे। सत्त्व की प्रधानता होने से वैराग्य आदि; और सत्त्व में रज मिश्रित होगा तो उदारता आदि आयेंगे। इसी प्रकार राजस से पापोत्पत्ति इसी दृष्टि से कही है। आलस्य इत्यादि से पाप-पुण्य दोनों ही नहीं होंगे किन्तु उनसे जीवन का जो काल है वह व्यर्थ ही बिताया जा रहा है। पापकर्म से कम-से-कम इहलोक के क्षणिक सुखकी प्राप्ति तो हो जाती है, पुण्य कर्म से परलोक के चिरस्थायी सुख की प्राप्ति हो जाती है, परन्तु तमोगुण से न यहाँ सुख और न आगे ही सुख मिलता है वरन् बेकार, जीवन व्यर्थ ही चला जाता है।

'अत्र' अर्थात् इस अंतःकरण में 'अहंप्रत्ययी कर्त्ता इति' 'मैं' इस प्रकार की अंतःकरण की (बुद्धि) वृत्ति से एकमेक अहंकारात्मिका वृत्ति में प्रतिबिम्बित जो चैतन्य है, सामान्यतः

जिसे जीवात्मा कहते हैं, वही कर्त्ता है अर्थात् वही प्रभु या मालिक है। राजा, या आजकल के ज़माने में राष्ट्रपति बन्दूक की गोली भी चलाना नहीं जानता, परन्तु फौज जीत जाये तो उसे लगेगा कि 'मेरी ही जीत या मेरी ही जय-जयकार है।' बांग्लादेश पर जीत में इन्दिरा गांधी को ही बधाई दी गई क्योंकि उसी को मालिक माना जाता था। सचमुच में कर्त्ता न होने पर भी उसी को कर्त्ता कहा जाता है जो अभिमानी हो। इसी प्रकार बाह्य विषयों से व्यवहार कौन करेगा, और कौन जानेगा? कर्मेन्द्रियाँ और प्राण करेंगे तथा जानेंगी ज्ञानेन्द्रियाँ; उनको प्रकाशित अंतःकरण में प्रतिबिम्बित चेतन करेगा। चीज़ों का ज्ञान होगा तो अंतःकरण या मन से। यह अहं-महाशय क्या करते हैं? करते कुछ नहीं हैं, वरन् राजा की तरह केवल हुक्म चलाते हैं। आँख से कहेगा 'देख।' तो अंतःकरण आदि सब देखने चले जाते हैं। बाकी सब इसके खटका दबाने से चलते हैं, इसके सिवाय यह कुछ नहीं करता है, फिर भी मालिक तो इसको ही माना जाता है। 'मैं' इस प्रत्यय को जो करता है वही कर्त्ता कहा जाता है। 'इति एवं' यह बात ऐसी है कि लोक में या संसार में भी देखी जाती है। यह इसलिये कहते हैं कि विचार करने पर तो 'अहं' कर्त्ता सिद्ध होता नहीं। कर्त्ता से भोक्ता भी समझ लेना। परन्तु जब तक विचार नहीं करते तब तक यही लगता है कि 'मैंने' किया, भले ही प्रमाण से निरूपण करने पर करने वाला मैं हूँ नहीं। गीता में भगवान् ने कहा है 'गुणा गुणेषु वर्तन्ते इति मत्त्वा न सज्जते'। जिस महाभूत से जो इन्द्रिय बनी, उसी तरफ वह इन्द्रिय जायेगी। चित्त के संस्कार के अनुसार मन, बुद्धि सोचेंगे। करने वाले ये ही सब हैं, 'मैं' तो करने वाला नहीं है। जो विचार से इस ब़ात को समझ लेता है वही अनासक्त रहता है। विचार करने पर यह वृत्ति नहीं बनती कि 'मैं करने वाला हूँ।' परन्तु लौकिक, अविचारशील लोगों के लिये यही 'व्यवस्थिति' या स्थिति है कि 'अहंप्रत्ययी' या अहंवृत्ति-विशिष्ट कर्त्ता और भोक्ता है।।१५-१६।।

इन्द्रिय मन आदि सब पंचमहाभूतों से बने हैं। इस सब को जब भौतिक समझ लेते हैं तब पता लगता है कि मैं तो अभौतिक हूँ। ये सब जड हैं, चेतन तो एकमात्र मैं ही हूँ। इसलिये सृष्टि-प्रक्रिया के द्वारा वेद संसार की भौतिकता बताता है। हर उपनिषद् में सृष्टि-प्रक्रिया आती है। वह इसलिये कि जिसका अनुभव हो रहा है और जिसको अनुभव हो रहा है उन दोनों की भौतिकता का निश्चय होने पर दृश्य और द्रष्टा का विवेक सम्भव है। जब तक इनकी भौतिकता समझ में न आये तब तक तो आँख से देखने से 'मैंने' देखा यह अनुभव होता है। जब यह पता लगता है कि 'मैंने देखा होता तो आँख फूटने पर भी देख लेता, आँख तो भौतिक है' तभी विवेक का उन्मेष होता है। इसलिये इनकी भौतिकता का विवेक करना ज़रूरी है–

स्पष्टशब्दादियुक्तेषु भौतिकत्वम् अतिस्फुटम्।
अक्षादावपि तच्छास्त्रयुक्तिभ्याम् अवधार्यताम्।। १७।।

जहाँ स्फुट शब्दादि मौज़ूद हैं वे घटादि भूतकार्य हैं यह बात बहुत साफ है। इंद्रियादि भी भूतकार्य हैं इसे शास्त्र व युक्ति से निश्चित किया जाये।

घट आदि जो पदार्थ हैं वे शब्द, स्पर्श आदि वाले हैं, यह स्पष्ट है। घट आदि में शब्द आदि गुण स्पष्ट हैं। काली चीज़ काली और नीली चीज़ नीली ही दीखेगी। रंग आदि का नाम न मालूम हो तो नहीं कह सकते कि यह हरा है परन्तु दूसरा हरा देखेंगे तो जान लेंगे कि दोनों रंग एक ही हैं। इसी प्रकार 'शब्द' का ग्रहण तो संस्कार से होगा; भाषा का संस्कार है तब पता है कि यह अमुक शब्द है; परन्तु जो कण्ठ, तालु आदि के आघात से पैदा हुआ शब्द है वह कान से सुनाई देगा ही, इसलिये वह स्पष्ट है। इसी प्रकार गन्ध आदि में समझ लेना। क्या गन्ध है—यह तो प्रत्यक्ष से पता चलता है। यह सुगन्ध है या दुर्गन्ध—यह संस्कार से निर्णय होता है। हम लोगों को दूर से ही लहसुन आदि की दुर्गन्ध आ जाती है लेकिन जो उसको खाने के रसिक हैं उनको उसी से सुगन्धि आती है। एक ही चीज़ में किसी को सुगन्ध और किसी को दुर्गन्ध का अनुभव है। परन्तु गन्ध तो दोनों को एक ही आती है। घट आदि सब पदार्थ शब्द आदि गुणों से युक्त हैं। चूंकि इनसे युक्त हैं, इसलिये ये सब भूतकार्य हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध से युक्त ही बाह्य जगत् है। शब्द, स्पर्श आदि के आश्रय जो आकाश, वायु आदि हैं उनके ही ये कार्य हैं। इस तरह बाह्य जगत् की भौतिकता तो अत्यंत ही स्पष्ट है, इसमें ज़्यादा विचार करने की ज़रूरत नहीं है। वह दृश्य है और हम उससे अलग हैं—यह तो करीब सबको मालूम है। हल चलाने वाला भी जानता है कि इन चीजों से जानने वाला मैं अलग हूँ। परन्तु ज्ञान की या कर्म की साधन जो इन्द्रियाँ हैं उनमें भूतकार्यत्व है—यह कैसे समझ में आये? देखने वाली आँख भौतिक है यह समझ में नहीं आता, वह भी दृश्य है यह समझ में नहीं आता। परन्तु वह भौतिकता ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों और अन्तरिन्द्रियों में भी है इसका शास्त्र और युक्ति दोनों से निश्चय कर लेना चाहिये। यही विवेक का उद्देश्य है।

शास्त्र कहता है 'अन्नमयं हि सोम्य मनः' मन अन्न से ही बना है और अन्न भौतिक है तो इसका विकार भी भौतिक ही होगा। शास्त्र की इस बात को हम कैसे मानें? जिसको यह उपदेश दिया था कि मन अन्न से बना है, उसी को यह संदेह हुआ था। आजकल साधारण आदमी भी सोचता है 'मन शुद्ध होना चाहिये, शरीर से कुछ भी हो। चाहे समय से नहाओ, मत नहाओ, शौचाचार करो या न करो, लेकिन मन शुद्ध हो तो तुम कुछ भी खाओ पियो, क्या नुकसान होना है।' ऐसे ही श्वेतकेतु की समझ में यह बात नहीं आई कि मन अन्नमय है तो आरुणि ने कहा 'आज से मर्ज़ी आये उतना पानी पीना, लेकिन पंद्रह दिन तक कुछ मत खाना।' इस प्रकार पंद्रह दिन तक उसे कुछ खाने को नहीं दिया। सोलहवें दिन उससे कहा कि 'वेद पाठ सुनाओ।' वह कहने लगा—'इस समय तो भूख के मारे एक भी मंत्र याद नहीं आ रहा है, केवल रोटी-दाल ही याद आ रहे हैं।' तब उससे कहा—'जाकर भोजन कर लो।' उसने भोजन कर लिया। शाम को मंत्र सुनाने को कहा तो वह खनाखन मंत्र सुनाने

लगा। मन को क्या हुआ था? केवल भोजन ही तो नहीं खा रखा था; मन में मंत्र याद क्यों नहीं आये? अब जब खाने को मिल गया तो मन तैयार हो गया, पूरी तरह से काम करने लगा। इस प्रकार युक्ति से भी निश्चय होता है और वेद तो कहता ही है। इसी प्रकार वेद ने कहा है 'आपोमयः प्राणः' प्राण जल से पुष्ट होता है। इसलिये शरीर-शास्त्र भी यही कहता है कि आदमी अपने को कमज़ोर अनुभव करे तो पानी पी लेने पर शरीर में ताकत आ जाती है। चाहे जितना खाने को मिले लेकिन पानी न मिले तो किसी भी कार्य को करने में अपने को सशक्त अनुभव नहीं करेगा। इसलिये कहा कि प्राण जलमय हैं। जो बात अन्वय-व्यतिरेक से सिद्ध होती है उसको युक्ति से सिद्ध मानते हैं। जल मिलता है तो ताकत रहती है। जल नहीं मिलता तो ताकत भी नहीं रहती। इसलिये जल और प्राण में कार्य-कारण-भाव सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार से भोजन मिलता है तो मन-बुद्धि काम करते हैं, भोजन नहीं मिलता तो मन-बुद्धि कार्यकारी नहीं होते। इस अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा मन भी भूतकार्य है, यह सिद्ध हो जाता है।

'अवधार्यताम्' ऐसा निश्चय करना पड़ेगा। बाहर की चीजें दृश्य हैं, भौतिक हैं यह तो इतना स्पष्ट है कि निश्चय करने में ज़्यादा प्रयास नहीं करना पड़ता। परन्तु इन्द्रिय और मन के बारे में बार-बार जब युक्तियों और शास्त्रों का अभ्यास करेंगे तब ये संस्कार दृढ होंगे कि ये भी भौतिक हैं। अन्यथा यही समझ आता है कि 'ये सब मेरे ही रूप हैं, 'मैं' हूँ तब हैं।' कुर्सी के लिये तो समझ में आ जाता है कि मैं कमरे से बाहर जाऊँगा तो कुर्सी वहीं रहेगी। परन्तु आँख के बारे में यह सोचना भी मुश्किल पड़ता है कि मैंने आँख बन्द कर दी तो आँख चली गई या कान में रूई लगा दी तो कान चले गये। यही लगता है कि कान बाहर से बन्द किया है। इसी प्रकार बार-बार युक्ति का अभ्यास करना है, तब ये संस्कार दृढ हो जाते हैं।। १७।।

भूत-भौतिक ही सारा बाह्य-आभ्यन्तर प्रपंच है यह समझने का उपयोग है इसके कारण के रूप में परमेश्वर से परिचय पाना। अतः 'सद् एव सोम्य! इदम् अग्र आसीद्' ऐसा छान्दोग्य में वेद ने कहा है। उस वचन का अर्थ समझाना शुरू करते हैं–

एकादशेन्द्रियैर्युक्त्या शास्त्रेणाप्यवगम्यते।।
यावत्किंचिद् भवेदेतदिदं-शब्दोदितं जगत्।। १८।।

ग्यारहों इंद्रियों से, युक्ति से और शास्त्र से जो कुछ भी समझ आता है वह जगत् (श्रुतिस्थ) 'इदं'–शब्द से कहा गया है।

पंचमहाभूत और पंचमहाभूतों से उत्पन्न होने वाली कर्मेन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रियाँ व अंतःकरण, इन सब का विवेक करके बताया कि ये दृश्य हैं। परन्तु इस महाभूतविवेक प्रकरण में जिस श्रुति का प्रधानरूप से विचार करना है वह सामवेद की छान्दोग्योपनिषद् है। प्रत्येक प्रकरण

में किसी-न-किसी वेद-वाक्य को सामने रखकर ही उसके अनुसार विचार करते हैं। विचारित सामवेद की छान्दोग्योपनिषद् में आता है 'सदेव सोम्येदमग्रआसीद् एकमेवाद्वितीयम्।' इसका शब्दशः अनुवाद है कि सृष्टि के पहले एक ही, दूसरे से रहित सत् ही था। इसमें इदं-शब्द के द्वारा सारे जगत् को कह दिया कि यह सद्रूप था। 'यावत् किंचिद् भवेद् एतत्' सारा जगत् जितना कुछ प्रमाणों के द्वारा जाना जाये, चाहे प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा जाना जाये, चाहे अनुमान प्रमाण से, चाहे अर्थापत्ति या उपमान प्रमाण से अथवा शब्द प्रमाण से जाना जाये, वह सब यह जगत् ही है। जितना भी जान सकते हो वह सब इंद-शब्द से कहा गया यह सारा जगत् है। एकादशेन्द्रियों से प्रत्यक्ष को कह दिया। ग्यारहों इन्द्रियों से जो जानते हैं वह प्रत्यक्ष है। ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों से जो व्यवहार करते हैं वह प्रत्यक्ष है यह सब लोग मानते हैं। परन्तु सुख-दुःख आदि का अनुभव केवल मन ही करता है। इसी प्रकार बहुत-सी चीज़ें ऐसी हैं जो मन प्रत्यक्ष करता है। मन किसी साधन से उन चीज़ों को नहीं जानता। सुख-दुःख आदि को खुद ही जानता है। 'युक्त्या' अर्थात् अनुमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि आदि प्रमाण युक्तियाँ हैं जिनसे जानता है। शास्त्र अर्थात् शब्द प्रमाण से भी जानता है। स्वर्ग, नरक, वैकुण्ठ लोक, ब्रह्मलोक आदि का न अनुमान कर सकते हैं, न इसमें अर्थापत्ति लग सकती है, यह तो केवल शास्त्र से ही पता लगता है। ऐसी बहुत-सी चीज़ें होती हैं जो शास्त्र से पता लगती हैं। अनेक बार लोग पूछते हैं कि शब्द प्रमाण को हम क्यों मानें या शास्त्र में लिखा है उसे हम क्यों मानें? तुम जितनी भी प्रत्यक्ष प्रमाण से परीक्षा करके देखो, किसी त्रिकोण में खूब नाप कर देखो, तीनों का योग कभी १८० अंश नहीं आयेगा! शास्त्र से तो सिद्ध है लेकिन प्रत्यक्ष से नहीं मिलेगा। क्यों? सीधी-सी बात है; जिस त्रिकोण की तुम कल्पना कर रहे हो उसकी रेखायें सीधी होनी चाहिये लेकिन गोल पृथ्वी पर कुछ भी रखोगे तो वह थोड़ा मुड़ा ज़रूर होगा, रेखायें सर्वथा सीधी नहीं होंगी। बहुत-सी चीज़ें हैं जिनका निश्चय तत्तत् शास्त्र से ही होता है, प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से सिद्ध करने जाओ तो नहीं होगा। जैसे दूसरे शास्त्रों को मानना पड़ता है, वैसे ही स्वर्ग आदि के लिये, पाप-पुण्य आदि के लिये, ईश्वर के लिये शास्त्र ही प्रमाण है; शास्त्र प्रमाण से ही इन्हें जाना जा सकता है। इसलिये युक्ति से शास्त्र को अलग किया। इन सब साधनों के द्वारा जो जाना जाता है, वह सब इदम् शब्द से कहा गया, कुछ भी बाकी नहीं बचा।। १८।।

उक्त छान्दोग्यश्रुति का अपने शब्दों से उपस्थापन करते हैं—

इदं सर्वं पुरा सृष्टेरेकमेवाद्वितीयकम्।
सदेवासीन्नामरूपे नास्ताम् इत्यारुणेर्वचः।। १९।।

आरुणि का कथन है कि सृष्टि से पहले 'यह' सब एक ही अद्वितीय सत् ही था, नाम-रूप नहीं थे।

श्वेतकेतु के पिता का नाम उद्दालक आरुणि था। उनका यह वचन है अर्थात् उनका मतलब यह है। प्रायः जब कहते हैं कि 'यह उनका वचन है' तब लगता है कि उनके शब्दों का उद्धरण दे रहे हो। परन्तु कभी-कभी जब उनके कहे अर्थ का उद्धरण देते हो तब भी कहा जाता है कि 'उनका वचन है।' उन्होंने कहा कि सृष्टि से पहले केवल सत् था। लोक में सृष्टि का मतलब होता है जो पहले नहीं था उसको बनाया गया। सृज् धातु का अर्थ है 'बाहर फेंकना' इसलिये सृज धातु से बने सृष्टि शब्द का मतलब है कि जो अन्दर अव्यक्त रूप में है उसे बाहर व्यक्त कर दिया। अतः हम लोगों के यहाँ मिट्टी में घड़ा, सिकोरा आदि सब छिपे हुए हैं इसीलिये उससे पैदा होते हैं। ऐसा क्यों न मानें कि ये सब नये पैदा होते हैं? नये पैदा होते हों तो पानी को मथ कर घी पैदा कर लो! दही को मथ कर ही घी पैदा होगा, क्योंकि दही में घी है; दही के द्वारा ढका हुआ है इसलिये नहीं दीख रहा लेकिन मथकर प्रकट वही होगा जो वहाँ है। इसी प्रकार हम लोगों की मान्यता है कि जो चीज़ जिसमें है उसी से प्रकट होती है। अगर उसमें न होकर प्रकट हो तो किसी से भी कुछ भी बनाया जा सके। नियमतः चीज़ें कारण से बनती हैं तो इसमें कोई-न-कोई नियामक होना चाहिये। जो जिसमें है उसी से प्रकट होता है। इसीलिये सृष्टि के पहले अर्थात् यह सारा संसार जब तक परमेश्वर से बाहर नहीं आया था, तब तक 'एकमेवाद्वितीयकम्' अत्यंत अद्वितीय सन्मात्र था। नामरूप के द्वारा ही अनेकता की प्रतीति होती है। किन्हीं भी दो चीज़ों का भेद या नाम या रूप से होता है। जहाँ नाम और रूप दोनों एक हों वहाँ कभी नहीं कह सकते कि ये चीज़ें अलग हैं। जैसे, हम लोगों को अपनी-अपनी आँखों से यह घड़ी दीख रही है। दीख तो अलग-अलग रही हैं क्योंकि अपनी आँखों के पर्दे पर पड़ी परछाइयाँ अलग ही हैं! फिर भी घड़ी को एक मानते हैं क्योंकि जिससे भी पूछो—यह क्या है? तो एक ही नाम लेता है कि यह घड़ी है और एक ही रूप बताता है कि सफेद है। आँखों से सब अलग-अलग देख रहे हैं क्योंकि सबको अपने-अपने पर्दे पर दीख रहा है, परन्तु नाम-रूप एक हैं इसलिये एक ही मानते हैं। जब तक नाम-रूप प्रकट ही नहीं हुए थे तब तक अलग करने वाला कुछ न होने से केवल एक परमेश्वर ही था।

श्रुति ने केवल 'एक' नहीं कहा; 'एक' कहा, 'ही' कहा और 'अद्वितीय' भी कहा। जैसे किसी से कहें 'तुम एक भोजन करने आना' तब मतलब है कि दूसरा नहीं आये। और कहें कि 'दूसरे किसी को लिये बिना आना' तब भी मतलब है कि दूसरा न आये। द्वितीयता तीन तरह से हटाई जा सकती है १) तुम एक आना २) तुम ही आना; ३) दूसरे किसी को नहीं लाना। तीन प्रकार से एकता को बताया जाता है। यहाँ श्रुति ने तीनों इकट्ठे कह दिये 'एकम् एव अद्वितीयम्'। ऐसा नहीं कि श्रुति ने बेकार कह दिया हो! तीन तरह से चीज़ों में द्वितीयता होती है: एक तो अपनी जाति वालों से द्वितीयता होती है; जैसे ब्राह्मण में अन्य ब्राह्मणों से द्वितीयता (दूसरापन) है। इसे सजातीय द्वैत कहते हैं, जहाँ एक ही जाति के अनेक व्यक्ति हैं। विजातीय द्वैत—जैसे एक ब्राह्मण और दूसरा क्षत्रिय है, दोनों की एक जाति नहीं

है, दोनों अलग-अलग जाति के हैं फिर भी ब्राह्मणों में क्षत्रिय से द्वितीयता (दूसरापन) है। तीसरा, स्वगत द्वैत होता है; जैसे तुम्हारे शरीर में हाथ, पैर इत्यादि हैं लेकिन हाथ, पैर इत्यादि तुम तो नहीं हो, फिर भी हाथ-पैर इत्यादि तुमसे अलग नहीं हैं। तुमसे काटकर अलग कर दिया जायेगा तो वह 'हाथ' नहीं रह जायेगा। तुममें जो हाथ-पैर आदि से द्वितीयता (दूसरापन) उसे स्वगत समझा जाता है। इसे स्वगत भेद भी कहते हैं। अपने अन्तर्गत वस्तुओं से अपना फ़र्क स्वगत भेद है। 'एकम्, एव, अद्वितीयम्' कहकर बताया कि सजातीय आदि त्रिविध भेद नहीं था। कोई दूसरा ईश्वर नहीं था, ईश्वर एक था। विजातीय भेद नहीं था अर्थात् सत् से भिन्न असत् कुछ नहीं था। कई लोग मानते हैं कि परमेश्वर ने परमाणुओं से सृष्टि की, इसलिये ईश्वर और परमाणु दो थे उनसे संसार बनाया। न कोई दूसरा ईश्वर था, न ईश्वर से अतिरिक्त दूसरी कोई चीज़ थी और ईश्वर के कोई टुकड़े (अवयव) भी नहीं थे।

एक शंका वेदान्त सुनने वाले कर सकते हैं कि, वह ईश्वर अपनी माया (शक्ति) के साथ तो था ही तभी सृष्टि की, अतः माया से सद्वितीयता क्यों नहीं रह जायेगी? अर्थात् स्वगत भेद को तो मानें। परन्तु यहाँ स्वगत भेद का भी निषेध है। अद्वितीय शब्द के रहते स्वगत भेद मानना शास्त्र से विरुद्ध है। माया से सद्वितीयता या भेद इसलिये नहीं कि सत् (है) का सत् (है) से ही द्वैत (भेद) सम्भव है जबकि माया सत् नहीं वरन् मिथ्या है। जो निन्यानबे रुपये हमारे पास हैं नहीं, उन्हें जोड़कर जैसे हमारा एक रुपया सौ रुपये नहीं हो जाता; जो रुपये हैं वे ही आपस में जोड़े जा सकते हैं; वैसे ही मिथ्या माया से सत् में सद्वितीयता, द्वैत, भेद नहीं आ सकता। सत् यदि दो हों तो जुड़कर सद्वितीय हो सकते हैं। परन्तु सत् एक ही है। उसके साथ भिन्न जाति की माया जुड़कर दो नहीं हो सकते।। १९।।

भूमिका रचकर जिसका विचार करना है वह छान्दोग्य श्रुति अर्थतः कही। उसमें एक, एव, अद्वितीय—इन तीनों पदों का अर्थ स्पष्ट करने के लिये इनसे जिनका निषेध करना है उन त्रिविध भेदों (सद्वितीयताओं) को बताते हैं—

वृक्षस्य स्वगतो भेदः पत्रपुष्पफलादिभिः।
वृक्षान्तरात् सजातीयो विजातीयः शिलादितः।। २०।।

पत्ते फूल फल आदि से वृक्ष का अलगाव 'स्वगत भेद' है। अन्य वृक्षों से वृक्षका अलगाव 'सजातीय भेद' है एवं पत्थर आदि से अलगाव विजातीय भेद है।

पेड़ के अन्दर पत्ते, फूल, फल होते हैं। 'आदि' पद से जड़ और तना भी होता है। इनको न वृक्ष से अलग कह सकते हैं क्योंकि पेड़ लाओगे तो पेड़ के पत्ते, फूल, फल आदि सब उसके साथ ही आयेंगे; और इन सब को वृक्ष से एक भी नहीं कह सकते कि पेड़ आ गया तो ये सब चीज़ें आ जायेंगी क्योंकि इनमें से एक चीज़ भी लाई जा सकती है, उससे 'पेड़ आ गया' यह नहीं कह सकते। अंगों से अंगी का स्वगत भेद है अर्थात् अपने अन्दर होने वालों से भेद है। भेद का मतलब अन्योन्याभाव होता है। जैसे हाथ पैर नहीं पैर हाथ नहीं

या घड़ा कपड़ा नहीं, कपड़ा घड़ा नहीं। घड़े का कपड़े से भेद, कपड़े का घड़े से भेद है। एक, एव, अद्वितीय–तीनों एक ही अर्थ के शब्द हैं, तीनों शब्दों से भेद की ही निवृत्ति समझनी है। इसलिये 'एकम्' शब्द से ही स्वगत भेद का निषेध लें यह ज़रूरी नहीं है, तीन शब्दों से तीनों भेदों को हटाना है।

दूसरा सजातीय भेद है। जैसे घड़े का अंग कपड़ा नहीं, कपड़े का अंग घड़ा नहीं, लेकिन दोनों ही दृश्य पदार्थ हैं इसलिये दोनों एक ही जाति के हैं। उनके अन्दर जो एक-दूसरे से भेद होता है वह सजातीय भेद है। इसी प्रकार यह नीम का पेड़ है, वह बबूल का पेड़ है, इसलिये नीम से भिन्न बबूल है। परन्तु दोनों वृक्ष जाति के हैं। स्वगत भेद तो अंगों से अंगी का है जबकि एक ही जाति की चीज़ों में परस्पर सजातीय भेद है। तीसरा विजातीय भेद है : जैसे वृक्ष एक जाति का पदार्थ है और पत्थर दूसरी जाति की जड चीज़ है। इसलिये जड और सजीव दोनों भिन्न जाति के पदार्थ हैं, इनमें परस्पर विजातीय भेद है अर्थात् दोनों भिन्न जाति के हैं और दोनों एक-दूसरे से अलग भी हैं। एकमेवाद्वितीयम् इन तीन पदों से तीनों भेदों की निवृत्ति है। तीन भेद ही संभव हैं। अतः भेदमात्र का, द्वितीयमात्र का, निषेध हो गया।। २०।।

उक्त ढंग से द्वितीय के तीनों संभव प्रकार बताकर समझाते हैं कि सत् तत्त्व में तीनों का निषेध श्रुति ने किया–

तथा सद्वस्तुनो भेदत्रयं प्राप्तं निवार्यते।
ऐक्यावधारणद्वैतप्रतिषेधैस्त्रिभिः क्रमात्।। २१।।

वृक्षादि की तरह सद्रूप वस्तु में सम्भावित तीनों भेदों का क्रमशः एकता बताकर, अवधारण (एव) कहकर और द्वैत की मनाही करके निषेध श्रुति करती है।

जैसे वृक्ष आदि सद्रूप वस्तुओं के अन्दर तीन भेद देखे जाते हैं वैसे ही सत् भी एक वस्तु है इसलिये उसमें भी तीन भेद प्राप्त होते हैं अर्थात् उसमें ये तीन भेद हो सकते हैं। उन्हें हटाते हैं। किससे हटाते हैं? ऐक्य अर्थात् जो एकता कही उसके द्वारा स्वगत भेद मिटा दिया। एव, 'ही' कहकर अवधारण कर दिया कि दूसरा नहीं, इससे सजातीय भेद मिटा दिया। अद्वितीय से कहा कि उससे भिन्न जाति की कोई चीज़ नहीं है अर्थात् विजातीय भेद मिटा दिया। यह जो सामवेद ने क्रम से तीन शब्द कहे इनसे तीनों भेदों का निषेध किया कि ये तीनों भेद नहीं हैं। ।।२१।।

श्रुति ने भले ही कहा हो परन्तु सत् में भेद क्यों न माने जायें? सत् में भी भेद माने जायें तो हर्जा क्या है? अनेक बड़े आचार्य हुए हैं जो परमात्मा को अवयवी मानते हैं, जीवात्मा और जगत् को अवयव मानते हैं। जीव-ईश्वर में परस्पर शरीर-शरीरी-भाव मानते हैं। एक ही परमात्मा में जीव भी रहता है और जगत् भी रहता है। परमात्मा से भिन्न कुछ नहीं है, यह तो वे मानते हैं परन्तु परमात्मा के अन्दर जीव और जगत् हैं, ऐसा मानने वाले

वादी हैं। इसी को वे लोग विशिष्टाद्वैत कहते हैं अर्थात् जीव और जगत् से विशिष्ट ईश्वर है। इसके समाधान में बताते हैं कि क्यों भेद नहीं है–

सतो नावयवाः शंक्यास्तदंशस्यानिरूपणात्।
नामरूपे न तस्यांशौ तयोरद्याप्यनुद्भवात्।।२२।।

सत् के अवयव संभव नहीं क्योंकि उसके अंशों (अवयवों) को परिभाषित कर नहीं सकते। नाम व रूप क्योंकि अभी (कारणदशा में) प्रकट नहीं हैं इसलिये वे सत् के अवयव नहीं हैं।

स्वगत भेद इसलिए नहीं है कि सत् के बारे में कहना कि उसके अवयव हैं, संभव नहीं। सत् का अंश जीव और जगत् कैसे कहें? अभी सृष्टि हुई नहीं, जीव और जगत् हैं ही नहीं तो वे सत् के अंश कैसे? अगर जीव और जगत् सत् के अवयवरूप से सदा हैं ही तो फिर सत् ने सृष्टि की किस चीज़ की? यदि जीव और जगत् हैं ही, तो बनाने वाले परमात्मा की क्या ज़रूरत है? इसलिये सत् (परमात्मा) का अंश जीव और जगत् मानना युक्तिसंगत ही नहीं है। कोई कह सकता है कि नाम-रूप उसके अंश हैं। किंतु यह बात भी नहीं है क्योंकि नाम-रूप 'अद्य' अर्थात् सृष्टि के पहले उपस्थित नहीं हैं, अभी बने ही नहीं हैं। अवयवों के न होने पर अवयवों से अवयवी में भेद (द्वैत) कैसे होगा?।।२२।।

कारणदशा में नाम-रूप क्यों नहीं, यह बताते हैं–

नामरूपोद्भवस्यैव सृष्टित्वात् सृष्टितः पुरा।
न तयोरुद्भवस्तस्माद् निरंशं सद्यथा वियत्।।२३।।

क्योंकि नाम-रूप का उद्भव ही सृष्टि है इसलिये सृष्टि से पूर्व उनका उद्भव नहीं था। अतः आकाश की तरह सत् अंशरहित है।

सृष्टि क्या है? नाम और रूप का उत्पन्न होना ही सृष्टि कहा जाता है। इसलिये सृष्टि के पहले नाम-रूप का उद्भव नहीं है अतः सत् के अन्दर अंश नहीं है, तो स्वगत भेद भी नहीं है। एक ही चीज़ ऐसी है जो हम लोगों को निरंश अनुभव में आती है, वह आकाश है। आकाश में कोई अंश नहीं है। इसलिये सब चीज़ों के परमाणु मानने वाले नैयायिक भी आकाश के परमाणु नहीं मानते। आकाश परमाणुओं से बना है, ऐसा वे भी नहीं मानते। अतः अनुमान हो सकता है कि वस्तु स्वगत भेद के रहित है, अवयव नहीं होने से, आकाश की तरह। जैसे आकाश में अवयव नहीं है तो उसमें स्वगत भेद नहीं है, वैसे ही सत् सृष्टि से पहले स्वगत भेद से रहित ही है। इस प्रकार स्वगत भेद सत् में क्यों नहीं है–यह स्पष्ट किया। यद्यपि युक्ति से यह अद्वैत समर्थित किया तथापि कारण और उसका अभेद (अद्वैत) शास्त्र से ही पता चल सकता है। सृष्टिकालिक विचार-प्रक्रिया से सृष्टि से पूर्व का 'पता' नहीं चल सकता, समझा भले ही जा सके।।२३।।

अब सजातीय भेद को हटाते हैं–

सदन्तरं सजातीयं न वैलक्षण्यवर्जनात्।
नामरूपोपाधिभेदं विना नैव सतो भिदा।। २४।।

सत् से समान-जातीय कोई अन्य सत् नहीं है क्योंकि उस 'अन्य' में सत् से विलक्षणता नहीं है। नाम-रूपात्मक उपाधि के भेद के बगैर सत् में भेद है ही नहीं।

जहाँ सजातीय भेद होता है वहाँ एक जाति वाले होने पर भी दोनों व्यक्तियों में कोई भेद होता है। जैसे देवदत्त और यज्ञदत्त में भेद है क्योंकि दोनों के नाक, कान, मुँह, लम्बाई, चौड़ाई आदि सभी चीज़ों में अन्तर है। उन भेदों को लेकर ही कहते हैं कि देवदत्त यज्ञदत्त से अलग है। एक बार हम मनाली में दो महीने ठहरे थे। वहाँ जो मकान हमने भाड़े लिया था उसका मालिक सवेरे आया तो हमने उससे कोई बात कही कि अमुक चीज़ ठीक करवा देना। जब वह शाम को आया तो हमने उससे कहा कि 'तुमसे अमुक काम कहा था, वह नहीं हुआ।' हमने सोचा भूल गया होगा। उसने कहा–'आपने मेरे भाई से कहा होगा। हम जुड़वें हमशक्ल भाई हैं।' अगले दिन दोनों साथ-साथ आये, देखा तो दोनों में कोई फ़र्क नहीं, दोनों परस्पर फोटो-कॉपी जैसे थे! हमने सोचा कि प्रकृति में कोई दो चीज़ें बिलकुल एक जैसी तो हो नहीं सकतीं। दोनों का शरीर तो एक जैसा था, परन्तु एक भाई की आदत थी कि बात करते-करते कंधा मटकाता था, दूसरा वैसा नहीं करता था। थोड़ी देर बात हुई तो यह पहचान हो गई और फिर व्यवहार ठीक होने लग गया। जब तक दोनों में कोई न कोई भेद करने वाली चीज़ न हो तब तक सजातीय भेद कैसे सिद्ध हो? यह कैसे समझ आये कि यह वह नहीं? घटसत्ता और पटसत्ता अर्थात् घड़े का होना अलग है, कपड़े का होना अलग है। परन्तु सत्ता में यह भेद घट-पट के नाम-रूप को लेकर है। दोनों के नाम-रूप को हटा दो तो 'है'पने में कोई फ़र्क नहीं है। सत्ता का भेद बताते हैं तो किसी न किसी नाम या रूप को लेकर बताते हैं। बिना नाम-रूप का भेद बताये सत्ता का भेद नहीं बता सकते। उन्हें लेकर ही सत्ता में विलक्षणता, भेद है। सत्-मात्र के अन्दर विलक्षणता नहीं हो सकती क्योंकि विलक्षणता लाने वाले नाम-रूप अभी पैदा ही नहीं हुए। सत् जाति का दूसरा सत् तभी माना जाये जब सत् से उसे अन्य पहचान सकें। किंतु इस पहचान के लिये आवश्यक जो नाम-रूप, वे ही उत्पन्न न होने से यह पहचान असंभव और अनेक सत् न होने पर सत् की जाति ही अमान्य हो जाती है।

इसलिये सत् में सजातीय भेद भी नहीं हो सकता। आकाश में भी घड़ा-सिकोरा आदि उपाधियाँ रहते ही कम जगह ज़्यादा जगह आदि भेद का व्यवहार संभव है, स्वयं आकाश में भेद-व्यवहार संभव नहीं। ऐसी कोई उपाधि बनने से पूर्व जैसे 'अनेक आकाश' नहीं कह सकते ऐसे अनेक सत् नहीं कह सकते। अतः सत् के अन्दर सजातीय भेद बिना नाम-रूप

उपाधि के नहीं हो सकता और कारणावस्था में वह नाम-रूप उपाधि पैदा ही नहीं हुई। ।।२४।।

विजातीय से भेद का भी निषेध करते हैं–

विजातीयमसत्तत्तु न खल्वस्तीति गम्यते।
नास्यातः प्रतियोगित्वं विजातीयाद् भिदा कुतः।।२५।।

सत् से विजातीय असत् होगा। वह तो 'नहीं है'–यों ही समझ आता है। अतः वह भेद का भी प्रतियोगी नहीं तो सत् में विजातीय से भेद क्योंकर होगा!

सत् से भिन्न जाति की चीज़ असत् होगी, क्योंकि सत् जाति छोड़कर दूसरी तो असत् ही होगी। जैसे जो ब्राह्मण जाति का नहीं है वह अब्राह्मण, अर्थात् क्षत्रियादि ही है, उसी प्रकार जो सत् जाति का नहीं है वह असत् है। सत् का विजातीय असत् है। असत् अर्थात् 'न खलु अस्ति' जो नहीं ही है। इस कमरे में सोने का पहाड़ नहीं है अर्थात् सोने का पहाड़ यहाँ असत् है। असत् कोई प्रतियोगी नहीं है। किसी चीज़ का निषेध करते हैं तो जिसका निषेध किया जाता है उसको प्रतियोगी कहते हैं। घड़े को कोई जानेगा तभी कहेगा कि घड़ा नहीं है। किंतु असत् यों ज्ञेय नहीं; किसी के निषेधरूप से भी नहीं समझा जा सकता क्योंकि वह किसी 'वस्तु' (सत्य) का निषेध नहीं है। अतः असत् प्रतियोगी नहीं हो सकता। इसलिये विजातीय भेद कैसे हो सकता है? अगर विजातीय कोई चीज़ होती, असत् कुछ होता, तो वह सत् से अलग भी होता। असत् अर्थात् 'कुछ नहीं' और 'कुछ नहीं' से सत् अलग कैसे होगा? इस प्रकार, सत् में न स्वगत न सजातीय और न विजातीय भेद है इसलिये श्रुति ने कह दिया 'एकमेवाद्वितीयम्' सृष्टि से पहले अद्वितीय एक ही सत् था।।२५।।

उपनिषत् द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त से विरुद्ध एक पक्ष स्वयं उपनिषत् ने बताया है, उसकी परीक्षा प्रारम्भ करते हैं–

एकमेवाद्वितीयं सत् सिद्धमत्र तु केचन।
विह्वला असदेवेदं पुराऽऽसीदित्यवर्णयन्।।२६।।

उक्त विचार से एक ही अद्वितीय सत् सिद्ध हुआ। इस पर कुछ लोगों ने सन्मात्र न समझ पाने से यों वर्णन किया कि 'इदम्' पहले असत् ही था।

एक ही अद्वितीय अर्थात् सजातीय, विजातीय और स्वगत भेद से रहित सृष्टि के पहले सत् का रूप सिद्ध हुआ। परन्तु यह जो सारे भेदों से रहित केवल एकमात्र परमात्मा ही है, इस विषय में 'केचन' बहुत से लोग विह्वल हो जाते हैं! अगले श्लोक में आचार्य खुद बतायेंगे कि विह्वल का क्या अर्थ है। हमारी आदत विभिन्न चीज़ों को ध्यान से देखने की है अतः ध्यानादि में एकाकार वृत्ति बनाये रखने से हम जल्दी विह्वल होते हैं, घबराते हैं, विविधता

की ओर वृत्ति ले जाने को उतावले होते हैं। इसी प्रकार यह एक ही अद्वितीय सत् कहा जाता है तो मन का प्रचार कहाँ करें, मन इधर-उधर कहाँ जाये! क्योंकि वहाँ कोई चीज़ें तो हैं ही नहीं। इसीलिये घबरा जाते हैं, विह्वल हो जाते हैं। विह्वल होकर कहते हैं कि 'इतना ही इसका मतलब है कि यह सब पहले नहीं था'। यह ख्याल रखना कि पहले यह सब नहीं था, केवल इतना ही नहीं, वरन् सत् था–यह भी श्रुति का अर्थ है। सत् में कोई भेद नहीं था, परन्तु सत् था। वे समझते हैं कि केवल इतना ही मानें कि यह सब पहले नहीं था, एक परमात्मा मानने की क्या ज़रूरत है?

ऐसे समझ लो कि उनका कहना है कि *तिल से* तेल नहीं निकलता है बल्कि जब तिल *नहीं रहता* है तब तेल निकलता (मिलता) है; तिल को कोल्हू में पेरते हैं तो तिल नहीं रहता, इसलिये तिल *नहीं रहने* से तेल पैदा होता है। अतः केवल यही कह सकते हैं कि तेल पैदा होने के पहले कोई चीज़ नहीं थी। इसी तरह उनका प्रश्न है कि वहाँ कोई नाम-रूप नहीं है तो वहाँ कोई चीज़ सत् है, यह कैसे मान लें? यह उनके कहने का हृदय है। नाम-रूपात्मक कोई चीज़ नहीं थी, अर्थात् इसके पैदा होने के पहले, असत् ही था, सत् नहीं था–ऐसा ये वर्णन करते हैं। इस पक्ष को श्रुति ने स्वयं उठाकर स्वयं ही इसका निषेध भी किया है। यदि असत् से पैदा हो तो तिल खरीद कर लाने की क्या जरूरत है? *कुछ नहीं* से तेल पैदा करना है तो वह 'कुछ नहीं' सुलभ है ही, उसी में से तेल निकाल लो! लेकिन चाहे जितना कट्टर असद्वादी हो फिर भी तेल के लिये तिल खरीदता ही है। यदि तिल को तेल का कारण नहीं मानता तो तिल क्यों खरीदता? व्यवहार में तो सभी यह मानते हैं कि कुछ होगा, उसी से कुछ पैदा होगा। 'कुछ नहीं' से 'कुछ' पैदा होता है–ऐसा सचमुच में मानने वाला कोई है नहीं। वाद के लिये कह देंगे फिर भी प्रवृत्ति तो चीज़ों को लाने की ही होती है।।२६।।

विह्वलता को उदाहरण द्वारा समझाते हैं–

मग्नस्याब्धौ यथाऽक्षाणि विह्वलानि तथाऽस्य धीः।
अखण्डैकरसं श्रुत्वा निष्प्रचारा बिभेत्यतः ।। २७।।

जलाशय में डूबे व्यक्ति की इन्द्रियाँ जैसे विकल हो जाती हैं वैसे अखण्ड एकरस को सुनकर असद्वादी की बुद्धि उस तत्त्व में प्रवेश न कर पाने से डर जाती है।

कोई समुद्र के अन्दर पूरी तरह से डुबकी लगा ले तो उसकी आँख इत्यादि इन्द्रियों को वहाँ कुछ भी नजर नहीं आता क्योंकि जिधर देखें उधर पानी ही पानी है। सामान्यतः यह नियम है कि कोई फ़र्क वाला विषय होता है तब इन्द्रियों से ज्ञान होता है। जब तक कोई विरोधी अर्थात् भिन्न का ज्ञान न हो तब तक किसी चीज़ का पता ही नहीं लगता। यह इन्द्रियों का स्वाभाविक प्रकार है। जैसे हम लोगों को, आबू में बिलकुल शांति है–यह पता नहीं लगता। कोई बम्बई, कलकत्ता से आता है तो कहता है कि कितनी शांति है। क्योंकि वहाँ की अशांति का उसे स्मरण है इसलिये आबू की शांति को पहचान लेता है। हम लोगों

को सामान्य लगती है। वैपरीत्येन, हम दिल्ली जाते हैं तो हमें वहाँ बड़ा शोर सुनाई देता है, यद्यपि वहाँ रहने वाले कहते हैं कि 'ऐसा तो कोई शोर नहीं है', उन्हें वही सामान्य लगता है।

चित्र के अन्दर गहराई दिखाने के लिये रंग में फ़र्क कर देते हैं, कहीं गहरा, कहीं हल्का तो कहीं उससे हल्का रंग भरते हैं तो उस चित्र में लगता है कि पानी कितना गहरा है या नदी बह रही है। ठीक एक जैसा रंग पोत दो तो 'नदी ब्रह रही है' ऐसा भान नहीं होता। दस लड्डू खाते चले जाओ तो लड्डू का मिठास कम होने लगता है। फिर आम के अचार की एक फाड़ी खा लो तो पुनः उस लड्डू में मिठास का भान होता है। इसी प्रकार, समुद्र में आदमी गोता लगाता है तो वहाँ कहीं कोई भेद का भान नहीं रहता है। केवल एक इन्द्रिय नहीं वरन् सारी ही इन्द्रियाँ विह्वल हो जाती हैं।

इसी प्रकार वेद कह देता है 'एकमेवाद्वितीयम्' अर्थात् तीनों भेदों से रहित होने के कारण अखण्ड एकरस ब्रह्म ही है। ऐसा जब वेद में पढ़ते हैं तब असद्वादी लौकिक लोगों की बुद्धि निष्प्रचार हो जाती है, अर्थात् क्या सोचें–यह उनकी समझ में ही नहीं आता। बहुत से लोगों का प्रश्न होता है कि ध्यान कैसे करें? जब कहते हैं 'शंख चक्र गदा पद्म धारण किये हुए, सांवले रंग के, मुकुट पहने हुए, कौस्तुभ धारण किये हुए का ध्यान करो।' तो कहते हैं कि 'यह तो मूर्ति है, अमूर्त का ध्यान कैसे करें?' फिर अमूर्त बताते हैं तो कहते हैं कि 'कोई चीज़ सामने हो तो ध्यान करें!' यह तो वही बात हुई जैसे कोई बीमार हो गया और वह खाने का शौकीन है। उससे केवल खिचड़ी खाने को कहें तो कहता है कि वह तो भाती नहीं। लड्डू खाता है तो पेट खराब हो जाता है। उसके लिये मरने के सिवाय दूसरा कोई रास्ता नहीं है क्योंकि वह या तो खिचड़ी खाना सीखे या लड्डू खा कर जंगल जाने की सोचे। इसी प्रकार साधक या तो किसी सगुण साकार का ध्यान करना सीखे या तीनों भेदों से रहित केवल ब्रह्म ही है ऐसा चिंतन करे। जो इस तरह अधिकारानुरूप कदम-कदम आगे नहीं बढ़ता, उसकी बुद्धि निष्प्रचार हो जाती है अर्थात् समझ नहीं पाती कि क्या सोचे। क्योंकि तत्त्व अखण्ड एकरस है इसलिये उससे उनको भय लगता है जो सखण्ड अनेकरस के ही चिन्तन में सक्षम हैं। जैसे, छोटे बच्चे से माँ कहती है 'तुम कमरे में रहना, मैं बाहर से ताला लगा दूँगी, कोई नहीं आयेगा।' वह कहता है–'नहीं माँ। मुझे डर लगता है।' अरे! किस चीज़ का डर लगता है? डर तो दूसरे से लगता है, अपने आपसे कैसे डर लग सकता है? कहेगा 'यह तो मैं नहीं बता सकता, लेकिन डर तो लगता है।' दूसरा ही कोई भय का कारण हुआ करता है। श्रुति भी कहती है 'द्वितीयाद्वै भयं भवति।' दूसरा है नहीं तो किससे डर रहा है! परन्तु बालक को फिर भी डरते देखा जाता है। इसी प्रकार से लौकिक लोग भी विह्वल हो जाते हैं, भयभीत होते हैं कि एकमात्र ब्रह्म ही है; इसी अकेलेपन से उन्हें डर लगता है। इसीलिये वे श्रुति का अर्थान्तर करना चाहते हैं ताकि कुछ तो वहाँ सोचने को मिले।।२७।।

अखण्ड एकरस लोकबुद्धि से सिद्ध न हो सकने से श्रुति का यही अभिप्राय है। यह दृढ करने के लिए साम्प्रदायिक आचार्यों के वचनों का संवाद दिखाते हैं–

गौडाचार्या निर्विकल्पे समाधावन्ययोगिनाम्।
साकारब्रह्मनिष्ठानामत्यन्तं भयमूचिरे।।२८।।

साकार ब्रह्म में निष्ठा वाले 'अन्य योगियों' को निर्विकल्प समाधि में अत्यधिक डर लगता है ऐसा गौडपाद आचार्य ने कहा है।

हमारे सम्प्रदाय के सबसे बड़े आचार्य गौडपादाचार्य हैं। वेदान्त-सम्प्रदाय के अन्दर दो आचार्य देवरूप हैं–नारायण और ब्रह्मा। नारायण ने ब्रह्मा को उपदेश दिया। ये दोनों देवता थे, मानव नहीं थे। ब्रह्माजी ने अपने पुत्र वसिष्ठजी को, वसिष्ठ जी ने अपने पुत्र शक्ति को, शक्ति ने अपने पुत्र पराशर को और पराशर ने अपने पुत्र व्यास को उपदेश दिया। ये चारों ऋषि थे। इन्हें मानवाध्वा में नहीं मानते, इन्हें भी मनुष्य योनि में नहीं गिनते। व्यास जी ने अपने पुत्र शुकदेव को उपदेश दिया। शुकदेव ऋषि नहीं हैं इसलिये मनुष्य ही हैं। उन्होंने गौडपादाचार्य को उपदेश दिया था। शुकदेव द्वापर में पैदा हुए और गौडपादाचार्य कलियुग में पैदा हुए। गौडपादाचार्य ऐसे पहले आचार्य हैं जिनका ग्रन्थ हमें उपलब्ध है, उपदेश तो नारायण, ब्रह्मा, वसिष्ठ जी ने भी दिये और हमें उपलब्ध हैं। याज्ञवल्क्य, उद्दालक आदि प्रसिद्ध ही हैं जिनके उपदेश मिलते हैं। ये सब ऋषि थे। मनुष्यों में शुक को छोड़कर सबसे पहले गौडपादाचार्य का ग्रन्थ मिलता है।

सनातन धर्म में सब चीज़ों का ज्ञान देने का अधिकार ब्राह्मण को है, इसलिये ज्ञान देने वाले ब्राह्मण लोग हैं। ज्ञान लेने का अधिकार तो दूसरे वर्णों को भी है। ब्राह्मणों में दो भेद हैं–पंचगौड और पंचद्राविड। एक सम्प्रदाय में गौड ब्राह्मण होते हैं और दूसरे में द्राविड ब्राह्मण होते हैं। वेदान्त सम्प्रदाय की विशेषता यह है कि इसके प्रथम आचार्य भी 'गौड' हैं और एक तरह से जो सबसे अन्तिम आचार्य हुए, वे भी 'गौड' ब्रह्मानन्द हैं। अर्थात् आदि आचार्य भी गौड और अन्तिम आचार्य भी गौड हैं। परन्तु वेदान्त सम्प्रदाय के सबसे महान् आचार्य शंकर द्रविड, नम्बूदरि ब्राह्मण थे। अतः वेदान्त सम्प्रदाय की परम्परा में गौड और द्रविड दोनों आचार्य हैं। इसलिये भगवान् सुरेश्वराचार्य ने (नै.सि. ४.४४) लिखा है 'एवं गौडैर्द्राविडैर्नः' अर्थात् हमारा सम्प्रदाय द्रविड और गौड दोनों को ही सम्मत है। हमारे पूज्य आचार्य गौडाचार्य और आचार्य शंकर हैं।

वेदान्त सम्प्रदाय के आदि मानव-आचार्य कलियुग में होने वाले गौडाचार्य हैं। गौडाचार्य कहाँ के थे? आनन्दगिरि स्वामी ने इन्हें कुरुक्षेत्र के नजदीक का कहा है। वैसे, प्राचीन लोग बंगाल, पूर्व बिहार, उड़ीसा और आसाम के सारे प्रदेश को गौड कहते थे। भारतीय आचार्य किसी को अपना परिचय जल्दी नहीं देते। फिर भी इतना पता था कि गौडाचार्य गौड देश से आये। जैसे उड़िया बाबा उड़ीसा से, मद्रासी बाबा मद्रास से आये यह बोल-चाल आदि

से मालूम चलने पर भी स्थल-विशेष अज्ञात रहता है। अतः बहुत-से विद्वान् लोग इन्हें बंगाल, उड़ीसा का भी मानते हैं। गौडपादाचार्य ने असम्प्रज्ञात समाधि-काल में भेदवादियों को भयग्रस्त बताया है (मां.का. ३.३९)। पतंजलि ने जिसे असम्प्रज्ञात समाधि कहा है, अन्यत्र उसी को निर्विकल्प समाधि कहते हैं। किसी चीज़ का ज्ञान सविकल्प ज्ञान है। जैसे 'यह वृक्ष है' यह सविकल्प ज्ञान है क्योंकि तुम्हें पता है कि यह वृक्ष है। परन्तु यदि तुम्हें यह तो पता लगता है कि कुछ है, लेकिन पेड़ है या हाथी है आदि कुछ पता नहीं लग रहा है, विशेष का या विकल्प का पता नहीं है, तो उसे निर्विकल्प ज्ञान कहेंगे। चूँकि अखण्ड ब्रह्म में एकरसता है, द्रष्टा-दृश्य का भेद नहीं है, इसलिये दर्शन का भेद अपने आप ही नहीं है। केवल दृङ्मात्र ही है। लोक में सामान्य ज्ञान को निर्विकल्प ज्ञान मानते हैं। उसमें, क्या है—यह पता नहीं रहता है। इस दृष्टि से आत्ममात्रानुभव रहते इसे निर्विकल्प समाधि कहते हैं। पतंजलि महर्षि ने इसे असम्प्रज्ञात समाधि कहा है। अखंड ब्रह्म का ज्ञान द्रष्टा, दृश्य, दर्शन आदि भेद से रहित असम्प्रज्ञात अर्थात् निर्विकल्प समाधि में होता है। पतंजलि ने कहा 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्'। असम्प्रज्ञात समाधि काल में द्रष्टा अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है, सारी उपाधियों का अभाव हो जाता है। द्रष्टा का स्वरूप अखण्ड एकरस है इसलिये अखण्ड एकरस में स्थित हो जाता है। जिसने वेदान्त का श्रवण करके अखण्ड एकरस का पहले निश्चय कर लिया है वह जब निर्विकल्प समाधि में पहुँचता है तो वहाँ ब्रह्मानन्द का अनुभव करता है। परन्तु जो किसी अन्य के साथ सम्बन्ध चाहते हैं, जो आत्मा की निर्विकल्पता, अखण्डता समझते नहीं हैं, वे सारे 'अन्य योगियों' में आ गये। अन्य योगी कौन होते हैं? जो साकार ब्रह्म में निष्ठा वाले हैं। विष्णु, शंकर आदि का ध्यान करने वाले भी हैं तो ब्रह्मनिष्ठ ही, परन्तु उस अखंड एकरस ब्रह्म की निष्ठा वाले नहीं वरन् उसके किसी-न-किसी एक प्रकार की कल्पना करने वाले हैं। 'साकार' में 'आकार' का मतलब मनुष्य आदि आकार ही नहीं लेना, प्रकाश, छवि, शब्द आदि सब चीज़ों को 'आकार' में ही समझना। यहाँ आकार का मतलब है कि तुमको ज्ञान हो जाये कि यह *ऐसी* है। अतः हिरण्यगर्भ, विष्णु, शंकर, सूर्य आदि का ध्यान, ओंकार आदि का ध्यान करने वाले सभी साकार-ब्रह्मनिष्ठ हैं। जब किसी चीज़ के बारे में कह सकें कि यह ऐसी है, तब भी साकार ध्यान है। द्रष्टा का स्वरूप अनुभवमात्र है। उस तत्त्व के अतिरिक्त, चाहे प्रकाश हो अथवा और कुछ हो, सभी 'साकार'-ब्रह्मनिष्ठा के अन्तर्गत है।

ब्रह्म का लक्षण है—जो सृष्टि को पैदा करे और सृष्टि रूप से हो जाये। विष्णु, शंकर, सूर्य का प्रकाश आदि अथवा अनहद (अनाहत) ध्वनि के भक्त सब यही मानते हैं कि जिनको मान रहे हैं उसी ने जगत् को उत्पन्न किया, वही जगत् के आकार का हुआ। 'वासुदेवः सर्वमिति'—यह तभी हो सकता है जब वासुदेव बनता भी है और सब कुछ को बनाता भी है। इसी प्रकार ध्वनि, नाद के उपासक भी उसी को जगत् का कारण बताते हैं। उनके सबसे बड़े आचार्य वाक्यपदीयकार भर्तृहरि हुए हैं जिन्होंने शब्द से ही सारी सृष्टि

मानी है। परन्तु ये सारे के सारे साकारब्रह्मनिष्ठ हैं क्योंकि इन लोगों को लगता है कि जिसको हम इष्ट या ब्रह्म मान रहे हैं, वही निर्विकल्प में नहीं रहेगा। इसलिये उन्हें अत्यंत भय होता है। सृष्टि आदि सारे कार्यकारणभाव का भार जिस पर डाल पाते हैं ऐसा साकार (सविशेष) न मिलने पर व्यवस्थावादी का भय स्वाभाविक है।

एक बगीचा बहुत अच्छा था, उसका मालिक उसे बड़ी अच्छी तरह रखता था। सब लोग बगीचे की बड़ी तारीफ करते थे। उसके पड़ोस में किसी की एक गाय बगीचे में घुसकर सारे पौधे, फूल आदि चर जाती थी। बगीचे के मालिक ने पड़ोसी से कहा 'तुम अपनी गाय को सम्भाल कर रखा करो, मेरा बगीचा बर्बाद कर जाती है।' उसने भी कह दिया, 'ठीक है, मैं ध्यान रखूँगा।' वह क्या ध्यान रखे! गाय तो फिर आकर चर जाती थी। पड़ोसी बार-बार केवल कहे 'मैं कोशिश करूँगा।' अगली बार जब गाय चरने आई तो बागवाले को बड़ा गुस्सा आया और उसने जोर से गाय को डण्डा मारा। गाय वहीं मर गई! गाँव में प्रसिद्धि हो गई कि वह तो गोहत्यारा है! उसके हाथ का पानी भी नहीं पी सकते। पहले ऐसी ही परम्परा थी। बगीचे का मालिक पढ़ा-लिखा था। उसने विचार किया कि गाय को हाथ ने मारा, और हाथ का देवता इन्द्र है। इन्द्र प्रेरणा करेगा, तभी हाथ मारेगा। उसने गाँव के सब लोगों को इकट्ठा करके कहा—'आप लोग कहते हैं मैंने बुरा किया, लेकिन शास्त्र कहता है कि हाथ का देवता इन्द्र है। उसकी प्रेरणा से हाथ ने मारा। इसलिए मैंने नहीं मारा, इन्द्र ही गोहत्यारा है।' गाँव वाले तो सीधे-सादे होते ही हैं, कहा—'तब तो ठीक है।' सब का आना-जाना, उसके साथ बैठना-खाना शुरू हो गया। लेकिन लोगों ने कहना शुरू कर दिया कि 'कलियुग में इन्द्र भी गोहत्या करने लगा!' एक दिन नारद जी उस गाँव से निकल रहे थे तो उन्होंने भी सुना कि गाँव में प्रसिद्धि है कि इन्द्र से गोहत्या हो गई है। नारद जी के पूछने पर लोगों ने बताया कि इस-इस प्रकार से एक ब्राह्मण के हाथ को उठवाकर गाय को मरवा दिया। नारद जी ब्रह्मज्ञानी हैं ही, समझ गये क्या खेल है। वहाँ से इन्द्र के यहाँ पहुँचे। इन्द्र ने उन्हें बड़े आदर से बिठाया, पूछा 'आप सब जगह घूमते हैं, कोई खास खबर हो तो बताइये।' उन्होंने कहा 'अमुक गाँव में प्रसिद्धि हो गई है कि तुमने गोहत्या की है।' इन्द्र ने कहा 'मैं तो वहाँ कभी गया ही नहीं, मैंने गो-हत्या कैसे की?' नारद जी ने सब बता दिया। इन्द्र सोचने लगा कि यह तो बड़ी बदनामी हो गई। आजकल यह सब होने पर भी लोगों को लज्जा नहीं आती। बड़े-बड़े बूचड़खाने खुले हैं, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य सभी वहाँ बड़े-बड़े अफसर रहते हैं। उस विभाग के मंत्री भी बन जाते हैं। कोई नहीं विचार करता कि कैसे पाप की कमाई खा रहा है। लेकिन वह प्राचीन काल था। लोग ऐसा मानते थे 'बद अच्छा बदनाम बुरा'। इन्द्र वेश बदल कर उस गाँव में आया, उस बगीचे में पहुँचकर मालिक से कहा 'आपका बगीचा तो बहुत बढ़िया है।' ब्राह्मण ने कहा—'मैं बहुत मेहनत करता हूँ, रात-रात भर लगा रहता हूँ, तब यह बगीचा इतना बढ़िया दीख रहा है।' इन्द्र ने भी हरी-हरी घास, फल-फूल आदि सबकी खूब तारीफ की। ब्राह्मण सब जगह यही कहता था 'मैंने हाथ

से खूब मेहनत की, सब कुछ मेरे हाथ का किया हुआ है।' तब इन्द्र ने कहा 'यह सब काम तू अपने हाथ से करता है तो क्या केवल गाय मारने के लिये मैं आ गया था?' यह केवल उस ब्राह्मण की बात नहीं समझ लेना। आज सर्वत्र यही होता है। हरित क्रांति हम लाते हैं, परन्तु अकाल तो भगवान् लाते हैं। जैसे साधारण लोग अवांछित-कारणता परमेश्वर, दैव आदि पर डालते हैं वैसे दार्शनिक, भक्त आदि जगद्व्यवस्था का निर्वाहक परमेश्वर चाहते हैं अतः भय लगता है कि भगवान् ही नहीं होंगे तो सारी व्यवस्था हम किस के जिम्मे डालेंगे! भय होता है कि सहारा चला गया।।२८।।

आचार्य ने ऐसा कहाँ कहा—यह बताने के लिये उनका श्लोक ही उद्धृत कर रहे हैं। माण्डूक्य उपनिषद् के बारह मंत्रों पर उन्होंने वार्तिकरूप कारिका लिखी है। वार्तिक का लक्षण है कि जो मूल में कहा गया उसे कहे, जो किसी कारण से मूल में कहना छूट गया हो उसे भी कहे, और मूल में कोई बात दो बार कह दी हो तो उसका तात्पर्य बताये कि दो बार क्यों कही। माण्डूक्य उपनिषद् पर गौडपादाचार्य ने जो ग्रन्थ लिखा वह इस दृष्टि से वार्तिक है। माण्डूक्यकारिका नाम से प्रसिद्ध है, वहाँ उन्होंने कहा है—

'अस्पर्शयोगो वै नाम दुर्दर्शः सर्वयोगिभिः।
योगिनो बिभ्यति ह्यस्माद् अभये भयदर्शिनः'।।२९।।

'अस्पर्श' नामक योग सब योगियों द्वारा पाना कठिन है। अभय में (भी) भय देखने वाले योगी इस (अस्पर्श योग) से डरते ही हैं।

जिस योग का हम प्रतिपादन कर रहे हैं अर्थात् माण्डूक्य-कारिका में जिसे बताया है वह अस्पर्श योग है। संसार में जहाँ कहीं भी कुछ होता है वहाँ इन्द्रियों का या मन का विषय से स्पर्श होता है। रूप के ज्ञान में आँख का स्पर्श रूप वाले पदार्थ के साथ होता है। इसी प्रकार से रसनेन्द्रिय का रस वाले पदार्थ के साथ सम्बन्ध होता है तब स्वाद आता है। जैसे बाह्य विषयों के साथ स्पर्श है वैसे ही अन्दर भी विषयों के साथ स्पर्श है। अविद्या के द्वारा मन सुख-दुःख का स्पर्श करता है तब अन्दर सुख-दुःख का ज्ञान होता है। इसी प्रकार अन्य भी अन्दर के सारे ज्ञान हैं। मन समेत सब इन्द्रियों का विषयों से सम्बन्ध होना सब देहधारियों के लिए साधारण है। परन्तु जो इस प्रकार के अस्पर्शयोगी हैं उनकी विशेषता है कि सम्बन्ध का काल आता है तो वे *अपने* अस्पर्श को याद रखते हैं। उनका स्पर्श कहीं, किसी से नहीं हो सकता क्योंकि उन्हें इस बात का ज्ञान है कि यदि कोई चीज़ मुझ से अतिरिक्त हो तो उससे मेरा स्पर्श हो। 'अहमेव परं ब्रह्म, नेह नानास्ति किंचन' मैं ही परब्रह्म हूँ, अर्थात् कण-कण और क्षण-क्षण में मैं ही ब्रह्म हूँ। मैं ही हूँ तो मेरा मुझ ही से स्पर्श कैसे हो सकता है! अंगुली के अग्रभाग से उसी अंगुली के अग्रभाग का स्पर्श नहीं कर सकते। दूसरी चीज़ों का ही स्पर्श उस अंगुली से कर सकते हैं। आँख से सारी दुनिया को देख सकते हैं लेकिन आँख से आँख को नहीं देख सकते। अपनी आँख को देखना ही हो तो सामने

काँच रखकर देखते हैं। काँच में प्रतिबिम्ब दीखता है। उस प्रतिबिम्ब को आँख मानते हैं। जब तक प्रतिबिम्ब नहीं बनाओ, नहीं देख सकते। आँख स्वयम् आँख को नहीं देख सकती, आँख के प्रतिबिम्ब को भले ही देख सके। स्व से स्व का स्पर्श नहीं बनता। मेरे सिवाय कुछ है ही नहीं तो स्पर्श कैसे बने? फिर स्पर्श होता दीखता क्यों है? यह सारा संसार मानो अविद्या के दर्पण में दीख रहा है। अविद्या के दर्पण में ही यह सारा विश्व दीख रहा है। जो दीख रहा है वह 'मैं' झूठा है। केवल दृङ्मात्र ही सत्य है। अगर कुछ भी होता जो मैं नहीं, तभी स्पर्श होता। इस तरह कुछ करके अर्थात् स्पर्श करके कभी भी अस्पर्श योग की सिद्धि नहीं हो सकती। गौडपादाचार्य ने तो इसको ही बताया है।

भेददर्शन करने वाले योगी, किसी चीज़ के साथ स्पर्श चाहते हैं, सम्बन्ध चाहते हैं, वे ही स्पर्श-योगी हैं। वे इस अस्पर्श वस्तु का दर्शन कर ही नहीं सकते। उनके लिये यह असंभव है क्योंकि जो है उसके अन्दर वे नहीं रह सकते, कुछ बदल कर हो, ऐसा चाहते हैं। इसीलिये अस्पर्श योग का दर्शन उन्हें हो ही नहीं सकता। ये योगी अस्पर्श योग से भय खाते हैं। बहुत से वैष्णवों को हम जानते हैं जो यह मानते हैं कि 'ध्यान करते ऐसी स्थिति आ जाती है कि वहाँ भगवान् की मूर्ति भी नहीं रह जाती, परन्तु उससे सावधान रहना क्योंकि वह गलत स्थिति है'! जगत् सत्य हो तो व्यवस्थापक न रहना भयावह भी समझ आये परन्तु मिथ्या संसार के लिये उसकी जरूरत ही कहाँ है! वास्तविक उधार लौटाना पड़ता है, स्वप्न में लिया उधार जगकर लौटाने का औचित्य ही नहीं है। जब तुम जग गये तब तुम जानते हो 'मैं लाख रुपया लेता हुआ प्रतीत हुआ था, परन्तु लिया नहीं था'। इसी प्रकार सत्य के ज्ञान से पता लगता है कि देखता हुआ प्रतीत हुआ था, देखा तो था ही नहीं। न वहाँ देखने का साधन इन्द्रियाँ थी और न विषय थे जिन्हें देखें। क्योंकि ऐसा त्रैकालिक अत्यंताभाव-निश्चय होता है, इसीलिये यह अभय पद है। फिर भी अन्य योगी इसी से भय खाते रहते हैं, जैसे बालक अकेले में भय खाता है। भय का कोई हेतु नहीं है, भय तो किसी दूसरे से होता है, कमरे में दूसरा कोई है नहीं तो मैं भय किससे खा रहा हूँ? कोई-न-कोई कल्पित कारण मानकर ही डरना संभव है। जैसे 'हौआ' कुछ है ही नहीं, फिर भी उससे बच्चों को भय लगता है, इसी प्रकार बिलकुल अज्ञान की अवस्था में जब मनुष्य अत्यंत दुराचारों में प्रवृत्त होता है तब कहा जाता है कि 'दुराचार करेगा तो तेरे ऊपर भगवान् का वज्र गिरेगा'। परमार्थ की भूमिका पर दुराचार है ही नहीं तो वज्र गिरने का प्रसंग भी नहीं है। शास्त्र इस बात को जानता है कि 'न जीव करने वाला है और न इस पर वज्र पड़ने वाला है।' किंतु अविद्यादशा में स्वयं की हानि न करे, सत्य समझने की सामर्थ्य पाये—इस उद्देश्य से शास्त्र भी कर्तृत्व-भोक्तृत्व मानकर साध्य-साधन आदि सारी व्यवस्थाएँ बता देता है। जब समझने योग्य हो जाता है तब कहा जाता है कि 'न तू कर्ता है, न भोक्ता है'। वेद आदि सच्छास्त्र उपदेश दे देते हैं। निर्विकल्प समाधि में कर्तृत्व-भोक्तृत्व नहीं है। नासमझ सोचता है कि वहाँ भी कोई न कोई सभी चीज़ों को करने वाला और भोगने वाला होगा, चाहे ईश्वर ही हो!

और इसीलिये वे लोग उस अभय पद से भय खाते हैं। ध्यान में ऐसी स्थिति होने लगे, दृश्य व द्रष्टा का लोप होने लगे तो उसे हटा देते हैं कि वह अवस्था ठीक नहीं है। जैसे 'सन्मात्र था' सुनकर विह्वलता विचारक को महसूस होती है वैसे अन्य योगियों को निर्विकल्प समाधि में होती है। उभयत्र वास्तविकता का अपरिचय ही हेतु है।।२९।।

एक ओर 'साकार ब्रह्मनिष्ठ' हैं जो सन्मात्र से त्रस्त रहते हैं, दूसरी ओर असद्वादी हैं, वे भी सत् स्वीकार नहीं पाते। बौद्ध 'मैं' को ही भ्रम बताते हैं! वे सर्व-शून्यवाद के समर्थक हैं। 'मैं नहीं हूँ' भी अप्रामाणिक कल्पना है क्योंकि अत्यन्त शून्य में प्रमाण रह जाये तो वह शून्य कैसा! प्रमाण ही उसकी शून्यता भंग कर देगा। फिर भी क्योंकि बौद्ध प्रत्यक्ष-अनुमान दो ही प्रमाण मानते हैं और सन्मात्र, अस्मदर्थ दोनों का विषय नहीं इसलिये उसे अमान्य कर देते हैं। वेदान्ती शास्त्र को प्रमाण मानने से सन्मात्र समझ पाता है। यह रहस्य द्रविड श्रीशंकराचार्य के वचन से उद्घाटित करते हैं–

भगवत्पूज्यपादाश्च शुष्कतर्कपटून् अमून्।
आहुर्माध्यमिकान् भ्रान्तानचिन्त्येऽस्मिन् सदात्मनि।।३०।।

पूज्य श्री भगवत्पादाचार्य ने भी सूखे तर्क में चतुर इन माध्यमिक बौद्धों को इस अचिन्त्य सद्रूप आत्मा के बारे में भ्रान्त कहा है।

भगवान् गौडपादाचार्य का वचन कहने के बाद द्राविड आचार्य का प्रमाण देते हैं : भगवत्पूज्यपाद अर्थात् आचार्य शंकर ने शुष्क तर्क में अत्यंत कुशल बौद्धों से भाष्यादि में विभिन्न स्थलों पर कहा है कि यह जो सद्रूप आत्मा है, इसे तुम प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण के द्वारा नहीं जान सकते क्योंकि यह चिन्तन का विषय ही नहीं है। इसके बारे में सोचा जा नहीं सकता। इसीलिये तर्कमात्र का सहारा लेने वाले बौद्ध सद्रूप आत्मा के विषय में भ्रान्त हैं। शुष्क तर्क का मतलब है जिस तर्क का मनुष्य के *अनुभव* से कोई सम्बन्ध न रह जाये। चाहे बौद्ध हो, चाहे चार्वाक हो, किसी भी शास्त्र में प्रवृत्ति का हेतु किसी सत्य चीज़ को जानना है। वह सत्य चीज कुछ है ही नहीं, इसको सिद्ध करने वाले तर्क शुष्क हैं जिनसे होने वाले ज्ञान से हृदय में कोई शांति नहीं हो सकती। ऐसे तर्कों में बौद्ध पटु हैं। माध्यमिक शास्त्र इस तर्क में कुशल है। वे कहते हैं–न कोई भाव है, न कोई अभाव है, दोनों ही नहीं हैं। इसीलिये ये अचिन्त्य सद्रूप आत्मा के विषय में भ्रान्त हैं क्योंकि ये मान लेते हैं कि जिस चीज़ का चिन्तन नहीं किया जा सकता, जिस चीज़ के बारे में विचार कर नहीं सकते वह है ही नहीं। प्रत्यक्ष से अतिरिक्त जिनको प्रमाण मानना नहीं उन्हें उस विषय में भ्रम रहेगा ही जो प्रत्यक्ष के अयोग्य हो। प्रत्यक्ष और अनुमान से जो बात सिद्ध नहीं होती उसको शब्द प्रमाण से ही बता सकते हैं। अतः 'भ्रान्तान्' का मतलब यही है कि विचार करके तो यहीं तक पहुँचा जा सकता है कि कोई एक चेतन तत्त्व है, परन्तु उस चेतन तत्त्व को प्रमाणित नहीं कर सकते क्योंकि उस चेतन तत्त्व को जानकर कहते हो तो नहीं बनेगा और बिना जाने

कहते हो तब भी नहीं बनेगा। इसलिये इसके विषय में अपौरुषेय शब्द ही एकमात्र प्रमाण रह जाता है।। ३०।।

गौडपादाचार्य, भगवत्पादाचार्य को उद्धृत कर सुरेश्वराचार्य का भी वचन उपस्थापित करते हैं–

अनादृत्य श्रुतिं मौर्ख्यादिमे बौद्धास्तमस्विनः।
आपेदिरे निरात्मत्वमनुमानैकचक्षुषः।।३१।।

युक्ति से प्रमाण का अधिक महत्त्व न समझने से श्रुतिका निरादर कर अज्ञ बौद्ध निरात्मता मान बैठे क्योंकि वे अनुमानरूप केवल एक आँख से देखते हैं।

नैष्कर्म्यसिद्धि (३.३४) में आचार्य कहते हैं कि ये बौद्ध तमोगुणी हैं अर्थात् श्रुति प्रमाण को अस्वीकार करने के कारण ये घोर अन्धकार में ही रह पाते हैं। बौद्धधर्म है तमोगुणी ही क्योंकि वेद के प्रकाश से रहित है। तमस्वी होने के कारण इनकी यह मूढता (मूर्खता) हो गई कि वेद प्रमाण को मानना ही नहीं है। (नैष्कर्म्यसिद्धि में 'मोहात्' पाठ मिलता है।) मूर्ख व्यक्ति यदि जिद्दी हो जाये तो उसे समझाना असम्भव हो जाता है! हिन्दी के किसी कवि ने कहा है कि ऐसे जो जडमूर्ख होते हैं उन्हें बृहस्पति भी नहीं समझा सकते! अपनी मूर्खता के कारण ये वेद का अनादर करते हैं कि वेद नहीं मानेंगे, अन्य किसी तरह से सिद्ध करो! जैसा सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि यह वैसा ही हुआ जैसे कि 'मैं आँख को प्रमाण नहीं मानता; मुझे तो जब तक नाक के द्वारा सूर्य को नहीं दिखाओगे तब तक सूर्य है ही नहीं! क्योंकि नाक से सूर्य का पता लगता नहीं इसलिये सूर्य नहीं है।' सूर्य में कोई गन्ध तो है नहीं कि नाक से सिद्ध करें। ऐसे ही अद्वय आत्मतत्त्व श्रुति से ही जाना जा सकता है क्योंकि प्रत्यक्ष-अनुमान की गति वहाँ है ही नहीं। प्रत्यक्ष से रूप रस आदि को जानते हैं, वे उसमें हैं नहीं; इसीलिये प्रत्यक्ष-मूलक अनुमान से भी उसका पता नहीं लग सकता। उसका पता श्रुति से ही लग सकता है। अपनी मूर्खता से श्रुति का अनादर करके कहते हैं कि अनुमान से सिद्ध करो, तो हम मानेंगे। अनुमान से सिद्ध होने वाला आत्मतत्त्व है ही नहीं। इसीलिये वे लोग नैरात्म्य-वाद को प्राप्त हो गये अर्थात् वे इसी बात को सिद्ध मानने लगे कि अंतिम तत्त्व कुछ है ही नहीं। यह तो ठीक वैसे ही है जैसे किसी आदमी के सिर में दर्द हो और डाक्टर कहे कि सिर ही तोड़कर फेंक दो, न फिर सिर रहेगा न दर्द होगा! इसी प्रकार से जीव दुःख से छूटना चाहता है। पहले तो बौद्धों ने लम्बी-चौड़ी व्याख्या करते हुए बताया कि दुःख का कारण 'तन्हा' (तृष्णा) है और कहा कि हम इस दुःख से छुड़ा देंगे लेकिन ऐसा छुड़ायेंगे कि फिर कभी दुःख नहीं होगा क्योंकि तुम रहोगे ही नहीं! इसलिये इनको 'शुष्क तर्क' वाला कह दिया था।। ३१।।

जैसे सिद्धान्त में अस्पर्श योग वैसे माध्यमिकों का भी अस्पर्श है, परन्तु वह शुष्क तर्क पर निर्भर है। तर्क की शून्यता व्यक्त करने के लिए आगे विचार करते हैं–

शून्यमासीदिति ब्रूषे सद्योगं वा सदात्मताम्।
शून्यस्य न तु तद्युक्तमुभयं व्याहतत्वतः।।३२।।

'शून्य था' कहते हो तो शून्य का सत् से सम्बन्ध बता रहे हो या उसे सद्रूप बता रहे हो? शून्य के बारे में दोनों ही बातें विरुद्ध हैं।

यह सारी सृष्टि शुरू होने के पहले शून्य था, अतः सबका कारण शून्य है—ऐसा कहने का मतलब क्या है? 'शून्य था' अर्थात् उस समय शून्य है। 'शून्य है' से तुम्हारा मतलब क्या यह है कि शून्य का सत् के साथ सम्बन्ध है? जैसे हम कहते हैं 'घड़ा है' तो हमारा मतलब है कि घड़े के साथ 'है' का सम्बन्ध है। 'है' मायने सत्ता। अथवा 'शून्य है' का मतलब क्या यह है कि शून्य के साथ सत् का तादात्म्य है अर्थात् शून्य और है एक ही चीज़ है, शून्य सद्रूप ही है, हैरूप ही है? किंतु न तुम कह सकते हो कि शून्य और है का आपस में कोई सम्बन्ध है और न कह सकते हो कि शून्य सद्रूप है क्योंकि दोनों बातें व्याघात दोष से दुष्ट हैं। इस व्याघात दोष को अगले श्लोक में खुद बतायेंगे। व्याघात का मतलब है बात का कट जाना। जैसे कोई कहे कि 'यह लड़का बालब्रह्मचारी का पुत्र है' तो यह कहते ही उसकी बात कट जाती है क्योंकि यदि लड़का है तो उसका बाप बालब्रह्मचारी नहीं है और यदि वह बालब्रह्मचारी है तो यह उसका लड़का नहीं है। अथवा कोई कहता है कि 'मेरे मुँह में जीभ नहीं है' तो कहने वाले की बात इसी से कट जाती है क्योंकि जीभ नहीं होती तो तुम यह बात बोल ही नहीं सकते थे। मोटी भाषा में भाव यह है कि असंभव बात कही है।।३२।।

व्याघात दोष कैसे है, यह खुद बताते हैं—

न युक्तस्तमसा सूर्यो नापि चासौ तमोमयः।
सच्छून्ययोर्विरोधित्वाच्छून्यमासीत् कथं वद।। ३३।।

यह भी मानना संगत नहीं कि अंधेरे से सूर्य का सम्बन्ध है और न यह मान सकते हैं कि सूर्य अंधेरारूप है! सत् और शून्य सूर्य-अंधेरे की तरह परस्पर विरुद्ध होने से बताओ कि 'शून्य था' यह कैसे?

प्रत्यक्ष में सूर्य दीख रहा है और कोई कहे कि 'यह सूर्य अन्धकार है या अंधकार के साथ इसका संबंध है' तो कैसे माना जाये! सूर्य वह होता है जिसके सामने अंधकार टिकता नहीं। इसलिये सूर्य का सम्बन्ध यदि अंधकार के साथ होगा तो सम्बन्ध होते ही अंधकार रह नहीं जायेगा। इसी प्रकार सत् तो होता ही वह है जो असत् को खत्म कर दे। हम घड़े को इसलिये 'है' कहते हैं कि 'घड़ा है' होते ही 'घड़ा नहीं है' नहीं रह जाता। इसी प्रकार जैसे ही 'घड़ा है' यह ज्ञान हुआ वैसे ही 'घड़ा नहीं है', यह भाग जाता है। जिस प्रकार सूर्य वह है जो अंधकार का नाश करे, तो सूर्य और अंधकार का सम्बन्ध कैसे हो सकता है?

इसी प्रकार सत् और असत् का सम्बन्ध कैसे हो सकता है? जब कहते हो कि शून्य है तो यदि मतलब शून्य का है के साथ संबंध है, तो गलत क्योंकि सत् असत् (शून्य) के साथ रह नहीं सकता, सत् के आते ही असत् नष्ट हो जाता है। यदि कहो कि 'शून्य सद्रूप है' तो यह भी नहीं बनेगा; 'घटाभाव घटरूप' है, यह नहीं माना जाता। फिर तुम कैसे कहते हो 'यह सारा जगत् उत्पन्न होने के पहले शून्य था'। मोटी भाषा में न 'नहीं है' है हो सकता है और न 'नहीं है' का है से संबंध हो सकता है।।३३।।

यदि बौद्ध कहे कि निर्विकल्प असंग अद्वितीय चिन्मात्र में आकाशादि का होना भी वैसा ही असंगत है जैसा शून्य का होना; तो माया से उपपत्ति दिखाते हैं–

वियदादेर्नामरूपे मायया सुविकल्पिते।
शून्यस्य नामरूपे च तथा चेज्जीव्यतां चिरम्।।३४।।

आकाशादि के नाम-रूप माया से भली-भाँति कल्पित हैं। शून्य के नाम-रूप भी उसी तरह कल्पित मानो तो तुम दीर्घायु बनो!

आकाशादि सब चीज़ों का या नाम है या कोई न कोई रूप है। रूप का अर्थ है जिससे किसी चीज़ का निरूपण हो जाये। नाम-रूप ही जगत् है। 'मायया सुविकल्पिते', आत्मा में माया से नाम-रूप परिकल्पित हो गये हैं। अतः वे हैं नहीं कि चिन्मात्र से, अद्वैत से विरुद्ध पड़ें। जैसे रस्सी में तुमको साँप दीख रहा है। जब दीख रहा है तब भी वहाँ साँप है नहीं, माया से दीख रहा है। इसी प्रकार यह नामरूपात्मक संसार जिसको हम मिथ्या कहते हैं, उसका जो सत् के साथ सम्बन्ध है वह मायिक है, माया के द्वारा भली प्रकार कल्पित है। 'सुविकल्पित' इसलिये कहा कि यह कल्पना अनन्त कल्पों से चली आ रही है और आगे अनन्त कल्पों तक चलती ही रहेगी। दृढतापूर्वक यह कल्पना बनी रहती है इसलिये इसे खूब अच्छी तरह से कल्पित कह दिया। सारे शास्त्र इस संसार के मिथ्यात्व का प्रतिपादन करते हैं, कहीं भी इस संसार को सत्य नहीं बताया। ऐसा होने पर भी सब को यह संसार सत्य ही लगता है! कितना भी कहें कि संसार नहीं है, फिर भी लगता है कि है ही। अतः यह सुविकल्पित है।

नामरूपात्मक जगत् सद्रूप निर्विकल्प ब्रह्म में माया से रहता है। असद्वादी कह सकता है, फिर शून्य को भी ऐसे ही मान लो! अर्थात् शून्य का भी नामरूप के साथ मायिक सम्बन्ध मान लो। इस पर आचार्य कहते हैं कि यदि ऐसा है अर्थात् शून्य के नाम-रूप सद् ब्रह्म पर कल्पित हैं तो तुम खूब जियो, खूब बढ़ो। तात्पर्य यह है कि अगर बौद्ध ने यह कह दिया तो अपसिद्धान्त हो जायेगा क्योंकि बौद्ध ऐसा मानता नहीं है। वेदान्ती के यहाँ तो एक सत् में संसार कल्पित है। असत् अर्थात् सत् से भिन्न मिथ्या जगत् की प्रतीति हम लोगों को है-रूप से माया द्वारा होती है। वेदान्ती को जगत् है इसलिये दीखता है कि है में जगत् की कल्पना है। शून्यवादी के लिये तो है भी कल्पित होगा! अतः वह जगत् है—की अनुभूति

तो झुठलाता ही है, साथ ही 'शून्य है' यह भी स्थापित नहीं कर पाता। वेदान्ती 'ब्रह्म है' कह सकता है क्योंकि ब्रह्म को है-रूप मानता है, बौद्ध ऐसा न मानने से 'शून्य है' कहने में असमर्थ है। हमारे यहाँ तो असत् जगत् सत् में कल्पित है। जब वह बौद्ध जगत् को असत् बता रहा है तो वह उसे किसमें कल्पित कहे? शून्य में यदि वह जगत् कल्पित हो तो 'जगत् नहीं है' प्रतीत हुआ करे! यदि वह शून्य को भी एक कल्पना मान ले तो वेदान्ती को विरोध नहीं। इसलिये कहा कि चिरायु बनो।।३४।।

वादी पूछ सकता है कि 'शून्य है' कहने के लिये शून्य के नाम-रूप की कल्पना माननी पड़ती है तो 'सत् है' कहने के लिए सत् के भी नाम-रूप क्यों न मानने पड़ेंगे? इसका समाधान देते हैं–

सतोऽपि नामरूपे द्वे कल्पिते चेत्तदा वद।
कुत्रेति निरधिष्ठानो न भ्रमः क्वचिदीक्ष्यते।।३५।।

यदि सत् के भी नाम-रूप दोनों कल्पित कहो तो बताओ, वे कहाँ कल्पित हैं? बिना अधिष्ठान का भ्रम कहीं नहीं देखा जाता।

'सदेव सोम्येदमग्र आसीद् एकमेवाद्वितीयम्।' आदि में 'सत्' नाम भी है और 'अद्वितीय' उसका रूप भी है। ब्रह्म के साथ भी ये नाम-रूप कल्पित क्यों नहीं हैं? इस पर सिद्धान्ती पूछता है कि वे नाम-रूप कहाँ कल्पित हैं? उन्हें सत् या ब्रह्म में ही कल्पित वह कहेगा नहीं क्योंकि रस्सी में साँप इत्यादि एक चीज़ में दूसरी चीज़ की ही कल्पना होती है, खुद में खुद को कल्पित कैसे कहे! न उन्हें असत् में कल्पित कहेगा क्योंकि वह असत् को अधिष्ठान बनने लायक मानता नहीं। जगत् स्वयं ब्रह्म में (सत् में) कल्पित होने से सत् का अधिष्ठान कहा ही नहीं जा सकता। इस तरह सत् के नाम-रूप को बौद्ध कल्पित 'कहीं' नहीं बता सकता। अतः वह मानता है कि भ्रम 'कहीं' अर्थात् किसी अधिष्ठान में नहीं होता। इस पर सिद्धान्ती कहता है कि कोई ऐसा दृष्टान्त नहीं जिसमें बिना अधिष्ठान के कोई भ्रम प्रतीत हो जाये! अधिष्ठान उसे कहते हैं जिसके ज्ञान से भ्रम निवृत्त होता है, भ्रम उसे कहते हैं जो अधिष्ठान के ज्ञान से निवृत्त हो। अधिष्ठान के अज्ञान से भ्रम होता है और अधिष्ठान के ज्ञान से भ्रम निवृत्त होता है। अगर बिना अधिष्ठान के भ्रम है तो इसका मतलब है कि कुछ भी नहीं है जिसके ज्ञान द्वारा भ्रम दूर हो; लेकिन जब तक दूर न हो तब तक भ्रम सिद्ध नहीं होगा। भ्रम तो वह है जो अधिष्ठान के ज्ञान से निवृत्त हो, नहीं तो भ्रम कैसे कहेंगे? दरवाजा सामने दीख रहा है तो यह भ्रम नहीं है। रस्सी में सर्प-भ्रम हो रहा है क्योंकि रस्सी के ज्ञान से वह भ्रमरूप सर्प दूर हो जाता है। बिना अधिष्ठान के भ्रम कहना बनता ही नहीं क्योंकि भ्रम कहते ही उसको हैं जो अधिष्ठान-ज्ञान से निवृत्त हो तथा यदि अधिष्ठान है ही नहीं तो भ्रम कैसे निवृत्त हो! तब तो भ्रम को ही सच्चा ज्ञान मानो। बौद्ध की कठिनाई यहीं आकर है। यदि अन्य वादियों जैसे बौद्ध संसार को सत्य माने

तब कथंचित् सत् के नाम-रूप को अध्यस्त कह भी पाये लेकिन वह संसार किंवा कुछ भी सत्य न मान कर अधिष्ठानहीन हो जाता है। यही तर्क की शुष्कता है। वह इस कठिनाई में फँस इसलिये जाता है कि जिस अधिष्ठान का ज्ञान होना है, वह अधिष्ठान केवल बुद्धि से सोचने पर कुछ नहीं निकलेगा, वह बुद्धि का विषय नहीं है। उसका ज्ञान केवल श्रुति के माध्यम से ही हो सकता है।। ३५।।

प्रश्न उठता है कि 'असत् था' कहने की तरह 'सत् था' भी कहना असंगत कैसे नहीं है? इसे उठाकर जवाब देते हैं—

सदासीदिति शब्दार्थभेदे द्वैगुण्यमापतेत्।
अभेदे पुनरुक्तिः स्यान्नैवं लोके तथेक्षणात्।।३६।।

'सत् था' यों शब्दप्रयुक्त अर्थभेद हो तो दोगुणी सत्ता का प्रसंग होगा और यदि अर्थभेद नहीं तो एक ही वस्तु के लिये दो शब्दों का कथनरूप पुनरुक्ति दोष होगा—यह शंकनीय नहीं क्योंकि लोक में ऐसे प्रयोग मिलते हैं।

बौद्ध पूछता है कि 'असत् था' वाक्य से असत् और था शब्दित सत् का जैसे सम्बन्धादि संभव नहीं, वैसे 'सत् था' में भी कैसे सम्भव है? क्योंकि सत् मायने है और आसीत् मायने पूर्व काल में 'है' किंतु वर्तमान में नहीं है। जैसे कहते हैं 'राम था' तो मतलब है कि इस समय राम नहीं है। इसलिये 'था' मायने नहीं है। जब कहते हैं 'सत् आसीत्' या सत् था तो इसका मतलब है कि अब सत् नहीं है। यह मानने पर विगुणता आ जायेगी अर्थात् सत् की असद्रूपता यह अपसिद्धान्त प्राप्त होगा। 'वैगुण्यमापतेत्' पाठ मानकर यह भाव है। टीकानुसार **'द्वैगुण्यमापतेत्'** पाठ है। विगुणता तो है कि तुम उसे सत् (है) भी कह रहे हो और 'था' अर्थात् 'नहीं है' भी कह रहे हो।

यदि पूर्वकालिक है कहने का वर्तमानकालिक 'नहीं है' अर्थ न निकालकर सिर्फ 'है' ही अर्थ मानो तो उक्त विगुणता न होने पर भी 'सत् था' का मतलब होगा 'है है'! क्या इन दो शब्दों के विभिन्न अर्थ बताओगे या एक ही कहोगे? विभिन्न कहो तो द्वैतापत्ति होगी। यदि अभेद कहते हो तो मतलब है कि 'है है'—यह द्विरुक्ति या पुनरुक्ति है। इस प्रकार प्रष्टा का भाव है कि 'सत् आसीत्' भी कहना नहीं बनता।

इसके समाधान में आचार्य कहते हैं कि यह पुनरुक्ति नहीं है क्योंकि लोक में ऐसे प्रयोग देखे जाते हैं, लोक में इस प्रकार बोला जाता है। लौकिक प्रयोग के अनुसार वैदिक प्रयोग समझा जा सकता है।। ३६।।

लोक-प्रयोगानुसार बताते हैं कि कहने पर भी अर्थभेद प्रतीत होना ज़रूरी नहीं—'पहले सत्' इतना ही कहना पर्याप्त होता, लेकिन इतना कहना बोलने का तरीका नहीं होने से श्रोता निराकांक्ष न हो पाता, इसलिये कहना पड़ता है कि सत् था—

कर्तव्यं कुरुते वाक्यं ब्रूते धार्यस्य धारणम्।।
इत्यादि-वासनाविष्टं प्रत्यासीत् सदितीरणम्।।३७।।

'कर्त्तव्य करता है, बात बोलता है, धारणीय का (बोझ) धारण करना (ढोना)' इत्यादि कहने-समझने के संस्कार वाले को समझाने के लिये 'सत् था' यह कहा गया है।

लोक में कहते हैं 'कर्त्तव्य कर रहा हूँ।' कर्त्तव्य अर्थात् करने योग्य, उसे कर रहा हूँ। या कहते हैं 'वाक्य बोल रहा हूँ'; जो बोलेगा वही वाक्य है। अथवा 'पहनने के कपड़े को पहन रहा हूँ।' ऐसे अनेक प्रयोग लोक में होते हैं। इस प्रकार से बोलने-समझने का अभ्यास होने के कारण ऐसे लोगों के प्रति समझाते हुए श्रुति केवल 'सत्' कहती तो समझ में नहीं आता, इसलिये यह नामरूप प्रकट होने के पहले 'सत् था', ऐसा कहा। 'सत् था' कहने में कोई तात्पर्य नहीं है वरन् नामरूप का बाध करने पर जो रहता है वह हमेशा है—यह अभिप्राय है। नामरूप की प्रतीति के काल में भी रहता है, नामरूप की प्रतीति से पहले भी था उसके बाद भी रहेगा।

हमें क्रियापद की आक़ांक्षा रहती है अतः उसे सुनने तक वाक्यार्थ समझ नहीं आता। शब्दतः न मिले, तो स्वयम् अध्याहार कर लेते हैं जैसे 'क्या जा रहे हो?' के जवाब में केवल 'हाँ' सुनकर 'जा रहा हूँ' उसका भाव श्रोता खुद समझ लेता है। इसलिये श्रुति को कहना ठीक लगा कि 'आसीत्' बोला जाये अन्यथा खुद अध्याहार में गलती भी हो सकती है। किंच 'सत् ही है' कहते तो प्रत्यक्षादि-दृष्ट भेद इस बात का विरोधी बनकर अयोग्यार्थ संभावित कर बोध रोक देता है। 'था' कहने पर जैसे 'बर्तन पहले मिट्टी थे' वैसे समझ आ जाता है कि सृष्टि से पूर्व केवल सत् था। इतने पर भी बहुतेरे श्रोता विह्वल हो जाते हैं (श्लोक २६) तो 'सत् ही है' सुनकर तो प्रायः सभी विह्वल होते, इसमें क्या कहना! मकान को 'मिट्टी है' कहना किसी को नहीं जँचेगा, 'मिट्टी था' भले ही समझ आये। आगे विचार से तो निर्णय हो जाता है कि न केवल था वरन् है भी, लेकिन एकाएक ग्रहण नहीं होता। अतः श्रुति ने 'था' का उल्लेख किया। इससे दो सत्-पदार्थों को समर्थन नहीं मिलता। इसे लोकानुसार बता दिया कि 'काम कर रहा है' में जैसे जो 'काम'-पदार्थ वही 'कर रहा है'-पदार्थ, फिर भी वाक्यपूर्ति के लिये कहना ठीक लगता है, वैसे 'सत् था' में पदार्थ दो न होने पर भी पदभेद (शब्दभेद) उपपन्न है।।३७।।

उक्त न्याय से ही 'था' के भूतकाल को उपपन्न करते हैं—

कालाभावे पुरेत्युक्तिः कालवासनया युतम्।
शिष्यं प्रत्येव तेनात्र द्वितीयं न हि शंक्यते।।३८।।

सृष्टि से पूर्व काल भी न रहने के बावजूद 'अग्रे' (पहले) यह कथन काल के संस्कारों वाले शिष्य की दृष्टि से ही है अतः उस दशा में (कालरूप) द्वितीय की संभावना नहीं।

श्रुति ने 'अग्रे आसीत्', पहले था–यह कहा। 'अग्रे' से लगता है कि 'था' का भूतकाल विवक्षित है। केवल 'था' कदाचित् 'है' की व्यावृत्ति न भी करे, 'अग्रे' कह देने पर निश्चित होता है कि वर्तमान विवक्षित नहीं। तब भाव होगा कि इदं-शब्दार्थ जगत् अब सत् नहीं है! किंतु यह श्रुति का तात्पर्य है नहीं क्योंकि आगे 'ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्' से सनातन सद्रूपता कही है। किंतु लोक में सर्पभ्रम वाले के प्रति तत्त्वज्ञ कहता है 'वहाँ साँप नहीं था, रस्सी थी, चिंता छोड़ो', ऐसे प्रयोग में 'था' का यह अर्थ नहीं कि अब साँप है या अब रस्सी नहीं है! वरन् रस्सी ही सदा रही है, साँप का भ्रममात्र रहा–यह भाव है। इसी प्रकार इदम् को था कहने पर भी यही अभिप्राय है कि अभी भी है तो सत् ही लेकिन इदम् का भ्रम है, सृष्टि से पूर्व इदम् का भ्रम नहीं था। इस पर प्रश्न उठता है कि काल ही जब इदम् के अन्तर्गत है तब इदम् के न होने की दशा भूतरूप काल से कैसे निर्दिष्ट की? उत्तर दिया कि इदम्-दशा में जो कालान्तर्गत निर्देश के संस्कार हैं उन्हीं के अनुरोध से बिना काल के भी काल का कथन किया है। यद्यपि जगत् त्रिकाल में नहीं तथापि यह सुनने पर प्रत्यक्ष-विरोध असह्य होता है इसलिये जब सुग्राह्य हो तब जगत् का निषेध समझाकर उसका सनातन असत्त्व बताया जा सकता है, इस तात्पर्य से श्रुति ने 'था' कहा।

देश-काल के उल्लेख के बगैर कोई तथ्य मानव मन शीघ्र अंगीकार नहीं करता। किसी का भी सत्त्व-विधान करें तो 'कहाँ, कब' यों देश-काल की जिज्ञासा सहज है एवं 'न कहीं, न कभी' अर्थात् देश-काल के परिच्छेद का निषेध करें तो सामान्यतः यही प्रतीत होता है कि उक्त तथ्य असत् है, शशशृंग-सा है। इस मनोदशा को मानकर श्रुति ने केवल 'सत्' न कहकर उसे 'था' भी कहा ताकि 'कब?' की आकांक्षा मिटे। इसी तरह, 'कहाँ?' की आकांक्षा दूर करने के लिये प्रायः समझाते हुए ब्रह्म को 'सर्वत्र' कह देते हैं, भले ही उसमें देशपरिच्छेद का निषेध ही विवक्षित हो। अतः 'सत् था' से वह है–यह भी अंगीकार्य रह जाता है। फिर भी 'पहले था' यह कहते हैं क्योंकि जिसको समझा रहे हैं, उस शिष्य को काल-वासना है। इसलिए यदि हम यह कहते हैं कि 'शिव सर्वत्र है' तो बात समझ में आ जाती है। देश की वासना रहते केवल कहें कि 'शिव किसी देश, किसी काल में नहीं है', तो उसका निश्चय होगा कि शिव है ही नहीं! जैसे खरगोश के सींग कभी भी नहीं हैं, कहीं भी नहीं हैं, ऐसे शिव को भी ये कह रहे हैं–यह निश्चय होता है। अगर कहें कि 'शिव सब कालों में है और सब जगह है' तो सुनने वाले की समझ में आ भी सकता है कि शिव सर्वरूप है। परन्तु ऐसा कहना इसलिये पड़ता है कि श्रोता में देश-काल की वासना है। वस्तुतः तो देश और काल है ही नहीं *जहाँ* शिव हो! इसी प्रकार वस्तुभेद को हटाने के लिये कहते हैं कि 'शिव सब में है', कहने का मतलब यह नहीं है कि 'सब' एक वस्तु है जिसमें शिव है। क्योंकि तब तो शिव का आश्रय बनने वाला द्वितीय व्यापक आदि हो जायेगा! इसी तरह काल-वासनायुक्त जो शिष्य है उसके प्रति ही कहा जा रहा है कि उत्पत्ति के पहले केवल ब्रह्म था। श्रोता ठीक समझे–यह उचित है, न कि कहने का ढंग निर्दोष हो यह महत्त्व का

है। लोक में भी यही न्याय मान्य है और वेद भी इसी दृष्टि से प्रवृत्त है। श्रुति तो श्रोतृहितैषिणी है, सुनने वाले के हित की इच्छा करने वाली है इसलिये तर्कदृष्टि से बिलकुल असम्भव बात भी केवल इसलिये कहती है कि सामने वाले को फायदा हो। इसलिये 'सृष्टि होने के पहले सत् था' सुनकर शंका मत करो कि एक काल था और दूसरा ब्रह्म था।। ३८।।

अब कहते हैं कि यह तरीका सर्वत्र समझना, केवल 'पुरा आसीत्' इस उक्ति में ही नहीं–

चोद्यं वा परिहारो वा क्रियतां द्वैतभाषया।
अद्वैतभाषया चोद्यं नास्ति नापि तदुत्तरम्।। ३९।।

आक्षेप हो या समाधान, उन्हें द्वैत की भाषा से ही किया जाता है, अद्वैत-भाषा से न प्रश्न उठता है, न उसका उत्तर दिया जाता है।

प्रश्न भी अविद्या वाला ही करेगा, अविद्या में रहकर ही करेगा। इसलिये उसका उत्तर भी अविद्या में रहकर ही दिया जायेगा। ये दोनों द्वैत-भाषा से होंगे क्योंकि उपदेश देना और उपदेश श्रवण करना–दोनों व्यवहार हैं। व्यवहार अविद्या-काल की दशा है। जहाँ कहीं शब्द का प्रयोग करते हो, लक्षण, प्रमाण इत्यादि कहते हो, वे सारे के सारे व्यवहार-दशा ही हैं। परमार्थ दशा के लिये तो वेद स्वयं ही कहता है 'यत्र वेदा अवेदा भवन्ति' वेद भी प्रमाण नहीं रह जाता! शब्द के द्वारा ही बोलेंगे और शब्द जितने होंगे वे अविद्या के अन्दर ही प्रयुक्त होंगे। ब्रह्म तो किसी भी शब्द का विषय नहीं है। श्रुति स्वयं ही कहती है कि वाणी उसे नहीं कह सकती, वरन् उसके बल से कहती है 'यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदम् उपासते'। वेद शब्दरूप ही है, उसका प्रयोग भी बिना अविद्या के नहीं होगा। समझने वाला मन-बुद्धि से ही समझेगा और वह मन-बुद्धि का विषय भी नहीं है, मन-बुद्धि से वह समझा नहीं जा सकता। फिर भी मन-बुद्धि से ही समझना है और वेदवाक्य से ही समझना पड़ेगा! जब समझ लोगे तब वेद अवेद हो जाते हैं। इसलिये ये प्रश्न और उत्तर दोनों द्वैत भाषा में ही करने पड़ते हैं। वेदान्तोपदेश वाणी से होगा, मन से उसका ग्रहण होगा, फिर समझना उसे पड़ेगा जो इनसे परे है। यह वेदान्त-विचार में सर्वत्र ध्यान देना पड़ता है। परमार्थ अद्वितीय स्थिति के अन्दर तो मौन ही एक भाषा है। उस अद्वैत के अन्दर न शंका है और न शंका का उत्तर है। सारी शंकायें तभी तक हैं जब तक व्यवहार दशा है। परमार्थ का दर्शन होगा तो तुम कोई प्रश्न भी नहीं करोगे और हम कोई उत्तर भी नहीं देंगे।

यह वेदान्त की कठिनाई हमेशा रहती है। यह सैद्धान्तिक रहस्य है कि हम जितनी बातें कहते हैं वे सब हम जानते हैं कि ठीक नहीं हैं, परन्तु यह भी जानते हैं कि इस 'ठीक नहीं' तरीके से ही तुम ठीक जगह पहुँच सकते हो। दूसरी जो ठीक बातें नहीं हैं, उनसे तुम वहाँ

नहीं पहुँच सकते। अतः गलत का ही सहारा लेना है पर चाहे जिस गलत का सहारा नहीं ले सकते। जिस वासना से जो आविष्ट है उसको उसी के द्वारा उपदेश देना सम्भव होता है।।३९।।

फिर परमार्थ दशा कौन-सी है?

तदा स्तिमितगम्भीरं न तेजो न तमस्ततम्।
अनाख्यमनभिव्यक्तं सत् किञ्चिद् अवशिष्यते।।४०।।

तब निश्चल, दुर्बोध, न तेजोरूप और न तमोरूप, व्याप्त, अव्याख्येय, चक्षुरादिका अगोचर, इदंरूप से न समझा जाने वाला सत् रहता है।

तदा–द्वैत को हटाते-हटाते जो बच जाता है। व्यवहार दशा में द्वैत की प्राप्ति शंकारूप से है इसलिये द्वैत की निवृत्ति भी उत्तर रूप से करते हैं। द्वैत को हटाते-हटाते जो हट ही नहीं सकता, वह अपने आप रह जाता है। इसलिये 'तदा' अर्थात् जितना हटाना था, तुम जो द्वैतप्राप्ति कराते गये उसे हम हटाते चले गये; तब तुम 'स्तिमित' हो गये अर्थात् फिर बुद्धि चल ही नहीं सकती, तुम जिस-जिस द्वैत की प्राप्ति कराते गये उस-उसका हम निषेध करते गये कि यह भी नहीं, यह भी नहीं। सारी सम्भावनाएँ हट जाने पर, 'तो फिर क्या है?'–इस भाव से मनुष्य अवाक् रह जाता है, बुद्धि निश्चल हो जाती है, बिलकुल हिलती डुलती नहीं। वह तत्त्व गंभीर है। उसको समझना असम्भव लगता है। बुद्धि ऐसी निश्चल हो जाती है कि कुछ भी समझ में नहीं आता। अतः वह गंभीर ही लगता है कि 'कुछ समझ में नहीं आ रहा है, उसको मैं विषय कर ही नहीं सकता हूँ'। न वहाँ कोई तेज है, अर्थात् न कोई प्रकाश है। तेज वह है जिससे ज्ञान होता है, प्रकाश से ज्ञान होता है। वह तत्त्व केवल ज्ञानमात्र है, वह ज्ञान किसी चीज़ 'को' या 'का' नहीं है। अभी तो ज्ञान मन में होता है। तब वह 'मन में' वाला ज्ञान नहीं है। हम लोग जिसे 'ज्ञान' कहते हैं, वह हमारे मन में होता है। अर्थात् मनरूपी अधिकरण में होने वाला हमारी समझ में 'ज्ञान' है। परमार्थ में मन तो रहा नहीं, निवृत्त हो गया। मन का स्वरूप ही यह है कि वह विमर्श या संकल्प-विकल्प करे। मन के संकल्प-विकल्प तो स्तब्ध हो गये क्योंकि जितने संकल्प-विकल्प उठे, उन्हें हटाते चले गये, आगे कोई विषय मन को मिलता नहीं तो वह स्तब्ध रह गया। सम्भावना होगी कि मन में कोई ज्ञान नहीं तो उसमें अज्ञान होगा? पर वहाँ तम या अज्ञान भी नहीं है! प्रकाश और अंधकार दोनों ही वहाँ नहीं हैं। मन के अन्दर उस समय न ज्ञान और न अज्ञान ही रह गया। 'मैं जान रहा हूँ' ऐसा भी नहीं रह गया और 'मैं नहीं जान रहा हूँ' ऐसा भी नहीं रह गया।

जब कुछ भी जानना, न जानना नहीं रह गया तब 'ततम्'–उसको परिच्छिन्न करने वाली कोई उपाधि नहीं रह गई अतः परिच्छिन्नता नहीं रह गई, यही उसकी व्यापकता है। अभी तक तो हमारी व्यापकता देश-काल-वस्तु से विशिष्ट है; सब देश, सब काल और सब वस्तु

में है–यह व्यापकता हम समझते हैं, इसलिये देश-काल-वस्तु की परिच्छिन्नता को ही अपरिच्छिन्नता कह देते हैं! अब ये तीनों ही परिच्छिन्नतायें नहीं रह गईं तो अपरिच्छिन्नतारूप व्यापकता रह गई। यह अनाख्य है, इसे कहा नहीं जा सकता अर्थात् इसको व्यक्त नहीं किया जा सकता। इसका व्याख्यान असंभव है। 'अनभिव्यक्तं' इन्द्रियों और मन किसी के द्वारा इसको अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता, किसी के भी द्वारा इसको प्रकट नहीं किया जा सकता, क्योंकि जितना कुछ अभिव्यक्त है उस सब का तो निषेध हो गया। उस स्थिति में मन भी नहीं रहा। फिर भी 'सत्किंचिदवशिष्यते'। उस समय ज्ञानस्वरूप, दृक्स्वरूप मैं तो रह ही गया। यदि कहो कि कैसे पता लगे? तो गहरी नींद में अपना होना समझ लो। गहरी नींद में तुम्हें पता नहीं था क्योंकि जानने वाला 'अहं' नहीं था। परन्तु उठने के बाद तुम्हें पता है कि 'मैंने वहाँ कुछ नहीं जाना, मैं वहाँ आनन्द से सोया।' इससे पता लगता है कि कोई 'मैं' था ज़रूर जो अब याद कर रहा है। ठीक इसी प्रकार जब स्तिमित गम्भीर अवस्था से पुनः मन, इन्द्रियाँ आदि अधिकरण प्रकट होते हैं, उस समय 'स्तिमित गम्भीर था' इस स्मरणादि से ही वहाँ के अनुभव का पता लगता है। अतः इसमें *प्रमाण* तत्त्वमसि आदि वेद-वाक्य ही हैं। वेद के अनुरोध से स्तिमित गम्भीर अवस्था का अनुभव प्रामाणिक है यह निश्चित हो जाता है।

'किंचित् अवशिष्यते;' सारे द्वैतों के निषेध की अवधिरूप से जो केवल 'सद्' आत्मा वही बच जाता है। इस 'सत्' शब्द से बताया कि वह शून्य नहीं है। स्वप्रकाश ज्ञानस्वरूप सत् प्रमाणों पर निर्भर नहीं जबकि जो स्वप्रकाश ज्ञानस्वरूप नहीं वह शून्य तब तक नहीं स्वीकार सकते जब तक उसमें प्रमाण न हो। आत्मा 'मैं'रूप से बिना किसी साधन के, बिना चक्षुः-अनुमान-शब्दादि प्रमाणों के, सभी प्राणियों को सदा भासमान है। शून्य यों किसी को न भासने से प्रमाणापेक्ष रह जाता है। अतः सत् को ही 'त्वमसि' यों अपरोक्ष बताया गया है। आपाततः भले ही लगे कि ब्रह्म और शून्य नामान्तर हैं लेकिन नित्य स्वप्रकाशता से दोनों में महान् अन्तर है। 'किंचित्' से कहा कि 'यह'–इस तरह वह निर्देश के योग्य नहीं। फिर भी सत् है अर्थात् शून्य नहीं है।। ४०।।

जन्य कुछ तब नहीं था–यहाँ तक स्वीकारने को तैयार तार्किक नित्य पदार्थों से प्रयुक्त द्वैत कैसे नहीं था यह पूछता है–

ननु भूम्यादिकं मा भूत् परमाण्वन्तनाशतः।
कथं ते वियतोऽसत्त्वं बुद्धिमारोहतीति चेत्।। ४१।।

परमाणु आदि तक नष्ट हो चुकने से तब (सृष्टि-प्राक्काल में) भूमि आदि भले ही न हों, आप वेदांतियों की बुद्धि में यह बात कैसे आती है कि तब आकाश भी नहीं था?

सृष्टि के पहले पृथ्वी, जल, तेज वायु नहीं थे–यह बात तो समझ में आ जाती है क्योंकि परमाणुओं तक सबका नाश हुआ रहता है। इसलिये, और कुछ नहीं है। लेकिन आकाश के

तो परमाणु हैं नहीं, इसलिये वहाँ आकाश नहीं था—यह कैसे कहते हो? यह शंका प्रायः सबके मन में रहती है। जब कहते हैं कि कुछ नहीं था, तो लोगों को लगता है कि केवल आसमान रहा होगा! 'कुछ नहीं' कहने से यही मन में आता है कि छेद जैसी चीज़ है। इसलिये 'आकाश नहीं था' यह बुद्धि में कैसे आये? बाकी कुछ नहीं रहा—यह तो मान लिया, एकमात्र शिव था—यह भी मान लिया, लेकिन आकाश तो ज़रूर रहा होगा? इसलिये सृष्टि के पहले और कुछ नहीं, लेकिन आकाश तो था। अतः द्वैत रह ही गया।।४१।।

उदाहरणपूर्वक उक्त शंका का परिहार करते हैं—

अत्यन्तं निर्जगद् व्योम यथा ते बुद्धिमाश्रितम्।
तथैव सन्निराकाशं कुतो नाश्रयते मतिम्।।४२।।

जैसे जगद्मात्र से रहित आकाश तुम्हारी बुद्धि में बैठ गया, वैसे ही आकाशहीन सत् बुद्धि में क्यों नहीं आता?

लोक में, और कुछ भी न हो सिर्फ आकाश हो—यह परिस्थिति कभी मिल नहीं सकती तो भी वादी को समझ आयी ही, उसी दृष्टान्त से आकाशहीन सत् समझा जा सकता है। वैशेषिकादि ने माना कि बाकी संसार तो पैदा होता है परन्तु आकाश हमेशा रहता है। बिना किसी कार्यभूत पृथ्वी, तेज, मेघादि के आकाश कभी नहीं देखा। फिर भी यह बात तुम्हारी बुद्धि में आरूढ हो जाती है कि स्थूल पृथ्वी आदि के बिना आकाश था। वैसे ही हम वैदिक हैं। वेद कहता है कि सत् जहाँ है वहाँ आकाश भी नहीं है। इसलिये हमें समझ आ जाता है। तुम्हारी बुद्धि में यह बात क्यों नहीं बैठती? जैसे बिना किसी चीज़ के आकाश कभी देखा नहीं, फिर भी आकाश वैसा रहता है यह बात समझ में आ गई, इसी प्रकार यह क्यों नहीं समझते कि ऐसा सत् था जहाँ आकाश भी नहीं है।।४२।।

वादी अपना पक्ष उपपन्न नहीं कर पाता यह दिखाते हैं—

निर्जगद् व्योम दृष्टं चेत् प्रकाश-तमसी विना।
क्व दृष्टं किं च ते पक्षे न प्रत्यक्षं वियत् खलु।।४३।।

यदि कहो कि जगद्रहित आकाश देखा है; तो बताओ कि प्रकाश के या अंधेरे के बिना कब कहाँ देखा? किंच तुम्हारे मतानुसार आकाश प्रत्यक्षं ही नहीं है (कि दीख सके)!

दिन का समय हो और कोई चीज़ आकाश में न हो, सूर्य भी न दिखाई दे तो आकाश देखने में आता है, चारों तरफ कुछ भी नहीं दीखता। आधुनिक लोग कहते हैं कि उस समय धूल-कण दीखते हैं लेकिन सामान्य नेत्रों से ऐसे कोई कण दीखते नहीं। अतः कह सकते हैं कि तब बिना जगत् के आकाश देखने में आता है इसलिये वह आकाश हमारी बुद्धि में समझ आ जाता है। इस संभावना पर आचार्य कहते हैं कि क्या सचमुच में बिना रोशनी के तुमने कभी आकाश देखा है? दिन में देखा तो रोशनी को भी देखा। रात में अंधकार

भी आकाश में देखा। क्या अंधकार और रोशनी के बिना तुमने कभी आकाश देखा है? प्रकाश या अंधकार के बिना तुमको आकाश नहीं दीखता–यह तो दृष्टांत हुआ। इसी प्रकार बिना लोक में देखे भी शास्त्र के वचन से बिना आकाश का सत् भी समझा जाना चाहिये। केवल भूत-भौतिक के राहित्य की कठिनाई नहीं, हमें ज्ञान और अज्ञान के बिना सत् का अनुभव नहीं है। या हमें ज्ञात सत् का पता है, या अज्ञात सत् का पता है। फिर भी जैसे तुम मानते हो कि बिना प्रकाश या अंधकार के आकाश है वैसे ही हम मानते हैं कि ज्ञान और अज्ञान के बिना सत्स्वरूप, ज्ञानस्वरूप है। या किसी चीज़ को जानते हो, या किसी चीज़ को नहीं जानते। जानने-न जानने से रहित कोई चीज़ समझ में नहीं आती। फिर भी वेद कहता है तो हम मानते हैं कि वह न ज्ञान का विषय है और न अज्ञान का विषय है। उसे न जानते हैं, न नहीं जानते हैं! इसलिये उस शिव का अनुभव वर्णन करते हुए कहते हैं 'नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च'। बस ऐसा जानना ही उसको जानना है। जैसे प्रकाश व अंधकार के बिना तुम आकाश जान रहे हो ऐसे ही हम उस परमात्मा को जान लेते हैं।

यह जो प्रश्न-उत्तर हमने किया, वह तुम्हारी बात को मान कर कह दिया। परन्तु वस्तुतः वैशेषिक-पक्ष में आकाश किसी इन्द्रिय का विषय नहीं है। आकाश को वह इन्द्रिय का विषय मानता नहीं है कि कह सके कि निर्जगद् व्योम देख चुका है। आँख देखेगी रूप को, कान सुनेगा शब्द को; शब्द के आश्रय का तो अनुभव कान करेगा नहीं। अतः तुम्हें ऐसा अनुभव हो नहीं सकता कि जगद्-रहित व्योम है, क्योंकि तुम वियत् (आकाश) को प्रत्यक्ष मानते ही नहीं।।४३।।

सिद्धान्ती बताता है कि वादी तो बिना अनुभव की बात मानता है जबकि वेद अनुभवानुरूप उपदेश दे रहा है–

सद्वस्तु शुद्धं त्वस्माभिर्निश्चितैरनुभूयते।
तूष्णीं स्थितौ न शून्यत्वं शून्यबुद्धेश्च वर्जनात्।।४४।।

शांत स्थिति में शुद्ध सद्रूप वस्तु हमें निश्चित ही अनुभव में आती है। वहाँ शून्यता का अनुभव नहीं क्योंकि शून्याकार बुद्धि भी नहीं होती।

हम मानते हैं सारी उपाधियों से रहित सद् ब्रह्म वस्तु को। उसका खूब विचार करके, निश्चय करके हमें अनुभव होता है कि वह अनुभवरूप है। 'कुछ नहीं जान रहे थे'–ऐसा कौन-सा समय था? 'तूष्णीं स्थितौ' बैठे हुए जब मन कोई भी संकल्प-विकल्प नहीं उठा रहा है तब जो स्थिति वह तूष्णीं स्थिति है, विशेषकर के इसका अनुभव करना हो तो खूब दूर तक तेजी से दौड़ो; साँस टूटने लगे तो और दो चार कदम दौड़ो; साँस टूट जायेगी और नीचे गिर जाओगे। उस समय देखोगे कि मन में कोई भी विचार नहीं आयेगा! शारीरिक श्रम से ऐसा हो जाता है। बौद्धों का एक सम्प्रदाय है जिसमें वे लोग एक विशेष प्रकार की परिस्थिति किसी चित्र या कहानी के द्वारा तुम्हारे सामने रखते हैं, उसे 'कोआन' कहते हैं।

उसका हल तुमसे पूछते हैं। कैसा भी हल तुम सोचो, कितना भी प्रयत्न करो, उसका हल नहीं निकलता। सोचते-सोचते जब बौद्धिक प्रयास शून्य हो जाता है, और कुछ नहीं सोच पाते, तब बुद्धि चुप हो जाती है। चाहे शारीरिक श्रम से करो, चाहे बौद्धिक श्रम से करो, करते-करते एक ऐसी स्थिति आती है जब अपने-आप तूष्णीं स्थिति हो जाती है। श्रुति ने एक और दृष्टांत दिया है : छोटे से स्तनंधय बालक को बड़े जोर की भूख लगी, खूब रोया, माँ जैसे ही आई तो बड़ा प्रसन्न हो स्तनपान करके तृप्त हो जाता है, उस समय वह बिलकुल स्तब्ध हो जाता है। कहीं कोई क्रिया उसमें नहीं होती, बुद्धि बिलकुल तूष्णीं स्थिति को प्राप्त हो जाती है। तब शुद्ध सद् वस्तु का भान रहता है। उस समय बुद्धि कुछ नहीं सोच रही है, इसलिये उस समय 'कुछ नहीं' रहा—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि वहाँ 'कुछ नहीं' भी नहीं सोच रहे हो। अतः वहाँ शून्यता भी नहीं है अर्थात् 'कुछ नहीं'—यह भी तो एक बुद्धि है! इसलिये 'कुछ है', 'कुछ नहीं है'—दोनों ही चीज़ें वहाँ नहीं रह जातीं, ऐसी तूष्णीं स्थिति होती है। वहाँ कोई बुद्धि हुए बिना केवल वर्तमान है। आत्मा स्वप्रकाश होने के कारण भासमान बना रहता है। बुद्धि उसके अभाव या भाव को नहीं जानती है। समझने के लिये सुषुप्ति को याद रखो : सुषुप्ति में न तुम जान रहे हो 'मैं हूँ' और न जान रहे हो 'मैं नहीं हूँ'; परन्तु जब याद आता है तब यही कि 'मैंने कुछ नहीं जाना', 'मैं सुख से सोया'। इसलिये बिलकुल शून्य अवस्था तो नहीं रही। सुषुप्ति के अन्दर अज्ञान होने के कारण 'कुछ नहीं जानने' की वृत्ति रहती है—इतना दृष्टांत और दार्ष्टांत में अन्तर है ही। इस तरह हम जो शुद्ध सद् वस्तु की बात कह रहे हैं वह अनुभवगम्य है।।४४।।

यद्यपि पूर्व श्लोक में 'निश्चितैः' से याज्ञवल्क्यादि विद्वानों के अनुभव और श्रुति को प्रमाणतः सूचित किया तथापि शून्यबुद्धि न होने की तरह सद्बुद्धि न होने से तब वह तत्त्व सत् भी क्यों होगा?—इस शंका का समाधान करते हैं—

सद्बुद्धिरपि चेन्नास्ति मास्त्वस्य स्वप्रभत्वतः।
निर्मनस्कस्वसाक्षित्वात् सन्मात्रं सुगमं नृणाम्।।४५।।

(उस समय) सद्बुद्धि भी नहीं रहती तो मत रहे। यह सत् स्वप्रकाश है अतः क्योंकि मन न रहने का भी साक्षी बनता है इसलिये लोगों को केवल सत् समझ आना सरल है।

प्रश्न है कि शून्याकार वृत्ति न रहते शून्यभान नहीं तो सदाकार वृत्ति न रहते सद्भान कैसे? अगर हम कहते हैं कि सत् का ज्ञान है तो द्वैत हो जायेगा! एक सत् और दूसरा उसका ज्ञान। अगर कहते हैं, सत् का ज्ञान नहीं है तो सत् निष्प्रमाण है। दोनों तरह से ही कठिनाई है, एक तरफ खाई, दूसरी तरफ कढ़ाई वाली स्थिति है। इसलिये कहते हैं कि वहाँ सत् का ज्ञान नहीं है लेकिन वह सत् स्वप्रकाश है इसलिये उसके प्रमाण में ज्ञान की ज़रूरत नहीं है! ठीक जिस प्रकार से गहरी नींद में आत्मा किसी प्रमाण से तो सिद्ध नहीं है, परन्तु वहाँ आत्मा है क्योंकि जाग्रत् स्वप्न में आकर अहं में जो उसकी अनुवृत्ति है उसको लेकर

अर्थात् प्रत्यभिज्ञा प्रमाण से सिद्ध है कि आत्मा सुषुप्ति में भी रहता है। अगर मैं (आत्मा) वहाँ न होता तो 'मैं सोया था' ऐसा स्मरण नहीं हो सकता था। ऐसा आत्मा मान्य है क्योंकि वह स्वप्रकाश है। ऐसा स्वप्रकाश शून्य को नहीं मानते हैं।

आत्मा की स्वप्रकाशता मनुष्यमात्र को सिद्ध है क्योंकि सभी की प्रतीति है 'मैं अपने आपको जानता हूँ और मैं जानता हूँ–इस बात को भी जानता हूँ'। 'मैं जानता हूँ'–यह तो अहंकारात्मिका वृत्ति है परन्तु 'मैं जानता हूँ' इस बात को जानना तो स्वप्रकाश (ज्ञान) से ही हो सकता है। स्वप्रकाश वस्तु को बुद्धि विषय न करे तो भी वह सुगम, सुबोध रहती है। स्वप्रकाशता जानना मुश्किल नहीं है क्योंकि 'निर्मनस्कत्वसाक्षित्वात्' मन अर्थात् विमर्शात्मा अथवा संकल्प-विकल्प। निर्मनस्क अर्थात् जिस समय मन संकल्प-विकल्प नहीं कर रहा है। मन जब संकल्प-विकल्प नहीं कर रहा है तब उसका भी तो आत्मा ही साक्षी है। जब संकल्प-विकल्प नहीं है तब मन भी नहीं है, फिर भी ज्ञानरूप स्थिति है ही। सुषुप्ति के अन्दर मन नहीं रहता है, फिर भी हम वहाँ थे, यह साक्षी का साधक अनुभव सबको रहता ही है। सन्मात्र का अनुभव चेतनस्वरूप से मनुष्यमात्र को सुगम है क्योंकि सुषुप्ति सभी मनुष्यों को होती है और सुषुप्ति के बाद उन्हें स्मरण भी होता है कि 'बड़े सुख से सोये'। इसलिये मनुष्यमात्र को साक्षी समझना सुगम है, अत्यंत सरल है।।४५।।

तूष्णीं स्थिति, सुषुप्ति से स्वप्रकाश आदि को स्पष्ट कर सृष्टिपूर्व अद्वितीय सत् का निगमन करते हैं–

मनोजृम्भणराहित्ये यथा साक्षी निराकुलः।
मायाजृम्भणतः पूर्वं सत्तथैव निराकुलम्।।४६।।

मन के फैलाव के बगैर जैसे साक्षी समझना निर्दोष है वैसे ही माया के विस्तार से पहले सत् समझना निर्दोष है।

जब मन संकल्प-विकल्प नहीं कर रहा है तब साक्षी की जो स्थिति अर्थात् जृम्भणरहित (विस्तार-रहित) मन की जो स्थिति है उसे बता दिया। जृम्भण का शब्दार्थ जम्भाई होता है। आदमी जम्भाई लेता है तो उसका मुख खुल जाता है। दाँत टूटा हो या दाँत बड़ा हो तो व्यक्ति उसे छिपाकर ओठों में रखता है ताकि लोगों को पता न लगे। परन्तु जम्भाई लेते समय तो मुँह खुल ही जायेगा! इसी प्रकार से मन जब संकल्प-विकल्प करता है तो मानो जम्भाई ले रहा है, तब उसका विकराल रूप दीखता है। जब मन काम-क्रोध के आकार वाला है तब उसके अन्दर अपना स्वरूप कामी, क्रोधी दिखाई देता है। जब मन का वह रूप खुला नहीं है तब प्रतिबिम्ब भी वहाँ वैसा नहीं पड़ेगा इसलिये भ्रम भी नहीं होगा कि 'मैं कामी, क्रोधी हूँ'। इसलिये साक्षी को आकुल करने वाली चीज़ मन है। ऐसा अर्थ नहीं लेना कि मन के विकृत होने से साक्षी विकृत होता है! साक्षी मन में अपने प्रतिबिम्ब को देखता है इसलिये उससे अपने आपको विकृत समझ लेता है। जैसे हमने भस्मी लगाई तो हमारे मन

में कहीं आकुलता नहीं होती। परन्तु कोई काँच सामने है और उसमें देखते हैं कि भस्मी ठीक नहीं लगी, तब आकुलता होती है। उस समय यह जानना सम्भव नहीं है कि जो प्रतिबिम्ब पड़ रहा है वह काँच के दोष के कारण ठीक नहीं दीख रहा है या हमारे मुख के कारण ठीक नहीं दीख रहा है। काशी में कभी गंगाजी में नहाकर घाटिये के काँच में अपना मुँह देखो तो मुँह पर तरह-तरह के दाग दिखाई देंगे! देखने वाला सोचता है कि मुँह ठीक से नहीं पोंछा। फिर मुँह पोंछ कर काँच देखता है। फिर भी मुँह पर दाग दीख़ते हैं। वह आकुल हो जाता है। वहाँ रहने वालों का तो रोज उसी काँच में मुँह देखने का अभ्यास है इसलिये जानते हैं कि घाटिये का काँच ही ऐसा होता है, दोष काँच का है, मुँह का नहीं। इसलिये वे आकुल नहीं होते। इसी प्रकार संस्कार साक्षी में तो पड़ नहीं सकते, अंतःकरण में ही संस्कार पड़ेंगे। अंतःकरण के अन्दर जब तत्त्वमसि का संस्कार दृढ होता है तब भी व्यवहार-काल में अंतःकरणरूप काँच में प्रतिबिम्ब में दीखेगा वह द्रष्टारूप ही; लेकिन उस द्रष्टारूप को देखकर भी वह जानता है कि 'मैं साक्षी हूँ'। जिसका वह संस्कार दृढ नहीं पड़ा हुआ है, वह समझ लेता है कि 'मैं द्रष्टा हूँ' इसलिये वह आकुल हो जाता है।

वेदान्त का यह रहस्य समझकर रखने का है कि परिवर्तन मन में होता है। जब तक मन में होने वाले परिवर्तनों से प्रभावित हुए प्रतिबिम्ब को हम अपना स्वरूप समझते हैं तब तक आकुलता है। मन सात्त्विक रहते वेदवाक्य के द्वारा हम अपने स्वरूप को ठीक समझ पाते हैं। काँच बिलकुल साफ हो, तो उसमें अपना मुँह साफ दीखता है। वैसे निर्दोष मन में आत्मा का सही चित्र दीखता है। पता तो प्रतिबिम्ब का लगा, परन्तु वह प्रतिबिम्ब ठीक है, इसका निर्णायक वेदवाक्य है। जब उस रूप को देख भी लिया और वही प्रामाणिक है यह निश्चय कर लिया तब कितने ही खराब काँच में प्रतिबिम्ब रूप से उसे देखें, वास्तविकता के बारे में कोई भ्रम नहीं होता है। इसलिये कहा कि तब साक्षी निराकुल है।

इसी प्रकार, माया के अन्दर सारा संसार अव्यक्त रूप से मौजूद है। उसका जृम्भण होता है अर्थात् मुँह खुलता है तब सब व्यक्त हो जाता है, नहीं तो उसके अन्दर बन्द रहता है। सत् अर्थात् परमेश्वर ठीक उसी प्रकार निराकुल है चूँकि परमेश्वर सृष्टि के पहले बिना मायाजृम्भण के अपने स्वरूप को जानता ही है। उसको वेद का ज्ञान है ही इसीलिये उसको कभी भ्रम होता ही नहीं है। माया का जृम्भण तो वह करता है और माया के सब कार्यों को वह देखता भी है, चलाता भी है। यह सब करते हुए भी वह कर्त्ता-भोक्तापने से ग्रस्त नहीं होता क्योंकि मायाजृम्भण के पहले उसको अपने स्वरूप का ज्ञान है ही। हम लोग चूँकि वेद के ज्ञान से रहित हैं, इसलिये हम लोगों के अन्दर अनादि काल का जो अज्ञान है वह भ्रम को पैदा करता रहता है। उस भ्रम को निवृत्त करने के लिये साधना, वेदान्त-श्रवण आदि सब आवश्यक होते हैं। किंतु ईश्वर हमेशा निराकुल रहता है। 'तथैव' कहने का तात्पर्य है कि यह दृष्टांत केवल निराकुलता में समझना, जृम्भणराहित्य और साहित्य से जीव में जो फ़र्क आता है वह फ़र्क ईश्वर में माया-जृम्भण के पहले और बाद में नहीं है। इस बात का

संकेत करने के लिये जीव में कहा 'मनोजृम्भणराहित्ये' अर्थात् जृम्भण-रहित अवस्था होने पर। जीव पहले जृम्भण अवस्था में अपने को आकुल देखता है फिर जृंभणरहित स्थिति में निराकुल स्वरूप समझता है। जबकि ईश्वर में मायाजृंभण से पूर्व ही निराकुलता है अतः वह स्वाभाविक होने से उसमें स्थायी है।।४६।।

मायाजृम्भण कहा तो माया क्या चीज़ है, इसे बताते हैं–

निस्तत्त्वा कार्यगम्याऽस्य शक्तिर्मायाऽग्निशक्तिवत्।
नहि शक्तिः क्वचित् कैश्चिद् बुध्यते कार्यतः पुरा।।४७।।

ईश्वर की शक्ति माया है। वह कार्यवश समझ आती है लेकिन तत्त्वहीन है। जैसे आग की शक्ति कार्य से पता चलती है वैसे कहीं भी कोई भी शक्ति को कार्य से पहले नहीं समझता।

जो सत्, ईश्वर, परमात्मा, परमेश्वर है, उसकी शक्ति माया कही जाती है। इसका रूप क्या है? निस्तत्त्वा, इसकी अपनी कोई तत्ता नहीं है। तत्त्व शब्द का अर्थ तत्ता होता है! शक्ति शक्तिमान् से अलग कहीं मिलती नहीं है। यदि उसकी अपनी सत्ता होती तो अवश्य ही वह हमको शक्तिमान् से अलग मिलती। अलग नहीं मिलती है तो इसका मतलब हुआ कि उसकी वास्तविकता कुछ नहीं है। माया ब्रह्म से अतिरिक्त कहीं मिलती नहीं इसलिये उसकी अपनी सत्ता कुछ भी नहीं है। जगत्कारणरूप जो ब्रह्म है वही उसकी वास्तविकता या तत्ता है।

यदि ऐसा है तो क्या वह माया फिर ब्रह्मस्वरूप है, जैसा शाक्त लोग मानते हैं कि माया ब्रह्मरूप है? इस पर कहा कि ऐसा नहीं, माया कार्यगम्या है। आकाश आदि कार्यों को उत्पन्न करती है, इसलिये पता लगता है कि वह शक्ति है, जगत् की सृष्टि-स्थिति-लय करती है इसलिये जगत्सृष्टि-लय करने वाला ब्रह्म सिद्ध होता है। ज्ञान हो जाने पर पता लगता है कि जगत् की सृष्टि, स्थिति, लय कभी होते नहीं हैं। इसलिये तभी पता लगता है कि माया नहीं है। जगत् को देखकर ही माया का पता भी लगता है। कार्य की अवास्तविकता समझने पर उसके बल पर समझी शक्ति की अवास्तविकता निश्चित हो जाती है। ब्रह्म कार्यगम्य नहीं है। वह स्वप्रकाश, स्वतःसिद्ध अतएव अप्रमेय स्वीकार है। 'मैं दस किलोमीटर चल सकता हूँ' इसका पता तब लगता है जब मैं दस किलोमीटर चल लेता हूँ। परन्तु ऐसा कुछ नहीं है कि जब कुछ कार्य (क्रिया) हो तभी पता लगेगा 'मैं हूँ'! अपनी भी शक्ति को जानने के लिये तो कार्य चाहिये। आँख आदि भी देखें, करें तभी पता लगता है कि हैं। परन्तु 'मैं हूँ' इस बात को देखने के लिये कुछ करना नहीं पड़ता। शक्ति कार्यगम्य है। जब कार्य हो तब पता लगेगा कि कारण में शक्ति है। सामान्यतः आदमी जानता है कि 'मेरी हलवा-कचौड़ी खाने की शक्ति है', परन्तु यह निश्चित ज्ञान नहीं है। जब दस कचौड़ी खा लेगा तब प्रकट होगा कि शक्ति है। कई बार सोचता है कि 'दस कचौड़ी खा

लूँगा'। परन्तु छह कचौड़ी खाने के बाद ही मुँह ऐसा बन्द हो जाता है कि फिर खाई ही नहीं जाती! पूर्व अनुभवों के कारण तुम कुछ अनुमान तो कर सकते हो परन्तु फिर भी जब तक कार्य न हो जाये तब तक शक्ति सिद्ध नहीं होती। इसी प्रकार से सृष्टि-स्थिति-लय होते हैं तब तो हम मायाविशिष्ट ब्रह्म को कह सकते हैं। जब सृष्टि, स्थिति, लय, तिरोधान कुछ नहीं होते, तब ब्रह्म स्वरूप से शुद्ध (शक्ति के आरोप के बगैर) ही है। इसलिये कहा कि शक्ति कार्यगम्य है, निस्तत्त्व है।

दृष्टांत दिया, जैसे आग की शक्ति। आग तो हमको जलती हुई दीखती है और हम सोच भी लेते हैं कि आग के ऊपर दाल का भिगौना चढ़ायेंगे तो दाल पक जायेगी। पर कभी केदारनाथ पहुँच गये और दाल का भिगौना आग पर चढ़ा दिया, दो घण्टे हो जायें लेकिन दाल नहीं गलेगी! वहाँ आग तो जल रही है लेकिन गलाने की शक्ति उसमें कार्यकारी नहीं है। गलाने की शक्ति वहाँ के वायु के चाप (दबाव) के कारण काम नहीं करती है। प्राचीन काल में चन्द्रकान्त मणि को आग के सामने रख देते थे तो भी आग की शक्ति अवरुद्ध होने से दाल नहीं गलती थी। अग्नि हमको सामने दीख रही है और गलाना या पकाना आदि उसका कार्य है–यह भी हमें पता है, परन्तु जब वह शक्ति काम करेगी तभी उसका पता लगेगा। यदि कार्य नहीं है तो उस शक्ति का पता लगाने का कोई उपाय नहीं है। इसलिये कहते हैं 'क्वचित् कैश्चित्' कहीं भी, किसी के द्वारा भी कार्य के पहले शक्ति का पता नहीं लगता। 'बुध्यते' का अर्थ है कि उसका ठीक ज्ञान नहीं होता, उसका सही पता नहीं लगता। इसी प्रकार से माया का कार्य देखने पर ही उसके वहाँ होने का ठीक पता लगता है। निस्तत्त्वा के द्वारा यह बता दिया कि माया की अपनी कोई सत्ता नहीं है।।४७।।

निस्तत्त्वता को स्पष्ट करते हैं–

न सद्वस्तु सतः शक्तिर्न हि वह्नेः स्वशक्तिता।
सद्विलक्षणतायां तु शक्तेः किं तत्त्वमुच्यताम्।।४८।।
शून्यत्वमिति चेच्छून्यं मायाकार्यमितीरितम्।
न शून्यं नापि सद् यादृक् तादृक् तत्त्वमिहेष्यताम्।। ४९।।

सद् (ब्रह्म) की शक्ति सत् (सत्य) नहीं हो सकती जैसे आग अपनी ही शक्ति नहीं होती! यदि सत् की शक्ति सत् नहीं तो बताओ, उस शक्ति का तत्त्व (वास्तविकता) क्या है? यदि कहो शक्ति का तत्त्व शून्य है तो बता चुके हैं (श्लोक ३४) कि शून्य माया का ही कार्य है। इसलिये उसे न शून्य (असत्) और न सत्, बल्कि जैसी है वैसी ही स्वीकारना चाहिये।

सत् की जो शक्ति है वह सद्वस्तु नहीं है। जिसको पहले तत्त्व कहा था उसी को स्पष्ट करने के लिये सद्वस्तु कह दिया। सत् की शक्ति सद्वस्तु तो है नहीं जैसे आग की शक्ति आग

नहीं है। आग तो जलती रहती है, केवल शक्ति रुकती है अतः वह आगरूप तो नहीं है। यदि कहो कि वह सत् नहीं है, सत् से भिन्न है; तो जो सत् से भिन्न होगा वह असत् होना चाहिये। ऐसा असत् शक्ति को कह नहीं सकते जैसे गधे का सींग नहीं होता। गधे का सींग कभी किसी के अनुभव में नहीं आता, इसलिये उसे असत् कहते हैं। लेकिन शक्ति का कार्य देखने में आता है, भले ही शक्ति खुद देखने में नहीं आती। जैसे कोई पूछे कि 'पीठ कैसे खुजला रहा है?' और जवाब दो कि खरगोश के सींग से खुजला रहा है! तो यह कहने से कुछ बोध नहीं होगा क्योंकि सबको पता है, खरगोश का सींग होता नहीं तो खुजलाने का कार्य कैसे होगा! शक्ति से कार्य पैदा होता है इसलिये शक्ति को 'नहीं है' नहीं कह सकते। वह खरविषाण-तुल्य नहीं है, और सद्रूप भी नहीं है; अर्थात् 'है' भी नहीं है और 'नहीं है' भी नहीं है। 'नहीं है' इसलिये नहीं कि कार्य देखा जाता है और 'है' इसलिये नहीं कि उसकी अलग सत्ता नहीं है।

यदि ऐसा कहो कि वह शून्य है, तो शून्य और शून्य शब्द का अर्थ ये दोनों ही माया के कार्य हैं यह पहले ही निर्णय हो चुका है। इसलिये निष्कर्ष यही निकलता है कि माया सद्-असत् दोनों से विलक्षण मिथ्या है। 'यादृक्' जैसा है 'तादृक्' वैसा ही उसका तत्त्व स्वीकार करो। असत् या अभाव भी माया का कार्य है। जैसे माया भाव को पैदा करती है वैसे ही अभाव को भी पैदा करती है। जैसे जिस अज्ञान के कारण तुम्हें रस्सी में साँप दीखा, 'साँप नहीं' यह भी उसी के कारण समझ आता है। यह बहुत बड़ा फ़र्क शून्यवादी और वेदान्ती में है।

बौद्धों के यहाँ संसार के बंधन की प्रतीति विज्ञान के कारण होती है। परन्तु जब क्षणिक विज्ञान समाप्त हो जाता है, निर्वाण की स्थिति होती है, तब वह विज्ञान-स्वरूप नहीं है! इससे विलक्षण, वेदान्ती 'जगत् है' की प्रतीति को जैसा मायिक मान रहा है वैसे 'जगत् नहीं है' के अनुभव को भी! कर्त्ता-भोक्ता जैसे मनोवृत्ति से, अखण्ड साक्षात्कार भी मनोवृत्ति से ही। 'न बद्धः' के साथ 'न मुक्तः' भी परमार्थता में बताया गया है। इसी दृष्टि से ब्रह्मज्ञान भी अज्ञान में ही है। ब्रह्म ज्ञानस्वरूप है, परन्तु ब्रह्म का ज्ञान, ज़िसको अखण्ड ब्रह्माकार वृत्ति कहते हैं, वहाँ तक सारा का सारा माया का खेल है।

इस तरह क्योंकि सत्-असत् दोनों नाम-रूप पर निर्भर अतः मायामात्र हैं इसलिये सत्त्व और असत्त्व के द्वारा माया का निर्वचन नहीं हो सकता। कार्य की तरफ देखें तो असत् नहीं कह सकते और वास्तविकता की तरफ देखते हैं तो सत् नहीं कह सकते। माया ऐसी विलक्षण है। इसलिये आचार्य शंकर ने परिचय ही दिया है 'अघटित-घटना-पटीयसी माया' जो कभी घट नहीं सकता वह घटाने में अतिकुशल है। एक अद्वितीय ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति कभी हो नहीं सकती, उस असम्भव जगत् को उत्पन्न करके दिखा देती है। और करीब-करीब यही मनुष्य के लिये मन कर दिखाता है! मन भी अघटित-घटना जैसा कार्य करता दीखता है। 'मैं' सन्मात्र हूँ और मन मुझे सुखी-दुःखी, रागी-द्वेषी, कामी-क्रोधी दिखा

देता है। मैं कभी ऐसा बन नहीं सकता, मेरा ऐसा बनना सर्वथा अयुक्त है, फिर भी मन ऐसा बना कर दिखा देता है। माया का प्रत्यक्ष रूप मन है। इससे समझ आ जाता है कि इसी तरह माया को है या नहीं है कहना न बनने पर भी नकारना सम्भव नहीं। यही उसका मिथ्यात्व है।।४८-४६।।

सदसद्विलक्षण अज्ञानरूप माया में श्रुति का संवाद दिखाते हैं—

नासदासीन्नो सदासीत् तदानीं किं त्वभूत् तमः।
सद्योगात् तमसः सत्त्वं न स्वतस्तन्निषेधनात्।।५०।।

वेद ने बताया है कि तब न सत् था, न असत् था, किन्तु तम था। सत् के सम्बन्ध से तम की सत्यता है, खुद नहीं क्योंकि ('नो सत्' आदि से श्रुति ने) इसका निषेध किया है।

ऋग्वेद में (१०.१२६) नासदीय सूक्त आता है। वहाँ कहा है कि तब सत् नहीं था, असत् भी नहीं था 'नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम्।' लोक में कहते हैं कि 'सवेरे कुम्हार की दुकान गये तो उस समय वहाँ घड़ा नहीं था, मिट्टी ही थी। अब वहाँ घड़े रखे हैं, मिट्टी नहीं रह गई।' मिट्टी नहीं रह ग़ई—अर्थात् कारण नहीं रह गया, कार्य ही है। इस तरह कार्य को 'है' कहते हैं और कारण को 'नहीं है' कहते हैं। ऐसी लोक में प्रसिद्धि है इसलिये 'असत् नहीं था' अर्थात् उस समय कारण नहीं था। और उस समय 'सत्' अर्थात् कार्य भी नहीं था। सृष्टि के पहले दोनों नहीं थे। परन्तु आगे सूक्त कहता है 'तम आसीत् तमसा गूढम् अग्रे' अज्ञान वाला ब्रह्म वहाँ था, ब्रह्म के साथ एक हुआ अज्ञान था। इसी बात को यहाँ कहा 'सद्योगात् तमसः सत्त्वं न स्वतः।' इसे अपनी सुषुप्ति में घटा लो; उठकर स्मृति आई कि 'वहाँ मैंने कुछ नहीं जाना।' अर्थात् वहाँ कुछ नहीं था—इस बात को जाना! कैसे पता कि वहाँ कुछ नहीं है? क्योंकि 'मैं' था। अगर कुछ नहीं को नहीं जाना होता तो 'कुछ नहीं था' यह कैसे याद कर सकता था? ठीक इसी प्रकार जिस समय सृष्टि होनी है उस समय परमेश्वर के साथ वह माया थी, इसलिये माया है कहना पड़ता है।

'सद्योगात्' ब्रह्म से सम्बद्ध होकर ही अज्ञान 'है'-रूप कहा जाता है। अज्ञान स्वतंत्र नहीं है क्योंकि उसकी सद्रूपता का निषेध है। 'सदेवासीत्' आदि श्रुतियाँ सद्रूप ब्रह्म से विलक्षण सभी का निषेध करती हैं। अतः सत् से स्वतन्त्र अज्ञान भी निषिद्ध ही है। कार्यगम्य होने से अज्ञान की सद्रूपता का निषेध है। उस समय परमेश्वर था और परमेश्वर के साथ उस समय अभिन्न हुई माया थी। 'माया थी' यह तब कह सकते हैं जब वह परमेश्वर से एक थी। अज्ञान हमेशा ज्ञान से ही सिद्ध होता है, अथवा नहीं जानना जानने के साथ ही सिद्ध हो सकता है। 'नहीं जानना' स्वतः सिद्ध नहीं हो सकता। वास्तविक चीज़ को नहीं जानने से उत्पन्न जो सारे विकार हैं उनका कारण उस अज्ञान को कहना पड़ता है। वह अज्ञान इसलिये है कि ज्ञानाश्रित है, और ज्ञानरूप ब्रह्म है। इसलिये इस सारे जगत् को उत्पन्न करने

वाली माया ब्रह्माश्रित है। वह स्वयम् सत्-असत् दोनों से भिन्न है। उसे 'कुछ नहीं' भी नहीं कह सकते और 'कुछ है' यह भी नहीं कह सकते। संसार पैदा होता है इस कार्य को देखने से उसे 'कुछ नहीं' यह नहीं कह सकते और ब्रह्म से अलग उसकी सत्ता नहीं है, इसलिये 'कुछ है' यह भी नहीं कह सकते।।५०।।

उक्त विवेचन का नतीजा बताते हैं–

अतएव द्वितीयत्वं शून्यवन्नहि गण्यते।
न लोके चैत्रतच्छक्त्योर्जीवितं लिख्यते पृथक्।।५१।।

इसीलिये शून्य की तरह माया को 'दूसरा' नहीं गिनते। लोक में चैत्र और उसकी शक्ति के अस्तित्व का पृथक् उल्लेख नहीं किया जाता।

माया की अपनी सत्ता नहीं है। शक्ति बिना शक्तिमान् के कहीं देखी नहीं जाती और शास्त्र में भी नहीं बताई जाती। इसलिये सत् से दूसरी सत्ता वाली वह नहीं है। जो लोग शून्य को मानते हैं वे कहेंगे कि दो तो हो ही गये–एक ब्रह्म और दूसरी माया या अज्ञान, कुछ भी कहो! परन्तु चूँकि अज्ञान की सत्ता बिना सद्रूप ब्रह्म के नहीं होती इसलिये शून्य की तरह ब्रह्म और माया दो हैं–यह नहीं कह सकते। शून्य को ब्रह्म-सत्ता पर निर्भर नहीं मानने से उसे ब्रह्मातिरिक्त गिना जाये तो भी माया को नहीं गिन सकते। शून्य भी कुछ है नहीं तो 'दूसरा' माना जाये यह असंगत है यह तो स्पष्ट ही है। लोक में चैत्र और उसकी शक्ति का जीवन अर्थात् उसका रहना अलग नहीं कहते। चैत्र आया तो उसकी देखने की शक्ति, सुनने की शक्ति आई ऐसा अलग कहने की ज़रूरत नहीं। उसकी शक्ति को मानकर ही कहेंगे कि चैत्र आया।।५१।।

शंका होती है कि शक्तिमान् से अलग शक्ति कही समझी तो जाती है–

शक्त्याधिक्ये जीवितं चेद् वर्द्धते तत्र वृद्धिकृत्।
न शक्तिः किन्तु तत्कार्यं युद्धकृष्यादिकं तथा।।५२।।

यदि कहो कि शक्ति की अधिकता होने पर जीवित (जीवट) बढ़ता है (अतः दोनों में अंतर स्फुट है) तो समझ लो कि जीवट बढ़ाने वाली शक्ति नहीं वरन् युद्ध खेती आदि उसके कार्य हैं।

शक्ति की अधिकता से मनुष्य के जीवट की अधिकता को बताया जाता है। कहते हैं कि इसमें बहुत जीवट है या कम जीवट है। शक्ति की अधिकता, अर्थात् अधिक शक्ति से अधिक जीवन कहा जाता है अतः शक्ति को अलग मानना क्यों ठीक नहीं है? इस पर समझाते हैं कि शक्ति से क्या समझना है? 'जीवितं' का एक मतलब आयु हो सकता है; किंतु शक्ति से आयु बढ़ जाती है–तुम्हारा यह मतलब नहीं हो सकता। क्योंकि बली भी अल्पायु एवं दुर्बल भी दीर्घायु देखे जाते हैं। 'जीवित' का दूसरा मतलब सोत्साह बहुतेरे कार्य

संभालना भी होता है। किसी ने बहुत काम किया, इसलिये कहते हो कि उसमें जीवट अधिक है। कार्य को देखकर ही कहते हो कि वह अधिक बल वाला है या निर्वल है। किंतु इस अभिप्राय में शक्ति नहीं वरन् उसके कार्य, अभिव्यक्ति का पार्थक्य प्रतीत होता है। अर्थात् 'अधिक जीवित' इस व्यवहार का संपादक शक्ति नहीं वरन् उसका कार्य होता है। वृद्धि करने वाली शक्ति नहीं है, परन्तु शक्ति का कार्य है। कार्य, जैसे युद्ध आदि। कोई बहुत प्रबल युद्ध करता है, तब उसकी तारीफ होती है कि यह महारथी है, रथी या अर्द्धरथी है। इसी प्रकार खेती करता है तो कहते हैं कि वह पाँच खेत जोत लेता है। इस प्रकार जीवित के दो ही अर्थ हो सकते हैं–आयु या कार्य। यदि व्यक्ति का कार्य नहीं देखा जायेगा तो उसके अन्दर अधिक शक्ति है ऐसा कोई अनुमान नहीं कर सकता। 'आदि' पद से व्यापार आदि समझने चाहिये, उन में भी कार्य को देखकर ही अधिक-कम का पता लगता है। और कोई तरीका यह जानने का नहीं है कि शक्ति की अधिकता है। अतः शक्ति को शक्त से 'दूसरा' (अलग) कहना-समझना बनता नहीं।।५२।।

शक्ति से ब्रह्म में सद्वितीयता नहीं आती इसका उपसंहार करते हैं–

सर्वथा शक्तिमात्रस्य न पृथग्गणना क्वचित्।
शक्तिकार्यं तु नैवास्ति द्वितीयं शंक्यते कथम्।।५३।।

हर हालत में, (शक्त से) पृथक् केवल शक्ति की कहीं गिनती नहीं होती। (सृष्टि से पूर्व) शक्ति का कोई कार्य तो है नहीं (अतः) द्वितीय (होगा यह) शंका कैसे की जाये!

केवल शक्ति, बिना किसी कार्य को देखे हुए, कोई भी अलग से नहीं गिनता है। व्यक्ति को लेकर ही उसकी शक्ति की बात की जाती है। व्यक्ति को छोड़कर केवल शक्ति की बात नहीं की जाती। बिना कार्य को देखे हुए कभी पता नहीं लग सकता कि ज़्यादा या कम शक्ति वाला है। इसलिये बड़ाई हमेशा उस व्यक्ति की ही होती है जिसने कार्य किया। अलग से शक्ति को नहीं बता सकते। शक्ति को शक्तिमान् से पृथक् नहीं गिना जाता। सृष्टि के पहले कुछ नहीं, जब सृष्टि होगी तभी पता लगेगा कि यह शक्ति ब्रह्म में है। जैसे मोक्ष काल में शक्ति की प्रतीति नहीं है वैसे सृष्टि होने से पहले माया की प्रतीति भी नहीं है। शक्ति अलग से गिन नहीं सकते और शक्ति का कार्य उस काल में है नहीं, इसलिये ब्रह्म और माया को दो कैसे गिन रहे हो? ब्रह्म से सृष्टि उत्पन्न होती है इसलिये कह देते हैं कि ब्रह्म में इसको बनाने की शक्ति थी। कार्य के आधार पर ही कहते हैं कि माया थी, नहीं होती तो कार्य कैसे दीखता? कार्य को देखे बिना माया का अनुमान नहीं कर सकते। तात्पर्य है, माया अज्ञान-रूप और ब्रह्म ज्ञानरूप है। इसलिये अज्ञान ज्ञान के आश्रित रहने से उसकी अलग सत्ता नहीं हो सकती। कुछ लोग मानते हैं कि ब्रह्म में तो शक्ति हमेशा रहेगी! लेकिन जब तक पैदा नहीं करेगी तब तक 'हमेशा रहेगी' ऐसा अनुमान नहीं कर सकते। पैदा करे तभी कह सकते हो कि उसकी पैदा करने की शक्ति थी। मोक्ष अवस्था में कुछ पैदा होता नहीं इसलिये शक्ति भी वहाँ नहीं है।

वादी यह सिद्ध करना चाहता है कि ब्रह्म और माया दो हैं और इसलिये अद्वितीय स्थितिरूप मोक्ष असम्भव है। जवाब है कि मोक्ष असम्भव इसलिये नहीं होगा कि माया की कल्पना तभी करनी पड़ती है जब हम जगत् को देख लेते हैं। जगत् को विना देखे माया की कल्पना का कोई प्रसंग ही नहीं आता।।५३।।

आगे शंका होती है कि यह माया शक्ति क्या ब्रह्म के एकदेश में रहती है? जैसे हमारे में चलने की शक्ति है, परन्तु वह पैर-देश में ही रहती है, कान-देश में तो नहीं रहती। सुनने की शक्ति कान-देश में ही रहती है, पैर-देश में नहीं रहती। ठीक इसी प्रकार, माया क्या ब्रह्म के एकदेश में रहती है? या, जैसे घी में जलने की सामर्थ्य हर कण में है वैसे माया शक्ति सारे ब्रह्म में रहती है? अगर माया ब्रह्म के सारे देश में रहती है तो मुक्ति कैसे होगी? जिसको ज्ञान होगा, उसकी मुक्ति हुई तो वह ब्रह्मभाव को प्राप्त हो गया किंतु वहाँ माया बैठी हुई है इसलिये वह अविद्या या माया से रहित नहीं हो सकता। अतः सारे ब्रह्म में माया रहे तो मोक्ष की सम्भावना नहीं रह जाती। यदि कहो कि ब्रह्म के एकदेश में माया है तो ब्रह्म देश-भेद वाला हुआ, अतः परिच्छिन्न हुआ! एकदेश में रहने पर परिच्छिन्नता की प्राप्ति और सारे देश में रहने पर मोक्ष की असम्भवता होगी।

इस समस्या का समाधान करते हैं–

न कृत्स्नब्रह्मवृत्तिः सा शक्तिः किन्त्वेकदेशभाक्।
घटशक्तिर्यथा भूमौ स्निग्धमृद्येव वर्तते।।५४।।

वह शक्ति पूरे ब्रह्म में मौजूद नहीं किन्तु एक हिस्से में है जैसे घड़ा बनने की शक्ति सारी धरती में नहीं वरन् चिकनी मिट्टी में ही होती है।

इसके विषय में समझ लेना कि कुछ आचार्यों ने तो कृत्स्नब्रह्मवृत्ति भी मानी है अर्थात् समूचे ब्रह्म में माया है ऐसा स्वीकारा है। इसीलिये वे कहते हैं कि जब तक सबका मोक्ष नहीं हो जाता तब तक मुक्त का ईश्वर-भाव ही रहता है, सर्वमुक्ति होने पर ही शुद्ध भाव होता है। अन्यों ने यह माना है कि इस जगत् को देखने वाला एक ही है। अतः उसकी मुक्ति ही सर्वमुक्ति हो जाती है। इस प्रकार दोनों तरह की बातें मानी हैं। यहाँ जवाब यही है कि ब्रह्म में कल्पित देश मान लेंगे। जगत् को देखकर जैसे माया का अनुमान करते हैं वैसे ही माया के रहने के बारे में उक्त अनुपपत्ति के आधार पर ब्रह्म के अन्दर देश न होने पर भी उसके अन्दर मायिक देश की कल्पना कर लेते हैं। जिस प्रकार से जगत् को देखकर हमने माया की कल्पना की, वैसे ही श्रुति मोक्ष कह रही है, इसलिये उसी ब्रह्म में देश की कल्पना भी कर ली। अतः जिसकी मुक्ति होगी वह तो जो मायारहित ब्रह्म है उसमें जायेगा, बाकी लोग माया का खेल देखते रहेंगे। इसलिये 'एकदेशभाक्' यह मान लिया। इसमें दृष्टांत दिया : घड़ा बनने की शक्ति मिट्टी में है लेकिन सारी मिट्टियों में तो घड़ा बनने की शक्ति नहीं है! बालू मिट्टी है पर उससे घड़ा नहीं बना सकते। चिकनी मिट्टी में ही घड़ा बनने

की शक्ति है। जैसे घड़ा बनाने वाली चीज़ मिट्टी ही है, परन्तु चिकनी मिट्टी से ही घड़ा बनता है, इसी प्रकार ब्रह्म में सृष्टि करने की शक्ति है, परन्तु माया से अवच्छिन्न एक हिस्से में ही वह शक्ति है। जैसे मिट्टी का चिकना होना ज़रूरी है वैसे ब्रह्म का माया से युक्त होना ज़रूरी है।।५४।।

प्रश्न होता है कि देशशून्य ब्रह्म में देश की क्यों कल्पना कर रहे हैं? यही क्यों नहीं मान लेते कि कृत्स्नब्रह्मवृत्ति है? ईश्वरभाव को प्राप्त होना मोक्ष माना जा सकता है। इसके उत्तर में कहते हैं कि यह हमारी कल्पना नहीं है, श्रुति ने ही इस प्रकार की कल्पना की है–

पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्ति स्वयंप्रभः।
इत्येकदेशवृत्तित्वं मायाया वदति श्रुतिः।।५५।।

'सारे भूत सद्ब्रह्म का एक पाद (चौथाई) है, इसके तीन पाद (तीन चौथाई भाग) स्वप्रकाशमात्र हैं' यों माया एक हिस्से में है ऐसा श्रुति कहती है।

इसके एक पाद में अर्थात् एक चौथाई में सारे भूत अर्थात् जड-चेतनात्मक सारा जगत् है। हिन्दी में 'पाद' को 'पाव' कहते हैं। इसका 'त्रिपाद्' अर्थात् तीन पाव (तीन चौथाई) हमेशा माया से रहित स्वयं-प्रकाश, शुद्ध रहता है। ऐसी चूँकि श्रुति ने कल्पना की है अतः उसी के अनुकूल हम कहते हैं कि माया ब्रह्म के एकदेश में है। श्रुति स्वयम् माया की एक-देशवृत्तिता को कहती है। इन सब चीज़ों के बारे में अंतिम प्रमाण श्रुति ही है।

उक्त मंत्र ऋग्वेद में १०.९०.३, शुक्ल यजुर्वेद में ३१.३, तैत्तिरीय आरण्यक ३.१२.१ में, सामवेद की छान्दोग्योपनिषद् ३.१२.६ में एवं अथर्ववेद संहिता १९.६.३ में–यों सभी वेदों में मिलता है। 'सर्वा' की जगह 'विश्वा' पाठ कहीं है, इतना अंतर है। जैसे निरंश आकाश के एकदेश में ही घट आदि माने जाते हैं वैसे निरंश ब्रह्म में माया मानना संगत है।।५५।।

केवल श्रुति ने कहा हो ऐसा नहीं, स्मृति भी कहती है–

विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्।
इति कृष्णोऽर्जुनायाह जगतस्त्वेकदेशताम्।।५६।।

'इस सारे जगत् को एक हिस्से से धारण कर मैं स्थित हूँ'–यों अर्जुन को श्रीकृष्ण ने समझाया है कि जगत् ब्रह्म के एक हिस्से में ही है।

'इदं'–अर्थात् विषयरूप सारे दृश्य जगत् को व्याप्त कर परमेश्वर उसको एक अंश में स्थित रखता है। श्रुति ने जरा और व्यावहारिक ढंग से कह दिया कि एक-चौथाई में है, तीन-चौथाई में नहीं है। भगवान् ने यहाँ कहा कि यह सारा जगत् उसके एक अंश में ही स्थित है। 'सारे जगत् को मैं व्याप्त करके हूँ, परन्तु मैं उसके बाहर भी हूँ'–इस बात को श्री कृष्ण ने अर्जुन के प्रति कहा। इसलिये श्रुति और स्मृति दोनों ने अंश-कल्पना की है यह समझाने के लिये कि यह सारा जगत् परमेश्वर के एकदेश में या एक अंश में है।।५६।।

उदाहृत मंत्र के प्रकरण में ही श्रुति ने परमेश्वर का माया से परे स्वरूप भी बताया है, उसका उल्लेख करते हैं–

स भूमिं विश्वतो वृत्त्वा ह्यत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्।
विकारावर्ति चात्रास्ति श्रुतिसूत्रकृतोर्वचः।।५७।।

'भूमि को सब तरफ से घेरकर (भी) वह उससे दस अंगुल ऊँचा रहा'–यह श्रुतिवचन एवं 'कार्यभाग में न रहने वाला भी परमेश्वरस्वरूप है'–यह सूत्रकारका वचन भी इस बारे में प्रमाण है।

परमेश्वर चारों तरफ से सारे संसार को व्याप्त करके भी दस अंगुल ऊपर ही रहा। जिसको श्रुति ने 'त्रिपादस्यामृतं दिवि' कहा उसी को स्पष्ट कर दिया। 'अत्यतिष्ठत्' अर्थात् उस एक पाद से वह त्रिपात् अस्पृष्ट ही रहता है, उसका किसी प्रकार का स्पर्श नहीं है। यह श्रुति की (ऋ. १०.९०.१ एवं पुरुषसूक्तादि में अन्यत्र) बात हुई। सूत्रकार भगवान् वेद-व्यास जी ने भी यही कहा है 'विकारावर्ति च तथा हि स्थितिमाह' (४.४.१९) कि विकार से परे भी परमात्मा है। अतः ब्रह्म के एकदेश में माया मानना शास्त्रादि के अनुकूल है।।५७।।

शंका होती है कि ब्रह्म को निरंश (हिस्सा-रहित) स्वीकारने वाला वेदान्ती उसी ब्रह्म के एक अंश में प्रपंच कैसे मानता है? श्लोक ५४ में यह प्रश्न संकेतित था, उत्तर अब देते हैं–

निरंशेऽप्यंशमारोप्य कृत्स्नेंऽशे वेति पृच्छतः।
तद्भाषयोत्तरं ब्रूते श्रुतिः श्रोतृहितैषिणी।।५८।।

'पूरे में है या टुकड़े में?' ऐसा पूछने वाले को समझाने के लिये श्रोताओं के हित को चाहने वाली श्रुति निरंश ब्रह्म में भी अंशों का आरोप कर उसी द्वैत-भाषा में जवाब देती है जिस भाषा में प्रश्न पूछा गया है।

चूँकि प्रश्नकर्त्ता व्यवहार में रहकर, अविद्या में रहकर, प्रश्न करता है इसलिये उसे जवाब भी व्यावहारिक भाषा में ही देना पड़ता है। है तो ब्रह्म निरंश, परन्तु निरंश में अंश का आरोप करके ही कोई प्रश्न करता है कि 'माया सारे में है या उसके एक हिस्से में है?' श्रुति श्रोता की हितैषिणी है अतः 'इसने अंश का आरोप किया इसलिये इसी की भाषा में उत्तर देना चाहिये' यह समझकर श्रुति उत्तर दे रही है। अर्थात् अंश आरोपित हैं, वास्तविक नहीं। अविद्या में रहकर संसार दीखता है तब प्रश्न करते हैं कि 'सब ब्रह्मरूप हैं तो हमें संसार कैसे दीखता है?' इसका एकमात्र सच्चा जवाब तो लट्ठमार ही है कि 'तुम झूठ बोल रहे हो! न संसार सच्चा है, न दीख रहा है।' लेकिन इससे शिष्य का तो हित नहीं होगा, क्योंकि वह वास्तविकता समझ नहीं पायेगा। इसलिये श्रुति ब्रह्म में कारणता का आरोप करती है। जगत् है, दीख रहा है–यह सब कह तो रहे हैं; श्रुति यह प्रतिपादित नहीं

करती। अतः यह भी श्रुतितात्पर्य नहीं कि माया से जगत् हुआ। श्रुति का तो मत है 'अनुत्पन्नमिदं जगत्'। फिर भी जगत् दीख रहा है तो प्रष्टा का हित करने के लिये ही जवाब देती है कि ब्रह्म से ही जगत् उत्पन्न हुआ। फिर प्रश्न उठे कि कैसे हुआ? तब सारी सृष्टि-प्रक्रिया श्रुति ने बताई है।

सृष्टि-प्रक्रिया में श्रुति का तात्पर्य हम लोग नहीं मानते। ब्रह्म ने सृष्टि की—इसमें श्रुति का तात्पर्य नहीं है वरन् वह कहकर 'ब्रह्म में कुछ नहीं है' यह बताना है। वेदान्त समझने-समझाने में यह कठिनाई हमेशा रहेगी। वेदान्त जिसे मानता है वह पारमार्थिक है और शिष्य तथा उसे समझाना आदि व्यावहारिक है, इसलिये व्यावहारिक प्रक्रिया से ही समझाना पड़ता है। 'किसी प्रकार अज्ञानी को ज्ञान हो तो उसका हित है' यह मानने से, कहने में सारी बात युक्तिसंगत हो—यह श्रुति ज़रूरी नहीं समझती है। प्रश्नकर्त्ता जैसी युक्ति मानता है, उसे जैसा अनुभव हो रहा है, उसी का सहारा लेकर उस पारमार्थिक तत्त्व का ज्ञान कैसे कराया जाये—इसमें तात्पर्य है। पहले भी (२.३९) कहा था 'चोद्यं वा परिहारो वा क्रियते द्वैतभाषया'। निरंश में अंश की कल्पना श्रुति नहीं कर रही है, शिष्य ने निरंश में अंश का आरोप करके जो प्रश्न किया, उसके परिहार के लिये कह दिया कि माया उसके एक अंश में है।।५८।।

अब बताते हैं कि ब्रह्म में माया का समर्थन क्यों करना पड़ता है, क्यों इस शक्ति की बात आयी है—

सत्तत्त्वमाश्रिता शक्तिः कल्पयेत् सति विक्रियाः।
वर्णा भित्तिगता भित्तौ चित्रं नानाविधं यथा।।५९।।

जैसे भींत पर लगे रंग भींत पर अनेक प्रकार के चित्र बनाते हैं वैसे सत्-तत्त्व पर आश्रित शक्ति सत् पर विक्रियाएँ कल्पित करती है।

दीवार के ऊपर लाल, पीला, काला रंग कर दो तो उसमें अनेक प्रकार के चित्र बन जाते हैं। एक तरफ राम जी धनुष को खींच रहे हैं, दूसरी तरफ रावण मरा पड़ा है; इत्यादि सारी चीज़ें चित्र में दीखती हैं। भींत पर रंग हैं तभी चित्र दीखते हैं, बिना रंग के नहीं। इसी प्रकार सत् तत्त्व ब्रह्म में हमें सारा संसार दीख रहा है। जैसे दीवार पर रंग है, उसी प्रकार सत् में माया के कारण सारे विकारों की कल्पना है। राम, रावण आदि चित्र रंगों के कारण दीखते हैं लेकिन वास्तव में दीख तो दीवार ही रही है; इसी प्रकार वास्तव में ब्रह्म ही भासमान है लेकिन उस 'है'रूप ब्रह्म पर मायावश नाम-रूप बने दीखते हैं। जैसे वस्तुतः दीवार दीखती है, उसमें चित्र सर्वथा कल्पित हैं, इसी प्रकार एक सन्मात्र ब्रह्म के अन्दर यह सारा संसार दीख रहा है। वसिष्ठमहर्षि कहते हैं—

'रेखोपरेखावलिता यथैका पीवरीशिला।
तथा त्रैलोक्यखचितं ब्रह्मैकं प्रविचार्यताम्।।' (निर्वाण पूर्व.४६.३४)

जैसे बहुत बड़ी चट्टान पर रामलीला खोद दी हो तो वहाँ है केवल शिला ही। उसी प्रकार यह सारा त्रैलोक्य ब्रह्मशिला पर हम लोगों को दीख रहा है। जैसे दीख शिला रही है लेकिन रेखाओं के कारण चित्रों की प्रतीति होती है वैसे ही सचमुच में एकमात्र सत् (सत्ता) ही है परन्तु उसमें ये सारे नाम-रूप दीख रहे हैं। माया नाम-रूपों की रेखा की जगह है। एकमात्र सत् के अन्दर ये सारे विकार दीख रहे हैं। आगे बतायेंगे कि सत् से अमुक-अमुक चीज़ें पैदा हुईं, किंतु यह मत समझ लेना कि सचमुच में पैदा हुईं! जैसे भींत पर राम, रावण नाम की कोई *चीज़* नहीं है, प्रतीतिमात्र है, इसी प्रकार सृष्टि है। ऐतरेय उपनिषद् के भाष्य में यह स्पष्ट किया कि जैसे व्यापक निरवयव निष्क्रिय आत्मा का शरीर में प्रवेश असम्भव है वैसे ही निर्विकार परमार्थ ब्रह्म से सृष्टि असंभव है लेकिन शास्त्र समझाता यों इसलिये है कि ब्रह्म से अन्य कुछ है नहीं यह निश्चय हो जाये। सृष्टि है या हुई—यह बताने में नहीं वरन् परमात्मा सदा अद्वितीय है—यह बताने में सृष्टि आदि प्रक्रियाओं का उपयोग है। उपलब्ध सृष्टि नकारने-मात्र से अद्वैत न समझा जा सकने से सृष्टि को ब्रह्मरूप बताकर उसे समझाया जाता है। इसमें कहीं ब्रह्म को विकारी न मान लिया जाये इसलिये उसकी अनिर्वाच्य मिथ्या माया-शक्ति बतायी जाती है। माया को भी बताना अभिप्रेत नहीं; ब्रह्म की निर्विकारता ही प्रतिपाद्य है।।५९।।

उक्त विचार से अद्वितीय सत् की सिद्धि (श्लो. २६) और उसकी निस्तत्त्व शक्ति का वर्णन (श्लो. ४७) कर, जिन कार्यों से शक्ति अनुमित है उनका प्रसंग प्रारम्भ करते हैं—

आद्यो विकार आकाशः सोऽवकाशस्वरूपवान्।
आकाशोऽस्तीति सत्तत्त्वमाकाशेऽप्यनुगच्छति।।६०।।

'खाली जगह'-स्वरूप वाला आकाश पहला विकार (कार्य) है। 'आकाश है' यों सत्-तत्त्व (है-पना) आकाश में भी अनुगत (मिलता) है।

सबसे पहला विकार आकाश है। आकाश क्या है? अवकाश ही उसका स्वरूप है। सत् से आकाश उत्पन्न हुआ—ऐसा क्यों कह रहे हैं? आकाश का जब ज्ञान होता है तब यही लगता है कि 'आकाश है'। आकाश का कभी भी है-से स्वतंत्र ज्ञान नहीं होता है। इसलिये सत्तत्त्व आकाश में अनुगत होने से आकाश सत् का कार्य समझ आता है। जिस तरह गहना सोने के बिना न मिलने से पता चलता है कि गहना सोने का कार्य है, वैसे आकाश सत् का कार्य समझ आता है।।६०।।

कार्य-कारणभाव समझने के लिये दोनों में अंतर पता चलना चाहिये तथा कारण सूक्ष्म है यह निश्चित होना चाहिये अतः कहा—

एकस्वभावं सत्तत्त्वम् आकाशो द्विस्वभावकः।
नावकाशः सति, व्योम्नि स चैषोऽपि द्वयं स्थितम्।।६१।।

सत्-त्तत्व का स्वभाव एक सद्रूपता ही है, आकाश दो स्वभावों वाला है। सत् में खाली जगह नहीं जबकि आकाश में सद्रूपता और खाली जगह–दोनों हैं।

खाली जगह–इस स्वभावभेद से आकाश-ब्रह्म का अंतर पता चलता है तथा ब्रह्म में एक सद्रूपता ही है जबकि आकाश में दो विशेषताएँ हैं अतः ब्रह्म ही सूक्ष्म निर्धारित होने से कारण समझ आता है। कारण होने से सर्वत्र सद्रूप ब्रह्म उपलब्ध होने पर भी नाम-रूप-कर्म के व्यामोह से उस ओर हमारी दृष्टि ही नहीं जाती लेकिन यहाँ बताये ढंग से सब जगह सत्-स्वभाव पहचानने का प्रयास कर्त्तव्य है, तभी ब्रह्म की व्यापकता एवं मूलकारणता का निश्चय हो पाता है। आकाश कार्य होने से ब्रह्म-स्वरूप को स्वयं में धारण करता है जबकि कारणभूत ब्रह्म आकाश के स्वरूप अवकाश या खाली जगह को स्वयं में धारण नहीं करता। गहने में सोना दीखने पर भी सोने में जैसे गहना नहीं दीख सकता वैसे कारण में कार्य-स्वरूप उपलब्ध नहीं हो सकता। इसी से कारण सूक्ष्म रह जाता है।।६१।।

अन्य ढंग से ब्रह्म-आकाश का अन्तर और ब्रह्म की सूक्ष्मता समझाते हैं–.

यद्वा प्रतिध्वनिर्व्योम्नो गुणो नासौ सतीक्ष्यते।
व्योम्नि द्वौ सद्ध्वनी तेन सदेकं द्विगुणं वियत्।।६२।।

या यों समझें कि प्रतिध्वनि (गूँज) आकाश का गुण है। वह गुण सत् में नहीं मिलता। आकाश में सत् और ध्वनि ये दो गुण हैं अतः सत् एकस्वभाव वाला है जबकि आकाश दो गुणों वाला।

प्रकरण-प्रारम्भ में श्लोक-३ में बता चुके हैं कि आकाश में प्रतिध्वनि होती है। गुफा आदि के दरवाजे पर चिल्लाने से जो वापिस आवाज आती है यह प्रतिध्वनि आकाश में होती है। जहाँ आकाश नहीं होगा, बड़ी और बंद खाली जगह नहीं होगी वहाँ कोई प्रतिध्वनि नहीं होगी। इसलिये आकाश का गुण प्रतिध्वनि है। प्रतिध्वनि सत् ब्रह्म में नहीं है! आकाश में दो गुण हुए सत् और ध्वनि अर्थात् 'है' और आवाज। सत् के अन्दर केवल एक ही 'है'। इस प्रकार चाहे अवकाशरूप को लेकर समझो या प्रतिध्वनि को लेकर विचार करो, आकाश सत् से अलग और स्थूल पता चलता ही है। अतः वह कार्य है एवं सत् कारण है।।६२।।

सोने से गहने बनते हैं तो 'सोने का गहना' प्रतीति होती है, सत् से आकाश बना हो तो 'सत् का' या 'है का आकाश' प्रतीति होनी चाहिये, 'आकाश का हैपना (सत्ता)' प्रतीति क्यों होती है? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं–

या शक्तिः कल्पयेद् व्योम सा सद्व्योम्नोरभिन्नताम्।
आपाद्य धर्मधर्मित्वं व्यत्यासेनाऽवकल्पयेत्।।६३।।

जो माया शक्ति आकाश कल्पित करती है वह सत् और आकाश में अभेद प्रतीत कराकर उनके धर्म-धर्मिभाव को विपरीत ढंग से दिखा देती है।

माया की विशेषता ही असंभव को संभव कर दिखाना है। 'सोने का गहना' की तरह ही 'जेवराती सोना' भी तो प्रतीत होता ही है, इसलिये आकाश की सत्ता प्रतीत हो इसमें क्या विरोध होगा? माया सबसे पहले कारणभूत ब्रह्म की प्रतीति न करने देकर अपने द्वारा कल्पित नाम-रूप प्रतीत कराती है। फिर, ब्रह्मस्वरूप सत्ता को 'आकाश की सत्ता' दिखाती है एवं आकाशस्वरूप अवकाश और शब्द को ब्रह्मरूप है दिखाती है। हमें सत्ता लगती है आकाश की तथा 'अवकाश है, शब्द है' यों आकाश के स्वरूप है-से एकमेक लगते हैं। जैसे रस्सी की प्रतीति न होकर साँप दीखता है, फिर रस्सी का सामनेपना (पुरोवर्तित्व) साँप में और जो सामने (रस्सी) है उसमें साँप का नाम-रूप दीखता है, वैसे ब्रह्म न दीखकर जगत् दीखता है और धर्मधर्मिभाव विपरीत लगते हैं। इस सारी कल्पना में माया अकेली ही सक्षम है, अनेक शक्तियाँ मानने की ज़रूरत नहीं। किं च, कार्य धर्म एवं कारण धर्मी होता है। मिट्टीरूप धर्मी वही रहता है, घट-कुल्हड़-परई आदि कार्यरूप धर्म बदलते हैं। इस तरह आकाश है तो धर्म और सत् है धर्मी अतः 'सत् का आकाश' प्रतीत होना संगत है लेकिन मायावश प्रतीति विपरीत होती है कि आकाश की सत्ता।।६३।।

धर्मधर्मिभाव का वैपरीत्य प्रत्यक्ष कराते हैं–

सतो व्योमत्वमापन्नं व्योम्नः सत्तां तु लौकिकाः।
तार्किकाश्चावगच्छन्ति मायाया उचितं हि तत्।।६४।।

माया से जो सत् की आकाशता प्राप्त होती है उसी को लौकिक और तार्किक आकाश की सत्ता समझते हैं! विपरीत-दर्शन में हेतु बनना माया के लिये उचित ही है।

सच्ची बात का विचार करो तो सत् ब्रह्म ही, व्योमता को प्राप्त कर जाता है। घट में सत्ता नहीं है, 'सत्' में घटत्व है। वस्तुस्थिति का विचार करने पर तो सत् ही व्योमभाव को प्राप्त कर गया लेकिन अविचार काल में लगता है कि आकाश की सत्ता है। लौकिक अर्थात् सर्वथा अविचारी लोग तो ऐसा समझते ही हैं, जो केवल तर्क का आश्रयण करते हैं उन तार्किकों को भी यह भ्रम हो गया।

जो बात वेद प्रमाण से सिद्ध है, उसको समझने के लिये तर्क का प्रयोग वेदान्ती करते हैं। तर्क से वास्तविकता का पता लगेगा–ऐसा हम लोग नहीं मानते क्योंकि जैसा भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि एक तार्किक एक बात सिद्ध करता है, दूसरा आकर उसे असिद्ध कर देता है, तीसरा तार्किक आकर फिर पहले वाले की बात को सिद्ध कर देता है। वर्तमान काल में ही देखें तो आचार्य शंकर ने अद्वैतवाद का प्रतिपादन किया। मध्व ने उसका खण्डन करके द्वैतवाद का प्रतिपादन किया, मध्व के द्वैतवाद का फिर खण्डन किया गया। इस प्रकार आज तक यह खण्डन-मण्डन की प्रक्रिया अपने सामने ही चली आ रही है। अंततोगत्वा भाष्यकार कहते हैं कि यदि भूत, भविष्य और वर्तमान के सभी तार्किकों को एक जगह बन्द करके उनसे कहो कि 'तुम लोग एक बात सिद्ध करो', तो भी वे एक-दूसरे का माथा फोड़ते

रहेंगे, किसी नतीजे पर नहीं पहुँचेंगे! इसलिये तर्क से किसी बात को समझा तो जा सकता है, परन्तु किसी सच्ची बात का निर्णय नहीं किया जा सकता है।

जैसे, स्वतंत्र इच्छा से व्यक्ति कोई अजीब कार्य कर ले तो अन्य लोग चाहे जितना युक्ति-चिन्तन करते रहें, तर्क से पता नहीं चलता कि उसने क्या या क्यों किया अथवा जो हुआ वह किसने किया। ठीक इसी प्रकार, स्वयं ईश्वर ने वेद में अपना स्वरूप बताया अभिन्न निमित्तोपादान कारण। माया के द्वारा निर्विकार में उभयकारणता भी कह दी 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते'। उसने स्वयं किया, स्वयं बना अतः वह तो ठीक बता देता है। लेकिन दूसरे दर्शनों वाले तर्क के भरोसे यह पता लगाना चाहते हैं कि वह परमात्मा कैसा है! उसकी बात मानें तब तो निश्चय हो जाये लेकिन सिर्फ तर्क से 'वह अभिन्न निमित्तोपादान कारण है' यह सिद्ध नहीं होता, उसमें दोष ही दोष नजर आते हैं। वेदान्ती का कहना है कि जब वह ईश्वर खुद ही कह रहा है कि 'मैं अभिन्न निमित्तोपादान कारण हूँ' तो इसका पता तर्क से लगाने का यत्न ही व्यर्थ, निष्फल है। इसलिये भगवान् वेदव्यास ने ब्रह्मसूत्र में कह दिया 'तर्काऽप्रतिष्ठानात्' तर्क की प्रतिष्ठा नहीं है। तुम चाहे जितनी बढ़िया बात कहो, दूसरा तगड़ा तार्किक उसे खण्डित कर देगा। जैसे अच्छा वकील पक्ष की तरह प्रतिपक्ष भी सत्यापित कर दिखाता है ऐसे तार्किक सभी पक्षों के अनुकूल तर्क ढूँढ लेगा। आचार्य कहते हैं 'तर्क्यतां मा कुतर्क्यताम्।' शास्त्रोपपादक तर्क को काटने का प्रयत्न मत करो, शास्त्रीय तर्क को सिद्ध करने की बात करो। शुष्क तार्किक सोचता है कि बिना वेद प्रमाण के केवल तर्क से सत्यता का पता लगा लें। इसलिये वेदान्ती वेद से सिद्ध ईश्वर को मानते हैं, केवल तर्क से ईश्वर को *सिद्ध* नहीं मानते क्योंकि तर्क से ईश्वर को सिद्ध समझेंगे तो तर्क से उसका खण्डन भी संभव ही है। अतः नैयायिक की ईश्वर-सिद्धि का विरोध करने पर भी वेदान्ती ईश्वरवादी रहता है। वेदसिद्ध ईश्वर में अनेक तर्क भी देता है लेकिन तर्कसिद्ध ईश्वर अस्वीकार करता है।

इसी प्रकार, लौकिकों को भी यही लगता है कि आकाश की सत्ता है और तार्किकों को भी यही लगता है कि आकाश की सत्ता है जबकि वस्तुस्थिति है कि सत् में आकाश की कल्पना है। सत् की जाति सत्ता है जैसे घटजाति घटत्व है। यह जो उलटा ज्ञान होता है उसका कारण है कि माया के लिये यही उचित है कि उलटी प्रतीति कराये। अज्ञान कहते ही उसे हैं जो चीज़ जैसी है उसको वैसा न दिखाकर उससे उलटा दिखाता है। घड़े को घड़ा दिखाये तो ज्ञान कहेंगे, घड़े को घड़े से उलटा कपड़ा दिखाये तो अज्ञान कहेंगे। जो चीज़ जैसी है वैसी पता लग जाये–वह ज्ञान हो जायेगा। अज्ञान, जो चीज़ जैसी नहीं है वैसी प्रतीत कराता है। सच्ची बात तो यह है कि ब्रह्म (सत्) आकाशरूप से भास रहा है पर अज्ञान प्रतीति करा देता है कि ब्रह्म आकाश में है, आकाश में 'है'पना है। यह माया के लिये उचित है। अन्य की अन्यरूप में प्रतीति कराना अज्ञान का काम है और जो चीज़ जैसी है वैसी प्रतीति कराना ज्ञान का काम है।।६४।।

स्पष्ट करते हैं कि अविद्या से, माया से प्रतीति है अतः भ्रम है–

यद्यथा वर्तते तस्य तथात्वं भाति मानतः।
अन्यथात्वं भ्रमेणेति न्यायोऽयं सार्वलौकिकः।।६५।।

जो जैसा है, प्रमाण से वह वैसा प्रतीत होता है, अन्य तरह की प्रतीति भ्रम से होती है–यह सब लोगों को स्वीकृत नियम है।

जो चीज़ जैसी है, जैसे रस्सी है और रस्सीरूप से ही प्रतीत होती है तो रस्सीपना प्रमाण से दीखेगा। और रस्सी रस्सी न दीखकर साँप दीखे तो वह भ्रम से होता है। संसार में सभी इस न्याय को मानते हैं कि प्रमाण से तो चीज जैसी है वैसी दीखती है और भ्रम से अन्यथा दीखती है। इसलिये जब वेद से ईश्वर का ज्ञान होगा तब तो ईश्वर जैसा है वैसा ही होगा क्योंकि ईश्वर के विषय में वेद ही प्रमाण है; और किसी भी तर्क से सोचोगे तो ईश्वर जैसा है वैसा प्रतीत नहीं होगा, दूसरापना अर्थात् जैसा ईश्वर नहीं है वैसा प्रकार आ जायेगा। जितना लौकिक विचार है वह सारा ब्रह्म के विषय में भ्रम ही कराने वाला है। इसका मतलब यह नहीं है कि न्याय या तर्क का प्रयोग मत करो। तर्क का प्रयोग करना है लेकिन चीज़ को ठीक *समझने* के लिये। वह परमेश्वर कैसा है–इसका *निर्णय* करने के लिये तर्क का प्रयोग नहीं करना है, वह तो वेद से ही सिद्ध होगा।।६५।।

भ्रम से अयथार्थ अनुभव समझकर भ्रम मिटाने का उपाय बताते हैं–

एवं श्रुतिविचारात् प्राग् यथा यद्वस्तु भासते।
विचारेण विपर्येति ततस्तच्चिन्त्यतां वियत्।।६६।।

इस तरह, वेद-विचार से पहले जो (सांसारिक) वस्तु जैसी प्रतीत होती है, वेद-विचार से वह प्रतीति उलट जाती है। अतः उस आकाश के बारे में वेदानुसार विचार किया जाये।

इस प्रकार स्पष्ट हुआ कि वेदोपदेश के अनुसार विचार किये बिना भ्रांति से विपरीत प्रतीति होती है कि आकाशादि जगत् की अपनी सत्ता है। जो चीज़ जैसी है, वैसी प्रमाण से भासित होगी। सत्य में प्रमाण श्रुति-विचार ही है। श्रुति, श्रवण अर्थात् वेद क्या कहता है इसका निश्चय; और वेद की उस बात को मन में बैठाने के लिये उसके अनुकूल तर्क से विचार करना। श्रुतिविचार से पहले प्रमाण सामने नहीं आता अतः चीज़ जैसी भान होती है वैसी ही मान लेते हैं, जैसे घड़े में सत्ता। श्रुति के द्वारा और तदनुकूल तर्क के द्वारा विचार करने पर वह निश्चय बदल जाता है। मन्द अंधकार में देखने पर साँप है और प्रकाश में देखने पर रस्सी है। मंद अंधकार में देखे को तुम भ्रम मानते हो और प्रकाश में देखे को सच्चा मानते हो क्योंकि आँख के ऊपर प्रकाश ही उपकार करता है, अंधकार उसे ढाँक देता है। इसी प्रकार, शब्द-प्रमाण के द्वारा ब्रह्म जैसा है वैसा भान होता है और प्रत्यक्ष आदि

प्रमाणों के द्वारा ब्रह्म जैसा नहीं है वैसा भान होता है। ब्रह्म जैसा है वैसी प्रतीति कराना शब्द-प्रमाण का काम है। तार्किक लोग जिन प्रमाणों का भरोसा करते हैं, वे हैं ही तुमको भ्रम में डालने वाले! श्रुतिविचार से उक्त भ्रम की अपेक्षा विपरीत ज्ञान हो जाता है कि सत् ब्रह्म ही आकाशरूप में प्रतीत हुआ। क्योंकि भ्रम से हुआ अतः कहते हैं कि माया से हुआ। चूँकि श्रुतिविचार से पता लगता है कि ब्रह्म कैसा है इसलिये वह सत् ही वियत्-रूप से प्रतीत हो रहा है इसका चिन्तन करना चाहिये।। ६६।।

वह चिंतन कैसे करें? यही बताते हैं–

भिन्ने वियत्सती शब्दभेदाद् बुद्धेश्च भेदतः।
वाय्वादिष्वनुवृत्तं सन्न तु व्योमेति भेदधीः।।६७।।

आकाश और सत् परस्पर अलग हैं क्योंकि इन्हें कहने वाले शब्द पृथक् हैं और इन्हें विषय करती बुद्धियाँ अर्थात् ज्ञान भी अलग होते हैं। वायु आदि में सत् तो अनुगत है, आकाश तो अनुगत है नहीं। इस तरह इनमें अन्तर निश्चित है।

आकाश और सत् दोनों भिन्न हैं, सारे व्यवहार में हम लोग रोज 'है' का प्रयोग करते हैं, 'घड़ा है, कपड़ा है, लड्डू है, पेड़ा है' इत्यादि। परन्तु कभी यह विचार नहीं करते कि केवल घड़ा कहें, है क्यों कहते हैं? यह 'है' क्या चीज़ है–इसका कभी विचार ही नहीं करते! अगर पूछो तो भी यही जवाब है कि 'यह स्वतः स्पष्ट है, इसमें कहना क्या है!' आकाश तो दीख रहा है, लेकिन यह 'है' कहाँ दीख रहा है? 'आकाश है' इसलिये लगता है कि माया से हमें इनमें अभिन्नता की प्रतीति हो रही है। भ्रमदृष्ट लम्बे साँप में, लम्बाई तो ठीक है लेकिन वह लम्बाई रस्सी की है, भ्रमवश साँप में दीख रही है। इसी प्रकार 'घड़ा है, कपड़ा है' में जो हैपना है वह ब्रह्म का है, भ्रम से हमको आकाश में दीख रहा है।

सद्ब्रह्म के लिये और आकाश के लिये अत एव शब्दभेद है: जब तुम कहते हो 'आकाश है' तब तुम दो शब्दों का प्रयोग कर रहे हो अतः दोनों के अर्थ अलग होने चाहिये। 'बुद्धेश्च भेदतः' दोनों के ज्ञानों में भी भेद है। ज्ञानभेद कहना इसलिये ज़रूरी है कि कोई कह सकता है कि जैसे पर्यायवाची शब्दों में भेद होने पर भी अर्थभेद नहीं होता वैसे ही आकाश मायने 'है', ऐसे समझ लो। इसलिये ज्ञानभेद बताया कि पर्याय की तरह नहीं हैं, पर्याय शब्दों को सुनकर जो वृत्ति बनती है उसका आकार एक ही होता है; आकाश, व्योम, वियत् आदि शब्द विभिन्न होने पर भी इनसे समझ एक ही वस्तु आती है। लेकिन ऐसे आकाश और है में एक वृत्ति नहीं होती। जैसे 'आकाश है' वैसे ही 'पेड़ भी है'; यदि 'है' और आकाश एक को कहने वाले शब्द होते तो 'पेड़ है' सुनकर पेड़ को आकाश समझते! निश्चित ही 'घड़ा है' में 'है' और 'घड़े' की बुद्धियाँ अलग-अलग हैं, दोनों ज्ञानों में फ़र्क है। इस तरह शब्दभेद और बुद्धिभेद दोनों हैं। जहाँ शब्द और ज्ञान दोनों अलग होते हैं वहाँ

चीज़ें अलग होती हैं। जहाँ शब्द और ज्ञान एक ही होता है वहाँ चीज़ एक ही होती है। परन्तु 'आकाश है' इस प्रयोग में ऐसी बात नहीं है। यहाँ शब्दभेद भी है और बुद्धिभेद भी है।

बुद्धिभेद क्यों है? जैसे आकाश के साथ 'सत्' है, वैसे ही वायु है, तेज है, जल है, पृथ्वी है आदि सब वस्तुओं में 'है' अन्वित है, लेकिन आकाश ऐसे पृथ्वी, जल, तेज आदि के अन्दर एक होकर प्रतीत नहीं हो रहा है। सत् तो सब में प्रतीत हो रहा पर आकाश सब में प्रतीत नहीं हो रहा। जैसे सोने का हार, बाजूबन्द, सोने की करधनी, सोने का बोर आदि में सोने की अनुगति तो है परन्तु बोर, करधनी आदि की अनुगति नहीं है इसलिये सोना सब गहनों से अलग है यह निश्चित बात है, इसी प्रकार वायु आदि के अन्दर 'सत्' तो अन्वित है, परन्तु आकाश अन्वित नहीं है। आकाश को अवकाश-स्वरूप कहा था। पृथ्वी तो पोली नहीं लगती या जल पोला नहीं लगता! इस प्रकार दोनों के भेद का ज्ञान हो रहा है तो 'आकाश है' में दो चीज़ों के दो ज्ञान समझने चाहिये, उसमें सत् (है)-शब्द-बुद्धि से ब्रह्म पता चल रहा है यह निश्चय करना चाहिये।।६७।।

सत्-आकाश में भेद बता दिया, अब उनके धर्म-धर्मिभाव का विचार करते हैं—

सद्वस्त्वधिकवृत्तित्वाद् धर्मि व्योम्नस्तु धर्मता।
धिया सतः पृथक्कारे ब्रूहि व्योम किमात्मकम्।।६८।।

ज़्यादा में मौजूद होने से सद्वस्तु धर्मी है, आकाश तो धर्म है। विवेक द्वारा सत् से पृथक् समझे आकाश का क्या स्वरूप है, यह बताओ!

बोर, बाजूबन्द, करधनी आदि सब में सोना है, इसलिये यदि कोई पूछता है कि इन गहनों का कारण कौन है? तो कहते हो कि सोना कारण है क्योंकि सोना तो इन सबमें है। यों जो अधिक में वृत्ति वाला अर्थात् मौजूद होता है उसे धर्मी कहा जाता है। ऐसे वायु आदि अन्यों में आकाश न मिलने से वह धर्म है। इस तरह जो न्यूनवृत्ति होता है उसे धर्म कहते हैं। जिसमें कुछ रहता है वह धर्मी और जो रहता है उसे धर्म कहते हैं। अधिक-वृत्ति सत् है, वह धर्मी है, सत् में व्योम धर्म रहता है। इस प्रकार विचार के द्वारा सत् से आकाश को अलग कर सकते हैं। वेदान्त में विचार करके ही अलग करना है। दूसरे साधक तो अलग करने का मतलब समझते हैं कि छोड़ दो या सारी चीज़ों को दूर कर दो! वेदान्ती कहता है कि चीज़ों को अलग *करना* ज़रूरी नहीं होता, विचार से भी चीज़ें अलग हो जाती हैं। 'सत्' से तुम किसी चीज़ को अलग *कर* भी नहीं सकते! विचार से पता लग सकता है कि सत् अलग है, आकाशादि प्रपंच अलग है। जब समझ आया कि आकाशादि सत् नहीं है तब अर्थसिद्ध है कि असत् है। प्रतीयमान संसार में नाशपर्यन्त कोई भी परिवर्तन करने पर उसका कुछ-न-कुछ अवशेष रह जाता है। स्वेटर को उधेड़ दो तो स्वेटर नहीं लकिन ऊन रह जाता है। ऊन को जला दोगे तो ऊन नहीं लेकिन राख रहेगी। किसी भी चीज़ को नष्ट

करते हो तो निरवशेष नष्ट नहीं होती। कुछ न कुछ बच जाता है। जो चीज़ जैसी है उस रूप वाली तो नहीं रहेगी, लेकिन किसी भी और रूप में रहेगी। अणुबम के लिये परमाणु को तोड़ा तो वह परमाणु शक्तिरूप में रह गया अर्थात् वह शक्ति बन गई। तभी से द्रव्य और ऊर्जा–दोनों की एकता सिद्ध हुई। द्रव्य अर्थात् मैटर टूट कर ऊर्जा अर्थात् एनर्जी और एनर्जी घनीभूत होकर द्रव्य बनती है। इसलिये किसी भी चीज़ का नाश करने का प्रयत्न करोगे तो वह बिलकुल 'नहीं है' कभी नहीं हो सकती।

चीज़ को असत् करने के लिये तो एकमात्र साधन विचार ही है। विचार से पता लग जाता है कि कार्य प्रपंच सत् नहीं असत् है। योगी कहता है कि दुनिया दीखती है इसलिये दुःख होता है, यदि मन को ऐसा बना लें कि दुनिया नहीं दीखे तो दुःख नहीं होगा। वेदान्त कहता है कि तुम कितने दिन तक मन को ऐसा बनाये रखोगे? ऐसे-ऐसे महर्षि हुए हैं जिन्होंने साठ हज़ार साल की समाधि लगाई! इतने दीर्घकाल तक समाधि लगाने के बाद जब उठे तो जहाँ समाधि लगाने बैठे थे, उनके ऊपर से नदी बह रही थी, वे बालू के अन्दर दबे हुए थे। अतः उठे तो उन्हें सबसे पहले दीखा कि मच्छ और मछलियाँ विहार कर रहे हैं। साठ हज़ार साल बाद यह देखकर उनके मन में आया 'हमने तो ब्याह ही नहीं किया!' इसलिये, तुम हज़ारों साल तक भी संसार से दूर रह जाओ लेकिन फिर संसार दीखेगा तो दुःख होगा ही। इसलिये वेदान्त कहता है कि यह समाधान नहीं है। किसी किले में रहकर कोई दूसरे पर चढ़ाई नहीं कर सकता। दूसरे पर चढ़ाई तभी कर सकता है जब मैदान में जाये। इसी प्रकार यह संसार ऐसा का ऐसा मौजूद है और हम बुद्धि के द्वारा आक्रमण करके इस सब को सत् से अलग कर दें, तब तो यह संसार रहेगा ही नहीं, हमें दुःख कभी नहीं दे सकेगा।

इसलिये सत् से आकाश आदि सबको अलग कर दो तो सत् से अलग होकर ये असत् हो जायेंगे। इसमें विचार करना ही प्रधान उपाय बताया है। अलग करके बताओ कि यह आकाश फिर क्या बच गया? आकाश को 'असत्' कहो या 'कुछ नहीं' कहो–बात एक ही है। अर्थात् आकाश कुछ नहीं रहा।।६८।।

सत् से अलग किये आकाशादि का कोई स्वरूप निर्धारित कैसे नहीं हो सकता? इसे बताते हैं–

अवकाशात्मकं तच्चेदसत् तदिति चिन्त्यताम्।
भिन्नं सतोऽसच्च नेति वक्षि चेद् व्याहतिस्तव।।६९।।

यदि कहो कि सत् से पृथक् आकाश अवकाशरूप (पोल-रूप, जगहरूप) है तो विचार करो कि वह अवकाशरूप भी तो असत् (=नहीं है) ही होगा! सत् से भिन्न लेकिन असत् नहीं कहो तो तुम्हारे मत से बात स्वयं कट जाती है (क्यों कि निर्वचनवादी सत् और असत् का ही विभाग जानता है)।

यदि वादी कहे कि सत् से पृथक् जो अवकाशरूप रह गया वही आकाश का स्वरूप है; तब आचार्य कहते हैं कि जो सत् से भिन्न है वह असत् ही होगा। 'वह असत्' ऐसा बार-बार युक्तिपूर्वक सोचो, निश्चय करो कि जो सत् से भिन्न हो वह असत् ही है। असत् क्यों है? क्योंकि सत् से भिन्न है। सत् से पृथक् मानते हुए भी उसे असत् न स्वीकारना व्याघात दोप से दुष्ट है। जैसे कोई कहे मेरा बाप आबाल्यमरण ब्रह्मचारी रहा, तो कहना पड़ेगा कि या तुम उसके बेटे नहीं या वह बाल-ब्रह्मचारी नहीं था। इसी प्रकार या प्रपंच सत् से भिन्न नहीं, या वह असत् है।।६९।।

यद्यपि उक्त विचार से मान्य है कि आकाश सद्भिन्न शब्दबुद्धिका विषय अतः असत् है तथापि जिज्ञासा होती है कि उसका भान कैसे हो पा रहा है? इसके समाधान में आचार्य समझाते हैं कि इसी असमंजसता से मिथ्यात्व सिद्ध होता है–

भातीति चेद्? भातु नाम, भूषणं मायिकस्य तत्।
यदसद् भासमानं तद् मिथ्या स्वप्नगजादिवत्।। ७०।।

यदि पूछो कि प्रतीत क्यों होता है? तो जवाब है कि प्रतीत होने दो, मायाकार्य का यह अलंकार है। जो असत् रहकर भी भास जाये (प्रतीत हो जाये) वह वैसे ही मिथ्या है जैसे सपने के हाथी आदि।

प्रपंच असत् बताये जाने पर सभी पूछते हैं 'हमको प्रतीत होता है, फिर आप कैसे कहते हो कि नहीं है?' उत्तर है कि प्रतीत होता रहे, क्योंकि मायिक पदार्थ की यही विशेषता है कि बिना हुए प्रतीत हो। असत् दो प्रकार के हैं–एक प्रतीत नहीं होता, दूसरा प्रतीत होता है, परन्तु सत् नहीं है। जैसे स्वप्न में हमें बड़ा, चार दाँतों वाला हाथी दीखता है। शरीर के एकदेश में रहकर स्वप्न दीखता है। योगियों का कहना है कि कण्ठ में रहकर स्वप्न दीखता है। हर हालत में शरीर से बाहर तो दीख नहीं रहा है और शरीर में हाथी हो नहीं सकता। हमारे शरीर में इतनी जगह है नहीं अतः स्वप्न में हाथी दीखता है, परन्तु होता नहीं है। इसलिये दीखने से चीज़ 'है' सिद्ध नहीं होती। स्वप्न के दृष्टांत को अच्छी तरह से बार-बार विचार करके मन में बैठाना चाहिये। प्रायः आदमी कहता है कि 'दीवार के ऊपर माथा फोड़ो, दीवार सत् न हो तो माथा नहीं फूटना चाहिये, फूटता है इसलिये सच्ची है।' किंतु स्वप्न में भी यही होता है! स्वप्न में भी 'माथा फूटा' ऐसा प्रतीत होता है जबकि फूटता नहीं है। साधारण आदमी स्वप्न का विचार किये बिना ही यह व्याप्ति-ग्रह कर लेता है कि जो दीखता है वह सच्चा होता है। यहाँ 'दीखने' से सभी अनुभव समझ लेना। 'बिना हुए प्रतीत होना' यही मायिक पदार्थ की शोभा है। शोभा का मतलब है 'तुच्छ से विलक्षण।' गधे के सींग तुच्छ हैं इसलिये प्रतीत नहीं होते। मायिक ऐसी चीज़ नहीं कि प्रतीत न हो वरन् न होने पर प्रतीत होती है। यही माया की शोभा है कि बिना हुए भासमान, प्रतीयमान होना। उसी को मिथ्या कहते हैं। तुच्छ वह है जो होता नहीं और प्रतीत भी नहीं होता। मिथ्या वह जो प्रतीत

होता है परन्तु है नहीं। आजकल तो यह रात-दिन देखने में आता है। टेलिविज़न में डेढ़ या दो फीट का पर्दा होता होगा, परन्तु उसमें बड़े-बड़े आदमी, पहाड़ इत्यादि सब दीखते हैं, इसलिये मायिक हैं। बिना हुए जो प्रतीत होता है उसी का नाम मिथ्या है, जैसे स्वप्नों में हाथी दीखता है परन्तु होता नहीं। बिना हुए जो प्रतीत होता है वह मिथ्या है। इसी प्रकार आकाश असत् है और प्रतीत होता है इसलिये आकाश मिथ्या है।। ७०।।

यह शंका होती है कि जो दो चीज़ें नियम से एक-साथ मिलती हैं वे भिन्न नहीं होतीं। आकाश नियम से 'है' के साथ मिलता है इसलिये 'है' से आकाश कैसे अलग हो सकता है? दृष्टांतों से समाधान करते हैं—

जातिव्यक्ती देहिदेहौ गुणद्रव्ये यथा पृथक्।
वियत्सतोस्तथैवास्तु पार्थक्यं कोऽत्र विस्मयः।। ७१।।

जाति-व्यक्ति, शरीर-शरीरी, गुण-द्रव्य जैसे (हमेशा साथ ही मिलने पर भी) अलग हैं वैसे ही आकाश और सत् में भी भेद रहे, क्या आश्चर्य है।

'मनुष्यता' जाति है और 'मनुष्य' व्यक्ति होते हैं। मनुष्य जब मिलेगा तब मनुष्यता के साथ मिलेगा और मनुष्यता जब मिलेगी तो मनुष्य में ही मिलेगी। फिर भी मनुष्य और मनुष्यता को एक कोई नहीं मानता कि मनुष्य ही मनुष्यता है। जाति-व्यक्ति हमेशा साथ मिलेंगे फिर भी हम जानते हैं कि दोनों अलग हैं। देही जीव जो देह अर्थात् शरीर वाला है। शरीर वाला तो शरीर के साथ ही मिलेगा और देह होगा तो देही ज़रूर होगा। देह शरीर को कहते हैं। मुर्दे को 'देह' नहीं कहते। शंका हो सकती है कि मरने के बाद देह तो है, देही नहीं है। लेकिन वास्तव में मरने के बाद देह भी नहीं है। शब्द-प्रवृत्ति के होने-न होने में अभिप्राय नहीं, तात्पर्य है कि जीवित देह भी देही से अलग न मिलने पर भी देह से देही अलग समझा ही जाता है। इसी से सामान्यतः कहते हैं कि मरने के बाद देह नहीं रहता, वह तो मुर्दा है। 'दिहि उपचये' से देहशब्द व्युत्पन्न होता है अर्थात् जो बढ़ता रहे उसे देह कहते हैं। शरीर हमेशा बढ़ता रहता है। मुर्दा होने के बाद बढ़ने की स्थिति नहीं रहती इसलिये उसे देह नहीं कहते। शरीरधारी शरीर के साथ ही हमेशा मिलेगा। फिर भी, 'शरीर ही देही है' ऐसा आस्तिक लोग नहीं मानते। इसी प्रकार द्रव्य और गुण के बारे में है। द्रव्य किसी गुण के साथ ही मिलेगा और गुण किसी द्रव्य में ही होगा। मिलते दोनों साथ हैं, फिर भी गुण और द्रव्य दोनों पृथक् समझे जाते हैं। जैसे ये चीज़ें अलग होती हैं वैसे ही 'आकाश' और 'सत्' हैं। 'है' के बिना 'आकाश' कभी मिलता नहीं परन्तु 'आकाश' और 'है' दोनों अलग हैं, इसमें क्या आश्चर्य है। शंका थी कि जब दो चीज़ें साथ ही मिलें तो अलग क्यों मानी जायें? इसे कई दृष्टांतों से समझाया कि साथ रहने से चीज़ों में भेद नहीं होता यह सिद्ध नहीं होता। इस तरह सिद्ध किया कि 'आकाश' और 'आत्मा या है' दोनों अलग हैं।। ७१।।

वैचारिक या वादी की दृष्टि से 'है' और प्रपंच के अभेद को असंगत जानकर भी भेद जँचता नहीं अतः सुहृद्भाव से जँचने का उपाय बताते हैं–

बुद्धोऽपि भेदो नो चित्ते निरूढिं याति चेत् तदा।
अनैकाग्र्यात् संशयाद् वा रूढ्यभावोऽस्य ते वद।। ७२।।

समझ आया भी (सत्-आकाश का) भेद यदि चित्त में स्थापित नहीं होता तो इस बारे में बताओ : क्या अनेकाग्रता के कारण स्थापित नहीं होता? या संशय के कारण स्थापित नहीं होता?

कोई शिष्य कहता है 'मैं इस बात को समझ तो गया हूँ, परन्तु फिर भी यह बात चित्त में बैठती नहीं।' देवदत्त को देखते ही जानते हो कि 'यह देवदत्त है' तो इसका मतलब है कि देवदत्त को पहचानना तुम्हें अभ्यस्त हो गया है अर्थात् चित्त में स्थिर हो गया है कि अमुक आकार का शरीर देवदत्त का है। शुरू में एक बार देख लेने पर भी अगली बार देखते हो तो नहीं पहचानते। लेकिन चार-छह महीने साथ रहने पर फिर देखते ही पहचान जाते हो। इसे कहते हैं 'चित्त में निरूढ होना।' शिष्य कहता है–'आपने यह पहले भी समझाया, हमारी समझ में भी आ गया कि 'है' अलग चीज़ है और आकाश अलग चीज़ है। यह संस्कार दृढ नहीं होता कि 'आकाश' और 'है' को झट अलग ही समझें।' आचार्य कहते हैं कि अगर ऐसी बात है अर्थात् जानी-बूझी बात चित्त में निरूढ नहीं होती तो उसमें दो ही कारण हो सकते हैं : कई बार कारण यह होता है कि हमारा मन एकाग्र नहीं रहता, भेद पहचानने के प्रति तत्पर या सावधान नहीं रहता। जैसे कम प्रयुक्त शब्द को असावधान रहकर लिखने में बहुधा वर्णन्यास (हिज्जे) में ग़लती होती है; तो आवश्यकता सावधानी रखने की है, अन्य कमी नहीं है। अभ्यास अधिक हो तो असावधानी में भी ग़लत नहीं लिखते। अतः पुनरावृत्ति भी निरूढ करने में उपाय है। सावधानी का महत्त्व बताया है

'विषयेन्द्रियसंयोगः सामान्यं सर्वदेहिनाम्।
योगिनां तु विशेषोऽयं सम्बन्धे सावधानता।।'

दीवार आदि विषय से आँख आदि इन्द्रिय का सम्बंध तो साधक-असाधक दोनों का एक-सा, साधना किये योगी की विशेषता है कि वह सम्बंध के समय सत्य के प्रति सावधान रहता है। 'दीवार है' देखते ही सावधानी से वह इनके भेद को भी देख लेता है, उसकी एक बार भी उपेक्षा नहीं करता। अतः प्रत्येक विषय-दर्शन में है-रूप ब्रह्म का वह दर्शन पाता रहता है। सामान्य व्यक्ति को मालूम है कि गहना सोने से बना है अतः सोना-गहना दो चीज़ें हैं लेकिन गहने से इतना आकृष्ट रहता है कि सोने का परीक्षण न कराकर धोखा खाता रहता है। सुनार भी उसी गहने को वैसा ही सुंदर देखता है लेकिन गहने से पृथक् जो सोना उसकी

भी परख करता है अतः धोखा नहीं खाता। सुनार, सोने-गहने का जैसे भेद देखता है, ऐसे योगी विषय और सद्ब्रह्म के भेद के प्रति सावधान रहता है, उसे परखता रहता है। साधारण व्यक्ति 'समझता' है कि सोना-गहना अलग हैं लेकिन व्यवहार में उन्हें एक ही जानते रहने से धोखा खाता है। अभ्यासी योगी प्रतिक्षण ब्रह्म के बारे में सावधान रहता है जैसे असाधक जनता नाम-रूप के बारे में ही सावधान रहती है। हर अनुभव में ऐसा अभ्यास करते-करते ही निरूढता संभव है। निरूढ होने पर बिना प्रयास ही दोनों स्पष्ट भिन्न ही उपलब्ध होने लगते हैं। प्रायः साधक इस अभ्यास में, आवृत्ति में प्रमाद कर लेता है तो जैसे बच्चा यदि वर्णन्यास तीन सौ बार लिखकर न निरूढ करे तो समझने पर भी भूल करता है, वैसे प्रपंच और है का अंतर जानकर भी साधक 'प्रपंच है' ही समझता रहता है। अनादि काल के असंख्य संस्कारों को काटकर अतिप्रबल संस्कार बनाने में अतिशय अभ्यास अनिवार्य है। इस प्रकार निरूढि में एक रुकावट असावधानी है।

निरूढ न होने में दूसरा हेतु है कि संशय बना रहता है कि ऐसा है या नहीं? कई बार जब कक्षा में अध्यापक कोई बात पूछता है तो लड़का जवाब दे देता है लेकिन मास्टर साहब का चेहरा भी देखता रहता है! चेहरे पर हाव-भाव से देखा कि इन्हें जवाब ठीक नहीं लगा तो दूसरी बात कह देता है। इसका मतलब है कि दोनों में से क्या ठीक है, उसे यह निश्चय नहीं हुआ। परीक्षा में तो मास्टर सामने नहीं होगा, इसलिये निश्चय होना ज़रूरी है अन्यथा अनुत्तीर्ण होना पड़ेगा। इसी प्रकार आकाश और है सचमुच में अलग हैं—इस बारे में यदि कोई संशय मन में है तो भी बात रूढ नहीं हो पायेगी। संशय-निवृत्ति का उपाय विचार है। शास्त्र और तत्त्वज्ञ गुरु ही संशय दूर करता है। स्थल-स्थल के संशय हटाने से काम नहीं होता क्योंकि जीवन में नवीन स्थल उपलब्ध होते ही रहते हैं। संशय मिटाने के लिये वह तरीका आना ज़रूरी है कि सभी जगह उसको दूर किया जा सके। इसमें अनुभवी और कुशल गुरु ही सक्षम है। अकेला शास्त्रज्ञ तो शास्त्रीय स्थलों के संशय दूर कर सकता है, अकेला तत्त्वज्ञ खुद के तो संशय मिटा चुका है लेकिन शिष्य के संशय मिटा सके यह ज़रूरी नहीं। अतः 'श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ' गुरु की अनिवार्य आवश्यकता बतायी है।। ७२।।

दोनों स्थितियों में उपाय बताते हैं—

अप्रमत्तो भव ध्यानादाद्येऽन्यस्मिन् विवेचनम्।
कुरु प्रमाणयुक्तिभ्यां ततो रूढतमो भवेत्।। ७३।।

निरूढ न होने में कारण असावधानी है तो ध्यान से अप्रमादी बनो और यदि कारण संशय है तो प्रमाण और युक्ति से विवेचन करो। साधन करने से उक्त बात चित्त में दृढता से स्थित होगी।

यदि मन अभ्यास करके एकाग्र नहीं हुआ है, तुम बेध्याने हो जाते हो, तो उपाय है कि

ध्यान करो। प्रमाद मायने असावधानी 'प्रमादोऽनवधानता।' ध्यान करो अर्थात् अपने को विषयों से अलग करके देखने का अभ्यास करो। कभी बेध्याने विषय-दर्शन मत करो। जो लोग साइकिल चलाने में अभ्यस्त हो जाते हैं वे कई बार हैण्डल से हाथों को हटाकर भी काफी देर तक साइकिल सीधे चलाते रहते हैं, परन्तु जो व्यक्ति अभी साइकिल चलाना सीख रहा है वह कभी उसकी नकल करके हैण्डल से हाथ हटाये तो धड़ाम से गिरेगा! ठीक इसी प्रकार, जिसको ज्ञान की दृढता हो गई है वह व्यवहार ठीक ही कर लेता है। उसका अभ्यास इतना दृढ है कि हर बार विषयेन्द्रिय-संयोग में नामरूप और सत्-दोनों को अलग करके देखता है। परन्तु अभी जो साधक है वह व्यवहार, विषय-इन्द्रियसम्बन्ध कम-से-कम रखकर, व्यवहार करते समय ब्रह्मदर्शन का अभ्यास चालू रखे तो धीरे-धीरे दृढता होगी। इसलिये अनेकाग्रता हटाने के लिये उपाय है हमेशा ध्यान रखना। वेदांत के अभ्यास की कठिनता यही है कि हर चीज़ या हर काम में ध्यान रखना है, जहाँ प्रमाद हुआ वहाँ चूके। इसलिये सनत्कुमार ने स्पष्ट कहा है 'प्रमादो वै मृत्युमहं ब्रवीमि'। असावधानी हुई, विषय और ब्रह्म या 'है' को एक करके जाना तो मानो तुरंत मर जाते हो! क्योंकि विषय को सत्य देख लेना ही तो मृत्यु है। ध्यान के द्वारा अप्रमादी हो जाओ अर्थात् हर समय सावधानमना रहो।

यदि तुम्हारे मन में संशय हैं तो फिर विवेचन करो। दोनों चीज़ों का प्रमाण और युक्ति से विचार करो अर्थात् श्रवण और मनन करो। संशय दो तरह के होते हैं १) प्रमाण के बारे में, २) प्रमेय के बारे में। हमें कोई चीज़ दीखी तो जैसी दीखी वैसी है या नहीं, यह संशय है। उसके लिये विचार और परीक्षा करते हो कि हमारी आँख या चश्मे में कोई गड़बड़ी तो नहीं है। यदि आँख या चश्मा गड़बड़ है तो तुम्हें चीज़ ग़लत दीखेगी, इसलिये उसे ठीक करना ज़रूरी होता है। यदि शब्द में संशय हुआ कि ठीक सुना या नहीं; तो कान साफ करोगे और कहोगे 'ज़रा ज़ोर से बोलो।' जिस प्रमा के लिये जो प्रमाण होता है, अर्थात् जिस औजार (साधन) से ठीक ज्ञान उत्पन्न होता है, उसीको हम ठीक करना चाहते हैं। जैसे रूप में आँख और शब्द में कान प्रमाण है वैसे ही ब्रह्म में वेद प्रमाण है। वेद के द्वारा ही ब्रह्म का पता लगता है। इसलिये वेद ने स्पष्ट कह दिया है 'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्' उस ब्रह्म तत्त्व को वह नहीं समझ सकता, नहीं जान सकता जिसने वेद का अभ्यास नहीं किया है। इसलिये 'वेद यही कह रहा है या और कुछ कह रहा है' इसके निर्णय के लिये उपनिषदों को बार-बार आगे-पीछे देखकर निश्चय करना पड़ता है कि उपनिषद् यही कह रही है। यही श्रवण है।

दूसरा संदेह होता है कि प्रमाण तो ठीक है परन्तु प्रमेय ऐसा हो नहीं सकता। एक में प्रमाण के बारे में संशय है और दूसरे में प्रमेय के बारे में (प्रमेयगत) संशय होता है। संसार में सात अरब की आबादी है, सब यही मानते हैं कि दीवार है। 'दीवार' और 'है' दोनों अलग हैं—ऐसा सब थोड़े ही मानते हैं। इनका अन्तर लोकप्रसिद्ध युक्ति से युक्त नहीं है। परिष्कृत युक्ति से विचार करना पड़ेगा उनके भेद को समझने के लिये। दीवार ठोस दीखती है। तुमने भौतिकी में पढ़ा कि दो पत्थर पास में रखो तो दोनों के बीच में थोड़ी-बहुत जगह रहती है;

इसीलिये दीवार ठोस बनी है पर बाहर पानी बरसे तो सीलन अन्दर आ जाती है। यदि दीवार में जगह *सर्वथा* न होती तो पानी की सीलन अन्दर कैसे आती? भौतिकी पढ़ी तो जानते हो कि ठोस दीखती दीवार में कितने छेद हैं। फिर भी यह ठोस दीख रही है और सात अरब की आबादी को ठोस ही दीखेगी। तुम जानते हो कि इसमें पोल है, तुम खुर्दबीन या माइक्रोस्कोप से देखो तो तुम्हें छेद दीख भी जायेंगे, पता लग जायेगा कि इसमें खाली जगह है। हर समय माईक्रोस्कोप लेकर तो नहीं घूमोगे। तुम्हें *ज्ञान* हो गया कि ठोस दीवार के बीच में जगह ज़रूर है। ठोस में भी वह जगह क्यों रहती है? यह बात भौतिक शास्त्र के द्वारा तुमने जान ली कि एक मौलिक्यूल दूसरे मौलिक्यूल से ज़रूर दूरी पर होता है। मौलिक्यूल के घटक अणुओं (एटम) में दूरी होती है। इसे चाहे सीलन से, चाहे कील ठोक कर जानो या माइक्रोस्कोप से देखकर जान सकते हो। भौतिक शास्त्र से भी यही निश्चय होता है कि यहाँ पोल है। इन बातों को यदि तुम बार-बार मन में बिठा लोगे तब तो दृढ निश्चय हो जायेगा। युक्तियों को बार-बार सोचना पड़ता है तभी व्यक्ति की विचारपद्धति संस्कृत होकर वह दृष्टि स्वाभाविक बनती है। हमेशा सावधान रहोगे तो प्रमेयगत संशय नहीं रह जायेगा। इसलिये श्रवण और मनन के द्वारा विवेचन करो। जब अप्रमाद रखोगे और विवेचन करते रहोगे तब निश्चय रूढतम हो जायेगा। तुम्हारे चित्त में यह ऐसा रूढ हो जायेगा कि देखते ही तुम्हें निश्चय होगा कि 'आकाश' अलग और 'है' अलग। इस प्रकार जब तक रूढ न हो जाये तब तक सावधानी से युक्तियों का चिन्तन करते ही रहो। जब रूढ हो जायेगा तब सोचने की ज़रूरत नहीं रह जायेगी। समझने पर भी अभ्यास के अभाव में उसकी प्रतीति नहीं होती इसलिये अभ्यास के द्वारा उसको अपने अंतःकरण में निरूढ कर लेना पड़ता है। यदि ऐसा लगता रहता है कि उक्त दोनों से कोई संशय या उसका बीज है तो अभ्यास करने पर भी सफल नहीं होता। इसलिये विचार करके देखना चाहिये कि संशय क्या है और उसको हटा देना चाहिये।

बार-बार जो सत्संग पर जोर दिया जाता है वह इसीलिये कि सत्संग के विचार में कई बार ऐसी बात आ जाती है जो हमारे संशय को प्रकट करती है और उसका जवाब भी मिल जाता है। वह सत्संग चाहे सुन कर हो या पढ़कर हो। भिन्न-भिन्न ग्रन्थों को देखते हैं तो उनमें तरह-तरह के संशय मिलते हैं जिनमें से कई हमारे मन के संदेह भी होते हैं जो पढ़ने से दूर हो जाते हैं। निःसंशय ज्ञान हो और फिर दीर्घ काल तक अभ्यास हो तब दृढता होती है। हमारा जो व्यावहारिक जीवन है उसमें कुछ गलत मान्यताओं से हम व्यवहार करते रहते हैं इसलिये हमारी सही वासना दृढ नहीं हो पाती। समझी हुई से विरुद्ध वासनायें व्यवहार-काल में बनती हैं।

इसी दृष्टि से बार-बार आचार्य शंकर का ज़ोर रहता है कि व्यवहार जितना कम किया जा सके उतनी ही ज्ञान में दृढता आयेगी। आचार्य जो इतना ज़ोर सर्वकर्मसंन्यास पर देते

हैं वह इसीलिये कि इसके बिना निश्चित दृढता सम्भव नहीं। व्यवहार की न्यूनता समाज में रहते कठिन होती है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। इसलिये वह दूसरे के साथ व्यवहार करता है तो दूसरे भी उससे आशा रखते हैं और उनकी उस आशा को वह भी पूरा करना चाहता है जो हमेशा समझे सिद्धान्तों के अनुसार नहीं होता। संन्यासी क्योंकि समाज से न्यूनतम ग्रहण करता है और यथासंभव संपर्क रखता नहीं इसलिये समाज भी उससे आशा नहीं रखता तथा उसे भी समाज के प्रति दायित्व का अनुभव नहीं होता इसलिये उसका मार्ग प्रशस्त हो जाता है।। ७३।।

यह संस्कार दृढ हो जाने का प्रभाव बताते हैं–

ध्यानान्मानाद्युक्तितोऽपि रूढे भेदे वियत्सतोः।
न कदाचिद् वियत् सत्यं सद्वस्तु च्छिद्रवन्न च ।। ७४।।

ध्यान से, प्रमाण से और युक्ति से भी आकाश और सत् का भेद चित्त में आरूढ हो जाने पर आकाश कभी सत्य नहीं लगता तथा सत्-वस्तु कभी जगह वाली नहीं लगती।

दीर्घकाल तक हर व्यवहार करते समय ध्यान रखना पड़ता है। यह ध्यान दोनों तरह से होता है–'वियत् और सत् दोनों भिन्न हैं' ऐसी वासना बनाने के लिये दीर्घकाल तक एकान्त या शांत स्थिति में मनोवृत्ति का पुनरावर्त्तन भी करना पड़ता है और जब व्यवहार करें तब चिंतन करना पड़ता है। जैसे, रोटी ही खा रहे हो; रोटी की प्रतीति होनी ही है। वहाँ सावधानता रखनी है कि 'रोटी' अलग, 'है' अलग। वेदान्त का ध्यान केवल ध्यान-काल में नहीं, वेदान्त के साधक का जो न्यूनतम व्यवहार है उसमें भी उसका ध्यान जाग्रत् रहता है। 'मानात्' प्रमाण से भी उसका यही निश्चय है। इस विषय में प्रमाण एकमात्र श्रुति-वाक्य ही है। 'सदेव सोम्येदमग्रआसीत्' से प्रारम्भ करके आकाश आदि की उत्पत्ति आदि का बार-बार चिन्तन करने से प्रमाण वाक्य से पता लग जाता है कि सृष्टि के पहले बिना आकाश आदि के सन्मात्र ही था।

युक्ति से भी यही निश्चय होता है। मिट्टी का घड़ा, मिट्टी का सिकोरा, मिट्टी की परई आदि सबमें मिट्टी तो एक है परन्तु घड़ापना, सिकोरापना, परईपना आदि सब अलग-अलग हैं; इसलिये मिट्टी में ये सारी चीज़ें प्रतीत हो रही हैं। अभी तो लगता है कि घड़े में मिट्टी है। जो चीज़ अधिक वृत्ति वाली होती है उसमें न्यूनवृत्ति वाली चीज़ प्रतीत होती है। जैसे तालाब के अन्दर खूब पानी भरा हो तो 'पानी में पानी की लहर' प्रतीत होती है। ऐसी प्रतीति तो नहीं होती कि 'लहर में तालाब है' क्योंकि तालाब अधिकवृत्ति का है। वहाँ दीख तो दोनों चीज़ें रही हैं, परन्तु दोनों में जो अधिक वृत्ति है उसमें न्यूनवृत्ति दीखती है। इसी प्रकार मिट्टी में घड़ा, परई, सिकोरा आदि दीख रहे हैं क्योंकि मिट्टी अधिकवृत्ति है और घड़ा, सिकोरा आदि नाम-रूप न्यूनवृत्ति हैं। इसी प्रकार आकाश है, वायु है, जल है आदि सबमें 'है' प्रतीत हो रहा है। शुरू में लगता है कि आकाश में सत्ता है। उसकी जगह युक्ति से विचार करके

निश्चय करना है कि सत् में आकाश एक आकार है, सत् में पृथ्वी एक आकार है, जल एक आकार है। यह अधिकवृत्तिता आदि युक्ति है। यह भी दीर्घकाल का हमारा अभ्यास है कि 'घड़े में मिट्टी है या हार में सोना है, बाजूबन्द, चूड़ी, बोर आदि में सोना है।' उसकी जगह, 'सोने में चूड़ी, सोने में बाजूबन्द, हार आदि है' यह युक्ति से निश्चित करना है। धीरे-धीरे अभ्यास हो जाने पर यही प्रतीति दृढ हो जाती है। ध्यान, प्रमाण और युक्ति इन तीनों का अभ्यास करना है। 'अपि' के द्वारा तीनों अभ्यासों को इकट्ठा (एक साथ) करने के लिये कहा जा रहा है। अर्थात् यथावसर तीनों का अभ्यास करना है।

'वियत्सतोः रूढे भेदे' आकाश और सत् दोनों भिन्न हैं या दोनों का जो भेद है वह उक्त साधना से रूढ हो जाता है। आज से तीस या चालीस साल पहले के जो लोग हैं उनके अन्दर यह भेद रूढ था कि यह ब्राह्मण है, यह क्षत्रिय या वैश्य है। इसलिये हम लोगों के सामने कोई आता है तो पहला ही प्रश्न होता है कि 'किस जाति के हो?' क्योंकि जाति का निर्णय हो तब आगे उससे कैसा व्यवहार करना है यह पता लगे। इधर तीस-चालीस साल के प्रचार के कारण लोगों को सब आदमी एक जैसे लगने लग गये हैं। इतना तो अभी होता है कि कोई धोखा दे जाये तो कहते हैं 'हाँ है तो आखिर छोटी जाति का ही;' पर पहले क्यों नहीं पता लगाया कि किस जाति का है? क्योंकि मन में यह निश्चय नहीं है कि यह अलग है। मन में यह निश्चय है कि आदमी सब एक जैसे हैं। इसलिये आज के व्यक्ति में क्षत्रिय आदि का भेद रूढ नहीं होता। उन्हें आदमी-आदमी सब एक जैसे लगते हैं। इसी प्रकार अभी पता नहीं इसलिये 'आकाश' और 'है' एक जैसे लगते हैं कि 'आकाश है' एक ही बात तो है। 'घड़ा' और 'है' दोनों अलग हैं यह भेद रूढ नहीं हुआ है। विचार करते-करते यह भेद रूढ हो जायेगा कि 'आकाश' अलग और 'है' अलग है। भेद रूढ होने पर क्या होता है? 'वियत् सत्यं कदाचित् न' आकाश सच्चा है–यह प्रतीति होती ही नहीं। आकाश की प्रतीति हमेशा सत् से भिन्न रहती है और 'सत् वस्तु छेद वाली है' यह प्रतीति नहीं होती। अभी जब सत् की बात करते हैं तो अधिकतर लोगों की प्रतीति होती है कि जैसे आकाश में कुछ नहीं है ऐसे ही ब्रह्म में भी कुछ नहीं है। 'कुछ नहीं है' की प्रतीति सत् वस्तु में होती है। इसलिये बहुत से लोग पूछते हैं कि ब्रह्म में क्या आनन्द होता होगा? जब यह पता लग गया कि आकाश तो पोल है, पर पोल ब्रह्ममें नहीं हैं, पोल से ब्रह्म भिन्न है; जब यह भेद रूढ हो जायेगा तब कभी भ्रम नहीं होगा कि आकाश सच्चा है या सत्में रिक्तता (खालीपन) है।। ७४।।

उक्त स्पष्टता का व्यावहारिक रूप दिखाते हैं–

ज्ञस्य भाति सदा व्योम निस्तत्त्वोल्लेखपूर्वकम्।
सद्वस्त्वपि विभात्यस्य निश्छिद्रत्वपुरस्सरम्।। ७५।।

जानकार को 'तत्त्वहीन है' यह समझ आते हुए ही आकाश का भान होता है एवं 'खालीपने से रहित है' यह समझ आते हुए ही सद् वस्तु का भान होता है।

'ज्ञस्य' अर्थात् जिसको यह ज्ञान दृढ हो गया है उसको 'सदा' जब भी व्योम (आकाश) की प्रतीति होती है तब निश्चय रहता है कि आकाश में कोई वास्तविकता नहीं है। अब 'उल्लेखपूर्वक' अर्थात् जैसे हमें गहना दीखते ही 'यह बीस लाख का है'; यह भी कौंध जाता है तो कहते हैं कि 'मूल्य के उल्लेखपूर्वक गहना प्रतीत हुआ।' दूसरी चीज़ें भी भले ही किसी मूल्य वाली हैं, पता हमें उनका भी मूल्य है, पर सदा उन्हें देखते ही मूल्य बुद्धि में नहीं आता तो 'मूल्योल्लेख-पूर्वक अनुभव' नहीं कहा जाता। ठीक इसी प्रकार से आकाश की प्रतीति होते ही वासना की दृढता से 'यह निस्तत्त्व' है' ऐसा निश्चय हो जाता है। यह इसलिये बता रहे हैं कि यह अभ्यास तब तक करना है जब तक बिना सोचे हुए, संसार में किसी भी चीज़ की प्रतीति होते ही 'यह झूठी है' ऐसा दृढ निश्चय बना रहे। जैसे अभी कुछ भी देखते ही लगता है कि 'यह सच्ची है' वैसे देखते ही लगना चाहिये कि 'झूठी है', यह उल्लेखपूर्वक निश्चय होने का मतलब है। इसी प्रकार प्रतीतिरूप जो 'है' वह सत् हमेशा पोल-रहित, बिलकुल आनन्दघन, ठोस आनन्द प्रतीत होना चाहिये। अभी तो संसार की चीज़ें सतत्त्व लग रही हैं और परमात्मा के बारे में लगता है कि 'हाँ अच्छा विचार है;' परन्तु परमात्मा संसार जैसा सतत्त्व, सत्य, सच्चिदानंद का ठोस रूप नहीं लगता। विचार निरूढ होने के बाद सत् वस्तु ब्रह्म की बात आती है तो उसके अन्दर किसी भी प्रकार की पोल की प्रतीति नहीं होती है।। ७५।।

जब इस प्रकार की निष्ठा हो जाती है तब की स्थिति बताते हैं–

वासनायां प्रवृद्धायां वियत्सत्यत्ववादिनम्।
सन्मात्राबोधयुक्तं च दृष्ट्वा विस्मयते बुधः।। ७६।।

शास्त्रीय वासना पुष्ट हो जाने पर विज्ञ को उसे देखकर विस्मय होता है जो वादी सन्मात्र से अनभिज्ञ और आकाश (आदि प्रपंच को) सत्य मानता है।

'बुधः' अर्थात् जिसने उक्त ज्ञान को निष्ठापूर्वक स्थिर कर लिया, यह वासना जिसमें बिलकुल बढ़ी हुई है। संसारी आदमी को लगता है कि विरक्त लोग धन-दौलत को छोड़कर परमात्मा के पीछे भटकते कैसे फिर रहे हैं! वे समझते हैं कि ये आधे पागल हैं। कारण है कि उन्हें संसार बिलकुल सच्चा लग रहा है और परमात्मा एक कल्पना जैसी चीज़ लग रही है। शास्त्रीय प्रमाण-युक्ति के विचारपूर्वक ध्यान के परिपाक से यह उलटा हो जाता है। दृढ वासना जिसे हो गई कि 'आकाश आदि पदार्थ तो बिलकुल नहीं ही हैं, सर्वथा मायिक हैं;' जब वह किसी ऐसे आदमी को देखता है जो कहता है 'संसार तो सच्चा ही है;' तो उसे लगता है कि वह ऐसी नादानगी कर कैसे पा रहा है! वर्तमान काल

में महात्माओं से ऐसा कहने वाले बहुत से लोग हैं कि संसार के लिये आप लोगों को कुछ करना चाहिये। महात्मा कहते हैं कि संसार होता तो इसके लिये कुछ कर भी लेते। जैसे स्वप्न में किसी कंगले को देखा, तो क्या स्वप्न से उठकर उसे ढूँढते फिरें कि 'कहाँ है, मिले तो उसे कुछ पैसा दें'? ठीक इसी प्रकार जब सत्य समझ आ चुका तब मिथ्या प्रपंच के लिये कुछ कैसे किया जाये? 'यह संसार सच्चा है, इसके लिये कुछ तो करना ही चाहिये' सुनकर बुध को बड़ा आश्चर्य होता है कि ऐसे लोग भी संसार में होते हैं जो संसार की चीज़ों को सत्य मानते हैं, यह नहीं समझते कि सन्मात्र परमात्मा ही है। जब निरूढ हो जाता है तभी ऐसी स्थिति होती है।। ७६।।

आचार्य ने जो आकाश के बारे में इतना स्पष्ट किया है उसे आगे दूसरे भूतों में भी घटाकर समझना चाहिये यह बताते हैं–

एवम् आकाशमिथ्यात्वे सत्सत्यत्वे च वासिते।
न्यायेनाऽनेन वाय्वादेः सद् वस्तु प्रविविच्यताम्।। ७७।।

इस प्रकार आकाश मिथ्या और सत् सत्य है–यह संस्कार स्थिर होने के अनन्तर इसी विचार-रीति से वायु आदि से सद् वस्तु को पृथक् समझा जाये।

ध्यान-प्रमाण-युक्ति के पूर्वोक्त (श्लो. ७४) उपाय से सारे ही प्रपंच से सर्वथा अस्पृष्ट सत्तत्व ही परमार्थ है–यह दृढ बोध प्राप्त करना पुरुषार्थ है। आप लोग कभी-कभी साबुन लगाते होंगे। साबुन लगाने पर बुलबुले उठते हैं जिसे झाग कहते हैं। क्या उन बुलबुलों को देखकर कभी थोड़ा भी लगता है कि 'यह कोई *चीज़* है?' कई बार बुलबुले बड़े सुन्दर होते हैं, कई रंगों के दीखते हैं। परन्तु उन रंगों को देखकर कभी मन में भी आता है कि इनमें रंग है? स्पष्ट भान रहता है कि बुलबुले दीख रहे हैं परन्तु हैं कुछ नहीं। इसी प्रकार बुध का अनुभव है कि आकाश आदि प्रपंच दीख रहा है परन्तु है कुछ नहीं; सत् या 'है' कभी भी बदलता नहीं। जब ऐसी वासना दृढ हो जाये तब जैसा आकाश में दिखाया है उसी न्याय से वायु, तेज, जल, पृथ्वी से भी सत् वस्तु को अलग करके देखने का अभ्यास करके समझो कि यह वायु आदि कुछ नहीं हैं, प्रतीति होती है पर इनकी वास्तविकता कुछ नहीं है। वास्तविकता केवल सत् ब्रह्म की ही है। इस प्रकार उन सबका भी विवेक करो।। ७७।।

विवेक करने का प्रकार बताते हैं–

सद्वस्तुन्येकदेशस्था माया तत्रैकदेशगम्।
वियत् तत्राप्येकदेशगतो वायुःप्रकल्पितः।। ७८।।

सद् वस्तु में एक हिस्से में माया स्थित है। उसमें (माया में) एक हिस्से में आकाश है, उसमें भी एक हिस्से में वायु ईश्वरीय कल्पना है।

आकाश तो सत् का कार्य होने से सत् प्रतीत होना संगत पर वायु सत् क्यों प्रतीत होता है? उत्तर है कि साक्षात् न सही, परम्परा से वायु भी सत् का ही कार्य है। जैसे आटा-लोई आदि परंपरा से फुलका कार्य तो गेहूँ का ही है, वैसे आकाश के माध्यम से वायु का भी कारण तो सत् ही होने से 'वायु सत्' अर्थात् 'वायु है' प्रतीति संगत है। प्रथम कार्य आकाश होने से उसमें विस्तार से समझा दिया, वे बातें सर्वत्र भूत-भौतिक प्रपंच में घटाते रहना चाहिये। आदि कार्य होने से आकाश नष्ट भी अंत में होता है अतः सामान्यतः वह नित्य ही लगता है। उसी को मिथ्या समझ लेने पर बाकी का मिथ्यात्व स्वीकार होगा इसमें क्या कहना! सत् अपनी माया से प्रपंच बनाता है, वह माया सत् के एक छोटे हिस्से में है यह श्लोक ५४ आदि में बता चुके हैं। आगे, माया के भी एक छोटे ही हिस्से में आकाश और उसके भी छोटे-से हिस्से में वायु है; आगे भी इसी तरह हर कारण के कम हिस्से में कार्य हुआ है। कितना भाग—इसमें कोई तात्पर्य नहीं क्योंकि मिथ्यात्व में ही तात्पर्य है। अतः 'प्रकल्पितः' कहा। वायु-रहित आकाश (अन्तरिक्ष, स्पेस) आधुनिकों को भी स्वीकार है। क्योंकि मूलतः सत् का ही कार्य है इसलिये सत् ब्रह्म के अन्दर जो 'है'पना है उसके कारण वायु में भी 'है'पना दीखता है। साक्षात् सत् के साथ वायु का सम्बन्ध न होने पर भी परम्परा से सम्बन्ध है ही।। ७८।।

इस प्रकार, सत् और वायु का संबंध बता दिया। अब दोनों को अलग जानने के लिये वायु के गुण-कर्म का भी वर्णन करते हैं—

शोषस्पर्शौ गतिर्वेगो वायुधर्मा इमे मताः।
त्रयः स्वभावाः सन्मायाव्योम्नां ये तेऽपि वायुगाः।। ७९।।

शोष (सूखापन), स्पर्श, गति और वेग—ये वायु के धर्म माने गये हैं। सत्, माया और आकाश के जो तीन स्वभाव, वे भी वायु में पहुँचे हुए हैं।

हवा का रूप शोष है; सुखाता है। यह ठीक है कि शास्त्रों के अन्दर वायु का गुण स्पर्श ही माना गया है, परन्तु वह स्पर्श कैसा है? देखा गया है कि वायु चीज़ों को सुखाता है। गीता में भी भगवान् ने कहा 'न शोषयति मारुतः', हवा भी आत्मा को नहीं सुखा सकती; अर्थात् बाकी चीज़ों को हवा सुखाती ही है। इस स्मृति और अनुभव से वायु के अन्दर सुखाने का धर्म मान्य है ही। वायु में गति है, अर्थात् वायु चलती भी है। वायु में गति है यह तो पता लगता ही है। वायु में वेग है। वायु बड़े ज़ोर का झपट्टा मारती है। खास करके बरसात के मौसम में छाता लेकर जाते हैं, वायु आती है तो छाते को उलट देती है। वायु में ऐसा वेग है जो छाते को उलट देती है। कई जगह तो नदी में नावों को उलट देती है।

स्पर्श गुण जो वायु का कहा है उस लक्षण को नहीं बदल रहे हैं, वह तो है ही, उसका अपना गुण वही है; परन्तु वायु में ये सब धर्म भी प्रतीत होते ही हैं। शोष, स्पर्श, गति और वेग—चार वायु-धर्म हुए परन्तु इनमें स्पर्श तो वायु का स्वाभाविक धर्म है और बाकी तीनों

प्रतीति पर निर्भर हैं। ये हमेशा वायु के रूप रहते नहीं हैं, स्पर्श हमेशा वायु का स्वरूप रहता है। शोष की प्रतीति के लिये निरार्द्रता और कुछ गति चाहिये। इसी प्रकार गति और वेग भी हमेशा वायु में नहीं रहते। बहुधा स्थिर वातावरण में गति नहीं अतः वेग भी नहीं है, वायु है ही। इसलिये बाकी तीनों कभी होते हैं, कभी नहीं होते। स्पर्श तो उसका स्वाभाविक गुण है, और बाकी तीनों अस्वाभाविक हैं। वायु में सत्, माया और व्योम के गुण भी हैं। वायु में 'है' भी प्रतीत होगा, माया का धर्म अनिर्वचनीयता भी प्रतीत होगी और पोल का अर्थात् आकाश का गुण शब्द भी प्रतीत होते हैं।। ७९।।

सत् आदि तीन के धर्म वायु में कैसे हैं इसे खुद खोलकर बताते हैं–

वायुरस्तीति सद्भावः सतो वायौ पृथक्कृते।
निस्तत्त्वरूपता मायास्वभावो व्योमगो ध्वनिः।। ८०।।

'वायु है' यों वायु में सत्ता है, सत्से वायु अलग करने पर निस्तत्त्वरूपता–यह माया का स्वभाव है, वायु में ध्वनि आकाश का धर्म है।

हवा 'है' यह प्रतीति होती है। हवा में 'है'पने की प्रतीति कहाँ से आई? शोष आदि तो वायु में हुए, परन्तु 'है'पना कहाँ से आया? 'है' अर्थात् सत् का स्वभाव वायु में 'है' रूपसे प्रतीत होता है। जब उस सत् ब्रह्म से वायु को विवेक द्वारा अलग कर देते हैं तब वायु सत् तो नहीं फिर भी प्रतीत होती ही रहती है। बिना सच हुए प्रतीत होना–यह माया का स्वभाव है। वायु बिना हुए प्रतीत हो रहा है यह उसमें माया की अनुवृत्ति है। आकाश का गुण शब्द वायु में है ही इसलिये वायु चलती है तो सांय-सांय आवाज़ आती है। यह आकाश की ध्वनि की प्रतीति उसमें हो रही है। इस प्रकार, जब-जब वायु की प्रतीति हो तब सावधानीपूर्वक हमेशा ही इन प्रतीतियों से तीनों चीज़ों को वायु से अलग समझ लेना चाहिये। हर बार वायु की प्रतीति हो तो यह अभ्यास कर्त्तव्य है। यों विवेकाभ्यास से वायु में तात्त्विकता का भ्रम मिटता है।। ८०।।

आकाश की वायु में अनुगति के बारे में पूर्व-प्रसंग से विरोध की शंका करते हैं–

सतोऽनुवृत्तिः सर्वत्र व्योम्नो नेति पुरेरितम्।
व्योमानुवृत्तिरधुना कथं न व्याहतं वचः।। ८१।।

पहले (२.६७) बताया था कि सत् सर्वत्र अनुस्यूत है, आकाश यों सबमें अनुगत नहीं है जब कि अब कहा कि वायु में आकाश अनुगत है; दोनों बातें एक-दूसरे को काटती कैसे नहीं?

पहले बताया था कि सब चीज़ों में 'है' या सत् की प्रतीति है। आकाश है, वायु है, तेज है, जल है, पृथ्वी है–इस प्रकार 'है' की अनुवृत्ति सभी अनुभवों में है। परन्तु आकाश की

प्रतीति हर-एक में नहीं है, यह बात ६७वें श्लोक में कही थी 'वाय्वादिष्वनुवृत्तं सन्न तु व्योमेति भेदधीः'। सत् की अनुवृत्ति होती है, आकाश की अनुवृत्ति नहीं होती यह सत् और आकाश में फ़र्क कहा था। इससे विपरीत, अब कहा कि वायु आदि में आकाश की भी अनुवृत्ति है! पहले कहे हुए का विरोध करके उलटा कह दें तो यह विचार-प्रक्रिया में बहुत बड़ा दोष है जिसे व्याघात कहते हैं। व्यवस्थित चिन्तन में सभी पहलू परस्पर अविरोधी होने चाहिये। निहित विरोध प्रक्रिया को सदोष ही सिद्ध करता है।। ८१।।

समाधान में कहते हैं कि हमने पहली बात को दूसरी बात से काटा नहीं है–

छिद्रानुवृत्तिर्नेतीति पूर्वोक्तिरधुना त्वियम्।
शब्दानुवृतिरेवोक्ता वचसो व्याहतिः कुतः।। ८२।।

पूर्व में कहा था कि छिद्र (अवकाश) की अनुगति नहीं जबकि यहाँ शब्द की ही अनुगति कही अतः दोनों बातों में विरोध कैसे है?

उक्त व्याघात दोष नहीं है। जैसे धागे का जो रंग है वह कपड़े में अनुवृत्त होता है। लाल रंग के ऊनी धागे का स्वेटर बनाओगे तो उसका रंग लाल आयेगा। स्वेटर का लाल रंग धागे से आया लेकिन स्वेटर में धागापना नहीं है, लालपना तो है। जब कारण की कार्य में अनुवृत्ति होती है तब कारण के स्वरूप की अनुवृत्ति हो जाती है। सारे गुणों की अनुवृत्ति हो जाये– यह नहीं कहते। जैसे स्वेटर लाल है क्योंकि धागा लाल है लेकिन धागा लम्बा होता है तो स्वेटर लम्बा नहीं होता! अतः धागे का गुण स्वेटर में आया भी और नहीं भी आया, लेकिन यह कहने में व्याघात दोष नहीं कहा जाता। इसी प्रकार पहले कहा था कि पोल की अनुवृत्ति नहीं है; आकाश पोलरूप है, खाली जगह आकाश है, उस रूप की (पोलकी) अनुवृत्ति नहीं है। अब हम यह नहीं कह रहे कि छेद अर्थात् पोल की अनुवृत्ति है वरन् यहाँ वायु में आकाश के गुण शब्द की अनुवृत्ति कही है। इसलिये व्याघात कहाँ हुआ! हमने पहले कही हुई बात को नहीं काटा।।८२।।

प्रपंच सत् से भिन्न होने पर भी माया से भिन्न नहीं, यह समझाते हैं–

ननु सद्वस्तुपार्थक्याद् असत्त्वं चेत् तदा कथम्।
अव्यक्तमायावैषम्याद् अमायामयताऽपि नो।। ८३।।

सद्रूप वस्तु से भिन्न होने के कारण (वायु आदि में) यदि असत्त्व है तो अव्यक्तरूप माया से भी भिन्न होने के कारण (वायु आदि) मायामय भी नहीं होने चाहिये? यह प्रश्न है।

यह कहा था कि माया सत् से भिन्न है इसलिये असत् है। असत् का यह अर्थ हमेशा याद रखना। सत् का न होना असत् नहीं है, सत् से भिन्न होना असत् है। जैसे घड़ा कपड़े से भिन्न है, घड़ा कपड़े का न होना नहीं है। प्रश्नकर्त्ता कहता है कि सत् वस्तु से भिन्न है इसलिये माया असत् है तो फिर वायु या आकाश आदि सारा व्यक्त जगत्, अव्यक्त माया

से पृथक् है तो जगत् को माया से अलग भी मानना चाहिये। अव्यक्त माया तो व्यक्त वायु से भिन्न है। आकाश में भी यह विचार समझ ही सकते हैं। क्योंकि आकाश उतना व्यक्त नहीं लगता, यहाँ तक कि अनेक वादी उसे अभाव ही मान लेते हैं, इसलिये वायु के प्रसंग में यह प्रश्न उठाया। व्यक्त वायु को सब मानते हैं और वह अव्यक्त माया से अलग है। जैसे सत् से भिन्न होने से माया असत् है इसी प्रकार अव्यक्त माया से अलग होने के कारण वायु भी अमायामय होनी चाहिये। फिर यह क्यों कहते हैं कि माया की अनुवृत्ति है?।। ८३।।

उक्त प्रश्न का उत्तर है–

निस्तत्त्वरूपतैवाऽत्र मायात्वस्य प्रयोजिका।
सा शक्तिकार्ययोस्तुल्या व्यक्ताऽव्यक्तत्वभेदिनोः।। ८४।।

इस प्रसंग में 'माया' कहलाने में हेतु तत्त्वरहितरूपता ही है (न कि व्यक्तभिन्नता)। व्यक्तता और अव्यक्तता से भले ही परस्पर भिन्न हों पर शक्ति और कार्य, दोनों में निस्तत्त्वता बराबर ही है।

माया का एक रूप है अव्यक्त रहना और दूसरा है, बिना हुए प्रतीत होना। बिना हुए प्रतीत होना माया में भी है और वायु में भी है। माया अव्यक्त है जबकि वायु व्यक्त है। माया अव्यक्त इसलिये समझी जाती है कि कार्य से अनुमेय है। अव्यक्तरूप माया कभी व्यक्त नहीं होती, *उसका* पता कभी नहीं लगता। जब माया का कार्य हो जाता है तब अव्यक्त का पता अनुमान से लगता है। ऐसे समझ लो कि चुपचाप बैठे आदमी में तुम्हें बाजीगर की ताकत नहीं दीखती। वह अकस्मात् अपने हाथ से एक हाथी निकालकर तुम्हें दिखा देता है! जब उसके हाथ से निकला हुआ हाथी देखते हो तभी तुम्हें पता लगता है कि यह ऐन्द्रजालिक है, बाजीगर है क्योंकि यदि बाजीगर न होता तो हाथ से हाथी कैसे निकाल देता? बैठे हुए देखकर तो तुम्हें पता नहीं लगा, जब खेल दिखाया तब पता लगा, तुमने माना कि बाजीगर है। ऐसे ही माया भी कार्यानुमेय है। यह कार्यानुमेयता माया में रहेगी, कार्यों में तो नहीं रहेगी। कार्य हाथी तो तुम्हें उसके हाथ से निकलते *दीख* गया, उसका अनुमान नहीं करना पड़ता, उसकी प्रतीति होती है। उसको देखकर पता लगता है कि उसके अन्दर माया है। माया का कारणरूप हमेशा अव्यक्त है और माया का कार्य हमेशा व्यक्त है। परन्तु माया भी कोई सच्ची चीज़ नहीं है और उसका कार्य भी सच्चा नहीं है। झूठा होना दोनों जगह एक जैसा है। मायात्व का प्रयोजक यही है कि वह वास्तविक नहीं है। तात्पर्य है कि माया वह इसी से कहलाती है कि तत्त्वहीन है। अव्यक्त तत्त्वहीनता से नहीं वरन् कारण और अनुमेय होने से कहलाती है। अव्यक्त जो परमेश्वर की माया शक्ति है, उसमें भी 'सा' अर्थात् निस्तत्त्वरूपता रहती है और उससे पैदा हुए संसार में भी रहती है। वायु इत्यादि में भी निस्तत्त्वरूपता है और परमात्मा की जो माया शक्ति है वह भी

निस्तत्त्वरूप है। दोनों में फ़र्क यह है कि शक्ति अव्यक्त है, कार्य व्यक्त हैं। दोनों में यह भेद तो है परन्तु निस्तत्त्व दोनों एक जैसे हैं।

बाजीगर जब खेल दिखाता है, हाथ से हाथी निकाल कर दिखा देता है तो प्रायः सबको यह जँच जाता है कि हाथी सच्चा नहीं है। परन्तु मन में बैठा रहता है कि 'इस बाजीगर में कोई *सच्ची* ताकत है तभी हाथी निकाल कर दिखा दिया'! उसको सच्ची ताक़त मानकर ही आजकल ऐसे भ्रम बहुत फैल रहे हैं कि किसी ने व्यापार बाँध दिया, किसी ने स्वास्थ्य बाँध दिया इत्यादि। अर्थात् मान्यता है कि बाँधने वालों की शक्ति सच्चा कार्य कर देती है। परमेश्वर द्वारा रची यह सृष्टि हमें अनित्य दीख रही है, यह हमेशा नहीं रहती—यह अनुभव हो रहा है। हर चीज़ बदलती रहती है, इसमें तो कोई संदेह नहीं है। परन्तु लगता है कि परमेश्वर में वह माया शक्ति नित्य है ही! इस प्रतीति के कारण ब्रह्म का निश्चय नहीं हो पाता। इसलिए यह पता होना चाहिए कि वह शक्ति भी निस्तत्त्व है। जब तक ज्ञान नहीं हुआ, तब तक माया नित्य 'है' और ज्ञान होने से 'नहीं है'। इस तरह वह भी अनित्य है।

यह प्रश्न नहीं करना कि फिर वह माया कहाँ जाती है? ठीक जैसे बाजीगर ने हाथ से हाथी प्रकट किया, खेल खत्म होने पर हाथी चला गया, उस हाथी को ढूँढने नहीं जाते! क्योंकि हाथी दीखा था लेकिन था नहीं—यह निश्चय है। जैसे हाथी नहीं था, ऐसे ही हाथी दिखाने की शक्ति भी नहीं थी! इसी प्रकार जब तक जगत् की प्रतीति हो रही है तब तक मायावी ब्रह्म को मान लेते हैं। जगत् की प्रतीति समाप्त होने के बाद यह प्रश्न कि 'माया का क्या हुआ' बनता ही नहीं। अगर माया कोई सच्ची चीज़ होती तो प्रश्न बनता। इसलिए माया-तत्कार्य दोनों में निस्तत्त्वरूपता एक जैसी है। फ़र्क इतना ही है कि कार्य व्यक्त है और शक्ति अव्यक्त है ।।८४।।

यदि शक्ति और कार्य दोनों की निस्तत्त्वरूपता है तो दोनों में व्यक्तता-अव्यक्तता का भेद क्यों है? इस पर कहते हैं कि हम यहाँ सत्-असत् का विवेक समझाने में प्रवृत्त हुए हैं, असत् चीज़ों के भेद को बताने में हमारा तात्पर्य ही नहीं है! असत् के बारे में विवेचन बेकार है अतः उक्त प्रश्न विचारणीय नहीं है—

सदसत्त्वविवेकस्य प्रस्तुतत्वात् स चिन्त्यताम्।
असतोऽवान्तरो भेद आस्तां तच्चिन्तयाऽत्र किम् ।।८५।।

सत्त्व और असत्त्व को परस्पर विलक्षण समझने का प्रसंग होने से उसी का विचार किया जाये, असत् के अन्तर्गत होने वाला भेद रहे, उसके चिन्तन से इस प्रकरण में क्या लाभ!

असत् के दो रूप हुए—एक, माया और दूसरा, माया-कार्य आकाश। ये असत् के ही अवान्तर भेद हैं। असत् के दोनों भेदों के बारे में या और भी ऐसे भेदों के बारे में हम जो सत्-असत् का विवेचन करने में प्रवृत्त हैं वे क्यों सोचें? यह जो आचार्यों ने कहा है इसे

साधक को हमेशा याद रखना चाहिए। प्रायः वादी असत् के विचारों में तुम्हें विरोध दिखाकर कहते हैं कि यदि सत्य को यथाशास्त्र स्वीकारें तो फिर इस असत्य जगत् का क्या होगा? साधक भी संशय में पड़ जाता है!

शंकर भगवान् का एक बड़ा भारी भक्त था परन्तु उसको भगवान् शंकर के दर्शन नहीं हो रहे थे। उसका नाम नक्किर था। उसने गुरु से पूछा कि 'हमें भगवान् के दर्शन क्यों नहीं होते?' उसे कहा 'तेरे अन्दर यह भाव है कि हर चीज़ का पता लगाना चाहिए कि क्या है। तू इस प्रकार संदेह करना छोड़ दे, तब भगवान् शंकर प्रसन्न होकर तुझे दर्शन दे देंगे।' यद्यपि उसकी आदत तो हर चीज़ का परीक्षण करने की थी कि 'ऐसा कैसे, ऐसा क्यों,' तथापि कहने पर बहुत समय तक तो वह अपने मन को वश में करके प्रश्न नहीं करता रहा। एक बार वह एक तालाब के किनारे खड़ा था। ऊपर से एक सूखा पत्ता यों गिरा कि आधा पत्ता पानी में, आधा हिस्सा ज़मीन पर गिरा। जो आधा पानी में गिरा, वह तो मेंढक बनकर पानी के अन्दर चला गया; जो आधा ज़मीन पर गिरा था, वह चिड़िया बनकर उड़ गया! अब नक्किर से नहीं रहा गया, सोचने लगा 'यह कैसे हो गया?' अत्यंत अद्भुत चीज़ देखी थी। एक चिड़िया आई, उसने भक्त को उठाकर एक गुफा में ले जाकर रख दिया। वहाँ उसने देखा कि बहुत से लोग लटक रहे हैं। उन्होंने कहा—'हम भी तेरी जाति के ही हैं। हम भी संदेह करते-करते कहने लगे थे 'ऐसा क्यों? ऐसा कैसे?' उसने कहा—'ऐसी असम्भव बात हो तो प्रश्न होता ही है।' उन्होंने कहा 'ऐसे ही हम लोग भी कहते थे।'

भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि आनन्दघन ब्रह्म के अन्दर दुःख कहीं से आ नहीं सकता, कोई सम्भावना ही नहीं है कि तुम में दुःख आये। परन्तु 'यह दुःख क्यों आ गया, क्यों आ गया?' इस प्रश्न के कारण ही हम बंधन में बँधे हैं। दुःख का कारण ढूँढने में तुम माया को ही ढूँढ रहे हो, जबकि माया का कभी समापन होना नहीं है। एक गुत्थी सुलझी, दूसरी गुत्थी आ आयेगी क्योंकि इसमें तो वट में वट पड़े हुए हैं। जिस प्रकार कोई आदमी प्याज को छील कर देखने की कोशिश करे कि इसमें क्या है? तो कितना भी छीले, कुछ मिलना नहीं है; इसी प्रकार किसी चीज़ का कारण ढूँढोगे, दो-तीन कोटि तक कारण मिल भी जायेगा, उसके बाद फिर कितना ही पता लगाओ, अंत नहीं आना है। कम-से-कम चार सौ सालों से आधुनिक वैज्ञानिक लगे हैं संसार के मूल का, मौलिक तत्त्वों और नियमों का पता लगाने में, लेकिन जितना पता लगता है उतना समझ आता जाता है कि अंतिम निर्णय बहुत दूर है।

मुमुक्षु को इससे बिलकुल बच कर रहना चाहिए। निस्तत्त्व चीज़ों की कार्य-कारण परम्परा को ढूँढने का झँझट मत करो। यह माया ज्ञान से प्राप्त करने की चीज़ ही नहीं है। ज्ञान से अज्ञान को नष्ट ही कर सकते हैं। यदि मोक्ष चाहते हो तो सत्-असत् के विवेक में लगो। वही प्रस्तुत है अर्थात् सामने जो मुमुक्षु है उसके लिए यही मार्ग है। जो मोक्ष नहीं चाहता है उसे कार्य-कारण-परम्परा ढूँढनी चाहिए। ढूँढते-ढूँढते कभी बुद्धि आ गई कि

कार्य-कारण-परम्परा कभी निर्णीत हो नहीं सकती, तो ढूँढना छोड़ेगा। मुमुक्षु तभी बनोगे जब तुम्हारे मन से संसार के कार्य-कारणों के प्रति आग्रह हट जायेगा कि इसका कुछ पता लगाना है। मुमुक्षु बनने के पहले ढूँढकर 'इसके बारे में सोचना व्यर्थ है' यह निश्चय कर लेना चाहिए; निश्चय होने पर मोक्ष के मार्ग में लगना चाहिए। कार्य-कारण का विवेचन छोड़कर सत्-असत् का विवेक करो। व्यवहार की छोटी-मोटी अव्यवस्थाओं को जैसे-तैसे सह कर उनकी उपेक्षापूर्वक परमार्थ साधना में तत्परता बुद्धिमानी है, व्यवहार में उलझे रहना मूर्खता है क्योंकि चाहे-जितना प्रयास कर लें वास्तविक नतीजा नहीं निकलना।।८५।।

इस विचार का निर्णय यह हुआ–

सद्वस्तु ब्रह्म शिष्टोंऽशो वायुर्मिथ्या यथा वियत्।
वासयित्वा चिरं वायोर्मिथ्यात्वं मरुतं त्यजेत्।।८६।।

वायु में प्रतीयमान सद्-वस्तु ब्रह्म है, उससे बचा हिस्सा जो वायु वह आकाश की तरह मिथ्या है। वायु मिथ्या है–इसके संस्कार दीर्घकाल तक स्थिर करके 'वायु सत्य है' यह निश्चय छोड़ देवे।

सत् वस्तु अर्थात् 'है' तो केवल ब्रह्म है। दूसरा अंश वायु है। 'वायु है' इस प्रतीति में 'है' यह ब्रह्म, बचा हुआ अंश वायु मिथ्या अर्थात् प्रतीत होते हुए नहीं है। दो चीज़ें जहाँ एक प्रतीत हो जाती हैं उसी का नाम भ्रम या मिथ्या है। अंग्रेजी में इसी तरह 'मिथ्' (myth) शब्द बना है। जिस कहानी के द्वारा जो उपदेश कहा गया है, वह तो सच्चा हो, परन्तु कहानी अपने में सच्ची नहीं हो, उसे वे 'मिथ' कहते हैं। एक कहानी रोज़ महिम्नःस्तोत्र में बोलते हैं : 'ब्रह्मा जी ने अपनी लड़की को देखा, उसकी सुन्दरता को देखकर मोहित होकर उसकी तरफ जाने लगे। लड़की शर्म से लाल मुँह की होकर भाग गई। ब्रह्मा जी लड़की के पीछे भागे।' कई लोग सवाल पूछते हैं कि देवता लोग भी ऐसा क्यों करते हैं? वस्तुतः इस कहानी से कुछ और ही बताया है–ब्रह्मा सूर्य है। सूर्य उदय होने से पहले जो भाग फटती है, उषा, वह सूर्य से ही उत्पन्न होती है अतः सूर्य की, ब्रह्मा की लड़की ही हुई। सूर्य उसकी तरफ जाता है तो वह लाल पड़ जाती है मानो शर्म से लाल हो गई। यह बात तो सच्ची है कि सूर्य के उदय होने पर उसके पहले भाग फटती है और फिर वह लाल हो जाती है। लेकिन 'ब्रह्मा जी अपनी लड़की की ओर गये,' इस ढंग से जो कहा गया वह झूठ है। मिथ उसी को कहते हैं जो बात *जैसी* कही गई, वैसी नहीं है परन्तु उसके द्वारा *जो* कहा गया वह ठीक है। इसी प्रकार यह सृष्टि अनंत है। अनंत सृष्टि के द्वारा प्रकट होता है कि ब्रह्म अनंत है। ब्रह्म अनंत है–यह जो प्रकट हुआ, वह तो सच्ची बात है। परन्तु यह जो तुम सारा का सारा *उत्पन्न* प्रपंच देख रहे हो यह सारा का सारा झूठा है! इसलिए वायु भी मिथ्या है, दीखता है परन्तु है नहीं। 'वायु है' में 'है'–यही बात सच्ची है। आकाश भी इसी प्रकार मिथ्या रहकर वास्तविक सत्य का ख्यापन कर देता है। इस बात को दीर्घ काल तक बार-बार

विचार करो। हर बार वायु का अनुभव होते ही जब उसके मिथ्यात्व का विचार करते हो तब वासना बन जाती है। वासना बनने पर वायु का अनुभव होते ही यह पता चलता है कि यह मिथ्या है। बार-बार वायु देखोगे तो 'है'-रूप में ही; क्योंकि कारण ब्रह्म है इसलिए वायु को हमेशा 'है' देखोगे। परन्तु जब वासना दृढ हो जायेगी तब पता रहेगा कि वायु मिथ्या है। तब 'मरुतं त्यजेत्' अर्थात् वायु सच्ची है इस बात को छोड़ दो। इस बुद्धि को छोड़ना है कि वायु है। दीखेगा कि वायु है परन्तु देखते ही जानो कि वायु स्व-रूप से मिथ्या है, दीखती है परन्तु है नहीं। फिर मरुत्-सत्यता कभी भी प्रतीत नहीं होगी।।८६।।

इस प्रकार आकाश और वायु में जो बताया, इसी को सर्वत्र समझते जाओ–

चिन्तयेद् वह्निमप्येवं मरुतो न्यूनवर्तिनम्।
ब्रह्माण्डावरणेष्वेषा न्यूनाधिकविचारणा।।८७।।

वायु की अपेक्षा भी सीमित अस्तित्व वाली अग्नि के बारे में भी इसी प्रकार मिथ्यात्वका चिन्तन त्यागपर्यन्त करना चाहिए। (भूत आदि की) न्यूनता-अधिकता का यह विचार ब्रह्माण्ड के आवरणों (घेरों) के बारे में है।

जैसे वायु को आकाश से न्यूनवर्ती बताया, वैसे ही वायु के एक हिस्से में अग्नि रहती है। ब्रह्म के दसवें हिस्से में माया, माया के दसवें हिस्से में आकाश, आकाश के दसवें हिस्से में वायु, वायु के दसवें हिस्से में अग्नि रहती है इसलिए वायु से भी न्यूनवर्ती है। ऐसी अग्नि का भी जैसे वायु का वैसा चिन्तन करो कि वह भी मिथ्या है। भूतों की न्यूनवर्तिता कहाँ है? लोक में यह स्पष्ट नहीं पता कि महाभूतों में कौन कितना ज़्यादा या कम है। इसलिए कहते हैं कि यह तो ब्रह्माण्ड के बाहर जो ब्रह्माण्ड को घेरे हुए भूत हैं उनकी बात है। ब्रह्माण्ड के ऊपर तो पहले पृथ्वी आयेगी क्योंकि पृथ्वी के दसवें हिस्से में यह सारा ब्रह्माण्ड है! नीहारिकाओं समेत इस ब्रह्माण्ड को ढाँके हुए महाभूत हैं। श्लोक ९५ में बतायेंगे कि पृथ्वी के दसवें हिस्से में ही सारा ब्रह्माण्ड है। ब्रह्माण्ड को ढाँके हुए तत्त्वों में ज़्यादा-कम की व्यवस्था है।।८७।।

वायु से अग्नि कितनी घटकर है, यह बताते हैं–

वायोर्दशांशतो न्यूनो वह्निर्वायौ प्रकल्पितः।
पुराणोक्तं तारतम्यं दशांशैर्भूतपञ्चके।।८८।।

वायु के दसवें भाग जितनी अग्नि वायु से न्यून ही है, वायु में अध्यस्त है। पाँचों भूतों में दसवें हिस्से के हिसाब से मात्रा-व्यवस्था पुराणों में कही है।

अग्नि वायु के दसवें हिस्से में है। उसमें भी उसकी कल्पना ही है, वास्तव में नहीं। पुराणों के अन्दर ब्रह्माण्ड के बाहर इस प्रकार दस गुणे के हिसाब से भूतों का तारतम्य बताया है। अर्थात् कारण के अंश में कार्य को कहना तो विचार से है, परन्तु दशांश की

व्यवस्था पुराण में बतायी है। पंचभूतों का तारतम्य दशमांश से है, यह यहाँ पुराणों के आधार पर कह रहे हैं। विष्णु-पुराण (२.७.२२–२४), श्रीमद्भागवत (३.२६.५२) आदि में इसकी सूचना है।।८८।।

अब अग्नि को बताते हैं–

वह्निरुष्णः प्रकाशात्मा पूर्वानुगतिरत्र च।
अस्ति वह्निः स निस्तत्त्वः शब्दवान् स्पर्शवानपि।।८९।।

अग्नि गर्म और प्रकाशरूप है। इसमें भी पूर्ववर्ती कारणों का अनुवेध भी है: वह्नि है, वह निस्तत्त्व (मिथ्या) है, शब्द वाली और स्पर्शवाली है।

अग्नि गरम है, प्रकाशरूप है। गर्मी और प्रकाश–दोनों अग्नि के अपने धर्म हैं। मरुत् की तरह वह्नि में भी सत्, माया, आकाश और वायु अनुगत हैं। वह्नि है इस प्रकार ब्रह्मकी अनुवृत्ति है। अग्नि मिथ्या है, प्रतीत हो रही है परन्तु वास्तविक नहीं है–यह माया की अनुवृत्ति है। अग्नि भुक्भुक् शब्द करती है अतः शब्द वाली है इसलिए आकाश की अनुवृत्ति है। अग्नि का स्पर्श होता है, गर्म लगती है अतः वायु की अनुवृत्ति है। इस प्रकार से कारण के धर्म कार्य में अनुवृत्त हैं।।८९।।

अग्नि का निजगुण बताकर विवेक करने का विधान करते हैं–

सन्मायाव्योमवाय्वंशैर्युक्तस्याग्नेर्निजो गुणः।
रूपं तत्र सतः सर्वमन्यद् बुद्ध्या विविच्यताम्।।९०।।

सत्, माया, आकाश और वायु के अंशों से युक्त अग्निका निज गुण 'रूप' है। इनमें से सत् से अन्य सभी (मिथ्या हैं ऐसा) बुद्धि से विवेचन किया जाये।

सत् या 'है' वह्नि में ब्रह्म का गुण है। माया, मिथ्यात्व अर्थात् प्रतीत होने पर भी सच्चा नहीं होना। व्योम (आकाश) का गुण शब्द, स्पर्श वायु का गुण है। अग्नि में अपना गुण रूप है। वायु, आकाश, माया और ब्रह्म में रूप नहीं परन्तु अग्नि का अपना गुण रूप है। सत् से अन्य बाकी सब सत् से भिन्न हैं–इस प्रकार विचार करके बाकी सबके मिथ्यात्व का निश्चय करे। अग्नि दीखे तो उसमें जो स्पर्श की प्रतीति है वह वायु से आई है। शब्द की प्रतीति होती है वह आकाश से आई है। बिना हुए प्रतीत हो रही है यह विशेषता माया से आयी है और 'है' प्रतीत हो रही है, यह सत् से आया है। इस प्रकार शब्द आदि सब कुछ सत् से भिन्न है। ये सारे ही (अंश)–प्रतीति होने से लेकर रूपपर्यन्त–मिथ्या हैं। इस प्रकार का विचार करके सत् से सब चीज़ों को अलग देखना है। जैसा वायु के बारे में अभ्यास किया था वैसा ही इसके बारे में दीर्घकाल तक बार-बार जब-जब अग्नि की प्रतीति हो तब-तब बुद्धि से इस प्रकार विवेक करना पड़ेगा।। ९०।।

ऐसा ही जलका विवेक कर्त्तव्य बताते हैं–

सतो विवेचिते वह्नौ मिथ्यात्वे सति वासिते।
आपो दशांशतो न्यूनाः कल्पिता इति चिन्तयेत्।। ९१।।

सत् से वह्नि का विवेक होने पर उसके मिथ्यात्वका संस्कार दृढ हो तब चिंतन करे कि वह्नि से न्यून, वह्नि के भी दसवें हिस्से में जल कल्पित है।

पूर्वदर्शित ढंग से अग्नि मिथ्या है ऐसी जब दृढ वासना बन जाये अर्थात् अग्नि को देखते ही यह लगे कि यह सत् से भिन्न है, तब उसके पश्चाद्वर्ती जलका विवेचन कर उसे मिथ्या जानने का प्रयास करना चाहिये।। ९१।।

जल के विवेक का प्रकार समझाते हैं–

सन्त्यापोऽमूः शून्यतत्त्वाः सशब्दस्पर्शसंयुताः।
रूपवत्योऽन्यधर्मानुवृत्त्या स्वीयो रसो गुणः।। ९२।।

जल है, तत्त्वतः कुछ नहीं है अर्थात् मिथ्या है, शब्द-स्पर्श से युक्त है, और रूपवान् है। उसका निज गुण रस है, बाकी गुण कारणों की अनुवृत्ति से हैं।

अग्नि से जल दशांश है। जल में भी दृष्टि करे कि 'जल है' इसमें 'है' ब्रह्म की प्रतीति और जल की वास्तविकता कुछ नहीं है, केवल प्रतीति ही होती है। जल बहता है तो इसमें कल-कल की आवाज़ भी होती है। छूते हैं तो इसमें स्पर्श भी होता है, जल रूप वाला भी है चूंकि दिखाई देता है। ये सब चीज़ें तो क्रमशः माया, आकाश, वायु और वह्नि के कारण प्रतीत हुईं; जल का अपना गुण स्वाद है। अग्नि में कोई स्वाद नहीं।। ९२।।

विवेक एवं ध्यान, दोनों द्वारा जलका मिथ्यात्व-निश्चय करने के बाद विचारणीय बताते हैं–

सतो विवेचितास्वप्सु तन्मिथ्यात्वे च वासिते।
भूमिर्दशांशतो न्यूना कल्पिताऽप्स्विति चिन्तयेत्।। ९३।।

सत् से जलको पृथक् और उसके मिथ्यात्व को समझकर उस संस्कार को दृढ करके चिंतन करे कि भूमि (पृथ्वी) जल के दसवें हिस्से में है अतः अत्यल्प है, जल में कल्पित है।

जब वासना दृढ हो जाये अर्थात् जल को देखते ही पता रहे कि 'यह प्रतीत होता है परन्तु वस्तुतः है नहीं' तब पृथ्वी के बारे में सोचना प्रारंभ करे कि जल के दसवें भाग में ही समूची पृथ्वी है, जल से अतिन्यून है, जल में कल्पित ही है। इसमें हेतु आदि का अनुसंधान पूर्व की तरह है। ये सारे विचार बार-बार करने पड़ेंगे, तब तदनुसार निश्चय बनेगा और तब वैसी वासना बनेगी जिससे दृश्य का सर्वथा त्याग होकर दृङ्मात्र में अवस्थिति होगी।। ९३।।

पृथ्वी के धर्म समझाते हैं–

अस्ति भूस्तत्त्वशून्याऽस्यां शब्दस्पर्शौ सरूपकौ।
रसश्च परतो गन्धो नैजः सत्ता विविच्यताम्।। ९४।।

पृथ्वी है, उसमें वास्तविकता नहीं है, शब्द स्पर्श रूप और स्वाद उसमें अन्यों (अर्थात् कारणों) से हैं जबकि निजी गुण है गंध। इन सब में से सत्ता को अलग कर जाना जाये।

पृथ्वी में भी प्रतीति होती है कि पृथ्वी है। यहाँ, है–यह ब्रह्म की प्रतीति। है से भिन्न पृथ्वी स्वयं वास्तविकता से भिन्न है। वास्तविक नहीं है–यह माया से आया। पृथ्वी के अन्दर भी ध्वनि है। कहीं भी कंकड़ एक जगह से दूसरी जगह फेंकते हैं तो कड़कड़ शब्द आता है। यह शब्द गुण पृथ्वी में आकाश से आया। पृथ्वी को छूते हैं तो कड़ी लगती है। यह स्पर्श वायु से आया। पृथ्वी में रूप भी है, वह तेज से आया। मिट्टी चखो तो इसमें स्वाद भी है जो जलसे आया। ये सब तो कारणों से आये, इसमें अपना गुण गन्ध है। इन गुणों में से सत्ता को अलग कर लेने पर बची पृथ्वी मिथ्या रह जाती है अतः सत्ता के विवेक का अभ्यास कर्त्तव्य है।। ९४।।

सत्ता-विवेक का प्रभाव बताते हैं–

पृथक्कृतायां सत्तायां भूमिर्मिथ्याऽवशिष्यते।
भूमेर्दशांशतो न्यूनं ब्रह्माण्डं भूमिमध्यगम्।। ९५।।

सत्ता अलग कर ली जाने पर पृथ्वी मिथ्या बचती है। पृथ्वी के दसवें भाग में अतः पृथ्वी से न्यून सारा ब्रह्माण्ड है जो पृथ्वी के मध्य उपलब्ध है।

सत् को जब पृथ्वी से अलग करके जान लेते हैं तब पृथ्वी मिथ्या ही बच जाती है क्योंकि सत् से भिन्न है। सबसे व्यापक अखण्ड तो ब्रह्म है, ब्रह्म के दशमांश में माया हुई। डिब्बे में डिब्बे की तरह सोचना : अर्थात् चारों तरफ सर्वव्यापक ब्रह्म है। माया वहाँ दशमांश में है। उसके अन्दर आकाश, आकाश में वायु, वायु में तेज, तेज में जल, जल में पृथ्वी। इस प्रकार सब दसवें-दसवें हिस्से में हैं। पृथ्वी के अन्दर, उसके भी दसवें हिस्से में एक डिब्बे जैसा ब्रह्माण्ड है। 'अण्ड' के द्वारा कहते हैं कि यह चौकोर डिब्बे जैसा नहीं वरन् गोल डिब्बे जैसा है। ब्रह्माण्ड (ब्रह्मा का शरीर) भूमि के बीच में है। चारों तरफ पृथ्वी और बीच में ब्रह्माण्ड है।। ९५।।

जिसे हम असीम समझते हैं वह ब्रह्माण्ड इतना न्यून है! उसका विभाजन दिखाते हैं–

ब्रह्माण्डमध्ये तिष्ठन्ति भुवनानि चतुर्दश।
भुवनेषु वसन्त्येषु प्राणिदेहा यथायथम्।। ९६।।

ब्रह्माण्ड में चौदह भुवन हैं। इन भुवनों में यथोचित व्यवस्था से प्राणियों के शरीर रहते हैं।

यह ब्रह्माण्ड चौदह भागों में बाँटा हुआ है। पृथ्वी से शुरू करके सात ऊपर के लोक और पृथ्वीसे सात नीचे के लोक, इस प्रकार चौदह लोकों वाला ब्रह्माण्ड है। भूमि से ऊपर सत्यम्, तपः, जनः, महः, स्वः, और भुवः छह और भूमि खुद इस प्रकार भूमि को लेकर सात लोक हैं। भूमि से नीचे सात लोक–अतल, वितल, सुतल, रसातल, तलातल, महातल, पाताल हैं। पहले तो ब्रह्माण्ड ही कितना? भूमि का दशांश अर्थात् बहुत छोटा। फिर उसके छोटे-छोटे चौदह हिस्से हैं। वे सब एक आकार के नहीं हैं, यह बात दूसरी है। फिर भी हैं तो चौदह हिस्से। इन भुवनों में जो जहाँ रहने के लायक हैं वे वहीं रहते हैं। अंतरिक्ष में पितर लोग रहेंगे, स्वर्ग लोक में देवता लोग रहेंगे, महः लोक में ऋषि लोग रहेंगे, पतिव्रता स्त्रियाँ जनलोक में रहेंगी, इस प्रकार जो जहाँ रहने के लायक है वह वहाँ जन्म ले लेता है।। ९६।।

पूर्ववत् भुवनविषयक विवेक का फल बताते हैं–

ब्रह्माण्डलोकदेहेषु सद्वस्तुनि पृथक्कृते।
असन्तोऽण्डादयो भान्तु तद्भानेऽपीह का क्षतिः।। ९७।।

ब्रह्माण्ड, लोक और शरीरों में जो सद् वस्तु (उसे उनसे) पृथक् समझ लेने पर असत् जो ब्रह्माण्ड आदि वे भले भासें, उनके भासने पर भी आत्मा में हानि क्या है।

इस प्रकार ब्रह्माण्ड का भी विचार करे; ब्रह्माण्ड 'है', ब्रह्माण्ड में शब्द भी है। दिल्ली जाओ तो दिन-भर शब्द ही सुनते रहोगे, चारों तरफ आवाज़ ही आवाज़ होगी। स्पर्श भी है, सब चीज़ों को छू सकते हैं। ये सब तत्तद् महाभूतों से आ गये। पृथ्वी में 'है' की प्रतीति है; अपने को जो भू-लोक दीख रहा है इसमें 'है' ब्रह्म की प्रतीति है। विवेक से समझना है कि भू-लोक बिना हुए प्रतीत हो रहा है। ऐसे ही भू-लोक में हल्ला-गुल्ला, स्पर्श आदि तत्तद् चीज़ें भी बिना हुए ही 'हैं'। इस प्रकार भू-लोक को सत् से अलग करके जाने। भूलोक में रहने वाले जितने शरीर दीख रहे हैं–गाय, भैंस, हाथी, घोड़ा, सब 'है' ही दीख रहे हैं। इनमें 'है' की प्रतीति ब्रह्म की है। बिना हुए प्रतीत हो रहे हैं इसलिये माया की प्रतीति है, ये सब मायिक हैं। विवेक-दृष्ट्या ये देह सत् से भिन्न, असत् हैं। ब्रह्माण्ड (लोकों) में क्रमशः इसी प्रकार की भावना करते चले जाना है। इन सबमें 'सत्' तो अलग है। सद्रूप ब्रह्म इन सबमें प्रतीत हो रहा है, परन्तु इन सब से सर्वथा अलग है। उसके बाद ब्रह्माण्ड और 'आदि' पद से लोक और देह, सारे भले ही सत्ता से रहित हुए प्रतीत होते रहें। प्रतीति से वेदान्त का कोई झगड़ा नहीं है। यह बात याद रखने की है। प्रतीत होने से बन्धन नहीं है, उसको 'है' समझ लेने से बन्धन है। बिना हुए भान हो रहा है–केवल इस प्रकार से उनका भान होना चाहिये।

उसका भान होने पर भी व्यवहार-काल में रहने में कोई नुकसान नहीं है। नुकसान तो उसे सच्चा मानने में था।। ९७।।

सद् से विविक्त का भान बन्धकारी नहीं यह स्पष्ट करते हैं–

भूतभौतिकमायानामसत्त्वेऽत्यन्तवासिते।
सद्वस्त्वद्वैतमित्येषा धीर्विपर्येति न क्वचित्।। ९८।।

भूत, भूतकार्य और कारणीभूत माया–ये सत् नहीं इसका संस्कार दृढ हो जाने पर 'सद्रूप वस्तु अद्वैत है' यह निश्चय कभी बदलता नहीं।

भूत अर्थात् पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश; भौतिक अर्थात् इनसे बनाई चीज़ें शरीर आदि और पदार्थ आदि; माया अर्थात् बिना हुए प्रतीत होना; ये सब असत् हैं। माया को बार-बार इसलिये कहते हैं कि इसके बारे में सत्यता का भ्रम न रह जाये। कुछ ऐसे लोग हुए हैं जो ईश्वर को जगत् का कारण मानकर भी उसकी शक्ति को सत्य मानते हैं। इसलिये उनके अनुसार मोक्ष होने पर भी शक्ति रह ही जाती है। शक्ति रही तो कभी फिर उसका कार्य भी हो जायेगा। इसलिये शक्ति के सद्भिन्नत्व का चिन्तन करना है। नाम-रूप, शब्द, स्पर्श आदि भी सत् नहीं हैं और बिना हुए जो प्रतीत होना है वह भी सत् नहीं है। इन सब का जो असत्त्व है उसकी अत्यंत वासना बनाने के लिये बार-बार विवेक करे और बार-बार जब विषयेन्द्रिय-संयोग हो तब विवेक की आवृत्ति करे, तभी चित्त में दृढ वासना बन जाती है। तब 'सदेव सोम्येदमग्रआसीद् एकमेवाद्वितीयम्' में जो कहा गया है कि सत् ब्रह्म एक और अद्वितीय है क्योंकि दूसरी चीज़ नहीं है, यह ज्ञान कभी भी किसी भी परिस्थिति में अभिभूत नहीं होता अर्थात् कभी भी एक अद्वितीय ब्रह्म के सिवाय और कोई भी चीज़ वास्तविक नहीं लगती। जब तक बुद्धि का विपर्यय दूर न हो जाये तब तक यह साधन बार-बार करने का है। क्षणमात्र को यदि यह प्रतीति हो जाये कि दृश्य है तो फिर सावधान हो जाओ कि यह नहीं है। आत्यन्तिक वासना का स्वरूप है कि किसी भी चीज़ में कभी भी विपर्यय नहीं होता।। ९८।।

मिथ्यात्वदर्शन व्यवहार-विरोधी नहीं यह सूचित करते हैं–

सदद्वैतात् पृथग्भूते द्वैते भूम्यादिरूपिणि।
तत्तदर्थक्रिया लोके यथा दृष्टा तथैव सा।। ९९।।

सद्रूप अद्वैत से विविक्त भूमि आदि द्वैत में विभिन्न सप्रयोजनताएँ वैसी ही होती हैं जैसे लोक में संमत हैं।

'द्वैत है' बिना प्रतीत हुए व्यवहार कैसे होगा? लोग इस संशय से ग्रस्त रहते हैं कि व्यवहार करने के लिये चीज़ का सच्चा होना ज़रूरी है। छोटे बच्चे से पूछो कि पाँच और सात

कितने? तो पहले तार के पाँच गोले अलग कर देगा, फिर सात गोले अलग कर देगा, फिर सबको गिनकर कहेगा कि बारह हो गये। उसकी समझ में नहीं आता कि जब तक कोई चीज़ न हो, तब तक कैसे गिने। कुछ बड़ा हो तब कहो—५३०० और ५३०४ जोड़ बताओ; तो अव उसे गोले नहीं चाहिये लेकिन अंक लिखकर जोड़ लेता है। और अधिक अभ्यास हो जाता है तो लिखना भी नहीं पड़ता। हमने दो संख्यायें कहीं, दोनों बुद्धि में रहती हैं और वहीं जोड़ लेता है। दीर्घकाल की अभ्यासी शकुन्तला देवी दस-दस अंको की संख्या को अठारह अंकों की संख्या से गुणा करके तुरन्त उत्तर बता देती है! तुम संख्याओं का गुणा करते हो तो प्रत्येक संख्या को अलग-अलग गुणा करके नीचे लिखते हो परन्तु वह बिना लिखे किस संख्या को किससे गुणा करके कितना आता है वह भी बता देती है।

यह सारा अभ्यास या वासना का खेल है। लोगों को लगता है कि विषय कुछ होना चाहिये तब उससे व्यवहार करेंगे, जो विषय है ही नहीं उससे व्यवहार कैसे करेंगे? जब अभ्यास इस प्रकार से दृढ हो जाता है तब विषय होने की ज़रूरत नहीं रहती है। बिना चीज हुए ही व्यवहार हो जाता है। इसलिये कहा कि एक अद्वितीय सत् ही है, और कोई चीज तो है ही नहीं। उससे (सत् से) पृथग्भूत जितनी प्रतीतियाँ हो रही हैं वे सब मायिक ही हैं। व्यवहार करना है तो पृथ्वी आदि से हो जायेगा, उसके *होने* की ज़रूरत नहीं है। जिससे प्रयोजन सिद्ध हो जाये उतने की ही आवश्यकता है, उससे अधिक विशेषताएँ प्रबल प्रमाण के बिना अस्वीकार हैं। जैसे तुमको गले में सूखापन लगा, प्यास को दूर करने के लिये तुम उसमें जल डाल देते हो, प्यास मिट जाती है। इसमें पानी के *होने* की क्या ज़रूरत है? भूख लगने पर क्या करें, ठण्ड लगने पर क्या करें आदि पूर्व के संस्कारों के अनुरूप ही लोक का व्यवहार हो जाता है। अतः विवेक करके जिसने अद्वैत-निष्ठा प्राप्त कर ली है उसका व्यवहार दूसरों के व्यवहार से कुछ अलग नहीं होता। गीता में तीन जगह प्रश्न किया है कि ज्ञानी के क्या लक्षण हैं 'स्थितप्रज्ञस्य का भाषा'; फिर गुणातीत के लक्षण पूछे और आगे जाकर भगवद्भक्त के लक्षण पूछे। तीनों जगह अर्जुन पूछ रहा है कि ज्ञानी कैसा व्यवहार करता है। भगवान् ने किस प्रकार व्यवहार करता है—यह बताया। क्या करता है, यह नहीं वरन् कैसे करता है यह बताया। न किसी चीज़ की कामना करता है, न किसी चीज़ से द्वेष करता है इत्यादि यही सारा बताया। कामनादि न करके, व्यवहार तो जैसा लोक में सब करते हैं वैसा ही वह करता है। द्वैताग्रही व्यवहार में भेद की आशा करता है लेकिन व्यवहार को मिथ्या जानने वाले के लिये व्यवहार का भेद निरर्थक है। साँप देखो या माला, इससे रस्सीवेत्ता को क्या अन्तर पड़ेगा! सार्थक है कि कामना आदि से ग्रस्त न होकर दृश्य से अप्रभावित रह स्वरूपनिष्ठ बना रहे।। ९९।।

प्रपंच के सत्यत्वमात्र को हटाने में विवेक का उपयोग है, बाकी भेदों के विभाज़नों का चिन्तन निष्प्रयोजन है यह बताते हैं—

सांख्यकाणादबौद्धाद्यैर्जगद्भेदो यथा यथा।
उत्प्रेक्ष्यतेऽनेकयुक्त्या भवत्वेष तथा तथा।।१००।।

सांख्यवादी, वैशेषिक, बौद्ध आदि अनेक युक्तियों से जगत् के भेद की जैसी-जैसी उत्प्रेक्षा करते हैं, वह भेद वैसा-वैसा होवे (इससे अद्वैती को हानि नहीं)।

सांख्य पूरा प्रयत्न करके सिद्ध करते हैं कि सृष्टि केवल त्रिगुणात्मिका है। वेदान्ती को इसमें कोई आग्रह नहीं है। काणाद, वैशेषिक लोग इसी प्रकार परमाणुवाद के आग्रह वाले हैं। वे मानते हैं कि केवल सात ही पदार्थ हैं। वेदांती कहते हैं 'जो तुम मानते हो मानते रहो।' इसी प्रकार बौद्धों ने मान लिया कि यह सब विज्ञानमात्र है। 'बौद्धाद्याः' आदि पद से जैन, पाशुपत, वैष्णव सभी ले लो। जैसी-जैसी इस जगत्-भेद के बारे में उत्प्रेक्षा करते रहते हैं कि ऐसा ही जगत् को समझना चाहिये, दूसरे किसी ढंग से नहीं समझना चाहिये; उनके उस प्रयास का हम निरास नहीं करते हैं। वे जैसा समझते हैं वैसा समझते रहें। व्यावहारिक भेद त्रिगुणात्मक मान लो, सप्त पदार्थ मान लो, विज्ञानवाद मान लो, जैसा मानते हो मानते रहो। किसी को कोई ठीक लगेगा और किसी को कुछ दूसरा ठीक लग जायेगा। विज्ञान मानने से भी काम चल जायेगा, सात पदार्थ मानने से भी व्यवहार चल जायेगा, त्रिगुणात्मक मानने से भी काम चल जायेगा। कुछ रोग वैद्य की दवाई लेने से ठीक हो जाते हैं, कुछ रोग डॉक्टर की दवाई लेने से तो कुछ हकीम की दवाई लेने से भी ठीक हो जाते हैं। इसी प्रकार विभिन्न व्यवहार विभिन्न रीतियों से संगत हो सकते हैं, इस व्यवहार-संगति में एकरूपता का आग्रह व्यर्थ है। जैसा-जैसा लोग मानते हैं, व्यवहार भूमि में वही ठीक है। वेदान्त इस द्वैत जाल के बारे में अनाग्रही है। सबको एक में ही बाँधा जाये ऐसी उसकी मान्यता नहीं। जिससे तुम्हारा रोग दूर होता है वह दवाई ले लो। वादी लोग उत्प्रेक्षा भी अनेक युक्तियों से करते हैं। खूब युक्तियाँ देकर सिद्ध करते हैं कि यही ठीक है। वे जैसा मानते हैं उन्हें मानने दो, उनका निरास करना हमारा काम नहीं है क्योंकि मायिक होने के कारण उसके बारे में कभी भी निश्चय होना ही नहीं है, हमेशा अनिश्चय ही रहेगा। सब चीज़ों को एक ही ढर्रे पर ढालना चाहोगे तो कभी नहीं ढलेंगी। अतः सांसारिक व्यवस्था के बारे में हमारा कोई आग्रह नहीं है।। १००।।

प्रश्न होता है कि व्यवहार भूमि की व्यवस्थाएँ भी वेदान्तदर्शन क्यों न सुझाये? इसका उत्तर देते हैं–

अवज्ञातं सदद्वैतं निःशंकैरन्यवादिभिः।
एवं का क्षतिरस्माकं तद्द्वैतमवजानताम्।। १०१।।

लापरवाह अन्य वादियों ने वास्तविक अद्वैत की उपेक्षा कर रखी है; इसी तरह उन्हें सम्मत द्वैत की हम उपेक्षा करें तो हमारी क्या हानि है!

सांख्य, काणाद, बौद्ध आदि अर्थात् जो संसार के पदार्थों से सत् ब्रह्म को अलग नहीं करते हैं। वे अद्वितीय सत् पर कोई ध्यान नहीं देते यों उसकी अवज्ञा करते हैं। व्यावहारिक लोग यही तो कहते हैं 'महाराज! संसार में भी तो ठीक होना चाहिये, परमात्मा तो ठीक है ही।' इसी तरह लोग परमात्मा की अवज्ञा करते हैं कि 'परमात्मा को फिर देखा जायेगा, अभी तो व्यवहार ठीक रहे।' इसलिये अन्य वादियों को द्वैत के महत्त्व के बारे में कोई संदेह ही नहीं होता जो अद्वितीय ब्रह्म की तरफ ध्यान दें। उसकी तरफ ध्यान नहीं देने में उन्हें कोई गलती कर रहे हैं यह शंका भी नहीं होती। वर्तमान काल में लोग यही कहते हैं कि मोक्ष की चिन्ता मत करो, संसार का क्या होगा यह सोचो। जैसे वे लोग मोक्ष का चिंतन नहीं करते, वैसे ही हम संसार का चिंतन नहीं करते। ब्रह्म की परवाह न कर संसार को ही सब कुछ मानने में वे कोई बुराई नहीं समझते। जैसे वे परमात्मा की बिना शंका के अवज्ञा करते हैं ठीक वैसे ही हम इस द्वैत की अवज्ञा करते हैं, इसके प्रति हमारा कोई आदर नहीं है। हमारा इससे क्या नुकसान होगा! वे परमात्मा की तरफ ध्यान नहीं दे रहे हैं तो उनका ही नुकसान है कि जन्म-मरण का चक्र चलता रहेगा। हमारा यदि कोई नुकसान हुआ भी तो इस मिथ्या द्वैत के ही स्तर पर होगा, वास्तविकता के, सत्य के स्तर पर तो हम ही लाभ में रहेंगे। जब वे सत्य स्तर पर नुकसान में रहकर भी अपनी मान्यता से निःशंक हैं तो हम इस थोड़े-बहुत मिथ्या दुःख के लिये चिन्ता में क्यों पड़ें? यह जो थोड़ा-बहुत नुकसान दीखता है इसकी क्यों चिंता करें?।। १०१।।

किं च अद्वैत की उपेक्षा हानिप्रद है जबकि द्वैत की अवज्ञा बहुत ज़रूरी है, लाभप्रद है यह समझाते हैं–

द्वैतावज्ञा सुस्थिता चेदद्वैते धीःस्थिरा भवेत्।
स्थैर्ये तस्याः पुमानेष जीवन्मुक्त इतीर्यते।।१०२।।

द्वैत की उपेक्षा यदि (चित्त में) भली भाँति स्थित हो जाये तो अद्वैत में बुद्धि टिकी रहेगी जिससे यह जीव 'जीवित रहते मुक्त' कहा जाता है।

द्वैत के प्रति अवज्ञा कब स्थिर हो जाती है? जब द्वैत के प्रति आदर हट जाता है तब वह अवज्ञाभाव दृढ हो जाता है। 'यस्मिंस्थितो न दुःखेन गुरुणाऽपि विचाल्यते'। जब ज़्यादा सुख-दुःख की परिस्थिति में भी न हिले तब द्वैतावज्ञा सुस्थित अर्थात् एक-दम प्रतिष्ठित है। जैसा वसिष्ठ जी कहते हैं कि ऐसा व्यक्ति आकाश को टूटते देखकर भी आश्चर्य में नहीं पड़ता। इसी प्रकार सूर्य बर्फ जैसा ठण्डा देखकर भी उसे कभी आश्चर्य नहीं होता।

यथासंस्कार, यथाप्रारब्ध, यथानियम बाह्य-आभ्यंतर संसार चलता देखने पर भी इसके प्रति उपेक्षाशील को उद्वेग की प्रतीति, 'मैं प्रभावित' ऐसी अनुभूति नहीं होती। यदि द्वैत की अवज्ञा ऐसी सुस्थित हो जाये तब फिर अद्वैत में ही बुद्धि हमेशा स्थिर रहती है, असत् द्वैत

को देखती नहीं। जब इस अद्वितीय ब्रह्म की निष्ठा दृढ हो जाती है तब व्यक्ति को जीवन्मुक्त कहते हैं। जीवन्मुक्ति का आनन्द तभी आता है जब द्वैत-अवज्ञा स्थिर हो जाये। अंतःकरण आदि क्रिया करते रहें, पूर्व संस्कारों से उन्हें जैसी प्रतीति होती है तदनुकूल उनको प्रतीति हुआ करे, प्रतीति कराने वाला मैं अद्वितीय तत्त्व तो वैसा का वैसा ही रहता हूँ। यह दृष्टि जब ऐसी स्थिर हो जाये कि द्वैत की अवज्ञा क्षणभर को भी इधर-उधर न हो, उस अवस्था को ही जीवन्मुक्ति कहते हैं।।१०२।।

जीवन्मुक्ति कोरी कल्पना नहीं, शास्त्रसंमत स्थिति है तथा स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने विदेह कैवल्यके लाभ के लिये इसे आवश्यक कहा है यह सूचित करते हैं–

'एषा ब्राह्मी स्थितिःपार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वाऽस्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति।'। १०३।।

'पार्थ! यह ब्राह्मी स्थिति है, इसे पाकर (विद्वान्) मोह में नहीं पड़ता। अन्तकाल में भी इसमें प्रतिष्ठित होकर ब्रह्मानन्द पाता है।'

अर्जुन ने प्रश्न किया कि जीवन्मुक्त का क्या स्वरूप या लक्षण है। भगवान् ने सबसे पहले उसका स्वरूप बताया कि वह समग्र कामनाओं को छोड़ देता है। कामना विषय की होती है। जब तक विषय की सत्ता की प्रतीति है तभी तक उसके लिये कामना हो सकती है। सीप में देखी हुई चाँदी को सीप देखने के बाद उसे कोई इकट्ठा करने नहीं जाता। चाँदी दीखी, जब तक उसे चाँदी समझता है तब तक तो प्रवृत्ति होती है, परन्तु जैसे ही देखा कि सीप से अतिरिक्त वहाँ चाँदी कुछ नहीं, सीप ही चाँदी के रूप में दीखी थी, जब इसका दृढ ज्ञान हो जाता है तब सीप में देखी हुई चाँदी के प्रति कोई प्रवृत्ति नहीं होती। इसी प्रकार ठूँठ के भूत को देखकर निवृत्ति होती है, वहाँ से भागते हैं। परन्तु चन्द्रमा के उदय होने पर वह ठूँठ दीख जाये, उसके बाद भूत के दूर हो जाने की या निवृत्ति की कामना नहीं होती। हम रास्ते में जा रहे हैं; सीप में चाँदी देखी; उस चाँदी की तरफ दो कदम चले और फिर दीख गया कि वह तो सीप है, तो वापिस जिस रास्ते जा रहे थे उसी पर चल देते हैं। इसी प्रकार भूत को देखकर भागने की प्रवृत्ति हो रही थी, ठूँठ देख लेने पर वह चेष्टा भी नहीं होती वरन् जिस रास्ते चल रहे थे उधर जाते हैं। एक बार रास्ता बदला तो पुनः सीधे रास्ते आने तक दूसरों को भले ही लगे कि चाँदी की ओर जा रहा है या भूत से भाग रहा है लेकिन स्वयं मालूम रहता है कि ऐसा कुछ नहीं है। इसी प्रकार शरीर के अन्दर जो प्रारब्ध से भोगों की प्रवृत्ति-निवृत्ति देखी जाती है उससे दूसरों को लगता है कि 'इसकी पदार्थ के प्रति निवृत्ति या प्रवृत्ति है' जबकि प्रारब्ध के कारण निश्चित होने से वह प्रवृत्ति-निवृत्ति है लेकिन *उसकी* न प्रवृत्ति है और न निवृत्ति है। इसलिये सुरेश्वराचार्य कहते हैं–'न प्रवृत्तिं निवृत्तिं वा कटाक्षेणाऽपि वीक्षते' कि वह न किसी तरफ जाता है और न किसी से दूर होता है, जैसा

है वैसा ही स्वरूप में स्थित है। शरीर-मन की किसी प्रवृत्ति आदि से उस पर कोई प्रभाव नहीं है। यह भगवान् ने बताया।

प्रवृत्ति-निवृत्ति का दूसरा कारण सुख-दुःख है। सभी लोग दुःख से दूर हटना चाहते हैं और सुख को प्राप्त करना चाहते हैं। तत्त्वज्ञ ने उस परमात्म-तत्त्व को जान लिया है कि वह परम आनन्द है, ब्रह्मानन्द है और उस ब्रह्मानन्द को मैं समझने के कारण इसके लिये दुःख सम्भव ही नहीं है। दुःख तो मन के कारण है परन्तु मन के बिना भी सुख या आनन्द तो हो सकता है। यह बात कैसे अनुभव में आये? इसके लिये भगवान् ने हमें सुषुप्ति दे दी। सुषुप्ति में मन नहीं है, परन्तु उठकर स्मरण करते हो 'बड़े आनन्द से सोया।' इससे सिद्ध होता है कि जहाँ मन है वहाँ दुःख हो सकता है, परन्तु बिना मन के कभी दुःख नहीं वरन् आनन्द ही होता है। और वह आनन्द अपना स्वरूप है। इसलिये दुःख-निवृत्ति या सुखप्राप्ति की कोई इच्छा नहीं रहती। आत्मस्वरूप के अन्दर ही वह पूरी तरह से संस्थित रहता है। स्वरूप-स्थिति तो यही है कि प्रवृत्ति-निवृत्ति का सर्वथा अभाव हो जाये। परमानन्द की स्थिति होना ही स्वरूपस्थिति है। इसी को ब्राह्मी स्थिति कहते हैं, यही ब्रह्मनिष्ठा है। इसी को ब्रह्म में स्थित हो जाना कहते हैं। एक बार जब इसकी प्राप्ति हो जाती है तो फिर पुनः अज्ञान नहीं आ सकता। बड़े से बड़ा दुःख आने पर भी, शरीर चाहे तड़पे फिर भी 'मैं आनन्दस्वरूप नहीं हूँ अथवा कोई प्रवृत्ति-निवृत्ति की जा सकती है', ऐसा उसको भान कभी नहीं होता। केवल 'न मुह्यति' न कहकर 'न विमुह्यति' कहा क्योंकि उसे अज्ञान तो नहीं ही होता है, परन्तु अज्ञानजन्य विक्षेप भी नहीं होता है। प्रारम्भ में अपने स्वरूप का ध्यान रखते हुए भी विक्षेप से दुःख का अनुभव हो जाता है। दुःख का अनुभव करते हुए भी जानता है कि यह मिथ्या है परन्तु पूर्व संस्कार इतने दृढ होते हैं कि विक्षेप से दुःख हो जाता है। जब तक अद्वितीय ब्रह्म का संस्कार पूर्णतः दृढ नहीं हो जाता है तब तक विक्षेप के कारण दुःख की प्रतीति हो जाती है जो पूर्व संस्कारों के कारण है, सत्य जानने पर भी पूर्व संस्कार प्रबल पड़ जाते हैं। जब आत्मसंस्कार दृढ हो जायें तो विक्षेप भी नहीं होता, विमोह, विशेष मोह नहीं होता। विक्षेप देने वाला मोह या अज्ञान नहीं रहता और संस्कार से होने वाला विक्षेप भी नहीं होता। सारी चीज़ों की प्रतीति होने पर भी उसके अन्दर कभी भी सत्यता का भान नहीं होता और विक्षेप का भान नहीं होता। यही जीवन्मुक्ति है।

'अस्याम् अंतकाले अपि स्थित्वा' इस ब्राह्मी स्थिति में अंतकाल में भी स्थित होकर ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्त करता है। अंतकाल का प्रधान अर्थ तो है कि 'मैं जीव हूँ' इसका अंतकाल है 'मैं ब्रह्म हूँ'। अपनी ब्रह्मरूपता का निश्चय होकर जीवरूपता का अंत होना ही वस्तुतः अंतकाल है। मरण होने पर एक स्थूल शरीर के बारे में 'यह मैं हूँ' ऐसा अभिमान छूटता है, ज्ञान होने पर सभी शरीरों के बारे में 'यह मैं हूँ' ऐसा अभिमान छूटता है इसलिये इसे भी अंतकाल कहते हैं। ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त होने के बाद कभी भी किसी देह में मैं-

बुद्धि नहीं होती, इसीलिये उसको 'पर अंतकाल' कहा जाता है। जैसे मलेरिया बुखार खूब जोर से आता है, दो-तीन घण्टे के बाद उतर जाता है। लेकिन वह वास्तव में 'उतरना' नहीं केवल फिर चढ़ने की तैयारी है। लगातार पन्द्रह दिन तक दवाई लेने के बाद तुम्हारे अन्दर से मलेरिया के सारे कीटाणु नष्ट हो जायेंगे तब उसे उतरना कहते हैं। मृत्यु तो उस बुखार उतरने की तरह है कि इस शरीर के सुख-दुःख को छोड़कर दूसरे शरीर के सुख-दुःख को लेना शुरू कर दिया। यह बुखार का 'उतरना' तो नहीं है, अर्थात् यह वास्तविक मृत्यु नहीं है। परन्तु जब अखण्ड ब्रह्माकार वृत्ति स्थिर हो गई तो फिर उसके बाद कभी भी अज्ञान और अज्ञान के कार्य का सम्बन्ध होगा ही नहीं। वही वस्तुतः अन्तकाल है। इस ब्रह्मस्थिति में अन्तकाल में स्थित होकर अर्थात् 'मैं जीव नहीं ही हूँ, ब्रह्म ही है' ऐसा स्थिर होकर ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्त करता है। वाण नाम दुःख का है। कहीं-कहीं शरीर को भी वाण कह देते हैं क्योंकि उसमें भी दुःख होता है। उस ब्रह्मस्थिति को प्राप्त निर्वाण अर्थात् उसका शरीर भी दिखाई नहीं देता, शरीर छूट जाता है। इस प्रकार श्रीकृष्ण के मत में जो जीवन्मुक्त है वही विदेहमुक्त भी होता है। जब तक शरीर की प्रतीति है तब तक जीवन्मुक्त है और जब शरीर की भी प्रतीति नहीं रह जाती तब विदेह मुक्ति कही जाती है।।१०३।।

'अन्तकाल' शब्द का भाव व्यक्त करते हैं–

सदद्वैतेऽनृतद्वैते यदन्योन्यैक्यवीक्षणम्।
तस्यान्तकालस्तद्भेदबुद्धिरेव न चेतरः।। १०४।।

सद् अद्वैत और असत् द्वैत को एकमेक कर देखने की समाप्ति यही है कि सत्-असत् का भेद स्पष्ट स्थिर भासे। इससे अतिरिक्त उसका अंतकाल नहीं।

अंतकाल का अर्थ खुद मूलकार बताते हैं : सद्रूप अद्वय ही तत्त्व है, द्वैत अनृत है। जो कुछ दृश्य है वह सारा का सारा अनृत है, वही द्वैत है। अद्वितीय सत् को अज्ञान काल में द्वैतरूप से देखते हैं। अज्ञान में घड़ा है, कपड़ा है आदि सब चीज़ें 'है'रूप से देखते हैं और 'है' को विषयरूप से देखते हैं। अगर कोई कहे भी कि यह दीवार नहीं है तो हम बड़े जोर से कहेंगे कि वहाँ जाकर माथा पटको तो पता लगेगा कि दीवार है या नहीं! दृढ निश्चय है कि दृश्य है ही। अद्वितीय सत् और मिथ्या द्वैत, इनमें सत् को द्वैतरूप से देखते हैं और द्वैत को वास्तविक रूप से देखते हैं। अर्थात् दृश्य को वास्तविक समझते हैं। सत्-असत् दोनों की एकता जानते हैं। तत्त्वनिष्ठा से उसका अंतकाल हो जाता है अर्थात् द्वैत को सत् देखने और सत् को द्वैतरूप से देखने का अंतकाल हो जाता है। फिर कभी भी सत् को विषयरूप से नहीं देखता है और विषय को सद्रूप नहीं देखता है। वह अंतकाल किससे होता है? 'तद्भेदबुद्धिः एव' सत् ही है, द्वैत केवल प्रतीत होने वाली चीज़ है, है नहीं–यह जो सत्य और अनृत की भेद-बुद्धि है, इसे अंतकाल कहते हैं। शरीर का छूटना-मात्र ही अंतकाल नहीं

है! अंतकाल तो यह भेद-निश्चय है। शरीर के छूटने को भगवान् अंतकाल नहीं कह रहे हैं वरन् इस भेद-निश्चय को अंतकाल कह रहे हैं। अधिष्ठान-प्रमासे जो अध्यास की तुच्छता का निश्चय वह यहाँ 'भेदबुद्धि' कही जा रही है।

अन्योन्यैक्य अर्थात् अन्योन्याध्यास। दो चीज़ों का एक-दूसरे के रूप में प्रतीत होना अध्यास है। जो द्वैत सत्य नहीं है वह सत्य दीखता है और जो सत् अद्वितीय है वह सद्वय दीखता है। अध्यास की निवृत्ति, जिसमें कल्पित है उसके ज्ञान से होती है। द्वैत का अधिष्ठान आत्मस्वरूप ब्रह्म है इसलिये ब्रह्माकार वृत्ति के द्वारा ही इसकी निवृत्ति होती है। भेद-बुद्धि का मतलब यहाँ विवेक-बुद्धि ही नहीं लेना। विवेक तो वहाँ कहा जाता है जहाँ दो चीज़ों को अलग समझा जाये। यहाँ चीज तो एक ही है, दूसरी केवल कल्पित है। जैसे रस्सी में साँप दीखता है तो रस्सी और साँप का 'विवेक' वैसा नहीं है जैसा अरहर की दाल और खेसारी या चने की दाल का! वहाँ तो खेसारी या चने की दाल का दाना अलग कर देते हैं तो अरहर की दाल रह जाती है। जहाँ दो चीज़ें हों वहाँ विवेक करके चीज़ें अलग हो जाती हैं। परन्तु रस्सी और साँप के विवेक में रस्सी का ज्ञान होने पर साँप नाम की *चीज़* रहती ही नहीं। रस्सी को साँप से अलग किया–इसका मतलब है कि रस्सी ही है, साँप तीन काल में नहीं है। इसी प्रकार सत् के अन्दर जो द्वैत देखा वह तीन काल में नहीं–यह निश्चय सत् के ज्ञान से होता है। इसी को यहाँ भेद-बुद्धि कहा है। सत्य और असत्य की भेद-बुद्धि इस प्रकार नहीं होती कि असत्य कुछ है, बल्कि यह है कि असत्य तीन काल में नहीं है।।१०४।।

प्रश्न होता है कि अंतकाल का प्रसिद्ध रूढि अर्थ तो मरना ही है। वह अर्थ क्यों नहीं लेते? शास्त्रों का सिद्धान्त है कि रूढि की अपेक्षा यौगिक अर्थ कमजोर पड़ता है। अभी जो अंतकाल का अर्थ किया वह योगज (यौगिक) है क्योंकि द्वैत और अद्वैत की समझ के अंत को अंतकाल कहा है। रूढि अर्थ मरना ही यहाँ क्यों नहीं लेते? उत्तर में कहते हैं कि वह अर्थ भी लो तो कोई हर्जा नहीं है–

यद्वाऽन्तकालः प्राणस्य वियोगोऽस्तु प्रसिद्धितः।
तस्मिन् कालेऽपि न भ्रान्तेर्गतायाः पुनरागमः।। १०५।।

अथवा प्रसिद्ध होने से प्राण छूटना अन्तकाल समझें; विद्वान् की जा चुकी भ्रान्ति का मरते समय भी फिर आगमन नहीं होता।

लोक में अंतकाल शब्द का हमेशा मतलब मरना ही हुआ करता है। रूढि को यदि प्रसिद्धितः प्रधान मान लें तब प्राण का वियोग ही अंतकाल हो जायेगा। यदि ब्रह्मचर्य से ही किसी ने श्रवण, मनन की साधना में अपना जीवन व्यतीत किया है तब तो प्रायः उसे ब्राह्मी स्थिति की प्राप्ति हो जाती है। परन्तु बहुतों को उतना समय श्रवण, मनन का नहीं

मिलता क्योंकि जीवन के अन्तिम भाग में जाकर इस मार्ग में आते हैं। जीवन के अन्तिम भाग में भी जो इस मार्ग पर चलता है और मरते समय भी उसे ज्ञान हो जाता है तो उसका कल्याण है। ज्ञान में वैसी ही पूर्णता चाहिये परन्तु अंतकाल में जब अखण्ड ब्रह्माकार वृत्ति बनी और फिर व्यवहार न होने से अन्य कोई वृत्ति बनी नहीं तो एक बार बनी हुई अखण्ड ब्रह्माकार वृत्ति से जो निश्चय होता है वह सारे संचित कर्मों का नाश कर देता है। यह भगवान् ने भी कहा 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा'। संचित कर्म ज्ञान होने के साथ ही नष्ट हो गये। आगामी कर्म हुए नहीं क्योंकि उसका अंतकाल है। अंतकाल होने से प्रारब्ध भी नहीं है। अज्ञान का पुनः उद्भव नहीं होता क्योंकि अनादि है। अज्ञान नष्ट हुआ वापिस नहीं आता। जिसका प्रारब्ध शेष है, उसे भी अज्ञान की संभावना नहीं फिर भी द्वैत भ्रमों के दौरान स्थिति कायम रखने के लिये संस्कार बनाना अपेक्षित था। अज्ञान तो उस समय भी नहीं परन्तु उसकी प्रतीति रहती है। जिसका तो प्रारब्ध भी समाप्त है, उसे द्वैत-प्रतीति नहीं होगी, अतः अंतकाल में भी एक बार हटा हुआ भ्रम फिर वापिस आ जाये यह नहीं हो सकता। शंका होती है कि यह तो दीर्घकाल के अभ्यास से होता है और मरणासन्न को दीर्घकाल का समय मिला नहीं तो वह मुक्त कैसे होगा? समाधान है कि उसे अभ्यास की अपेक्षा ही नहीं है। यह ठीक है कि ज्ञान की दृढता के लिये अभ्यास ज़रूरी है, परन्तु ज्ञान अज्ञान को नष्ट करके अपना फल देता ही है और ज्ञान को प्रतिबद्ध करने का मौका यहाँ उपलब्ध है नहीं कि दृढता चाहिये रहे। भगवान् भाष्यकार ने स्पष्ट कहा है कि जब अंतकाल में होने पर भी उसके पुनः उद्भव की सम्भावना नहीं है तो फिर 'किमु वक्तव्यं ब्रह्मचर्याद् एव सन्न्यस्य यावज्जीवं यो ब्रह्मणि एव अवतिष्ठते स ब्रह्मनिर्वाणम् ऋच्छतीति'। 'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्' वालों के लिये तो कहना ही क्या है।।१०५।।

जीवन् मुक्त की परिपक्व निष्ठा किसी हालत में डिगती नहीं यह समझाने के लिये कहते हैं कि शरीरादि की दृष्टि से आराम से मरे या तकलीफ से, मुक्त को कर्तृत्व-भोक्तृत्व का अर्थात् जीवभाव या जगत्सत्यता का भ्रम असम्भव है–

नीरोग उपविष्टो वा रुग्णो वा विलुठन् भुवि।
मूर्च्छितो वा त्यजत्वेष प्राणान् भ्रान्तिर्न सर्वथा।।१०६।।

नीरोग, बैठा, रोगी, भूमि पर लोटता हुआ—चाहे जैसे वह प्राण छोड़े, उसे किसी तरह की भ्रान्ति नहीं रहती।

मरते समय नीरोग, बिलकुल स्वस्थ रहे तो लोग उसे अच्छी मृत्यु मानते हैं। अथवा प्राण-वियोग के पहले बैठा हुआ हो, अंतकाल में जमीन पर गोबर लीप कर, उसके ऊपर कुशासन बिछाकर स्नान आदि करके भस्म धारण करके फिर बैठ कर मूर्धा में प्राण का स्थापन करके ओंकार का उच्चारण करते हुए शरीर छोड़े तो लोग और भी अच्छी मृत्यु मानते

हैं। पुराने लोगों को पता होगा कि प्रायः मरने के पहले मरणासन्न व्यक्ति को बिस्तर से नीचे जमीन गोबर से लीप कर उस पर बिठाते थे, तब उसके प्राण छूटते थे। कभी कदाचित् बिस्तर में पड़े हुए शरीर छूट गया तो नारायणबलि से प्रायश्चित्त होता था। पुराने मरने वाले भी अपना अंतकाल आया पहचानते थे और साथ वाले भी समझते थे। अब दोनों ही इस मामले में नासमझ रहते हैं अतः यों बैठकर मरना दुर्लभ है। आजकल तो जब तक नाड़ी या सांस चल रही है तब तक सोचते हैं कि अभी जियेंगे। सांस तो मरने पर ही बन्द होगी। मुक्त इस प्रकार चाहे मरे या अत्यंत बीमारी की स्थिति हो, अत्यंत कष्ट की स्थिति में जमीन पर इधर से उधर लोट रहा हो तो भी निर्भ्रान्त रहता है। शरीर को ऐसा लोटते हुए देखकर, अत्यंत कष्ट में देखकर लोग सोचते हैं कि यह बहुत बुरी मृत्यु है। कई लोग लोटते नहीं, मूर्च्छित हो जाते हैं, बेहोश होकर 'कोमा' में चले जाते हैं। इन सब भिन्न-भिन्न प्रकारों से चाहे प्राण छूटें परन्तु तत्त्वज्ञ को कभी भ्रान्ति नहीं होती। पुनः यह भ्रम नहीं होता कि यह जगत् द्वैत सत्य है और ब्रह्म अद्वैत नहीं है। ऐसा लगे तब भ्रम है।

ज्ञान इस पर निर्भर नहीं करता कि तुम वृत्ति बनाते रहो। तुम्हें पता है कि तुम्हारा नाम देवदत्त है तो तुम हर समय घोखते नहीं रहते। तुम काम में खूब व्यस्त हो, एक के बाद एक अनेक चीज़ें आती रहें, जैसे ही कोई आवाज देता है 'देवदत्त', तो क्या सोचना पड़ता है कि 'क्या मेरा नाम देवदत्त है', या सुनते ही तुरन्त मालूम रहता है कि मैं देवदत्त हूँ? 'मैं देवदत्त हूँ' यह ज्ञान बना रहने के लिये वृत्ति की अपेक्षा नहीं रखता। ज्ञान तो वृत्ति से हुआ, इसका मना नहीं कर रहे, लेकिन ज्ञान होने के बाद वह वृत्ति की अपेक्षा नहीं रखता। इसी प्रकार अपनी ब्रह्मरूपता का निश्चय होने के बाद वृत्ति नहीं चाहिये। श्रवण-मनन-निदिध्यासन पूर्ण होने पर, निश्चित ज्ञान होता है। एक ज्ञान बिजली के पलकारे की तरह होता है जो स्थिर नहीं होता। कई बार ऐसा होता है कि बच्चे से किसी सवाल का जवाब पूछो तो वह ठीक जवाब देता है लेकिन अन्दर ही अन्दर सोचता है कि 'कहीं जवाब गलत तो नहीं हैं', क्योंकि जवाब ठीक देने पर भी निश्चय नहीं है। परन्तु जिसका निश्चय हो जाता है उसे फिर दोहराने की ज़रूरत नहीं होती। एक अध्यापक ने एक लड़के से कहा 'अपनी किताब दिखाओ, उसमें से तुमसे कुछ पूछते हैं।' उसने अपनी किताब दे दी जिसमें चालीस पन्ने गायब थे। अध्यापक ने पूछा 'इतने पन्ने कहाँ हैं?' उसने कहा 'इसमें से निकले हुए चालीस पन्ने वे हैं जो आपने पढ़ाये थे; वे सब तो मुझे याद हो गये, इसलिये वे फाड़कर निकाल लिये, सोचा बेकार बोझा ढोने से क्या फायदा'। अध्यापक ने पूछा तो वह सब उसे ठीक याद था। जब निश्चित याद हो जाता है तो पन्ना फाड़कर फेंक देते हैं। अन्यथा परीक्षा के हॉल में जाते समय तक भी किताब में देखते रहते हैं। ज्ञान के निश्चय का मतलब है कि जिसके बारे में हमको सोचना या देखना न पड़े। जब तक फिर देखना पड़ता है, तब तक उसे निश्चय नहीं कहते। श्रीकृष्ण की भाषा में निश्चय को विज्ञान कहते हैं 'ज्ञानं

विज्ञानसहितम्’। ज्ञान अर्थात् शास्त्र से पढ़ा हुआ और विज्ञान अर्थात् अनुभव में आ चुका। जब निश्चय, अनुभव होता है तब फिर कभी भ्रम नहीं होता।

जो इस प्रकार ब्रह्मस्थिति में है वह ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्त कर लेता है। अन्यथा तो फिर उसे ब्रह्मलोक की प्राप्ति बताई है। अगर थोड़ी भी कमी रह गई तो ब्रह्मलोक में रहकर ज्ञान की दृढता हो जायेगी। परन्तु जिसकी ब्रह्मस्थिति हो गई उसको कभी भ्रम होता ही नहीं। एक बार दृढ ज्ञान उत्पन्न हो जाने के बाद वह ज्ञान अंतःकरण की वृत्ति के ऊपर निर्भर नहीं करता। ज्ञान की प्राप्ति के लिये ही प्रमाण और साधनों की अपेक्षा होती है। घड़ा देखने के लिये प्रकाश चाहिये, आँख चाहिये, अंतःकरण चाहिये, संस्कार चाहिये। ये सब हों तब ‘यह घड़ा है’ यह ज्ञान हो। आँख नहीं है तो, प्रकाश नहीं है तो, घड़े का संस्कार नहीं है तो भी घड़ा–ऐसा ज्ञान नहीं होगा; यह कुछ है–केवल इतना ही होकर रह जायेगा। अंतःकरण दूसरी तरफ लगा हुआ है तब भी ज्ञान नहीं होगा। ये सब चीज़ें इकट्ठी करने की ज़रूरत है, तब घटज्ञान होगा। परन्तु घटज्ञान होने के बाद वह फिर किसी पर निर्भर नहीं है। प्रकाश पर भी निर्भर नहीं, हम अंधे हो गये तो भी ज्ञान बना ही रहेगा। फिर वह ज्ञान साधन पर निर्भर नहीं होगा। इसी प्रकार ‘मैं ब्रह्म हूँ’ यह ज्ञान होने के लिये प्रमाण और वेद की जरूरत है। जैसे घड़े के ज्ञान के लिये आँख चाहिये वैसे ही ‘मैं ब्रह्म हूँ’ इस बात को जानने के लिये वेद चाहिये क्योंकि इस ज्ञान में वेद ही प्रमाण है। मन चाहिये, वह मन भी एकाग्र और समाहित होना चाहिये। वेद में श्रद्धा भी होनी चाहिये। चित्त मलदोष से रहित भी होना चाहिये। तत्-पदार्थ और त्वं-पदार्थ को बताने वाले वाक्यों का संस्कार भी चाहिये। ये सभी होंगे तब ‘मैं ब्रह्म हूँ’ यह ज्ञान होगा। अगर अंतःकरण में मलदोष के कारण अशुद्ध संस्कार पड़े हुए हैं तब भी मन में धुंधलापन होता है, इसलिये ज्ञान नहीं होगा। तप, तथा स्वाध्याय आदि के द्वारा अंतःकरण को शुद्ध करना पड़ता है। इसी प्रकार यदि मन में कामनायें हैं तो अंतःकरण परमात्मा में एकाग्र नहीं हो पायेगा। अतः योग आदि के अभ्यास से अंतःकरण समाहित करना भी ज़रूरी है। समाहित दोनों प्रकार से होता है। एक तो योग आदि का अभ्यास, प्राणायाम, प्रत्याहार आदि; और दूसरे, ईश्वर-प्रणिधान, अर्थात् सभी प्रकार से चीज़ें ईश्वरार्पण करने से भी समाधि सिद्ध होती है। दोनों साधनों में से जिस साधन से हो सके उससे मन समाहित करे। वेदांत के उपक्रम उपसंहार आदि लिंगों के द्वारा बार-बार तात्पर्यनिश्चय करने तथा तत् और त्वं पदार्थों के शोधन की ज़रूरत होती है। सब चीज़ें होने पर जैसे ही गुरु ‘तत्त्वमसि’ वाक्य कहता है वैसे ही ‘मैं ब्रह्म हूँ’ यह स्पष्ट ज्ञान हो जाता है। फिर भी चूँकि अंतःकरणमें अनादि काल के संस्कार हैं इसलिये संशय आ जाते हैं। उन संशय आदि को हटाना भी ज़रूरी है। जब संशयरहित ज्ञान हो जाता है तब पुरानी वासनाओं की जगह नई वासनाओं को लाना पड़ता है। पुरानी वासनायें जैसे ‘मैं ब्राह्मण, मैं क्षत्रिय, मैं पुरुष, मैं स्त्री, मैं काला, मैं गोरा, मैं मूर्ख, मैं पण्डित’ आदि सब

पुरानी वासनायें हैं। उन पुरानी वासनाओं की जगह अंतःकरण को इस प्रकार की वासनाओं से युक्त करना पड़ेगा कि मैं ब्रह्म ही हूँ, ब्रह्म मैं ही हूँ। जब यह वासना दृढ हो गई तब वह ज्ञान हिलता नहीं। फिर चाहे शरीर रोगी हो, स्वस्थ हो, शरीर के रोग के कारण मन विलख रहा हो, मूर्च्छित हो जाये, ब्रह्मात्मनिश्चय में अंतर नहीं आता। जैसा कि किसी ने लिखा है, अंतकाल में वात, पित्त और कफ तीनों धातु प्रकुपित हो जाते हैं तो 'कण्ठावरोधनविधौ स्मरणं कुतस्ते' कण्ठ से भी तुम कुछ नहीं बोल सकते, केवल घर्र-घर्र की आवाज आती है। उस समय किसी चीज़ का स्मरण करना चाहो तो नहीं होता; परन्तु उस समय भी तत्त्वनिष्ठका 'मैं ब्रह्म हूँ' यह ज्ञान तो रहेगा ही। ठीक जिस प्रकार किसी तड़पते हुए से पूछो कि 'तू पुरुष है या स्त्री?' तो बिलखते हुए भी कहेगा कि 'हूँ तो मैं पुरुष ही' जबकि वह और कुछ भी स्मरण नहीं कर पाता। इसलिये दृढ निश्चयरूप ज्ञान स्मरण के अधीन नहीं है। जैसे 'मैं पुरुष हूँ' इस विषय में कभी विस्मरण नहीं होता इसी प्रकार ज्ञान की दृढता में 'मैं ब्रह्म हूँ' इसका कभी विस्मरण नहीं हो सकता।।१०६।।

बेहोशी आदि से ज्ञान नष्ट नहीं होता। इसे सोदाहरण स्पष्ट करते हैं–

दिने दिने स्वप्नसुप्त्योरधीते विस्मृतेऽप्ययम्।
परेद्युर्नानधीतः स्यात् तद्वद् विद्या न नश्यति।।१०७।।

प्रतिदिन सपना देखते और गहरी नींद लेते समय पढ़ा हुआ भूलने पर भी अगले दिन ऐसा नहीं हो जाता कि पढ़ा न हो! इसी तरह ब्रह्मविद्या नष्ट नहीं होती।

यदि कोई मूर्च्छा या कोमा में चला गया तब तो उसे पता नहीं कि मैं पुरुष हूँ या स्त्री हूँ। ऐसे, प्राणत्याग काल में यदि मूर्च्छा आ जाये तब तो ज्ञानी भी अज्ञान में लीन रहता ही मर गया अतः उसका जन्म भी हो जाना चाहिये? इसके उत्तर में कहते हैं : प्रतिदिन जो वेद का अध्ययन या स्वाध्याय कर, फिर स्वप्न में या गहरी नींद में गये तो स्वप्न में या गहरी नींद में याद नहीं रहता कि क्या पढ़ रखा है, लेकिन इतने मात्र से न वह न पढ़ा रह गया और न उसे भूला ही कहना बनता है। इसी प्रकार मूर्च्छा में विस्मृति है। अगले दिन जब तमोगुण की समाप्ति से या जाग्रत्-प्रारब्ध के उदय से उठते हो अर्थात् स्वप्न-सुषुप्ति की निवृत्ति हो जाने पर, या मूर्च्छा से होश में आते हो तब ऐसा नहीं होता कि क्या पढ़ा–यह विस्मृत हो चुका हो! उठने पर प्रायः याद आ ही जाता है। ठीक इसी प्रकार मरण-काल की मूर्च्छा में चाहे अपनी ब्रह्मरूपता का पता नहीं, परन्तु जैसे ज्ञानी को सोकर उठने पर ब्रह्मरूपता का ही स्मरण आता है वैसे मृत्यु के साथ ही प्रारब्ध समाप्त हो चुकने से ब्रह्मस्थिति ही रहती है। अप्रतिबद्ध ज्ञान की प्रारब्ध से इतर कोई उपाधि नहीं है जो भेददर्शन कराये। 'ब्रह्मैव संन् ब्रह्माप्येति' श्रुति कहती है कि वह पहले ही ब्रह्मरूप है। अंतःकरण, प्रारब्ध आदि के स्थित रहने के कारण ब्रह्म से अतिरिक्त प्रतीति थी, मरण-काल में वह

प्रतीति नष्ट हो गई इसलिये ब्रह्मस्वरूप जस का तस रह जाता है। यदि किसी कारण से मूर्च्छित हो गया तो जब मूर्च्छा खत्म होगी तब वह अपने स्वरूप में स्थित रहता ही है। यह विद्वदनुभव से स्पष्ट है।।१०७।।

कोई भी ज्ञान कैसे नष्ट होता है? बताते हैं–

प्रमाणोत्पादिता विद्या प्रमाणं प्रबलं विना।
न नश्यति; न वेदान्तात् प्रबलं मानमीक्ष्यते।। १०८।।

प्रमाणजन्य ज्ञान प्रबलतर विरोधी प्रमाण के बिना नष्ट नहीं होता और वेदान्त से प्रबलतर प्रमाण उपलब्ध नहीं।

ज्ञान के नष्ट होने का कारण तदपेक्षया प्रबल प्रमाण है। प्रमाण तो सारे प्रबल ही होते हैं, फिर प्रबल प्रमाण का मतलब क्या है? जब किसी विषय के बारे में प्रमाण ज्ञान कराता है तब जो अपना विषय नहीं है उसके बारे में भी कई बार ज्ञान हो जाता है। रसगुल्ले की मिठास जीभ से पता लगती है, नींबू की खटास जीभ से पता लगती है। जीभ ही बतायेगी कि नींबू खट्टा है। इसलिये अपने-अपने विषय के बारे में ये इन्द्रियाँ प्रबल प्रमाण हैं। परन्तु बाजार में जाकर रसगुल्ला आँख से देखकर खरीद लेते हैं और प्रायः वह रसगुल्ला ही निकलता है। आँख से जिसे देखा वह रसगुल्ला या रसवाला ही निकला, आँख के देखने से ठीक पता लगा कि 'यह रस वाला रसगुल्ला है'। लेकिन इससे प्रबल प्रमाण जीभ है। जब जीभ पर डालो तब वह नमकीन निकले तो आँख से दीखे की काट हो जाती है, 'यह रसगुल्ला है' यह ज्ञान नष्ट हो जाता है क्योंकि जीभ स्व-विषय में प्रबल प्रमाण है। इसी प्रकार नींबू की गन्ध से अर्थात् घ्राण से सूँघो तो मुँह में झट पानी आ जाता है। गन्ध कह रही है कि यह खट्टा नींबू है। एक फलविशेष ऐसा होता है जो गन्ध भी नींबू की तरह देता है लेकिन जब उसे काटकर निचोड़ते हैं तो उसमें से मुश्किल से एक-दो बूँदें निकलती हैं। उस नींबू का प्रयोग खट्टा बनाने के लिये नहीं होता, उसकी फाँक काट कर तेल आदि में डाल देते हैं तो उसकी खुशबू खूब आती है। जहाँ गन्ध से ज्ञान हुआ कि यह खट्टा है पर जब निचोड़कर चखा तो खट्टा नहीं है वहाँ घ्राण से प्रबल प्रमाण जीभ से उसका बाध हो जाता है। इस तरह प्रबल प्रमाण के द्वारा निर्बल प्रमाण का बाध होता है। इसका मतलब है कि जो जिस विषय में प्रमाण है वह उसी के बारे में प्रबल होता है, दूसरे के बारे में प्रबल नहीं होता, व्यावहारिक भले ही हो जाता है।

इसी प्रकार शरीर आदि में रहते हुए 'शरीर मैं हूँ' यह ज्ञान होता ही है। इसलिये अगर अशुद्ध व्यक्ति छूकर चला जाये तो तुमको यही बोध होता है कि 'इस समय मैं अस्पृश्य हूँ'। वैसे ही शरीर ब्राह्मण है तो लगता है कि 'मैं ब्राह्मण हूँ'। ये दोनों बातें शरीर को मैं मानकर ही हैं। निश्चित ज्ञान रहता है कि 'मैं ब्राह्मण हूँ'। इसी प्रकार कोई आकर कहता

है कि 'मेरी पत्नी अत्यंत बुरे स्वभाव की है, बच्चे कहना ही नहीं मानते, मैं तो दुःखी हो गया हूँ।' उससे कहते हैं कि इससे तो तुम्हारा मन दुःखी हो सकता है तू तो दुःखी नहीं हुआ। वह कहेगा 'घर में जब अशांति है तो मैं ही दुःखी हूँ, और कौन दुःखी है? मुझे निश्चित ज्ञान है कि मैं दुःखी हूँ'। विचार करो कि 'मैं' के विषय में कोई भी दृश्य पदार्थ कैसे प्रमाण हो सकता है! मैं द्रष्टा हूँ, दृश्य तो हूँ नहीं; जो द्रष्टा है वह दृश्य नहीं होता, यह तो बड़ी सीधी-सी बात है। फिर भी तुम मैं के बारे में केवल दृश्य पदार्थ को प्रमाण दे रहे हो। तुम्हारा अनुभव बड़ा पक्का है, इसमें हमें कोई संदेह नहीं है। परन्तु, पक्का अनुभव होने पर भी *प्रामाणिक* नहीं है क्योंकि वह 'मैं' को तो बताता नहीं है।

'मैं' के बारे में बताने वाला एकमात्र वेद है। उसमें बताया है कि तुम कौन हो। वेद बड़ी विचित्र बात कहता है : तुम कौन हो? सारे संसार को पैदा करने वाले, इसकी रक्षा करने वाले और इसका संहार करने वाले तुम हो। यह वाक्य सुनकर ही आदमी को बड़ा अचम्भा होता है। हमने तो कुछ पैदा नहीं किया। पिताजी ज़रूर मकान बना गये। वे दुकान से पैसा लाते थे, हम वह दुकान भी नहीं चला पाये। सृष्टि-स्थिति-लय तो बहुत दूर की बात है, बना हुआ ही नहीं रख पाये। वेद भले ही कहता है, परन्तु यह बात कैसे जँचे? विदेशियों के प्रभाव में आये बहुत से लोग कहते हैं 'वेद तो गडरियों के गीत हैं, ऋषि लोग नशे में बक देते थे। नशे में ही कह दिया 'तू ब्रह्म है' यह बिलकुल बेकार बात है।' यदि वेद में श्रद्धा नहीं है तो यही मान लोगे कि जीव-ईश्वर को एक कोई नशे वाला ही कह सकता है। जिसे वेद में अत्यंत श्रद्धा होगी वही आगे विचार करेगा कि वेद अपौरुषेय वाणी है, इसको समझने का प्रयत्न करना पड़ेगा। श्रद्धा होगी तभी आगे वेदार्थ-विचार में प्रवृत्ति होगी और तब जाकर इस वाक्य का अर्थ समझ में आयेगा कि मैं कैसे सृष्टि, स्थिति, लय करने वाला हूँ। द्रष्टा के बारे में सिवाय वेद के और कोई प्रमाण नहीं है। श्रद्धापूर्वक, चित्त समाहित करके, उपक्रम-उपसंहार आदि के द्वारा जब बार-बार विचार करोगे तब जाकर यह समझ में आयेगा कि द्रष्टा का क्या स्वरूप है।

द्रष्टा के बारे में प्रमाण जो वेद है उसके द्वारा यह ज्ञान उत्पन्न हुआ 'मैं ब्रह्म हूँ' और द्रष्टा के बारे में वेद के अतिरिक्त कोई दूसरा प्रबल प्रमाण है नहीं। क्योंकि बाकी जितने प्रमाण हैं वे सारे दृश्य के बारे में ही हैं, द्रष्टा के बारे में नहीं। इसलिये आत्मा के बारे में यही प्रबल प्रमाण है। एकमात्र आत्मस्वरूप को बताने का काम केवल वेद का ही है। इसलिये वेदरूप निर्दोष प्रबल प्रमाण से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह नष्ट नहीं होता। ठीक जैसे गन्ध से यह ज्ञान हुआ कि यह नींबू खट्टा है, परन्तु प्रबल प्रमाण जीभ के द्वारा वह कट गया, वैसे ही 'मैं ब्रह्म हूँ' यह ज्ञान वेद प्रमाण से उत्पन्न होकर पहले जो शरीर आदि में 'मैं'-बुद्धि थी, उसको काट देगा क्योंकि वह 'मैं' सारा का सारा दृश्यों को लेकर बन रहा था। यह प्रबल प्रमाण बना क्योंकि द्रष्टा को ही बताता है, दृश्य उपाधिका बाध करके

निरुपाधि द्रष्टा का अज्ञान मिटाता है। इससे ज़्यादा प्रबल प्रमाण और कोई दूसरा नहीं है।।१०८।।

प्रमाण का प्रभाव निर्णीत होने पर पूर्वदर्शित युक्ति एवं विद्वदनुभव के आधार पर इस प्रकरण का अभिप्राय उपसंहृत करते हैं–

तस्माद् वेदान्तसंसिद्धं सदद्वैतं न बाध्यते।
अन्तकालेऽप्यतो भूतविवेकान्निर्वृतिः स्थिता।। १०९।।

।।इति श्रीविद्यारण्यमुनिविरचितायां पंचदश्यां महाभूतविवेकाख्यं
द्वितीयं प्रकरणं समाप्तम्।।

इसलिये वेदान्तों से भली भाँति सिद्ध सद्रूप अद्वैत अन्तकाल में भी बाधित नहीं होता अतः भूतविवेक (नामक इस प्रकरण में कहे अनुसार सही निश्चय पाने) से परमानन्द की ही स्थिति रहती है।

चूँकि वेदान्त से प्रबल और कोई प्रमाण नहीं है इसलिये आत्मविषयक ज्ञान तभी नष्ट होगा जब उस प्रबल प्रमाण से ज्ञान उत्पन्न हो। सद्रूप परमात्मा अद्वितीय है यह वेदान्त अर्थात् उपनिषदों से सम्यक् सिद्ध है। कई बार वेद के अन्दर अर्थवाद आदि आ जाते हैं। विचार करके देखते हैं तो वे अर्थवाद किसी चीज़ को सिद्ध करने के लिये नहीं वरन् किसी विधि को बताने के लिये ही हैं। इसी तरह कुछ लोग समझ लेते हैं कि जीव की प्रशंसा करने के लिये उसे ब्रह्म वेद ने कह दिया है। अतः कहा कि यह वेदांतसिद्ध ही नहीं वरन् 'भली प्रकार से' अर्थात् श्रवण-मनन आदि के द्वारा ऊहापोह से निर्णीत अर्थ है, संसिद्ध अर्थ है कि सत् अर्थात् ब्रह्म अद्वैत ही है, उसका बाध नहीं होता। अतः एक बार ज्ञान होने के बाद उसका बाध करने वाला और कोई प्रमाण अंतकाल में भी कहाँ से आयेगा! विचार के शुरू में वेदांत का विचार करके सिद्ध होता है कि 'मैं ब्रह्म हूँ', परन्तु जब बड़े जोर से सिर दुखने लगे, तो लगता है कि मैं शरीर हूँ, मैं दुःखी हूँ। फिर श्रवण-मनन से विचार क़रना पड़ता है कि क्या मैं सचमुच में दुःखी हो सकता हूँ? जब तक ज्ञान दृढ नहीं हुआ है तब तक जब शरीर या मन कहता है 'मैं दुःखी हूँ' तब उसकी बात में आ जाते हैं कि 'मैं दुःखी हूँ'। ऐसा होता है, तब तक समझ लो कि अभी पक्का पाठ याद नहीं हुआ है। जब पक्का पाठ याद हो जायेगा तब शरीर चाहे तेल के कढ़ाये में तला जाये तो भी यह अद्वैत ज्ञान नहीं जायेगा! उत्तरकाशी में एक अवधूत जी भिक्षा के लिये जाते समय तेजोबिन्दु उपनिषद् का पाठ करते जाते थे। उन्हीं दिनों एक बहुत अच्छे विद्वान् दयानन्द जी काशी से पढ़कर आये थे। दयानन्द जी ने अवधूत जी की किसी बात में दोष दिखाया। उन्होंने समझाया। दयानंद जी ने उसमें फिर दोष निकाला, उन्होंने फिर समझाया। इस प्रकार तीन-चार कोटि तक विचार चला। अंत में अवधूत जी ने दयानन्द से कहा 'तू नया पंडित है, इसलिये

कोई-न-कोई शंका उठाता रहेगा; मैं कब तक जवाब देता रहूँगा! परन्तु इतना कह सकता हूँ कि मेरे शरीर की क़ोई बोटी-बोटी भी काटे तब भी मेरा यह अनुभव नहीं जायेगा। तू युक्ति की बात कहता है तो स्वाभाविक है कि मैं किसी युक्ति का जवाब नहीं भी दे सकूँ लेकिन अगर तू यथाशास्त्र समझ लेगा तो तुझे अनुभव होगा, अन्यथा तर्क ही करता रह जायेगा।' 'मैं ब्रह्म हूँ' यह पक्का अनुभव शरीर के तड़पते हुए भी नहीं हट सकता। इसलिये ज्ञान हो जाने पर मरने के समय भी शरीर में चाहे जितना कष्ट हो, मन में चाहे जितना दुःख हो, परन्तु 'मैं ब्रह्म हूँ' इस अनुभव को हटा कर 'मैं शरीर-मन हूँ' ऐसा कभी नहीं आ सकता। अंतकाल में बहुत दुःख होता है, हज़ार बिच्छू काटें इतना दुःख होता है। यदि ज्ञान थोड़ा भी कच्चा होगा तो उस समय 'मैं शरीर हूँ' यह बुद्धि हो सकती है। ज्ञान यदि दृढ होगा तो वैसी बुद्धि नहीं हो सकती। जब अंतकाल में भी ऐसा है तो जीवित काल में बाकी दुःखों से अप्रभावित रहने में कहना ही क्या। इस अध्याय में जो पंचमहाभूतों का विवेक बताया, इसके बल पर सद् अद्वैत् में स्थिर बुद्धि वाला पुरुष जीवित काल में ही मोक्ष में स्थित रहता है।।१०६।।

इस प्रकार यह 'भूतविवेक' नामक द्वितीय प्रकरण पूरा हुआ।

तृतीय
पंचकोशविवेक प्रकरण

पहले प्रकरण में तत्त्वविवेक से बताया था कि एक सत् ही कैसे अखण्ड है। देश-काल आदि जिसे परिच्छिन्न नहीं कर सकते, उस तत्त्व को बताया। फिर समझाया कि उस सत् से ही पंचमहाभूत कैसे उत्पन्न हुए और इनके अन्दर सत् ब्रह्म को कैसे देखा जाये। यह दूसरे प्रकरण में बताया कि सारे संसार के साथ व्यवहार करते हुए सारे पदार्थों में सत् का ध्यान रखो, उसके नाम-रूप की तरफ ध्यान मत दो। संसार के पदार्थों से भी ज़्यादा दुःख देने वाले जो शरीर-मन हैं उनका अब विश्लेषण करेंगे। बाकी पदार्थ थोड़ा-बहुत दुःख देते हैं, परन्तु शरीर या मन में दुःख होता है तो सहन करना ज़्यादा मुश्किल होता है। चारों तरफ अदालत के फैसले भी गलत आ रहे हैं, पुलिस वाले भी गलत आदमियों को पकड़ रहे हैं, यह सब बाँच कर दुःख होता है कि देश की क्या हालत है। परन्तु जब पुलिस अपने को पकड़कर ले जायेगी तब लगता है कि 'मैं फँस गया'। इसलिये महाभूतों के विवेक को करके पंचकोश-विवेक करते हैं कि ये शरीर आदि भी मैं कैसे नहीं हूँ। जैसे भूतों में सद्रूप ब्रह्म है वैसे ही चिद्रूप ब्रह्म शरीर-मन में है। जैसे सत् के बारे में नाम-रूप भ्रम हैं वैसे चित् के बारे में भी वे सब विशेष भ्रम ही हैं। है तो सत् पारमार्थिक, परन्तु लग रहा है कि नाम-रूप हैं। नाम-रूप नहीं हैं—ऐसा नहीं लगता और 'है' नाम-रूप वाला लगता है। इसी प्रकार से चित्, चेतन, ज्ञान या 'मैं' इन पाँच कोशों से एक लगता है, ये पंचकोश 'मैं हूँ' लगते हैं। इसलिये पंचकोश का विवेक करना ज़रूरी है कि इन पाँच कोशों से सर्वथा अलग ज्ञान समझें जो सद्रूप से एक है। प्रश्न हो सकता है कि पहले महाभूतप्रकरण क्यों रखा? इसलिये कि ये पाँचों कोश भौतिक हैं, पंचमहाभूतों से बने हैं। भूतों का विवेक करने पर पंचकोशों का विवेक वैसे ही सिद्ध हो गया, फिर भी ये कोश विशेष प्रकार के भूत होने से इनमें आत्मा का भ्रम दृढ होता है। चार्वाक तो शरीर को ही आत्मा मानते हैं कि शरीर ही मैं हूँ। आस्तिक लोग शरीर को मैं नहीं मानते परन्तु शरीर से जाने-आने वाला पुर्यष्टक मैं हूँ—ऐसा मानते हैं। इसलिये भूतविवेक के बिना पंचकोश-विवेक पूरी तरह से नहीं हो सकता था, इसलिये पंचभूत-विवेक के बाद पंचकोश-विवेक बताना प्रारंभ करते हैं—

गुहाहितं ब्रह्म यत्तत् पंचकोशविवेकतः।
बोद्धुं शक्यं ततः कोशपंचकं प्रविविच्यते।। १।।

जो ब्रह्म हृदय-गुहा में निहित है वह पाँचों कोशों के विवेक से समझा जा सकता है, इसलिये इन कोशों को आत्मा से पृथक् समझाते हैं।

जैसे पंचमहाभूत का विवेक छांदोग्य उपनिषद् के आधार पर किया था, वैसे ही पंचकोशों का विवेक कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय उपनिषद् के आधार पर करते हैं। तैत्तिरीय उपनिषद् के अन्दर पहले ब्रह्म का स्वरूप बता दिया। जैसे छांदोग्य उपनिषद् में 'सदेव सोम्येदमग्रआसीद् एकमेवाद्वितीयम्' के द्वारा ब्रह्म का रूप बताया था, फिर उससे जगत् उत्पन्न हुआ, यह बताया था, इसी प्रकार यहाँ 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' से ब्रह्म का स्वरूप सत्य ज्ञान अनंत बता दिया। वह ब्रह्म कहाँ है? 'यो वेद निहितं गुहायां' गुफा में छिपा हुआ है। 'परमे व्योमन्' आकाश से भी जो परम व्योम (आकाश) है उसमें निहित है। आगे फिर पंचकोशों की उत्पत्ति बताई। जिस गुफा में छिपा हुआ ब्रह्म है वह गुफा कौन-सी है? उसे विद्यारण्य स्वामी अगले श्लोक में खुद बतायेंगे। श्रुति में कहा कि गुहा में निहित है लेकिन यहाँ कहेंगे कि ये गुहायें एक-दूसरे में हैं। पंचकोशों को बताकर फिर एक-एक करके उनका अतिक्रमण करना बतायेंगे। दूसरे प्रकरण में, जो सारे जगत् का कारण ब्रह्म है उसे बताया और अब जो ब्रह्म गुहा में आया हुआ है, उसे बता रहे हैं। सर्वव्यापक रहते हुए ही वह इस हृदय गुहा में 'आ गया' ठीक जिस प्रकार से काँच के अन्दर तुम्हारा मुँह 'चला जाता' है। मुँह नहीं आता है, परन्तु वैसा ही वह मुँह दिखाई देता है जैसा तुम्हारे धड़ पर है। आजकल कानून बना दिया है कि बैंक में खाता खोलते समय, मकान आदि की रजिस्ट्री कराते समय तुम्हारी फोटो चाहिये। पहले ये सारे काम हस्ताक्षरों से ही हो जाते थे लेकिन अब कहते हैं कि फोटो चाहिये जिससे पता लगे कि यह तुम हो। जैसा तुम्हारा मुँह है, वैसा ही फोटो में आ जाता है तो तुम झट पहचाने जाते हो। पहचान के लिये ही फोटो लगाते हैं। तुम तो फोटो में नहीं गये, परन्तु फोटो ठीक तुम्हारे जैसी ही है। इसी प्रकार हर गुहा के अन्दर ब्रह्म की फोटो है। वह ब्रह्म रहते हुए ही हर-एक के अन्दर प्रतिबिम्बरूप से आ गया जैसे काँच के अन्दर मुँह का प्रतिबिम्ब आ गया। सबके अन्दर चेतन ब्रह्म के जैसा ही है इसलिये वहाँ ब्रह्म को पहचान सकते हैं। ब्रह्म तो सर्वत्र है, परन्तु इस गुहा में उसकी पहचान हो जाती है, केवल इतनी ही बात है। यहाँ कुछ दिन पहले मतदाता पहचानपत्र के लिये फोटो खींचने वाला कैमरा लाया था, उसने हम सबके फोटो लिये। पहचानपत्र बनकर आये। फोटो से पता ही नहीं लगता कि वह किसकी फोटो है! पता लगा कि जितनों के फोटो लिये, सबमें ही ऐसा था कि पता नहीं लगे कि फोटो किसकी है। इसी तरह यदि दर्पण ठीक नहीं है तो प्रतिबिम्ब से ठीक ज्ञान नहीं होगा। इसी प्रकार यदि हमारी हृदय गुहा साफ नहीं हो गई तो भले ही वहाँ है वह ब्रह्म ही, दीख ब्रह्म ही रहा है, लेकिन रागी, क्रोधी, मोही, लोभी दीखने से तुम पहचान नहीं सकते कि ब्रह्म कामनारहित, लोभरहित है। काम, क्रोध आदि से अस्पृष्ट रहता हुआ भी गलत काँच के कारण कामी, क्रोधी, लोभी दीख रहा है। परन्तु पहचान वहीं करनी पड़ेगी। जितने दाग लगे हुए दीख रहे हैं, ये सारे हटाओगे तभी पता लगेगा, नहीं तो पता नहीं लगेगा। ब्रह्म स्वयं तो कोशों से रहित है, पर उन्हीं में उसे जान सकते हैं, पहचान सकते हैं। इसलिये कोशपंचक का

प्रकर्ष से विवेक करना ज़रूरी है अर्थात् प्रत्यगात्मा से खूब भली प्रकार से अलग करके जानना ज़रूरी है। प्रतिबिम्ब के अन्दर काँच के दाग भी दीखेंगे और हमारा मुँह भी दीखेगा। काँच साफ होगा तो मुख साफ दीखेगा परन्तु विवेक ज़रूरी ही रहेगा। तुम्हें जो मुँह दीखेगा वह पश्चिम की तरफ देख रहा होगा जब कि तुम्हारा मुँह (बिम्ब) पूर्व की तरफ देख रहा है। तुम्हारा दायाँ हाथ उसका बायाँ हाथ होगा। चाहे जितना बढ़िया और साफ बैल्जियम का काँच ले आओ, फिर भी तुम पूर्व की तरफ देख रहे होगे तो प्रतिबिम्ब पश्चिम की तरफ देख रहा होगा। तुम दाहिना हाथ उठाओगे, वह बायाँ हाथ उठायेगा। इतना फ़र्क रहेगा ही जिसे विवेक से समझकर ही अलग करना पड़ेगा। केवल दोष-रहित होने मात्र से तुम ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकोगे, इसके लिये विवेक-पूर्वक पदार्थ समझकर तत्त्वमसि आदि वाक्यार्थ ही जानना पड़ेगा।। १।।

गुफा में छिपे हुए ब्रह्म को बताने की प्रतिज्ञा की थी, वह जिस गुफा में छिपा हुआ है उसी गुहा को बताते हैं–

देहादभ्यन्तरः प्राणः प्राणादभ्यन्तरं मनः।
ततः कर्त्ता ततो भोक्ता गुहा सेयं परम्परा।। २।।

देह से भीतरी है प्राण, प्राण से भीतरी मन है, उससे कर्त्ता और उससे भी भोक्ता–पाँच की यह परंपरा 'गुहा' (गुफा) है।

किस प्रकार गुफा में छिपा हुआ है? सबसे पहले बताया कि वह देहरूप गुफा में छिपा हुआ है। यह पहला विवेक बड़ा कठिन है क्योंकि सर्वत्र यह प्रसिद्ध है कि भगवान् के दर्शन किसी पहाड़ के ऊपर, कहीं पानी के अन्दर, किसी स्थल-विशेष में, किसी काल-विशेष में होते हैं। कितना घोर परिश्रम करके लोग केदारनाथ, बद्रीनाथ, सोमनाथ जाते हैं जहाँ भगवान् के दर्शन होंगे। इसी प्रकार मरकर ब्रह्मलोक, वैकुण्ठ लोक, गोलोक आदि जायेंगे तब भगवान् के दर्शन होंगे। सर्वत्र मान्यता है कि भगवान् कहीं बाहर है जहाँ दर्शन होंगे। लेकिन श्रुति कह रही है कि भगवान् तो शरीर में हैं, देहरूप गुफा में हैं। इसका मतलब यह नहीं कि शरीर के बाहर नहीं हैं। महाभूत-विवेक प्रकरण में बता आये हैं कि सद्रूप से भगवान् सर्वत्र हैं। मन्दिर में जाओ, पहाड़ पर जाओ, भगवान् सर्वत्र सद्रूप में, 'है' इस रूप में मिलेंगे। परन्तु उसका जो सत् के साथ चिद्रूप एवं आनन्दरूप है, वह शरीर से अन्यत्र नहीं मिलेगा। ठीक जिस प्रकार से सूर्यग्रहण लगता है तो चिकित्सक (वैज्ञानिक) लोग कहते हैं कि सूर्यग्रहण को सीधा (नंगी आँखों से) मत देखना, आँखों पर खराब असर आयेगा। देखने की इच्छा हो तो उसे एक काले काँच के अन्दर देखना। ग्रहण क्या काले काँच में ही लगा है? वह तो सर्वत्र लगा हुआ है। जो प्रकाश आ रहा है वह सारा सूर्य से आ रहा है। ग्रहण लगे ही सूर्य से सारा प्रकाश आ रहा है परन्तु सूर्य चौथाई, आधा, या पूर्ण ग्रस्त है–इस प्रकार सूर्य का यथार्थ दर्शन करना है तो काँच में ही देखना उचित है। प्रकाश की कमी तो सर्वत्र दीखती है परन्तु सूर्य कितना ढका है यह काँच में ही दीखता है। इसी प्रकार 'है'रूप से ब्रह्म तो सर्वत्र मौजूद है। 'है'रूपसे मौजूद कहने का मतलब यह नहीं समझ

लेना कि उसके कोई दो-तीन रूप हैं! उसका तो एक ही अखंडरूप है। यह पहले ही तत्त्वविवेक प्रकरण में भी बता आये हैं। सद्रूप से सर्वत्र प्रकट है, परन्तु चिद्रूप और आनन्दरूप अन्यत्र प्रकट नहीं इसलिये समझे नहीं जा सकते। प्रकाश में गर्मी भी होती है और रोशनी भी होती है। जहाँ-जहाँ प्रकाश होगा वहाँ-वहाँ कुछ गर्मी भी होगी ही। परन्तु काँच के अन्दर प्रकाश जगमगा कर दीखेगा। दूसरे पत्थर में वैसा नहीं दीखेगा, प्रकाश तो दीखेगा लेकिन चकाचौंध करता नहीं दीखेगा। इसी प्रकार सर्वत्र ब्रह्म मौजूद है और वही चिद्-आनन्दरूप है, परन्तु वे अन्यत्र स्पष्ट नहीं दीखते, अपने शरीर में चेतन स्पष्ट दीखता है कि 'मैं चेतन हूँ, मैं जानने वाला हूँ;' इस रूप में प्राणिमात्र को प्रतीति होती है। मैला उठाने वाला भी जानता है कि 'मैं चेतन हूँ'। अपनी चेतनता को जानने के लिये तुमको कुछ करना नहीं पड़ता। मैं चेतन हूँ यह स्वाभाविक, नैसर्गिक अनुभूति सबको है ही। यहाँ चिद्रूप का भी पता लग जाता है और प्रिय के रूप में आनंद का भी। चेतनरूपता हमेशा अपने में भासती रहेगी, आनन्दरूपता किसी विशिष्ट परिस्थिति में प्रतीत होती है।

परमात्मा की सच्चिदानन्दरूपता को जानने के लिये गुहा बताई। सबसे पहली गुफा शरीर है। आबू पर्वत में कभी 'हाथी गुफा' देखना जहाँ एक गुफा में दूसरी गुफा है। ऐसी ही यह गुहा-परम्परा है। पहले शरीर गुफा है और उस शरीर के अन्दर प्राण हैं। 'मैं' चेतन हूँ यह हमें अहंकारात्मिका वृत्ति में प्रकट है, परन्तु चेतनता का संकेत प्राण से मिलता है। इसलिये चिकित्सक चाहे तुम्हारी नाडी देखे, चाहे रक्तचाप देखे, आँख की पलकों का स्फुरण देखे, सबमें प्राणों की क्रिया को देखकर ही निश्चित करता है कि व्यक्ति जीवित है। और खुद भी मृत्यु के समय जब अंतिम श्वास आती है तब पता लगता है कि अब जा रहे हैं। शरीर में चेतनता है, परन्तु साँस से वह चेतनता अधिक प्रकट होती है। गहरी नींद आ जाती है तो शरीर का कोई भान नहीं है, फिर भी लोग तुम्हें श्मशान घाट तो नहीं ले जाते क्योंकि तब प्राण चल रहे हैं जिससे पता लग जाता है कि व्यक्ति अभी जिन्दा है। चेतनता का प्राकट्य शरीर की अपेक्षा भी प्राण के अन्दर अधिक है। प्राण सारी क्रियाओं को करने वाला है इसलिये सारी कर्मेन्द्रियाँ इसी में रहेंगी। कभी तिलचट्टे को पकड़ने जाओ तो देखोगे कि वह तुरन्त अपनी सारी क्रियाओं को रोककर लेट जाता है, फिर चाहे उसपर पानी डालो, चाहे उसे उठाकर ऊपर से नीचे पटको, कुछ भी करो वह कोई क्रिया नहीं करता। तुम समझ लेते हो कि यह मर गया क्योंकि वह कुछ भी क्रिया नहीं कर रहा है। उसे छोड़कर तुम दूसरा काम करने लगते हो तो थोड़ी देर बाद देखोगे कि वह भाग गया। क्रिया से ही पता लगा कि वह जिन्दा था। निष्क्रियता जडता को बताती है। खुद अपने अन्दर भी शरीर में जडता या आलस्य हो तो कुछ नहीं करना चाहते हो। तब यही लगता है कि आज हमारे में जीवन नहीं है। यदि दो-चार दिन ऐसा रह जाये तो डॉक्टर के पास जाते हो। शरीर में चेतनता का पता स्वयं को तो लगता है, परन्तु जिसे जीवट या जीने का उत्साह कहते हैं वह क्रिया से प्रकट होता है। क्रिया प्राण में है।

प्राण से चेतन का पता लगता है परन्तु प्राण खुद चेतन नहीं है। अतः जैसा भान मन के अन्दर होता है कि मैं चेतन हूँ, वैसा स्पष्ट भान प्राण में नहीं होता। प्राण क्रिया करता है तव तो पता लगता है कि 'मैं जीवित हूँ,' मन में विषयव्यवहाररूप क्रिया के विना भी चेतना का बिलकुल स्पष्ट भान होता है। उससे भी ज़्यादा चेतन का भान है इस बुद्धि में कि 'मैंने यह किया, मैं कर्त्ता हूँ।' मन *से* करता हूँ। इसलिये उसमें चेतनता का भान है, परन्तु मैं स्वयं कर्त्ता हूँ। साक्षात् मैं के कर्तृत्व के साथ सम्बन्ध की प्रतीति है। 'मैं करने वाला हूँ' इसी को विज्ञानमय कोश कहेंगे। कर्त्ता होकर क्या चाहते हो? कर्म का फल मिले इसीलिये हम करते हैं। कर्मफल की प्राप्ति हो इसीलिये जीव करता है। भोग मिलने से तृप्ति होती है। भोजन बनाने में तो सुख है, परन्तु भोजन को खाने में और ज़्यादा सुख है। जब भोग की प्राप्ति होती है तब लगता है कि 'अब मैं खूब आनन्द में हूँ,' चेतनता खूब प्रकट है। यह मानो गुहाओं की परम्परा हो गई—शरीर, शरीर के अन्दर प्राण, प्राण के अन्दर मन, मन के अन्दर बुद्धि या कर्त्तापना, उसके अन्दर भोक्तापना है।

'अन्दर' शब्द का अर्थ समझ लेना। शरीर के 'अन्दर' प्राण है इसका मतलब क्या है? वेदान्त की यह बात भली प्रकार से समझने की है। आत्मा को हम लोग अन्दर मानते हैं और बाकी सब चीज़ों को बाहर मानते हैं। इसीलिये उसको प्रत्यगात्मा कहते हैं। जो चीज़ बाहर दीखे उसे 'पराक्' कहते हैं। पर अर्थात् अपने से दूसरी, 'अक्' अर्थात् प्रतीत होती है या प्रकाशित होती है। जबकि प्रत्यगात्मा 'प्रातिलोम्येन अंचति' अपने से एक हुआ प्रकाशित या प्रतीत होता है। दो तरह से चीज़ों का अंचन या प्रकाशन होता है। एक, अपने से अलग और दूसरा, अपने से एक। साधारण भाषा में कहें तो एक लगता है 'मैं' और दूसरा लगता है 'मेरा'। जो मैं लगता है वह ऐसे प्रसंगों में 'अन्दर' कहलाता है और जो मेरा लगता है वह 'बाहर' कहलाता है। मैं लगने वाली चीज़ों में सबसे बाहर शरीर है। शरीर मैं लगता है इसलिये इसे सबसे पहली वाहर की गुफा कहा। यह ठीक है कि कई बार शरीर से बाहर की चीज़ों को भी 'मैं' कह देते हैं; जैसे किसी से दस हज़ार रुपये लेने हैं। जिसने रुपये देने हैं उससे कहते हो 'रुपये मेरी पत्नी को दे देना और वही तुमको हुण्डी पुरजा देगी, उसे फाड़ देना। उसे दिया तो मुझे ही दिया समझो।' अर्थात् पत्नी को दिया तो मैं को दिया, इसलिये पत्नी 'मैं' ही है! यों पत्नी में भी 'मैं'-बुद्धि होती है। ऐसे ही पुत्र, मैनेजर आदि में भी हो जाती है। परन्तु फ़र्क यह है कि शरीर में हमेशा मैं-बुद्धि रहती है। कहते तो हो 'यह मेरा हाथ है,' अर्थात् तुम 'मैं' से हाथ को अलग समझ रहे हो, परन्तु जिस समय 'मेरा' हाथ कह रहे हो उसी समय कोई ज़ोर से हाथ पर मारे तो लगेगा 'मुझे' मारा; 'मेरे हाथ को मारा' ऐसा नहीं लगेगा! शरीर से मैं-बुद्धि कभी हटती नहीं। जबकि पत्नी, पुत्र, मैनेजर में मैं-बुद्धि होते हुए भी 'मेरा पुत्र' आदि यह बुद्धि हटती नहीं। इसलिये चाहे जितनी प्रिय पत्नी हो, वह बढ़िया दाल बाटी चूरमा बनाकर जीम ले और तुम्हें कुछ न दे, कहे कि 'मैंने खाया तो आपने ही खाया;' तो क्या खुश हो जाओगे? शरीर के अन्दर हमेशा 'मैं'भाव रहेगा, वहाँ 'मेरा' कहते हो तब भी जानते हो कि मैं हूँ। अन्यत्र मैं कहते हुए जानते हो 'मेरा है, मैं

नहीं हूँ'। गुहाओं में सबसे बाहर की गुहा शरीर कही, उसका मतलब है कि संसार की बाकी सारी चीज़ों की अपेक्षा शरीर प्रत्यगात्मा से ज़्यादा नज़दीक है।

शरीर की अपेक्षा प्राण ज़्यादा नज़दीक है। इसलिये जब चिकित्सक तुम्हें कहता है 'यह तुम्हारा पैर गैंग्रीन से बिलकुल सड़ गया है, अगर यह नहीं कटवाओगे तो ज़हर फैलकर तुम्हारे प्राण निकल जायेंगे;' तब तुम तुरन्त उसे कटवाने को तैयार हो जाते हो ताकि मैं तो जिन्दा रहूँ अर्थात् मेरे प्राण बने रहें। इतना ही नहीं, चाहे एक पैर एक हाथ अथवा चाहे दोनों पैर दोनों ही हाथ कट जायें, लेकिन प्राण बचे, मैं ज़िन्दा रहूँ। इस से पता लगता है कि शरीर की अपेक्षा प्राणों में 'मैं'-बुद्धि और प्रबल है क्योंकि प्राण की रक्षा के लिये शरीर को भी नष्ट करने को तैयार हो। इसी प्रकार प्राण की अपेक्षा मन और ज़्यादा मैं लगता है तथा मन की अपेक्षा अपना कर्त्तापना और ज़्यादा प्रिय लगता है। किसी को खुश करना हो तो जो कोई अच्छा काम उसने किया ही नहीं है, उससे कहो 'तुमने यह उत्तम कार्य कर दिया' तो बड़ा खुश होता है। जैसे बाँगला देश इन्दिरा गाँधी ने तो जीता नहीं, वह तो बन्दूक से एक गोली भी नहीं चला सकती; मानकशा ही सारा नियंत्रण कर रहा था। फिर भी सबने कहा 'इन्दिरा गाँधी ने बाँगला देश जीता।' बिना कुछ अच्छा किये भी अपने को कोई उसका कर्त्ता कहे तो ज़्यादा खुशी होती है। इस कर्त्तापने की अपेक्षा भी जब तुम भोग कर रहे हो तब तो और अच्छा लगता है कि 'वाह! यह तो मैं ही हूँ।' भीतरी का मतलब हुआ कि जो जितना प्रत्यगात्मा की तरफ है वह उतना आभ्यंतर और जो प्रत्यगात्मा से जितना भिन्न, दूर है वह उतना बाह्य कहा जाता है। आभ्यन्तर का मतलब कहीं ऐसा नहीं समझ लेना कि जैसे मटके में पानी होता है!

तैत्तिरीय में इसी तरह 'अन्योऽन्तर आत्मा' के रूप में कोशों का वर्णन किया है। वहाँ वार्तिककार ने कहा है 'अन्तरः प्रत्यग् इत्येतद्, आत्मा चात्मसमन्वयात्' (२.२.१४)। यहाँ 'परम्परा' को गुहा कहा क्योंकि एक को ही पाँचों में अपनी उपस्थिति अनुभूयमान है एवं जाग्रत् में, विचारकाल में पाँचों का घेरा समान मौजूद रहते 'मैं यहाँ हूँ' ऐसा प्रतीत होता है।। २।।

पहले शरीर गुहा को बताते हैं—

पितृभुक्तान्नजाद् वीर्याज्जातोऽन्नेनैव वर्धते।
देहः सोऽन्नमयो नात्मा प्राक् चोर्ध्वं तदभावतः।। ३।।

पिता द्वारा खाये अन्न से बने वीर्य से उत्पन्न और अन्न से ही बढ़ता यह शरीर अन्नमय है। यह आत्मा नहीं क्योंकि जन्म से पूर्व और मृत्यु के पश्चात् शरीर रहता नहीं जबकि आत्मा नित्य वस्तु है।

माता और पिता ने जो अन्न खाया उस अन्न से क्रमशः सात धातु बनते हैं। उसमें जो चरम धातु शुक्र या शोणित है, उसके द्वारा ही यह अन्नमय शरीर पैदा होता है। पिता द्वारा खाये हुए अन्न के दाने के द्वारा जीव पिता में प्रवेश करता है और वह जिस शुक्र में होगा वही माता के शरीर में जाकर आगे पुत्र या पुत्री बनेगा। जो अन्न माता ने खाया है उससे बने शोणित में

भी अनेक बिन्दु होंगे। लेकिन जो बिन्दु उस जीव को पुष्ट करने वाला है उसी से वह पुष्ट होगा। जनिष्यमाण जीव के लिये निर्धारित अंशों से आगे पुत्र या पुत्री की उत्पत्ति होगी। शोणित और शुक्र मिले बिना काम नहीं होगा। गर्भोपनिषद् में भली प्रकार वर्णित है कि शरीर के कौन-कौन से अवयव माता की तरफ से और कौन-कौन से पिता की तरफ से आते हैं। यह भेद वर्तमान के लोग नहीं मानते किंतु क्रोमोसोम नामक अवयवों का भेद मानते हैं पर वे भी हैं भौतिक ही। चाहे किसी भी प्रकार से लो, माता-पिता के खाये हुए अन्न से ही शरीर उत्पन्न होता है। इसलिये शरीर अन्नमय है। कौन से अन्न से पैदा हुआ? जिसमें पैदा होने वाले ने पहले प्रवेश किया। अन्न के द्वारा पहले आना पड़ेगा, अन्न ही शुक्र-शोणित बनेगा। जो खाते हैं उससे ही वह गर्भ और आगे बढ़ता है। इसलिये चिकित्सक उस समय गर्भवती (माता) से कहता है कि 'तुम्हें दो प्राणियों को पुष्ट करना है इसलिये पौष्टिक पदार्थ खाना।' पुराने ज़माने में हम लोगों के लिये सबसे ज़्यादा पौष्टिक चीज़ घी हुआ करती थी। गर्भ में भी शरीर अन्न से ही बढ़ता है। जब बच्चा माता के गर्भ से बाहर आ गया तब भी माता को अच्छी तरह खाना पड़ता है क्योंकि तभी उसके दूध से बच्चा पुष्ट होगा। उसके बाद जब खुद अन्न खाने लग गया तब भी शरीर अन्न से ही बढ़ेगा। शरीर पैदा अन्न से हुआ और बढ़ता भी अन्न से है। इसलिये उस शरीर को अन्नमय कहा जाता है। अन्न का ही विकार है, और कुछ नहीं है।

अन्न का विकार होने के कारण यह शरीर आत्मा नहीं है। यह *खाया* हुआ है, *खाने वाला* नहीं है। जो तुमने खाया, उसका विकार है, इसलिये खाने वाले तुमसे वह अलग है। अन्नमय होने से ही यह शरीर आत्मा नहीं है। हम लोगों की मान्यता यह है कि हमारी नाभि के क्षेत्र में भगवान् बैठे रहते हैं और तुम जो खाते हो, वह वैश्वानर अग्निरूप जो भगवान् वहाँ बैठे हैं, उसमें पड़ता है। बढ़िया मिश्री एक दम शुद्धरूप से चीनी की ही होती है। उसे बनाने का तरीका क्या है? चीनी यही सामान्य लेते हैं जो हम लोग खाते हैं। इसी चीनी की चासनी लेकर घड़े में भर देते हैं और पहले की रखी हुई शुद्ध मिश्री के डले को एक धागे में बाँधकर उसी हण्डी में लटका देते हैं। फिर उसे कुछ दिनों के लिये छोड़ देते हैं। धीरे-धीरे चीनी का घोल उस लटकी हुई शुद्ध मिश्री से चिपकता जाता है जिससे वह दाना फूलता जाता है और अंत में घोल की सारी चीनी उस डले से चिपक जाने पर मिश्री तैयार हो जाती है। चीनी के घोल में जो चीनी का हिस्सा नहीं है, जिसे लोग गन्दगी कहते हैं, अलग ही पड़ा रह जाता है। शुद्ध मिश्री का दाना वहाँ क्या करता है? जो हिस्सा चीनी नहीं है वह उसे ग्रहण न करके केवल चीनी के हिस्से को ही ग्रहण कर लेता है। फिर उस हण्डी को फोड़ने पर उसी की शक्ल की मिश्री बाहर निकलती है। ठीक इसी प्रकार हमने *जो* खाया वह हमारे रक्त में नहीं जाता है, अगर चला जाये तो हम लोग बीमार पड़ जायेंगे। उसमें तो न जाने क्या-क्या डाल रखा है। अनुभव है कि प्रायः मनुष्य को मनुष्य नहीं खाता! अतः मनुष्य से मनुष्य पैदा होना इस तरह तो संभव नहीं कि जो खाया वही प्रकट हो गया। खाते तुम पालक या परवल हो । इन खाई हुई चीज़ों में से जो तुम्हारे शरीर के लिये आवश्यक है वह हिस्सा बनाकर अन्दर ले लेना, बाकी सब बाहर फेंक देना यह वैश्वानर की ही

कृपा से होता है। अत्यशुद्ध खाओ तो कुछ हानिकर भी शरीर में जाता है लेकिन मानवोचित भोजन लेने पर ऐसा नहीं होता। मिश्री की तरह एक ही चीज़ तो है नहीं, अनेक चीज़ें चाहिये और उसमें भी तुम्हारे शरीर की आवश्यकता देखनी पड़ती है कि उस समय तुम्हारे शरीर को किस चीज़ की ज़रूरत है। रोज़ एक ही चीज़ की ज़रूरत शरीर को नहीं होती, अलग-अलग ज़रूरत होती है। जिस समय, जिस दिन जिस चीज़ की ज़रूरत है उसे उस दिन अधिक मात्रा में ग्रहण करना है। उसी चीज़ की दूसरे दिन ज़रूरत नहीं तो उसे नहीं ग्रहण करना है। इतना क्लिष्ट व्यवहार, तुम्हारी बुद्धि पर छोड़ दिया जाये तो नहीं कर सकते। बड़े-बड़े डॉक्टरों को भी इस बात का पता नहीं लगता कि आज इसे किस चीज़ की कितनी ज़रूरत है। इसलिये भगवान् कहते हैं कि मैंने इतना बड़ा विकट कार्य तुम्हारे ऊपर नहीं छोड़ा, बल्कि 'अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्' इतने झंझट के काम को नाभि में बैठा हुआ मैं करता हूँ। खाये हुए अन्न से जो तुम्हारा शरीर बढ़ता है यह सम्पन्न करने वाला वह वैश्वानर अग्नि है। तुम वैश्वानर अग्नि में डालते हो और वह अग्नि उस अन्न को इस प्रकार विकृत करती है कि तुम्हारे शरीरको पुष्ट करे।

यह जो चेतन तत्त्व वैश्वानररूप से तुम्हारी नाभि में बैठा हुआ है, यह तुम्हारे शरीर के पैदा होने से पहले से है। तुम्हारे शरीर के साथ तो पैदा हुआ नहीं! तुम्हारे शरीर के साथ पैदा होता तो तुम उसे कुछ सिखाते कि क्या लेना, क्या देना आदि। अगर तुम्हारे साथ पैदा होता तो इतना बड़ा कार्य कैसे कर सकता था जबकि करता ज़रूर है। यथाकथंचित् मानें कि पूर्व जन्म से आया हुआ है तब भी अन्नमय से तो पूर्ववर्ती ही है। हर हालत में तुम्हारे शरीर के पैदा होने से पहले से है। अन्नज वीर्य होने के पहले, अन्न के पैदा होने से भी पहले चेतन है। अतएव शरीर के मरने के बाद यह खत्म भी नहीं होता, उसके बाद भी देहान्तर में रहता ही है। सादि सान्त अर्थात् अनित्य और भौतिक होने से शरीर आत्मा नहीं हो सकता क्योंकि आत्मा का कार्य है, कारण आत्मा है। अन्नमय शरीर आत्मा नहीं है, आत्मा का कार्य होने से। कारण होने से शरीर से पहले भी है और बाद में भी है। ठीक जैसे कपड़ा रूई का कार्य है तो कपड़ा पैदा होने के पहले भी रूई थी और कपड़ा फट कर चीथड़े हो जायेगा तब भी रूई रहेगी ही। अन्नमय में 'मैं'-प्रतीति होती है परन्तु यह मैं हो नहीं सकता।।३।।

जन्म के पहले शरीर न हो, और आत्मा भी न हो, मृत्यु के बाद भी शरीर न हो तथा आत्मा भी न हो तो क्या हर्जा है? विचार के अन्दर दो दोष सभी विचारक स्वीकार करते हैं, चाहे विज्ञान के दृष्टिकोण से सोचें और चाहे दर्शन की दृष्टि से सोचें—१) किये हुए का नष्ट हो जाना और २) बिना कारण के चीज़ का उत्पन्न होना अर्थात् कृत-विप्रणाश और अकृत-अभ्यागम। विज्ञान वाले भी मानते हैं कि पदार्थ या मैटर का रूप बदल जाता है परन्तु वह रहता ज़रूर है। इसी लिये मानना पड़ता है कि किसी चीज़ का अत्यंत विनाश नहीं होता बदलकर कुछ रहता है। लोक में कोई चीज़ ऐसी नहीं देखी जाती जो सर्वथा नष्ट हो जाये। ठीक इसी प्रकार जैसे ही कोई कार्य देखते हो, तुमको निश्चित पता है कि इसका कारण है। कारण मुझे पता नहीं भी

हो, लेकिन कारण है जिसे ढूँढते हैं। बुखार आ गया तो चिकित्सक कारण ढूँढता है कि क्यों हो गया। यह नहीं कहता कि अकस्मात् हो गया! चाहे दर्शन की दृष्टि से विचार किया जाये, चाहे विज्ञान की दृष्टि से विचार किया जाये, जहाँ भी कार्य होता है वहाँ कारण ज़रूर होता है और किसी भी चीज़ के नष्ट होने पर उसका रूप बदल जाता है, पर होती ज़रूर है।

ठीक यही बात शरीर के बारे में सोचो : शरीर आत्मा-रूप से पैदा हुआ तो उसका कारण क्या है? माता-पिता के शोणित-शुक्र से पैदा हुआ। उनसे पैदा होकर उसके अन्दर आत्मा का अनुभव कहाँ से आया? वह माता-पिता के अधीन नहीं है, उल्टा माता-पिता से स्वतंत्र होता है। पहले तो माता-पिता से दवते भी थे लेकिन अब तो सीधे जवाब ही देते हैं 'पिता जी, तुम नहीं समझते।' शरीर में जो 'मैं' की प्रतीति है, उसका क्या कारण है? वह कहाँ से आया? इसी प्रकार आदमी मर जाता है तो उसके अन्दर ऐसी अनेक इच्छायें या कामनायें रह जाती हैं जो अपूर्ण हैं। मनुष्य भी इच्छा या संकल्प की शक्ति वाला है। यहाँ से चलकर हम आबू रोड तक पैदल चले जाते हैं। इतना चलाने वाली चीज़ क्या है? हमने संकल्प किया या इच्छा की, तभी। भावना या संकल्प की उत्पत्ति को कभी कम नहीं आँक सकते। एक बुढ़िया बराबर कहती थी कि 'अब तो मैं मर जाऊँ तो अच्छा है;' क्योंकि बिछौने से उठ नहीं सकती थी। एक बार वह अपने पड़पोते को बिछौने में लेकर बैठी थी कि अकस्मात् एक साँप फूँकार भरकर उसकी तरफ आने लगा। वह बुढ़िया बच्चे को वहीं छोड़कर भागकर बाहर आ गई! बाहर आकर चिल्लाने लगी 'अरे कोई आकर बच्चे को बचाओ'। हमने पूछा 'तू हमेशा कहती थी कि मर जाऊँ तो अच्छा है। भगवान् ने तो उसके लिये साँप भेज दिया। तुमसे तो बिछौने से उठा नहीं जाता था, उस समय बच्चे को छोड़कर वहाँ से भागकर बाहर कैसे आ गई?' विचार करो तो वहाँ से उसको भगाने वाली चीज़ सिवाय भावना के और क्या है? अभिनिवेश की वृत्ति आ गई कि 'मैं बचूँ'। इसी प्रकार अनेक लोग दवाई इत्यादि दे देते हैं अथवा झाड़ा-झाड़ देते हैं तो जो रोगी चल नहीं सकता वह दौड़ने लगता है। कैसे भागा या कैसे दौड़ने लगा? कारण कि भावना या इच्छा में बड़ी भारी शक्ति है। यह शक्ति मरने के साथ कहाँ जाती है? शरीर तो यहीं रह गया, उस शक्ति का क्या हुआ?

कृतविप्रणाश और अकृत-अभ्यागम इन दोनों दोषों की निवृत्ति के लिये विचार करने पर यही पता चलता है कि उस शक्ति को लेकर ही आत्मा कहीं जाता है। बच्चा पैदा होता है और आधा-पौने घण्टे बाद ही माता के स्तन का दूध पीता है। कभी किसी चिकित्सक से पूछो कि माता के स्तन का दूध पीने में मुख की माँस-पेशियों को कितना काम करना पड़ता है। इतना ही नहीं, वह स्तनों को ढूँढता है, हाथ इधर-उधर हिलाता है और पकड़ लेता है। 'मैं स्तनों को पकडूँगा, इसमें से दूध निकलेगा, मैं पियूँगा;' ये सारी बातें और क्रियायें उसे किसने सिखाई? इसलिये मानना पड़ता है कि पहले के ज्ञान और इच्छाओं को लेकर ही यह आत्मा आया है। शरीर स्वयं अपना कारण हो नहीं सकता, शरीर इच्छाओं को अपने अन्दर नहीं रख सकता। अन्नमय कोश के पैदा होने के पहले उसमें प्रवेश करने वाला आत्मा था और जब

वह अन्नमय कोश नष्ट हुआ तब वह आत्मा दूसरी जगह चला गया। इसी बात को कहते हैं–

पूर्वजन्मन्यसन्नेतज्जन्म सम्पादयेत् कथम्।
भाविजन्मन्यसत् कर्म न भुञ्जीतेह सञ्चितम्।। ४।।

पूर्व जन्म में न रहती (वस्तु) इस जन्म को कैसे सम्पन्न करेगी? इस जन्म में एकत्र कर्म वह (वस्तु) नहीं भोग सकती जो (तब) होगी ही नहीं।

पूर्व जन्म में अर्थात् इस जन्म के पहले यह शरीर तो नहीं था। जो शरीर जन्म के पहले नहीं था वह इस शरीर को उत्पन्न करने में कारण भी नहीं हो सकता। 'शरीर' अर्थात् 'मैं' इस भावना वाला देह। सिर्फ देह का कारण तो माता-पिता के अंश हैं। लेकिन शरीर में मैं-पने का कारण कौन है? पहले जो शरीर नहीं था वह इस शरीर के जन्म को कैसे सम्पन्न करेगा? इसी प्रकार, मरने के बाद अर्थात् भाविजन्म में जो प्रवेश, वह कौन करता है? यहाँ जिस मैं ने कर्म ज्ञान इच्छा संचित किये हैं, उनका भोग असम्भव होगा। सब व्यर्थ हो जायेंगे क्योंकि उस मुझे तब रहना है नहीं। नहीं किये हुए का अकस्मात् उत्पन्न हो जाना और जो है उसका 'कुछ न' हो जाना ये कभी संगत नहीं हो सकते। सभी जगह लोक में प्रसिद्ध है कि क्रिया की प्रतिक्रिया ज़रूर होती है। तुम बहुत-सी ऐसी क्रियायें यहाँ करते हो जिनका फल यहाँ उत्पन्न नहीं होता। मैंने किसी की हत्या कर दी। सरकार या पुलिस नहीं पकड़ पाई तो मैंने कोई दण्ड नहीं भोगा। तब क्या यह हत्या का कर्म बिना किसी फल को पैदा किये ख़त्म हो गया? यदि मरने के बाद भोग है तो व्यवस्था बन जायेगी, अन्यथा अव्यवस्था हो जायेगी। कर्म, ज्ञान, इच्छा आदि कोई चीज़ सर्वथा समाप्त हो जाये, यह नहीं हो सकता क्योंकि तब किया हुआ पुण्य-पाप कर्म व्यर्थ जायेगा, और इच्छा भी व्यर्थ चली जायेगी। इसलिये देह को आत्मा नहीं मान सकते।

शरीर को इसलिये भोगायतन कहते हैं कि यहाँ बैठकर भोग करते हैं। बिना शरीर के कोई भोग नहीं हो सकता और बिना शरीर के कोई कर्म भी नहीं हो सकता। कोई भी कर्म करोगे तो शरीर में बैठकर ही। इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि प्रवृत्ति करेंगे पर बिना शरीर के न कर्म और न भोग कर सकते हैं। किसी-न-किसी शरीर में बैठकर ही कर्म और भोग करोगे इसीलिये भ्रांति हो जाती है कि शरीर ही कर्म और भोग करने वाला है। जो चीज़ जिसके साथ नियम से मिलती है उसे तद्रूप मानना आवश्यक हो जाता है। शरीर के बिना कर्म भी नहीं मिलता और शरीर के बिना भोग भी नहीं मिलता। इसलिये शरीर ही कर्त्ता-भोक्तारूप आ़त्मा है यह भ्रम बड़ा रूढ है। जब तक इस प्रकार से इसका बार-बार चिन्तन न किया जाये कि शरीर आत्मा नहीं हो सकता, तब तक शरीर से आत्मबुद्धि नहीं हटती। शरीर के बिना आत्मा करता या भोगता हुआ मिलेगा नहीं लेकिन, किसी शरीर के साथ कर्त्ता-भोक्ता का नित्य सम्बन्ध नहीं है। किसी न किसी शरीर के साथ रहकर कर्त्ता-भोक्ता होगा। 'शरीर मैं नहीं हूँ' यह अनुभव पहला कदम है।

शरीर मैं नहीं हूँ—इस दृढता के बिना संसार के व्यवहार में भी और आत्मविचार में भी ग़लती करते हैं। जो भी ग़लत काम करते हैं वह शरीर को लेकर ही करते हैं। इसलिये यह शरीर मैं नहीं हूँ— जब तक इसकी दृढ भावना नहीं हो जायेगी तब तक पाप कर्म से बच नहीं सकते। इस भावना के दृढ होने पर पाप कर्म की प्राप्ति होते ही मन में विचार आता है कि इस शरीर को तो थोड़े दिन का लाभ होगा लेकिन आगे इसका फल कौन भोगेगा? एक बार गाँधी जी बहुत बीमार हुए। डॉक्टर ने कहा 'अब इन्हें कम से कम अण्डा तो खाना ही पड़ेगा, चिकन सूप लें तो और अच्छा है। इसके बिना तो शरीर में ताकत नहीं आयेगी।' लोगों ने गाँधी जी से कहा लेकिन उन्होंने ध्यान नहीं दिया। नेहरू जी आदि सबने समझाया 'आपका ज़िन्दा रहना बहुत ज़रूरी है। अण्डा खाने में तो जीवहत्या है नहीं।' गाँधी जी ने यह सब सुन कर डॉक्टर से पूछा 'तुम्हारा बाप जिन्दा है?' उसने कहा—'नहीं वे तो मर गये।' फिर पूछा 'तुम्हारा दादा जिन्दा है।' उसने कहा 'वे भी मर गये।' गाँधी जी ने कहा—'तुमने उन्हें अण्डा क्यों नहीं खिलाया और उन्हें कैसे मर जाने दिया? आदमी हमेशा अण्डा खाने से बचता नहीं, मरकर जाना ही पड़ेगा। जब मुझे यमराज के डण्डे खाने पड़ेंगे तब क्या तू या ये सब लोग वहाँ आयेंगे? इसलिये मैं अण्डा खाकर डण्डे खाने को तैयार नहीं हूँ।' उसके बाद भी गाँधीजी बहुत साल जिये। जब यह भावना होगी कि 'आगे डण्डे कौन खायेगा, पाप तो अपना फल देगा, यह क्षणिक सुख तुच्छ है,' तब तुम यमराज के डण्डे खाने को तैयार नहीं होगे। जब तक पाप में प्रवृत्ति है तब तक निश्चित है कि तुमने अभी अपने को शरीर से भिन्न जाना नहीं है। आदमी बहुत जल्दी कह देता है कि 'शरीर तो मैं नहीं हूँ' परन्तु यह कहने के बाद भी निश्चय यही रहता है कि इस शरीर में जो फ़ायदा-नुक्सान होगा वही सब कुछ है। इस तरह, जन्म से पूर्व और मृत्यु के पश्चात् आत्मा न मानने में यौक्तिक दोष स्पष्ट किया अतः उसे नित्य स्वीकारना ही उचित है।। ४।।

शरीर के अन्दर रहने वाला प्राण है, उसे बताते हैं—

पूर्णो देहे बलं यच्छन्नक्षाणां यः प्रवर्तकः।
वायुः प्राणमयो_ नासावात्मा चैतन्यवर्जनात्।। ५।।

शरीर में बल देता हुआ, इन्द्रियों का जो प्रेरक वह देह में भरा वायु प्राणमय (कोश) है। ज्ञानरहित होने से वह आत्मा नहीं।

सारे देह में प्राण भरा हुआ है। प्राण अर्थात् जीवनी शक्ति। तुम्हारी चलने वाली साँस तो प्राण का एक रूप है। परन्तु प्राण का असली अर्थ जीवनी शक्ति है इसलिये जिन प्राणियों में साँस नहीं चलता वे भी प्राणी कहे जाते हैं। अमीबा तो साँस नहीं लेता। साँस वही लेगा जो फेफड़े इत्यादि वाला प्राणी है। जो ऐसे नहीं हैं उन्हें भी प्राणी कहते हैं क्योंकि वे जीवित हैं। जहाँ जीवन की शक्ति है उन्हें प्राणी कहते हैं। जीवन की शक्ति को प्राण कहते हैं। साँस का आना-जाना प्राण का एक काम है, और वह चूँकि सरलता से देखा जाता है इसलिये उस को प्राणरूप से पहचान लेते हैं। अनेक प्राणी ऐसे हैं जिनका सर्दी के छह महीने तक श्वास-प्रश्वास

बिलकुल नहीं होता, फिर भी वे जीवित रहते हैं। यह ठीक है कि श्वास-प्रश्वास से पता चलता है परन्तु प्राण है जीवनी शक्ति ही। शरीर में सर्वत्र जीवनी शक्ति है। जहाँ जीवनी शक्ति नहीं होती है वह भाग शरीर के साथ चिपका होने पर भी मृत ही माना जायेगा। जैसे हमारे सिर पर हमेशा बाल होते हैं, जब तक वे अन्दर हैं या थोड़े-से बाहर निकले हैं तब तक उनमें जीवनी शक्ति है। कभी भी बाल उखाड़े जायें तो बड़ा कष्ट होता है। परन्तु बाहर आने के बाद वह प्राण से रहित हो जाता है। नाई के पास जाकर बाल कटवाते हैं तो कोई दर्द नहीं होता। शरीर में जहाँ तक जीवनी शक्ति या जीवन है, वहाँ तक प्राण मौजूद है।

सारे शरीर को प्राण ही जीवित रखते हैं, 'बलं यच्छन्' इसको बल देते हैं। जितनी हमारी प्राण शक्ति या जीवनी शक्ति प्रबल होगी उतना ही हम में बल होगा। बहुत से लोग हृष्ट-पुष्ट और तगड़े नज़र आयेंगे। तुम देख कर सोचोगे कि बहुत काम कर सकते हैं; परन्तु जब मौका आये तो उनसे कुछ भी नहीं होता। बहुत से लोग बहुत दुबले-पतले दीखेंगे, तुम्हें लगेगा कुछ नहीं कर सकेंगे, परन्तु देखोगे कि मौका आने पर बहुत बल वाला काम कर लेते हैं। कोई एक महा कंजूस बनिया था। वह कभी किसी को भोजन नहीं कराता था। उसके घर वाले बहुत पीछे पड़े कि एक बार बाप का श्राद्ध करने के निमित्त किसी ब्राह्मण को भोजन करा दो। उसने सोचा कि 'ये लोग रोज खटपट करते हैं तो एक बार करा ही दूँ'। वह जोधपुर में ब्रह्मपुरी में गया और एक बहुत दुबले-पतले ब्राह्मण को निमंत्रण दे आया। दूसरे दिन वह भोजन करने आया। घरवालों ने बढ़िया दाल का सीरा बनाया, जितना बना था वह सारा ही अकेला खा गया। श्राद्ध के भोजन में नियम है कि बाद में घर वाले पूछते हैं—'पंडित जी! और कोई आवश्यकता हो तो कहिये।' ब्राह्मण ने कहा 'कुछ तो और लाओ, और कुछ नहीं तो दस सेर रबड़ी ही मँगा दो।' घरवाले क्या करें, रबड़ी मँगाई, वह भी सारी खा गया। अंत में वह बनिया तो बिलकुल परेशान ही हो गया। कहने लगा 'इतना दुबला-पतला आदमी इतना खाता है, अगर किसी तगड़े को ले आता तो घर का ही दीवाला निकल जाता।' शरीर के द्वारा प्रायः अंदाज मिलता है, परन्तु जो बल, प्राण या जीवनी शक्ति है वह शरीर के अन्दर रहती है। शरीर के अन्दर जहाँ-जहाँ पूर्ण रूप से जीवन है वहाँ यह शक्ति रहती है। बल देते ये प्राण ही हैं। जिसमें प्राणशक्ति कमज़ोर होती है वह कोई बल वाला कार्य नहीं कर सकता।

'यः अक्षाणां प्रवर्तकः' इन्द्रियों को प्रवृत्त करने वाला प्राण ही है। प्राण मूलतः क्रियाशक्ति है। इसलिये चाहे मन क्रिया करे, चाहे ज्ञानेन्द्रियाँ क्रिया करें, चाहे कर्मेन्द्रियाँ क्रिया करें, सबमें प्रवृत्त करने वाला तो प्राण ही है। इसलिये भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि बिना प्राण के अंतःकरण की वृत्ति भी नहीं बनेगी। इसीलिये जब आदमी मरता है तो पहले मन का कार्य करना छूटता है, प्राण का कार्य करना बाद में छूटता है। उपनिषदों के अन्दर स्पष्ट किया है कि जब आदमी ज़्यादा बीमार होता है, उससे पूछते हैं 'हमारी बात सुनाई पड़ रही है?' वह कहता है 'हाँ।' तब समझ जाते हैं कि अभी जान है। एक अवस्था आती है जब चाहे कुछ भी बोलो, कुछ भी करो उसकी कोई प्रतिक्रिया देखने में नहीं आती, आँख की पलक को ऊँचा भी करते

हो तो झट नीचे गिर जाती है, आँख का डोया भी नहीं हिलता। तब सब लोग कहते हैं कि अब इसके जाने का समय आ गया। इन्द्रियों ने काम करना छोड़ दिया, मन भी काम नहीं कर रहा है। उसके बाद ज़ोर की हिचकी आती है और प्राण निकल जाते हैं। पहले इन्द्रियाँ काम करना बन्द करती हैं। तब प्राण काम करना बन्द करेगा। प्राण के काम बन्द करने के बाद फिर कुछ नहीं हो सकता। इन्द्रिय-मन को भी प्रवृत्त करने वाला प्राण ही है।

प्राण किंरूप है? 'वायुः प्राणमयः' वायुरूप ही प्राण है। लेकिन वायु का मतलब केवल हवा नहीं समझ लेना। उनचास प्रकार के वायु बताये हैं। उनमें से जिसे हम हवा समझते हैं वह तो एक जैसी है। इसलिये प्राण वायु का मतलब केवल यह स्थूल हवा नहीं लेना। जिसे प्राणमय कोश कहते हैं उसमें खाये हुए अन्न को सर्वत्र ले जाने वाला भी प्राण है। अन्य भी अनेक कार्य करने वाली वृत्तियाँ हैं। ये सब प्राणवायु की शक्तियाँ हैं। इन शक्तियों से सम्पन्न को प्राणमय कोश कहते हैं। यही जीवनमय कोश है। आधारभूत ढंग से है यह सारा वायु का विकार लेकिन सूक्ष्म वायु का विकार है, स्थूल वायु का नहीं। हवा से प्रायः पंचीकृत वायु समझी जाती है। प्राणमय कोश की वायु अपंचीकृत है। बहुत से लोगों ने प्रयोग किया है, कि मरने वाले को काँच की अलमारी में बन्द करके देखते हैं कि मरते समय इसमें से कुछ निकलता है या नहीं! अगर स्थूल वायु निकले तो काँच में तरेड़ आ जायेगी। लेकिन ऐसा कुछ नहीं होता। अगर पंचीकृत वायु प्राण होता तो उसको निकलने के लिये काँच को तोड़कर जाना ज़रूरी होता परन्तु क्योंकि यह अपंचीकृत वायु है इसलिये इसको जाने के लिये किसी प्रकार के पंचीकृत आकाश की ज़रूरत नहीं रहती है। प्राण अपंचीकृत वायु का विकार है। हम लोग जो साँस देखते हैं वह पंचीकृत वायु का विकार है। उसको प्रवृत्त करने वाली जीवनी शक्ति अपंचीकृत है अर्थात् इन्द्रिय का विषय नहीं है। यह जो इन्द्रिय आदि का प्रवर्तक वायु है वही प्राणमय (कोश) है।

परन्तु इस प्राणमय को आत्मा नहीं कह सकते, क्योंकि आत्मा तब कहा जाता है जब उसमें चेतना हो, जब वह कुछ जाने। प्राणमय में क्रिया तो है परन्तु चेतना नहीं है। करेगा प्राण परन्तु किसी के आदेश से करेगा। इसकी जो जीवन की क्रिया है, जिन्दा रखने की क्रिया है, उसके लिये तुम्हें आदेश देने की ज़रूरत नहीं है। वह काम तो यह अपनी सत्ता से खुद ही करेगा। परन्तु प्राण का जो बल वाला कार्य है उसे यह चेतन के आदेश से करेगा। चेतन यह खुद नहीं है, क्योंकि इसको पता नहीं लगता। कोई शंका कर सकता है कि ऐसा क्यों मानें, इसी को चैतन्य वाला क्यों न मान लें? इसका कारण गहरी नींद है; जब गहरी नींद आ जाती है तब प्राण तो चलते रहते हैं परन्तु आदमी के तकिये के नीचे से कोई घड़ी निकाल कर लेकर भी चला जाये तो उसे पता नहीं लगता। अगर प्राण में चेतना होती तो पता लगता। लेकिन पता नहीं लगता इसलिये प्राण में चेतना नहीं होने के कारण इसे आत्मा नहीं कह सकते। कुछ ऐसे विचारक हुए हैं जिन्होंने प्राण को ही आत्मा माना है। उन्हें यह जवाब हो गया कि प्राण में चेतनता का न होना ही इसे आत्मा न मानने में प्रधान कारण है।

चूँकि ये अपंचीकृत प्राण हैं, इसलिये पंचीकृत शरीर के लिये जो कारण दिया था कि आगे-पीछे नहीं रहता, वह यहाँ नहीं लगा सकते क्योंकि आगे-पीछे इसका रह जाना स्वीकार है। अपंचीकृत होने के कारण यहाँ आने के पहले भी प्राण रहता है और यहाँ से जाने के बाद भी रह सकता है। इसलिये पंचीकृत शरीर के लिये जो कारण दिया था वह इसके लिये नहीं लग सकता। इसीलिये इसके अनात्मा होने में कारण दिया कि इसमें चैतन्य नहीं है। परमात्मा को सच्चिदानन्द कहते हैं। चिद्रूपता इसमें नहीं है, इसलिये प्राण आत्मा नहीं है।। ५।।

अन्नमय शरीर और प्राणमय कोश अनात्मा बताकर उससे भीतरी गुफा मनोमय का स्वरूप समझाते हैं कि वह आत्मा नहीं है–

अहन्तां ममतां देहे गेहादौ च करोति यः।
कामाद्यवस्थया भ्रान्तो नासावात्मा मनोमयः।। ६।।

शरीर, घर आदि में जो 'मैं-पना' और 'मेरा-पना' करता है, कामना आदि अवस्था से भ्रमयुक्त है, वह मनोमय आत्मा नहीं है।

मन शरीर में मैं-भाव करता है कि 'यह शरीर मैं हूँ'। यह प्रतीति जिसके द्वारा होती है वह मन है। इसी तरह शरीर-सम्बन्धी में 'यह मेरा है, यह घर मेरा है क्योंकि इसकी रजिस्ट्री पर मेरा नाम है' आदि मेरा-भाव भी मन ही करता है। खरीदने के पहले मेरा नहीं था, बेचने के बाद यह मेरा नहीं रहेगा। शरीर के बारे में ऐसा नहीं; शरीर तो जब तक मरूँगा नहीं तब तक मैं ही रहूँगा। परन्तु ममभाव में ऐसी बात नहीं है। घर की तरह पत्नी, पुण्य-पाप आदि सभी समझ लेने चाहिये। पाँच कोशों तक ही 'मैं'-भाव होता है। इसलिये प्राण-मन-बुद्धि को सूक्ष्म देह और आनंदमय को कारण देह कहते हैं। अतः 'देहे' अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म या कारण, किसी भी देह में अहंता होती है। मैं और मेरा जिसके द्वारा होता है, यह मनोमय भी आत्मा नहीं हो सकता। मन काम आदि अर्थात् इच्छा आदि का केन्द्र होने से आत्मा नहीं हो सकता। काम आदि अवस्था-विशेष मन की है। जब इच्छा में रुकावट आती है तब मन में क्रोध होता है। इच्छा कैसी है? भूखा था तो लड्डू की इच्छा थी। पचास लड्डू खाने के बाद इच्छा नहीं रही। इच्छा कभी होती है, कभी नहीं होती। इसी प्रकार क्रोध कभी होता है कभी नहीं होता। कहीं-न-कहीं तुम्हारी कामना में रुकावट आयेगी तभी क्रोध होगा। यह मन की अवस्था होने से कभी है, कभी नहीं है अर्थात् अनियत स्वभाव है। आत्मा नियत स्वभाव वाला होगा, अनियत स्वभाव वाला नहीं होगा। काम आदि अवस्था वाला होने से मन आत्मा नहीं हो सकता। अवस्था वाला होने का मतलब विकारी होना है। विकार अर्थात् कभी एक स्थिति, कभी दूसरी, कभी तीसरी हो जाना।

मन की विशेष स्थिति इच्छा है। इच्छा के द्वारा ही मन प्राण का भी प्रवर्त्तक है। प्राण क्रिया करता है। बिना इच्छा के क्रिया नहीं हो सकती। लोग कहते हैं 'महाराज! जप करने बैठते हैं,

परन्तु जप होता नहीं।' हम हमेशा कहते हैं कि जप, प्राणायाम, पूजा आदि तभी नहीं होंगे जब पहले इन्हें करने की इच्छा नहीं होगी। हमने तुम्हें जप या पूजन करने को कहा है, तुम करते रहो। एक मंत्र से दूसरे के बीचमें मन इधर-उधर चला गया तो उसे जाने दो। तुम पूजा या जप करने की इच्छा करके ही बैठे हो, जब तक इच्छा रहेगी तब तक करते रहोगे। किसी दूसरी चीज़ की इच्छा हुई तो उतनी देर के लिये जप आदि नहीं हुआ किंतु पुनः तुमने कर लिया क्योंकि बैठे रहे थे। मन न लगने का प्रधान कारण यह होता है कि उस विषय से अतिरिक्त विषय की इच्छा जग जाती है। अतिरिक्त विषय की इच्छा जगेगी, तभी तुम्हारा जप या ध्यान नहीं हो पायेगा। अतिरिक्त विषयों की इच्छा को छोड़ना है।

इच्छा किसी चीज़ की क्यों होती है? उस चीज़ में सुख की दृष्टि हो जाती है इसलिये उसकी इच्छा होती है। जिस चीज़ में तुम्हें सुख की प्रतीति हुई, उसकी इच्छा होगी। वह चीज़ दुःख का कारण है—यदि यह निश्चय कर लोगे तो मन फिर उधर नहीं जायेगा। इसी को योगी लोग प्रतिपक्षभावना कहते हैं। संसार में कुछ भी ऐसा नहीं है जिससे किसी-न-किसी को सुख न हो और संसार में ऐसा भी कुछ नहीं है जिससे किसी-न-किसी को दुःख न हुआ हो। इसलिये किसी *चीज़* या *परिस्थिति* में सुख नहीं है। शास्त्रकारों ने कहा है 'न खलु सुखत्वं जातिः यस्य यदिष्टं तदेव तस्य सुखम्'। जैसे ब्राह्मणत्व जाति हर ब्राह्मण में रहेगी ऐसे सुखत्व कोई जाति नहीं है जो सारे सुख के पदार्थों में रहे। जो जिसकी इच्छा का विषय होता है उसके लिये वही सुख है। कोई ऐसा पदार्थ नहीं है जो सबके लिये सब समय सुख देने वाला हो। एक पदार्थ एक को सुख देने वाला होता है, उसी समय वही दूसरे को दुःख देने वाला होता है। शास्त्रकार सौत का दृष्टांत देते हैं। एक आदमी की दो पत्नियाँ आपस में सौत कहलाती हैं। सौत चाहे जितना बढ़िया भोजन बनाये तो भी दूसरी सौत को दुःख होगा, जबकि पति को सुख होगा। उसकी जो-जो चीज़ पति को सुख देगी वही-वही चीज़ सौत को दुःख देगी। इसी प्रकार व्यापार भी दो तरह के लोग करते हैं। अंग्रेज़ी में एक को साँड (bull) और दूसरे को भालू (bear) कहते हैं। साँड जाति का व्यापारी उसको कहते हैं जो देखता रहता है कि अब भाव गिरेगा। भाव बढ़ेगा तो भालू प्रकृतिवाले व्यापारी को सुख होगा, घटेगा तो साँड प्रकृतिक व्यापारी को सुख होगा! भाव घटना-बढ़ना होने से दोनों को सुख-दुःख होना ही है।

जो तुम्हारी इच्छा का विषय होता है वही सुख देता है, उसी की स्मृति आती है। साधक को चाहिये कि प्रतिपक्ष-भावना के द्वारा उसे अपनी इच्छा का विषय मत बनने दे। जितना तुम्हें उस चीज़ की दुःखरूपता का अनुभव होगा उतना उधर से मन हटेगा। योगवासिष्ठ में वैराग्य का लम्बा-चौड़ा प्रकरण आता है। एक-एक चीज़ के दुःखों को गिनाया है। कई लोग उसे पढ़कर कहते हैं कि उन्होंने केवल दुःख ही दुःख गिनाये हैं, सुख भी तो है ही? ऐसा नहीं है कि वसिष्ठ जी जानते नहीं कि उसमें सुख है! सुखरूपता देखना सब के अन्दर नैसर्गिक है। दुःखरूपता का विचार चीज़ों के प्रति साधारण आदमी को होता नहीं। इसलिये दुःखरूपता का प्रतिपादन करना ज़रूरी होता है। सुख या अनुकूल-भावना तो पहले ही है। मन कामना को लेकर ही भ्रान्त हो

जाता है। जिस चीज़ की इच्छा होती है उस चीज़ में भ्रान्ति भी होती है क्योंकि इच्छा उसके दोष या दुःखरूपता को ढाँक देती है और जो सुखरूपता उस चीज़ में नहीं है उसका आपादन कर देती है। इसीलिये शास्त्रकारों ने कहा है कि मन ही बन्धन और मोक्ष दोनों का कारण है। बन्धन का कारण भी मन ही है और मोक्ष का कारण भी मन ही है। विषयों की सुखरूपता को देखोगे तो बन्धन है और दुःखरूपता को देखोगे तो मोक्ष है।

चूँकि सारे विषयों का त्याग एक झटके में सम्भव नहीं है इसलिये परमेश्वर में उन सब विषयों के सम्बन्ध से यह कार्य सुकर है। तुम्हें बढ़िया कपड़ों का शौक है तो भगवान् को बढ़िया से बढ़िया कपड़ा पहनाओ। इसमें तुम्हारी कपड़े की कामना निवृत्त नहीं होगी, परन्तु अब वह कामना परमेश्वर से सम्बन्धित हो गई। जिन चीज़ों को खाने का शौक है वे भगवान् के लिये बनाओ। उनको बनाकर भगवान् के प्रसाद को लो। कामना निवृत्त नहीं होगी परन्तु कामना का सम्बन्ध परमेश्वर से होता जायेगा। जब सब कामनाओं का सम्बन्ध धीरे-धीरे परमेश्वर से हो जायेगा तो फिर कामना परमेश्वर-विषयक होकर मुक्ति का साधन हो जायेगी। जैसे पारस पत्थर को तुम चाहे अपने जूते की लोहे की नाल से छुआओ, अथवा घोड़े के पैर के तलवे में ठुकी हुई लोहे की नाल से छुआओ तो वह लोहा सोना हो जायेगा और उत्तम लोहा लेकर उससे छुआओ तो भी वह सोना ही होगा। ऐसे ही जिस चीज़ का सम्बन्ध परमेश्वर से हो जाता है वह शुद्ध हो जाती है। इसी प्रकार अपनी इच्छा-शक्ति का उपयोग करके अपनी सारी इच्छायें परमेश्वर से सम्बन्धित कर दो। जब मन की सारी इच्छाओं का सम्बन्ध परमेश्वर के साथ होगा तब वे इच्छायें शुद्ध हो जायेंगी और विषय इच्छा का विषय नहीं रह जायेंगे! यही मुक्ति का मार्ग हो जायेगा। जैसे प्राण की साधना प्राणायाम करके हो सकती है वैसे मन की साधना सारी इच्छाओं का विषय परमेश्वर को बनाकर हो सकती है। चाहे प्राण हो, चाहे मन हो, दोनों का उपयोग परमेश्वर के मार्ग में है, इसलिये इनको यहाँ गिनाना सार्थक है। ये साधन तो हैं, परन्तु ये आत्मा नहीं हैं जो इस औजार को चला सकें।। ६।।

शरीरादि औजार चलाने वाला कौन है यह बताते हुए उस कर्त्ता को भी अनात्मा सिद्ध करते हैं—

लीना सुप्तौ वपुर्बोधे व्याप्नुयादानखाग्रगा।
चिच्छायोपेतधीर्नात्मा विज्ञानमयशब्दभाक्।। ७।।

सुषुप्ति में लीन होने वाली तथा जाग्रत् में नखाग्र तक शरीर को घेर लेने वाली विज्ञानमय-शब्द से अभिधेय चेतनछायायुक्त बुद्धि आत्मा नहीं है।

चेतन की छाया से बुद्धि युक्त रहती है। बुद्धि में चेतन की छाया पड़ रही है। इसलिये लोक-प्रसिद्धि है कि करने वाला एक परमात्मा ही है। किंतु परमात्मा करने वाला है—इसे ठीक से समझना पड़ता है। बुद्धि के अन्दर परमेश्वर का जो प्रतिबिम्ब है वह कर्त्ता है। परमेश्वर का जो प्रतिबिम्ब बुद्धि में पड़ा, वही कर्त्ता है। चूँकि बिना चिच्छाया के बुद्धि कुछ कर नहीं सकती,

इसलिये सिर्फ उसमें कर्त्तापना नहीं कहा। छाया को डालने वाला जो परमात्मा है उसी को कर्त्ता कहा जाता है, परन्तु बुद्धि में प्रतिबिम्बित होकर ही करता है। बिना बुद्धि में प्रतिविम्वित हुए वह कर्त्ता नहीं बनता। मारवाड़ में पुराने घरों को देखोगे कि चौक में एक साल या बड़ा कमरा होता है वहाँ सब मिलने-मिलाने वाले जाते हैं। उसके बाद दो छोटे कमरे होते हैं जिन्हें ओरा कहते हैं, फिर उनके अन्दर एक और ऊँडिया ओरा होता है। साल तक रोशनी चली जाती है। ओरे में दिन के दो बजे कुछ रोशनी रहती है पर ऊँडिये ओरे में तो दिन के बारह बजे भी घुप्प अन्धेरा रहता है क्योंकि उसमें प्रकाश जाने का कोई रास्ता ही नहीं, खिड़कियाँ हैं ही नहीं! वहाँ रोशनी करने का एक तरीका है कि सूर्य के सामने एक काँच (दर्पण) रख देते हैं और उस काँच को इधर-उधर हिलाते हैं तो उसका प्रकाश एक कोण पर आकर ऊँडिये ओरे में चला जाता है, वहाँ उजाला हो जाता है। सूर्य का प्रतिबिम्ब काँच में पड़ा तो उसने वहाँ उजाला कर दिया। प्रश्न होता है कि वह उजाला किसने किया? यदि कहो सूर्य ने किया तो काँच वहाँ से हटा दें, तो भी सूर्य वहाँ उजाला करके दिखाये! केवल सूर्य वहाँ प्रकाश नहीं कर सकता। यदि कहो—काँच ने प्रकाश किया; तो वह भी नहीं कर सकता क्योंकि यदि काँच प्रकाश करता हो तो रात में उससे उजाला करके दिखाओ! इसलिये वहाँ न सूर्य प्रकाश करता है और न काँच प्रकाश करता है, काँच में पड़ा हुआ सूर्य का प्रतिबिम्ब प्रकाश करता है। दूसरा दृष्टांत ले लो : बिना धूप पड़े घास नहीं फैलेगी। घास को सूर्य ही फैलाता है, खूब धूप पड़े तो घास फैलती है। सूर्य घास को पुष्ट करने वाला है। एक उन्नतोदर काँच ले लो। जब सूर्य चमक रहा हो तब उसे सूर्य के सामने करके उसका फोकस, किरण-केन्द्र ठीक घास के तिनके पर लगाओ। थोड़ी ही देर में वह घास जलने लगेगी। घासको कौन जला रहा है? सूर्य ही जला रहा है। सूर्य तो घास को पुष्ट करने वाला है, वह घास को क्यों जलायेगा? यदि उन्नतोदर काँच जलाता होता तो रात को बारह बजे भी जलाता! उस उन्नतोदर काँच या सूर्यकान्तमणि से युक्त सूर्य ही घास को जलाता है, उससे रहित केवल सूर्य घास को जलाता नहीं, उल्टा पुष्ट करता है। घास को पुष्ट करने वाला सूर्य ही सूर्यकांत मणि से युक्त होकर घास को जलाने वाला हो जाता है, न सूर्यकान्तमणि जलाती है और न सूर्य जलाता है। ठीक इसी प्रकार आत्मा कर्त्ता नहीं है—यह भी शास्त्र कहता है और सब कुछ करने वाला परमात्मा ही है यह भी शास्त्र कहता है। ये बातें विरोधी लगती हैं। परन्तु परमेश्वर तुम्हारी बुद्धि से युक्त 'तुम' (जीवात्मा) बन गया, इसलिये परमेश्वर करता तुम्हारी बुद्धि से युक्त होकर है। इसीलिये कर्म का फल भी तुमको उसी अंतःकरण से युक्त होकर भोगना पड़ेगा। जब कहते हैं कि 'तुम अपना किया भोग रहे हो' तब इस तरह कर्म 'तुम्हारा' अपना किया है। बुद्धि में आया हुआ परमात्मा ही जीवात्मा है। इसलिये 'सब कुछ परमेश्वर करता है' यह ध्रुव सत्य है क्योंकि तुम वही हो जो बुद्धि से युक्त परमात्मा है। कर्त्ता वह है जो ब्रह्म के प्रतिबिम्ब से युक्त बुद्धि या अंतःकरण है।

बुद्धि कैसी है? 'बोधे आनखाग्रगा वपुः व्याप्नुयात्' जाग्रत् अवस्था में नाखून के अग्रभाग तक शरीर घेरकर स्थित रहती है। नख के अग्रभाग को भी कोई स्पर्श करता है तो 'मुझे छुआ'

ऐसा ही लगता है। तात्पर्य है कि सारे शरीर में व्याप्त होकर रहती है। उसी को तैत्तिरीय उपनिषद् में 'विज्ञानमय' शब्द से कहा है। किंतु वह भी आत्मा नहीं हो सकता क्योंकि गहरी नींद में यह बुद्धि, जिसमें चेतन का प्रतिबिम्ब पड़ रहा है, नहीं रहती। इसलिये गहरी नींद में 'मैं कर्त्ता' यह भाव नहीं रहता। 'मैं' यह भाव ही नहीं रहता क्योंकि बुद्धि लीन हो गई। एक शंका संभव है कि बुद्धि के कारण ही 'मैं' जीवरूप है, बुद्धि लीन हो गई तो जीवभाव लीन हो ही गया। जीवभाव रहा नहीं तो क्या मुक्त हो गया? इसके दो प्रकार के उत्तर होते हैं : एक तो सीधा उत्तर है कि बुद्धि लीन हुई है, बाधित, समाप्त नहीं हुई। चूंकि बुद्धि समाप्त नहीं हुई है, अविद्या में लीन है अर्थात् अविद्यारूप से मौजूद है, इसीलिये समय आने पर पुनः प्रकट हो जाती है। जाग्रत्, स्वप्न में पुनः प्रकट होती है इसलिये मोक्ष नहीं है। लीन अवस्था को ही अविद्या कहते हैं। अगर बुद्धि समाप्त हो जाये, लीन न होकर बाधित हो जाये तो आत्मा मुक्त हो ही जाये। लीनावस्था की बुद्धि है तो सही लेकिन उस समय कार्यकारी नहीं है। थोड़ी देर में कार्यकारी हो भी जाती है तो तुम फिर कर्त्ता बन जाते हो। फिर भी बुद्धि के सुषुप्ति में लीन रहते 'मैं' यह भाव नहीं रह जाता। हर हालत में, वह आत्मा नहीं हो सकती, क्योंकि आत्मा का कभी विलय भी नहीं होता। आत्मा स्वयं सबका कारण है। किसी का कार्य आत्मा नहीं है। कार्य ही कारण में लीन होता है। अतः सब चीज़ें आत्मा में तो लीन हो सकती हैं, परन्तु आत्मा किसी में लीन नहीं हो सकता। बुद्धि लीन हो रही है, इसलिये आत्मा नहीं है। जीव का व्यावहारिक स्वरूप कर्त्ता-भोक्ता है। आचार्य शंकर बार-बार याद दिलाते हैं कि 'मैं कर्त्ता, मैं भोक्ता' यही निश्चय बन्धन है। गुजरात में नरसी मेहता बड़े भक्त हुए हैं, वे कहते हैं *'हूँ करूँ हूँ करूँ एज अज्ञान छे'*। आचार्य शंकर कहते हैं 'नाहं कर्त्तेति बुद्धिमान्'। जाग्रत् व स्वप्न में बुद्धि से युक्त होकर मैं कर्त्ता हूँ, मैं *खुद* कर्त्ता नहीं। जब कर्त्ता नहीं तो भोक्ता भी नहीं क्योंकि करूँगा तभी भोगूँगा। चूँकि बुद्धि लीन हो जाती है, आत्मा लीन हो नहीं सकता, इसलिये यह बुद्धि आत्मा नहीं है, यद्यपि है अंतरंग।

मन और बुद्धि प्रायः लोगों को एक लगते हैं, इसलिये यह फरक समझ लेना कि हैं दोनों अंतःकरण ही, इसमें संदेह नहीं है, लेकिन एक औजार है और दूसरा, औजार को चलाने वाला है। औजार चलाने वाले अंतःकरण को बुद्धि कहते हैं और जो चलने वाला औजार है उसी को मन कहते हैं। मन ख़ास करके कामादि अवस्था वाला है। बुद्धि अर्थात् मोटी भाषा में जीव, तब करेगा जब मन इच्छा करेगा। इसलिये कोई कार्य नहीं करना हो तो कहते हैं कि 'मन नहीं कर रहा है' अर्थात् इच्छा नहीं हो रही है। इच्छा के द्वारा बुद्धि प्राण की सहायता से क्रिया करवाती है। कराने वाली तो बुद्धि है, वही करवायेगी, लेकिन मन में इच्छा पैदा करके प्राण से करवायेगी। चूँकि प्राण करता है इसलिये उस के अन्दर सारा बल मानना पड़ता है। करेगा वही, मन इच्छा करेगा और बुद्धि करवायेगी क्योंकि निर्णय करने वाली है। इसलिये निश्चयात्मिका बुद्धि कहते हैं। वेद (बृ. ४.४.५) कहता है 'यत्क्रतुर्भवति तत् कर्म कुरुते' जैसा तुम्हारा संकल्प या निश्चय होगा वैसा ही तुम कर्म करोगे। जो तुम्हारे पुराने संस्कार हैं वे सारे चित्त में पड़े हुए हैं। वे संस्कार

बुद्धि में बहते रहते हैं और वे ही तुमसे निर्णय करवाते रहते हैं; परन्तु करने वाले तुम हो। संस्कार तुम्हारे सामने विकल्प उपस्थित कर सकते हैं परन्तु उनमें से कौन-सा संस्कार मानो या न मानो, यह तुम्हारे हाथ में है। जब तक बुद्धि कर्त्ता नहीं बनेगी तब तक कार्य नहीं होगा। चित्त की वृत्ति का प्रवाह संस्कारों से मन में आयेगा। मन में इच्छा तो बहुत-सी चीज़ों की होती है, परन्तु बुद्धि निश्चय करती है कि इनमें से किस पर मोहर मारकर हम क्या करें। इसलिये उसे विज्ञानमय कहा है। विज्ञान बुद्धि को कहते हैं। ज्ञान का केन्द्र बुद्धि, इच्छा का केन्द्र मन और क्रिया का केन्द्र प्राण है। ये तीनों हमारा सूक्ष्म शरीर है। सिवाय ज्ञान, इच्छा, क्रिया के कुछ नहीं हो सकता अतः इन तीन के अन्दर सब कुछ आ गया।

इस प्रकार पहले अन्नमय अर्थात् स्थूल देह फिर प्राण-मन-बुद्धि अर्थात् सूक्ष्म देह, इन्हें अनात्मा समझाया।। ७।।

स्थूल देह उसे बताया जिसमें बैठकर भोग करते हैं। भोग से यहाँ कर्त्तृत्व भी समझ लेना। कर्त्ता विज्ञानमय है, जिसके द्वारा करता है वह मनोमय है और क्रिया करने वाला प्राणमय है। इस प्रकार ज्ञानप्रधान, इच्छाप्रधान और क्रियाप्रधान होकर सूक्ष्म शरीर तीन भेदों वाला बताया। जो मन और बुद्धि का भेद कहा था उसी को अब आचार्य स्वयं स्पष्ट करते हैं। मन और बुद्धि अंतःकरण ही हैं इसीलिये मनोमय और विज्ञानमय का भेद जल्दी समझ में नहीं आता इसलिये उसे स्पष्ट करना ज़रूरी है—

कर्तृत्वकरणत्वाभ्यां विक्रियेतान्तरिन्द्रियम्।
विज्ञानमनसी अन्तर्बहिश्चैते परस्परम्।। ८।।

अंतःकरण कर्तृरूपसे बना हुआ विज्ञान (बुद्धि) है और करणरूप से बना मन है। ये आपस में भीतर-बाहर हैं।

'अन्तरिन्द्रियम्' अर्थात् जो अन्दर की इन्द्रिय है। आचार्य शंकर कहते हैं 'इन्द्रःसर्वकामेश्वरः' इन्द्र सारे जगत् का अधिपति सर्वकामेश्वर है। जीव ही इन्द्ररूप है। इन्द्र जिसके द्वारा करता है वे बुद्धि, मन और प्राण उसकी होने के कारण इन्द्रियाँ हो गयीं। प्राण के साथ बाह्य कर्मेन्द्रियाँ आ गयीं और मन के साथ बाह्य ज्ञानेन्द्रियाँ आ गयीं। ज्ञानेन्द्रियाँ चूँकि ज्ञान या निश्चय कराती हैं इसलिये बुद्धि के साथ उन्हें भी गिना जाता है। हर हालत में, मन-बुद्धि अन्तरिन्द्रियाँ ही हैं। फिर मनोमय और विज्ञानमय दोनों को अलग क्यों कह रहे हैं? इसलिये कि बुद्धि के अन्दर तो 'मैं करने वाला' यह कर्त्तापना या कर्तृत्व है; यह अन्तरिन्द्रिय का एक विकार हुआ। दूसरा विकार साधनपरक है। दोनों अनुभव होते हैं : 'मैं सोच रहा हूँ' यह अनुभव भी होता है और 'मैं मन से सोच रहा हूँ' यह अनुभव भी होता है। मन से सोचने पर मन साधन या करण हो गया और 'मैं' सोचने वाला अर्थात् कर्त्ता हो गया। अन्तरिन्द्रिय एक होने पर भी उसमें ये दो विकार अर्थात् परिवर्तन हैं। इसी को बताने के लिये, उपनिषद् में मनोमय को तो वेदरूप बताया : उसका सिर यजुर्वेद है, दोनों भुजायें ऋग्वेद और सामवेद हैं, ब्राह्मणभाग पैर हैं तथा

अथर्वांगिरस पूँछ है। इस प्रकार मन की वेदरूपता बताई चूँकि वेद ही साधन है जिसके द्वारा आत्मज्ञान की प्राप्ति हो सकती है। विज्ञानमय बताने में श्रद्धा, ऋत, सत्य, योग और महत् को सिर आदि बताया। ये सारे कर्तृरूप हैं। श्रद्धा, ऋत, सत्य, योग, मह, जिसमें होंगे वही आत्मज्ञान पायेगा, वेद से पायेगा। उपनिषत् में चूँकि आत्मज्ञान का विषय है इसलिये इन्हें खासरूप से बताया, यहाँ सामान्य रूप से जो लौकिक ज्ञान आदि हैं उनके अनुसार बता दिया है। दोनों अन्तरिन्द्रिय के विकार ही हैं। जिन कर्त्ता को बुद्धि और करण को मन कहा वे एक-दूसरे के अन्दर और बाहर हैं। साधन प्रत्यगात्मा से कुछ दूर लगता है जबकि कर्त्तापने के अन्दर प्रत्यगात्मा से ज़्यादा नज़दीकी (एकता) लगती है, 'मैं मन से सोच रहा हूँ'। मैंपने के अन्दर (अहं में) प्रतिबिम्बित को ही चिदाभास कहते हैं इसलिये यह नज़दीक है और साधन होने से अंतःकरण थोड़ा बाहर ही है। यही अन्दर-बाहर होना है। जो प्रत्यगात्मा के विकार को ज़्यादा नज़दीक प्रतीयमान है उस अन्तरिन्द्रिय को कर्त्ता कहा और जो उससे दूर अर्थात् प्रत्यगात्मा से कुछ भिन्न लगता है उसे करण या मन कह दिया।। ८।।

करने या भोगने में कारण क्या है? किस कारण से जीव भोग करता है? इसे बताते हैं कि वह भी आत्मा नहीं—

काचिदन्तर्मुखा वृत्तिरानन्दप्रतिबिम्बभाक्।
पुण्यभोगे भोगशान्तौ निद्रारूपेण लीयते।। ९।।

पुण्य कर्म के फल का भोग होने पर कोई बुद्धिवृत्ति प्रत्यगात्मा की ओर उन्मुख होती है एवं आनन्द का प्रतिबिम्ब ग्रहण कर लेती है तथा कर्मभोग कुछ काल के लिये शांत होने पर (वह वृत्ति) निद्रारूपसे लीन हो जाती है, (उसे आनन्दमय कहते हैं)।

वेदान्त की आधारभूत मान्यता है और लोकसिद्ध भी है कि जो कुछ किया जाता है वह सुख के लिये किया जाता है। कोई व्यक्ति दुःख के लिये प्रयत्न करता नहीं देखा जाता। बुखार आने पर अस्पताल जाते देखा जाता है ताकि बुखार हट जाये। लेकिन कोई अस्पताल जाकर यह नहीं कहता कि 'डॉक्टर साहब! छह साल हो गये, मुझे मलेरिया नहीं हुआ इसलिये मलेरिया हो जाये तो अच्छा है।' यह वेदान्त की मान्यता है और लोकसिद्ध है कि सब सुख के लिये प्रयत्न करते हैं। इससे यह पता लगता है कि आत्मा सुखरूप या आनन्दरूप है। जो भी चीज़ अपने स्वरूप से दूर जाती है वह वापिस स्वरूप की तरफ जाना चाहती है। पानी समुद्र से बादल बनकर पुनः बरस कर पानी के रूप में समुद्र की ओर ही बहने की चेष्टा करता है; कोई रुकावट हो तो नहीं जा पाता, परन्तु जैसे ही रुकावट हटती है वैसे ही वह समुद्र की तरफ जाता है और समुद्र तक जाकर शांत हो जाता है। समुद्र अपने-आप अशांत नहीं होता, भूकम्पादि हेतु-विशेष से उसमें अस्वाभाविक ही अशांति आती है अतः हेतु दूर होने पर चली भी जाती है। मोमबत्ती, दीपक या अग्नि जलाते हो तो अग्नि की लौ ऊपर की तरफ ही जाती है क्योंकि जितनी भी गर्मी या ऊर्जा है वह सब अंततः सूर्य से ही आई है। सूर्य की किरणों से ही पेड़-पत्तियाँ शक्ति संचय

करते हैं। सूर्य की शक्ति को ही पेड़ ने संचय किया इसलिये पेड़ जलकर आग उसी तरफ़ जायेगी। पेड़ भूकम्प आदि के द्वारा पृथ्वी में दब गये तो पृथ्वी के अन्दर ही जो गर्मी है उससे वे कोयला बन गये; और ज़्यादा समय तक वहाँ रहा तो वही पेट्रोल बन गया। पृथ्वी की गर्मी भी वस्तुतः सूर्य से ही आई है इसीलिये लौ हमेशा ऊपर की तरफ जाती है जबकि पार्थिव चीज़ें पृथ्वी की तरफ जाती हैं। ठीक इसी प्रकार से हर एक जीव सुख की तरफ जाता है, इसका मतलब है कि उसका स्वरूप सुख है। दुःख आने पर सब उसे दूर करना चाहते हैं, सुख आने पर उसे कभी दूर नहीं करना चाहते।

चूँकि आत्मा सुखरूप है इसलिये अंतःकरण की वृत्ति में जब वह प्रतिबिम्बित होता है तब हमको क्षणिक सुख की प्राप्ति होती है। है तो वह अपना स्वरूपभूत सुख, परन्तु अंतःकरण की वृत्ति में प्रतिबिम्बित होने से क्षणिक सुख होता है। क्षणिक सुख भी है अंतःकरण की ही वृत्ति। इच्छा का विषय हमेशा सुखरूप लगता है जिससे इच्छा हमें बाहर ले जाती है। कई बार आदमी डण्डे के ज़ोर से भी करता है लेकिन वहाँ भी डण्डा न ख़ाने की *इच्छा* है इसलिये करता है। अतः कोई भी इच्छा से क्रिया करता है। जिस चीज़ की इच्छा है उसकी तरफ प्रवृत्ति होती है तो वह बहिर्मुखी प्रवृत्ति है। जब इच्छा पूरी होती है, अर्थात् इच्छित विषय मिल जाता है, उसके मिलने के साथ ही वृत्ति को जो इच्छा बाहर धक्का दे रही थी, वह शांत हो गई तो वृत्ति आत्मा की ओर लौटने लगती है अर्थात् अन्तर्मुखी हो जाती है। तब सुख होता है अतः वह अंतःकरण की ही वृत्ति से सम्बद्ध है। जैसे स्प्रिंग को ख़ींचने वाला बल हट जाये तो स्प्रिंग अपनी स्वाभाविक स्थिति पर चला जाता है इसी प्रकार इच्छा-रूप स्प्रिंग को विषय खींचता है, विषय मिलने पर वृत्ति अंतर्मुखी हो जाती है। अन्दर आत्मा मौजूद है इसलिये जैसे ही वृत्ति अंतर्मुख होती है, वहाँ मौजूद आत्मा को विषय करती है अर्थात् आत्मा का उसमें प्रतिबिम्ब पड़ता है। यही आत्मा वृत्ति का विषय बन जाना है। जैसे वृत्ति घट को विषय करती है तो घटाकार बनती है, इसी प्रकार आनन्द को विषय करती है तो आनन्दाकार बनती है। यह 'शुद्ध' आत्मा का आकार नहीं है। आत्मा शुद्ध रूप में ब्रह्म है। यदि शुद्ध आत्मा के आकार की वृत्ति बन गई होती तब तो तुम्हें नित्य आनन्द की प्राप्ति हो जाती! इच्छापूर्ति से वृत्ति वैसी नहीं बनती किंतु अविद्या के साथ जो उसका रूप है तदाकार बनती है। इच्छा की शान्ति होने पर वृत्ति अन्तर्मुखी होती है और अन्दर आत्मा को ग्रहण करती है, आत्मा आनन्दरूप है इसलिये आनन्द का प्रतिबिम्ब पड़ जाता है। इसे ही 'काचिद् अन्तर्मुखा वृत्तिः' कहा।

यह वृत्ति कब बनती है? सीधी बात तो यही है कि जब इच्छा के विषय की प्राप्ति होती है तब यह वृत्ति बनती है। इच्छा के विषय की प्राप्ति क्यों होती है? संस्कृत की प्रारम्भ में पढ़ाई जाने वाली पुस्तक 'हितोपदेश' है। उसका पहला पाठ बताता है 'धनात् धर्मः ततः सुखम्'। धन तुमको सीधे ही सुख नहीं दे सकता, धर्म के द्वारा सुख देता है। प्रयत्न से धन प्राप्त करके तुम्हें विषय की प्राप्ति हुई, यह ठीक है परन्तु कितना भी प्रयत्न कर लो, यदि प्रारब्ध नहीं है तो पहले धन की ही प्राप्ति नहीं होगी, फिर धन रहते भी विषय की प्राप्ति नहीं होगी। अंग्रेज़ी में एक

कहावत है कि ओष्ठ और प्याले के बीच में बहुत-सी *फिसलन* होती है। प्याला तुम्हारे पास आ गया और ओष्ठ भी तुम्हारे पास है, फिर भी यदि पीने का प्रारब्ध नहीं है तो तुम्हारे हाथ से फिसल जायेगा। जीवन में अनेक बार अनुभव किया होगा, चीज़ मिलने ही वाली है, बीच में कोई रुकावट नहीं है, फिर भी नहीं मिलती। इसलिये सुख का साक्षात् कारण धर्म है। धर्म हमेशा विषय के द्वारा होगा, धनादि से होगा। जब पुण्य कर्म के फल का समय होता है तब यह वृत्ति अन्तर्मुख बनती है। अंतर्मुख वृत्ति बनने के लिये इच्छा के विषय की उसे प्राप्ति होनी चाहिये, उसी समय यह वृत्ति बनती है।

भोग शांत होने पर अर्थात् पुण्यादि कर्म का फल जो भोग है, उसका काल समाप्त होने पर भोग की निवृत्ति होगी, तब वह वृत्ति चूँकि अविद्या वाले चेतन की तरफ गई थी इसलिये अविद्या में ही लीन हो जाती है। भोग शांत होने पर निद्रा के रूप में लीन हो जाती है अतः कहते हैं कि आनन्दमय कोश में जाते हैं। यह समझ लेना कि पुण्य और पाप दोनों भोग लीन होने पर निद्रा में जाते हैं। केवल पुण्य के भोग के शांत होने पर ही निद्रा नहीं आती, पुण्य-पाप दोनों जब फल देने वाले नहीं होते हैं तब नींद आती है। यदि कभी सूक्ष्म दृष्टि से देखोगे तो पाओगे कि जब कभी सुख के विषय का भोग समाप्त होता है तब झट नींद आ जाती है। दाल का बढ़िया सीरा गले तक भर कर खा लिया तो बिछौने के सिवाय और कुछ नहीं दीखता! दुःख-भोग की शांति में इतनी जल्दी नींद नहीं आती, उल्टा नींद उड़ जाती है। इसलिये यह ठीक है कि पुण्य-पाप दोनों प्रारब्ध समाप्त हों तभी नींद आती है, परन्तु पुण्य का नाम विशेषकर इसलिये लिया कि उसमें निद्रा में लीन होना शीघ्र हो जाता है। यह अंतःकरण की वृत्ति का अविद्या में शांत होना है। क्योंकि जहाँ अंतःकरण की उत्पत्ति बताई वहाँ पहले पंचमहाभूत और फिर उन पंचमहाभूतों से अंतःकरण बना यह बताया, इसलिये अंतःकरण का मूल कारण अविद्या है। अंतःकरण अविद्या में लीन होता है। जो अविद्या वाला ब्रह्म है, उसकी तरफ वृत्ति जाती है, अपने कारण को देखकर वहीं लीन हो जाती है। जब ब्रह्मज्ञान होता है तब वह अविद्या भी ब्रह्म में नष्ट हो जाती है, बाधित हो जाती है। उसके पहले यह अंतःकरण बाधित नहीं होता केवल अपने कारण अविद्या में पुनः लीन होता है। चूँकि अंतःकरण अविद्या में लीन होता है इसलिये उस अविद्या से पुनः वही अंतःकरण प्रकट होकर जीव जगता है अथवा सपने देखता है।। ९।।

कोई कह सकता है कि वहाँ आनन्द की प्राप्ति हो गई तो काम बन गया, इसी को आत्मा का स्वरूप समझ लो अर्थात् आनन्दमय ही आत्मा का स्वरूप है। ऐसा मानने वाले लोग भी हुए हैं। अतः कहते हैं कि दो कारणों से ऐसा नहीं मान सकते–

कादाचित्कत्वतोऽनात्मा स्यादानन्दमयोऽप्ययम्।
बिम्बभूतो य आनन्द आत्माऽसौ सर्वदा स्थितेः।। १०।।

यह आनन्दमय भी कभी ही होने वाला है, अतः अनात्मा है। क्योंकि हमेशा रहता है इसलिये बिम्ब बना जो आनन्द वह आत्मा है।

जो वृत्ति सुखरूप आत्मा की तरफ गयी तथा अविद्या में लीन हुई वह आनन्दमय कादाचित्क है अर्थात् कभी होती है, कभी नहीं भी रहती। जब-जब पुण्यभोग होता है तब-तब वृत्ति आनन्दमय बनती है। पुण्य-भोग में आनन्दाकार वृत्ति बनती है और भोगशांति के अन्दर अंतःकरण या अविद्या में लीन होती है। अतः यह आनन्दमय कदाचित् है। कब हो? जब पुण्य कर्म का भोग हो। हमको जब निश्चित लगता है कि अमुक चीज़ मिल रही है, तभी वह मिलने से रह जाती है! न केवल कभी-कभी होती है वरन् बहुत मुश्किल से होती है, अगर एक दिन के चौबीस घण्टों के अपने व्यवहार को देखो तो उसमें ज़्यादा से ज़्यादा आंनदानुभव या सुषुप्ति की स्थिति कितनी अल्प है यह समझ आ जायेगा। आनन्दमय का रूप बताते हुए तैत्तिरीय उपनिषद् ने कहा, प्रिय उसका सिर है। आनन्दमय के सिर की जगह प्रिय है क्योंकि जब तक प्रियता नहीं होगी तब तक आनन्द का सवाल ही नहीं है। जैसे किसी का चेहरा देखकर उसे झट पहचान लेते हैं वैसे ही जब प्रियता का अुनभव होगा तभी सुख होगा। फिर मोद होगा। प्रिय चीज़ के दर्शनादि ज्ञानमात्र से सुख होता है जिसे प्रिय कहा, प्रिय चीज़ प्राप्त हो जाये तो और सुख मिल जायेगा जो मोद है। ऐसे समझो कि किसी सेठ ने निमंत्रण दिया—'पंडित जी! आज हमारे यहाँ भोजन कीजियेगा, दाल का सीरा बनायेंगे।' जब वह तुम्हारी थाली में परोसा गया तब निमंत्रण मिलने के समय से ज़्यादा सुख होता है जिसे प्रिय कहा, परोसे जाने के बाद ब्राह्मण पुरुषसूक्त का पाठ करेंगे उसके बाद ही खाना शुरू करेंगे। उस समय परोसे जाने वाले समय से भी ज़्यादा सुख है, वह मोद है। पाठ ख़त्म होते ही जब दाल का सीरा मुँह में डालते हो तब सुख कुछ और ही है! जिसे प्रमोद कहा। आनन्द ही उसका आत्मा अर्थात् प्रिय-मोद-प्रमोद में अनुगत वस्तु है। यही वास्तव में आनंद या सुख है जो तत्तद् वृत्ति में हमें मिले तो प्रिय आदि सुख होते हैं। उस आनंद की वास्तविकता 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा', परब्रह्म है। आनंदमय अर्थात् वृत्तियों के साथ उपलब्ध सुख कभी-कभी होने वाला अतः आत्मा नहीं है।

जन्य सुख की अनित्यता तो प्रत्यक्ष ही है : कितनी बार तुम्हें निमंत्रण देने वाले आ जायेंगे! प्रियता का पहले तो दर्शन ही नहीं होता है; अधिकतर दिन-भर जाग्रत् के सोलह घण्टों को गिनोगे तो दस-बीस ही कोई प्रियता की बातें होती हैं, बाकी सब समय तो कोई दुःखी है, कोई बीमार है आदि प्रकार की बातें ही सामने आती रहती हैं। आगे मोद के अवसर और कम आते हैं। प्रिय चीज़ की बात हो भी जाये परन्तु पदार्थ सामने नहीं आता। जैसे आजकल चुनाव होते हैं तो नेता लोग बहुत प्रिय बातें कहेंगे कि 'हम तुम्हें नौकरी देंगे, सड़कें बढ़िया बना देंगे' इत्यादि; बातों को सुनकर सुख होगा। परन्तु बाद में उनमें से कोई भी चीज़ सामने नहीं आयेगी तो दुःख ही होगा। उसमें, चीज़ सामने आकर भी हमें मिल ही जाये, ऐसा नहीं होता। कई बार महात्मा वेष में भिक्षा लेने जाते हैं; पता लगा कि आज वहाँ दाल का सीरा बना है, मन में खुशी हुई, लेकिन हमसे आगे जो महात्मा गया उसे तो दाल का सीरा मिल गया, परन्तु जब तक हम वहाँ पहुँचे तब तक ख़त्म हो गया! दाल का सीरा सुनकर सुख का अनुभव तो हुआ, लेकिन मिला कुछ और ही। इसलिये प्रियता का अनुभव तो हुआ लेकिन मोद नहीं हुआ। मिलने पर

मोद हो गया तो सामने परोसा हुआ भी मुँह में नहीं जाता! क्षेत्र से निकले, साँड ने या आजकल किसी स्कूटर वाले ने ठोकर लगायी और झोली गिर गयी तो सीरा नाली में जा गिरा! इस प्रकार, से यदि सोलह घण्टे का हिसाब देखो कि सचमुच में कितनी बार सुख का भोग कर पाते हो, तो अत्यल्प मौका मिलता है यह स्पष्ट होगा। अगर पुण्य भोग हो तो प्रमोद होता है परंतु लोग क्या पुण्य करते हैं? महाभारतकार कहते हैं कि लोगों का स्वभाव बड़ा विचित्र है 'पुण्यस्य फलमिच्छन्ति पुण्यं नेच्छन्ति मानवाः। न पापफलमिच्छन्ति पापं कुर्वन्ति यत्नतः।।' लोग पुण्य के फल सुख को तो चाहते हैं परन्तु पुण्य नहीं करना चाहते। पाप के फल दुःख को नहीं चाहते; परन्तु प्रयत्न कर-कर के पाप करते हैं! पाप करने के लिये नये-नये रास्ते ढूँढते हैं जबकि पाप तो दुःख ही देगा, उससे प्रिय, मोद, प्रमोद कुछ भी नहीं होना है। पुण्य इतना अल्प करते हैं कि बहुत थोड़े से ही मोद, प्रमोद तक जा पाते हैं। इसलिये बहुत कम ही ऐसे अवसर आते हैं कि पुण्य भोग से सुख हो। आनन्दरूप होने पर भी कभी-कभी होता है इसलिये आनन्दमय अनात्मा है। प्रतिबिम्बरूप है इसलिये भी आत्मा नहीं है।

'मैं'-वृत्ति में प्रतिबिम्बित होने वाला अर्थात् *जो* प्रतिबिम्बित होता है वह आनन्दरूप ब्रह्म ही आत्मा है। इसलिये अन्यत्र श्रुति ने कहा है कि संसार के सब लोग उस परम आनन्द के छोटे-छोटे अंशों से ही अपने को धन्य समझते हैं। जैसी हमारी वृत्ति होगी वैसा उसमें प्रतिबिम्ब पड़ेगा। प्रतिबिम्ब होने से अंशता है। गीता में भी भगवान् ने कहा है 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः' अंश अर्थात् प्रतिबिम्ब; भगवान् कोई टुकड़े होने वाली चीज़ नहीं है कि उसके टुकड़े होकर जीव पैदा हो गये। यदि इतने टुकड़े पैदा हो जायेंगे तो भगवान् बेचारे का क्या बचेगा! अतः 'अंश इव अंशः' अर्थात् प्रतिबिम्ब को ही अंश कहा गया है। वह बिम्बरूप जो आनन्द आत्मा है जिसको प्रिय आदि शब्दों के द्वारा कहा जाता है, जो सब का कारणभूत है, उसे 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' कहा। वही आत्मा है क्योंकि वह सर्वदा स्थित है। अंतःकरण में प्रतिबिम्ब तो कादाचित्क होगा, परन्तु वह आनन्दरूप आत्मा हमेशा समान ही रहेगा। जैसे जब-जब तुम्हारे सामने काँच आयेगा तब-तब तुम्हारा प्रतिबिम्ब पड़ेगा, परन्तु तुम्हारा मुँह तो वैसा का वैसा रहेगा। ब्रह्माकार वृत्ति की आवश्यकता क्यों पड़ती है? जैसे तुमने अपने मुँह के ऊपर भस्मी लगाई परन्तु कैसी लगी है—काँच देखो तो इसका निश्चय होगा। निश्चय के बाद हमेशा काँच लिये हुए तो नहीं घूमते पर अब निश्चय रहता है कि भस्मी ठीक लगी हुई है। कोई कह भी दे कि ठीक नहीं लगी तो उससे कहते हो 'तुम्हें ठीक लगी नहीं दीखती होगी, मेरा तो निश्चय है कि ठीक लगी है।' इसी प्रकार जब अंतःकरण मल और विक्षेप दोषों से रहित हो जाता है तब अर्थात् समाधि अवस्था के अन्दर आत्मस्वरूप यथावत् स्पष्ट हो जाता है।

चित्त की एकाग्र अवस्था हो, संशय, विप्रतिपत्तियाँ समाप्त हो चुकें तब जिस आत्मस्वरूप का दर्शन होता है उससे पता लगता है कि 'यह मेरा स्वरूप है।' फिर भी जब मैं बीमार हूँ तब लगता है कि 'मैं सच्चिदानंदरूप नहीं हूँ, मैं तो बीमार हूँ'; कभी प्राण कहेगा कि 'मुझ से चला नहीं जाता', कभी मन कहेगा 'मैं दुःखी हूँ'; तब लगता है कि मैं कहाँ सच्चिदानंदरूप हूँ! वेद

में श्रद्धा पूरी है, कि वेद ठीक कहता है, परन्तु निश्चय इसलिये नहीं हो पाता कि शरीर, मन आदि को देखकर संदेह हो जाता है। जैसे भस्मी ठीक नहीं लगी यह संदेह हो गया तो दर्पण देखने से निश्चय हो जाता है कि ठीक लगी है, इसी प्रकार जब ब्रह्माकार वृत्ति में अपने स्वरूप को प्रतिबिम्बित देखा कि मैं सच्चिदानंदरूप हूँ तब, अंतःकरण चूँकि शुद्ध है अतः जैसा अपना शुद्ध रूप है वैसा ही दीख जाता है। जैसे काँच में *मुँह* तो नहीं दीखा, मुँह का प्रतिबिम्ब ही दीखा लेकिन बिम्ब का ज्ञान हो गया; इसी प्रकार ब्रह्माकार वृत्ति में देखा प्रतिबिम्ब लेकिन स्वरूप का निश्चय हो जाता है। इसीलिये गत अध्याय में कहा था कि शरीर दुःख से तड़पता भी रहे फिर भी संदेह नहीं होगा कि 'मैं दुःख पा रहा हूँ'। इसलिये 'सर्वदा स्थिति' कही क्योंकि आत्मस्वरूप हमेशा केवल आनन्दरूप से ही रहता है। जो आत्मा नहीं होता वह आनन्दरूप एवं नित्य नहीं होता। आकाश को भी अनित्य सिद्ध कर ही दिया था, उससें उत्पन्न हुए सारे अपने आप अनित्य हैं। एकमात्र आत्मा ही सर्वथा एक जैसा हमेशा स्थित है। इस तरह अन्नमय से आनन्दमय तक सभी कोष अनात्मा समझाये।। १०।।

आत्मा अर्थात् जो मैं लगे। हमें 'मैं ब्राह्मण, मोटा' आदि स्थूल शरीर मैं लगता है; 'खाता-चलता' आदि प्राणमय मैं लगता है, 'मैं कामी-क्रोधी' आदि मनोमय मैं लगता है, 'मैं कर्त्ता' यों विज्ञानमय तथा 'मैं सुखी' यों आनन्दमय मैं लगता है। यदि ये अनात्मा हैं तो क्या आत्मा कुछ है ही नहीं? इस प्रश्न को रखते हैं—

ननु देहमुपक्रम्य निद्रानन्दान्तवस्तुषु।
मा भूदात्मत्वमन्यस्तु न कश्चिदनुभूयते।। ११।।

शरीर से प्रारम्भ कर निद्रा में अनुभूयमान आनंद तक की वस्तुएँ आत्मा भले ही न हों, किंतु इनसे अन्य कोई 'मैं'-रूप से अनुभव भी तो नहीं होता?

शंका है कि शरीर से लेकर अर्थात् अन्नमयकोश से लेकर निद्रा पर्यन्त अर्थात् निद्रा में होने वाला जो आनन्दमय कोश है वहाँ तक आपने जो कहा कि ये सब आत्मा नहीं हैं, वह ठीक है लेकिन इसके सिवाय और किसी आत्मा का तो अनुभव नहीं है कि यह पता चले कि आप आत्मा किसे समझते हैं? यह सब आत्मा नहीं है, यह तो बौद्धों की समझ में आ गया पर भ्रम यह हो गया कि इसके अतिरिक्त और कोई आत्मा नहीं है, आत्मा नाम की चीज़ ही नहीं है! इसीलिये बौद्ध अनात्मवादी हो गये। यह बात भी ठीक ही है कि इनके बिना अपने को कभी मैं का अनुभव नहीं होता। वेदान्त में भी सत् चित् आनंद समझने में कठिनता इसीलिये आती है : ब्रह्म नाम-रूप के बिना सिर्फ 'है' तो सिद्ध नहीं होता क्योंकि जो है वह हमेशा नाम-रूपात्मक दीखता है। जगत् दीखता है। नाम-रूपात्मक जगत् के सिवाय 'है' का अनुभव कहीं होता नहीं, केवल 'है' कहीं मिलता नहीं, जब मिलता है तब नाम-रूप के साथ मिलता है। इसी प्रकार से जब चिद्-रूप से देखते हैं तब भी शरीर से लेकर आनन्दमय कोश पर्यन्त ही मैं की अनुभूति रहती है, इन सबको छोड़कर नहीं। ज्ञान भी घट-पट आदि सहित ही मिलता है, अकेला नहीं।

एवं च, शुद्ध आत्मा या 'मैं' सिद्ध होता नहीं और इनसे भिन्न 'मैं' का अनुभव होता नहीं, और न केवल 'मैं' का अनुभव होता है। सारा वेदान्त इसी पर आधारित है कि इन सब नाम-रूपों में प्रतीत होने वाला 'है' इन सबसे अलग होता है, इसी प्रकार इन पाँचों कोशों से एकमेक प्रतीत होने वाला 'मैं' इन पाँचों से भिन्न हूँ। इसीलिये वेदान्त को हमेशा श्रुति प्रमाण सामने रखना पड़ता है क्योंकि बौद्धों की तरह केवल बुद्धि से विचार करें तो यह सब नहीं है—इतना ही सिद्ध होगा। इनसे भिन्न कुछ है यह केवल वेद प्रमाण से ही पता लगता है। वेद प्रमाण से पता लगने के बाद फिर युक्ति प्रवृत्त हो सकती है। बिना वेद पर टिके 'नहीं है' पर ही अटक जाते हैं।। ११।।

प्रश्न का उत्तर देते हैं—

बाढं निद्रादयः सर्वेऽनुभूयन्ते न चेतरः।
तथाप्येतेऽनुभूयन्ते येन तं को निवारयेत्।। १२।।

यह ठीक है कि निद्रादि (में आनंदमय आदि) का अनुभव होता है, इनसे अन्य कोई अनुभव में नहीं आता, फिर भी ये जिससे अनुभव होते हैं उसे कौन मना कर सकता है!

'बाढम्' अर्थात् तुम ठीक कह रहे हो। निद्रा से लेकर शरीर तक अर्थात् आनन्दमय, बुद्धि, मन, प्राण और अन्नमय—ये ही सब अनुभव में आते हैं। निद्रा का मतलब निद्रा में होने वाला आनन्द है। निद्रा का अनुभव अर्थात् निद्रा के आनन्द का अनुभव। ये सारे ही मैं-रूप से अनुभव में आते हैं; इनसे भिन्न कुछ अनुभव में नहीं आता, यह सच्ची बात है। इन पाँचों से अतिरिक्त आत्मा अनुभव में नहीं आता, यही तो इसे समझने में कठिनाई है! जो अनुभव में नहीं आता उसी को समझना है। कैसे समझें? 'येन एते अनुभूयन्ते' जिसके द्वारा इन सबका अनुभव होता है; वह भले ही अनुभव में नहीं आता, लेकिन उसके द्वारा ही सबका अनुभव हो ही रहा है। इसी प्रकार से नाम-रूप को हटाकर 'है' अनुभव में नहीं आता परन्तु नाम-रूपों में रहने वाला कोई है ज़रूर, यह पता लगता ही है। 'तं को निवारयेत्' उस अनुभव करने वाले को कैसे हटाओगे? वह नहीं होता तो इनका अनुभव कौन करता? इसी तरह, यदि 'है' नहीं होगा तो ये जो 'नहीं है'-रूप नाम-रूप, ये 'है'रूप कैसे होते? यदि अनुभव करने वाला चेतन नहीं हो तो इन सबका अनुभव कैसे हो? जब लम्बे समय तक धीरे-धीरे चिंतन करते हो तब यह बात बिलकुल स्पष्ट भान होती है। आत्मा का अनुभव नहीं होता, परन्तु जहाँ कहीं अनुभव होता है वहाँ अनुभव करने वाला अनुभवरूप आत्मा है, यह निश्चय रहता है। उस अनुभव को कौन अस्वीकार कर सकता है! लम्बे समय तक इसका विचार करना पड़ता है कि कोई है तभी सब चीज़ों का अनुभव होता है।

हमारे मन में दृढ संस्कार है कि जिसका अनुभव नहीं होता वह नहीं होता। यदि शुरू में ही किसी साधक को कह दें 'परमात्मा का साक्षात्कार नहीं होता' तो वह मान लेगा कि परमात्मा है ही नहीं! इसलिये समझाना यही पड़ता है कि उसका साक्षात्कार तब होता है जब ब्रह्माकार

वृत्ति बनती है। कह तो देते हैं, परन्तु क्या इसका साक्षात्कार होता है? साक्षात्कार तो ब्रह्माकार वृत्ति में पड़े हुए प्रतिबिम्ब के कारण है। उस प्रतिबिम्ब को देखकर श्रुति प्रमाण से पता लग जाता है कि ऐसा बिम्ब है। जैसे घड़ा है, कपड़ा है में 'है' का अनुभव होता है, इसलिये 'है' घड़े-कपड़े से अतिरिक्त है यह श्रुति प्रमाण से सिद्ध होता है, इसी प्रकार इन पाँच कोशों के अन्दर चेतना है, इसलिये इन पाँच कोशों से भिन्न चेतना भी सिद्ध होती है। इसी को त्वं और तत् पदार्थ का शोधन कहते हैं। इसी अभिप्राय से वेद कहता है कि सारी सृष्टि में जो सद्-रूप है वही शरीर में चिद्-रूप है। सद्-रूप सभी चीज़ों में भासता है और चिद्-रूप शरीर में प्रकट है। केवल आत्मा का अनुभव कभी नहीं होता क्योंकि आत्मा अनुभवरूप है। अनुभव अर्थात् ज्ञान। घड़े का ज्ञान होता है, अर्थात् घड़ा ज्ञात होता है, घड़े का ज्ञान से सम्बन्ध होता है। ज्ञान से घड़े का संबंध हो तब कहेंगे कि घड़ा ज्ञात होता है जैसे सूर्य का जिस किसी चीज़ के साथ सम्बन्ध होता है वह पदार्थ प्रकाशित हो जाता है अर्थात् प्रकाश से सम्बन्ध वाला होता है। ज्ञात मायने ज्ञान से सम्बद्ध, ऐसे ही प्रकाशित मायने प्रकाश के साथ सम्बद्ध। लेकिन सूर्य से क्या प्रकाश सम्बन्ध वाला होता है। नहीं हो सकता! जब प्रकाश से सम्बन्ध वाला नहीं होता तो सूर्य प्रकाशित कैसे होगा? इसलिये वस्तुतः सूर्य *प्रकाशित* नहीं होता। किन्तु इसका मतलब यह नहीं निकाल सकते कि सूर्य अंधकाररूप है! सूर्य प्रकाशरूप है इसलिये उसका प्रकाश से सम्बन्ध नहीं हो सकता। इसी प्रकार तुम परमात्मा का साक्षात्कार नहीं कर सकते, क्योंकि तुम हो ही परमात्मरूप।। १२।।

इसी बात को आगे समझायेंगे कि अनुभव का विषय हुए बिना वह प्रकाशमान है—

स्वयमेवानुभूतित्वाद् विद्यते नानुभाव्यता।
ज्ञातृज्ञानान्तराभावादज्ञेयो न त्वसत्तया।। १३।।

खुद अनुभूतिरूप होने से (आत्मा) विद्यमान है (जबकि वह) अनुभव का विषय नहीं है। उससे भिन्न ज्ञाता और ज्ञान न होने से वह ज्ञेय नहीं बनता, न कि इसलिये कि वह है नहीं।

आत्मा स्वयं ही अनुभूतिरूप है। स्वयं ही अनुभवरूप होने से इसकी अनुभाव्यता नहीं है, वह अनुभव का विषय नहीं हो सकता। दूसरी चीज़ें पहले अप्रकाशरूप हैं, उनके ऊपर प्रकाश पड़ता है तो वे प्रकाशित हो जाती हैं। परन्तु प्रकाश खुद तो अप्रकाशरूप नहीं है, है ही प्रकाशरूप इसलिये प्रकाश पड़कर प्रकाशित हो जाये यह नहीं हो सकता। यदि आत्मा ज्ञानरूप न होता तो ज्ञान से सम्बन्ध वाला होकर ज्ञात हो जाता, परन्तु चूँकि आत्मा नित्य अनुभव है, इसलिये अनुभव के साथ सम्बन्ध होकर अनुभव की विषयता उसमें नहीं है। जो अनुभूतिरूप न हो उसमें अनुभाव्यता होगी।

अनुभाव्यता क्यों नहीं है? यह समझाते हैं : ज्ञाता अर्थात् जानने वाला प्रत्यगात्मा से अतिरिक्त नहीं और उससे अलग कोई ज्ञान भी नहीं है। उससे अलग कोई ज्ञाता और ज्ञान नहीं हैं। ज्ञाता बनने के लिये उसी को वृत्ति की उपाधि की ज़रूरत पड़ती है। गहरी नींद से उठकर

कहते हो 'मैं आनन्द से सोया।' वहाँ 'मैं' तो था नहीं! इसलिये गहरी नींद में 'मैं' के बिना भी जाना। वेदान्त ने इसको स्पष्ट करने के लिये उस जानने वाले का नाम 'साक्षी' रखा है। साक्षी भी जानने वाला है, ज्ञाता (प्रमाता) भी जानने वाला है। ज्ञाता 'मैं' की वृत्ति रहते हुए जानने वाला है, साक्षी मैं की वृत्ति के बिना भी जानता है। इसलिये 'मैं आनन्द से सो रहा हूँ,' ऐसा अनुभव कभी नहीं होता, परन्तु 'आनन्द से सो रहा हूँ' यह अनुभव किया तभी याद आ रहा है कि 'मैं आनन्द से सोया था'। याद उसी को आती है जिसे अनुभव हुआ है। इसी तरह अहं के रहते हुए द्रष्टारूप से और अहं के बिना साक्षीरूप से रहने वाला आत्मा ही है। आगे, उसको कौन जाने! साक्षी-स्वरूप भी वही है, द्रष्टा-स्वरूप भी वही है। एक तो, ज्ञाता उसके अतिरिक्त दूसरा नहीं; दूसरे, ज्ञान भी उसके अतिरिक्त नहीं है। आत्मासे अन्य ज्ञाता एवं ज्ञान का अभाव होने से आत्मा अज्ञेय है, जाना नहीं जा सकता। ज्ञानस्वरूप साक्षी होने के कारण निद्रा के अन्दर वही जानने वाला रहता है। उससे भिन्न कोई ज्ञान नहीं जिससे उसका सम्बन्ध होकर वह ज्ञात हो जाये, इसलिये भी अज्ञेय है। जो प्रकाशित नहीं होता, उसे सामान्यतः अंधकाररूप माना जाता है; प्रकाशित नहीं होता अर्थात् दीखता नहीं है। अँधेरे में बैठा हुआ देवदत्त दीखता नहीं है, जब टार्च से देखेंगे, तब उसका पता लग जायेगा। उसको कहते हैं कि वह प्रकाशित हो गया क्योंकि पहले अंधकाररूप था। परन्तु इस तरह सूर्य को तो नहीं कह सकते कि वह 'प्रकाशित' हो गया! सूर्य अप्रकाशित है, यह कहते ही लगता है कि सूर्य अंधकाररूप है जबकि सूर्य अंधकाररूप नहीं है। इसी तरह सनातन ज्ञानरूप होने से वह ज्ञानविषय या ज्ञेय नहीं। किंतु ऐसा नहीं कि वह है नहीं या ज्ञान नहीं। वह कभी अज्ञात है ही नहीं, इसलिये अज्ञेय है। ज्ञेय अर्थात् जानने के योग्य वही होता है जो जाना नहीं गया। आत्मा हमेशा ही ज्ञानरूप है इसलिये कभी भी बिना जाना हुआ होता ही नहीं। इस प्रकार जैसे विशेष-सम्बद्ध ही मिलने पर भी सामान्य स्वतन्त्र ही स्वीकार है वैसे कोश-सम्बद्ध ही मिलने पर भी आत्मा इनसे स्वतंत्र है। अतः शुद्ध का अनुभव न होने पर भी वह है, यही समझ सकते हैं।। १३।।

इसे दूसरे दृष्टांत से समझाते हैं–

माधुर्यादिस्वभावानामन्यत्र स्वगुणार्पिणाम्।
स्वस्मिंस्तदर्पणापेक्षा नो न चास्त्यन्यदर्पकम्।। १४।।
अर्पकान्तरराहित्येऽप्यस्त्येषां तत्स्वभावता।
मा भूत् तथाऽनुभाव्यत्वं बोधात्मा तु न हीयते ।। १५।।

मिठास आदि जिनका स्वभाव है वे अन्य पदार्थों में अपना गुण अर्पित करते हैं। स्वयं में वह गुण अर्पित करने की ज़रूरत नहीं और न कोई अन्य उनमें वह अर्पित करने वाला है भी। यद्यपि दूसरा अर्पित करने वाला नहीं, तथापि ये वस्तुएँ (मिठास आदि) उन स्वभावों वाली ही हैं। इसी तरह आत्मा में अनुभवविषयता न हो तो भी उसकी अनुभवरूपता हटती नहीं।

गुड़-चीनी आदि स्वभाव से मीठे हैं। उन्हें डालने से लड्डू आदि मीठे होते हैं। स्वयं चीनी कुछ डालने से मीठी नहीं, स्वभाव से ही है। गुड़ कम डालो तो लड्डू कम मीठा और ज़्यादा मीठा तब है जब गुड़ ज़्यादा डाला है। गुड़ को तो तुम कम मीठा या ज़्यादा मीठा नहीं कह सकते क्योंकि गुड़ है ही मिठासरूप। इसी प्रकार खटाई में है; नींबू का रस या इमली का रस साँभर में कम ज़्यादा पड़े तो साँभर कम खट्टा या ज़्यादा खट्टा हो, किंतु नींबू या इमली में खटास की कमी या अधिकता नहीं कह सकते। गुड़ अपना मिठास लड्डू को देता है, नींबू का रस या इमली का रस अपना खटास साँभर को देता है। यदि प्रश्न करो कि इमली का रस किससे खट्टा हुआ? तो क्या बताया जाये! यही कह सकते हैं कि वह खुद ही खट्टा है। ऐसे ही गुड़ किससे मीठा हुआ? यही कहोगे कि गुड़ खुद ही मीठा है। कोई दूसरा उसे अपना मिठास या खटास दे ऐसा नहीं है, क्योंकि माधुर्य आदि ही उसका रूप है, स्वभाव है। यह कैसे पता लगता है? अन्यत्र अर्थात् अपने से भिन्न लड्डू आदि पर वह अपने मिठास आदि को अर्पण करता है; तथा स्वयं उसे कोई मिठास दे, ऐसे किसी दूसरे की अपेक्षा गुड़ादि को नहीं है। उसे मीठा बनाने वाली कोई दूसरी चीज़ है भी नहीं! जैसे गुड़ को मीठा बनाने वाली कोई दूसरी चीज़ नहीं, फिर भी गुड़ मीठा है, इसी प्रकार आत्मा अपने को खुद जानता है; आत्मा को कोई दूसरा जानता हो, ऐसा नहीं है क्योंकि आत्मा ज्ञानस्वरूप है।

इसलिये आत्मा कभी जाना नहीं जाता, अनुभव का विषय नहीं होता। उसको जानने का मतलब यह है कि उसके प्रतिबिम्ब को देखकर उसका पता लगता है। जैसे तुम्हारी आँख सब चीज़ों को देखती है, खुद अपने को तो नहीं देखती। यदि उसे अपने को देखने की ज़रूरत पड़े तो सामने काँच में देखकर पता चलता है कि आँख में फुंसी हो गई। आँख खुद उसे नहीं देख सकती, प्रतिबिम्ब देखकर पता लगता है कि आँख में फुंसी है। इसी प्रकार से ब्रह्माकार वृत्ति में प्रतिबिम्ब को देखकर आत्मा की ब्रह्मरूपता का पता लग जाता है। आत्मा की अनुभाव्यता नहीं अर्थात् आत्मा कभी जाना नहीं जाता, लेकिन खुद ही ज्ञानरूप है। आत्मा अनुभवस्वरूप होने के कारण अनुभव का विषय नहीं है। एक प्रश्न होता है कि यदि आत्मा हमेशा ज्ञात है, ज्ञानरूप है तो वेद आदि सद्ग्रन्थ क्यों कहते हैं कि आत्मा का दर्शन करो? जानना दो तरह का होता है। हम सवेरे नगरपालिका में काम करने जाते हैं। एक दूसरा व्यक्ति भी उसी नगरपालिका में काम करने जाता है। रोज़ उसे जाते देखते हैं अतः उसे जान भी रहे हैं। फिर भी, वह कौन है—यह नहीं जानते। किसी दूसरे से पूछते हैं कि कौन है। वह बताता है कि यह नगरपालिका में कमिश्नर है। उसे देख तो रोज़ रहे थे, जान रहे थे, परन्तु सचमुच वह कौन है, यह नहीं जानते थे। उसे मनुष्यरूप से जानने पर भी कमिश्नररूप से नहीं जानते थे। जानी हुई चीज़ को जानना इसी प्रकार का होता है। इसी प्रकार आत्मा को हम लोग 'मैं'-रूप से जान रहे हैं, परन्तु वही आत्मा सर्वेश्वर सर्वव्यापक है, सबका कारण है, सब में मौजूद है, यह बात नहीं जानते। इस बात का परिचय वेद कराता है। कराता उसी का परिचय है, किसी अज्ञात चीज़ का परिचय नहीं कराता। उसे ही तुम मैं देख रहे हो, मैं की प्रतीति आत्मा की हो रही है। आत्मा को देखते हैं,

फिर भी वह ढँका हुआ है। जैसे दृष्टांत में कमिश्नर है—यह नहीं जानते, इसी प्रकार 'मैं' आत्मा साक्षात् शिव है, इस बात को नहीं जान रहे हैं। इसका परिचय वेद करा देता है। अभी हम आत्मा को करीब-करीब मैला ढोने वाले की तरह जानते हैं! पेट में टट्टी-पेशाब उठाकर घूमते-फिरते हैं। सवेरे भोजन कर लिया, दो घण्टे में उसका टट्टी-पेशाब बन गया, शाम को आठ बजे पेट खाली करने जाओगे। तब तक दिन भर टट्टी-पेशाब को ही ढोते रहे। रात में नौ बजे खाना खा लिया, फिर मल-मूत्र बन गया। सवेरे पाँच बजे तक उसे पेट में ढोते रहते हो। अपने को मल-वाहकरूप जानते हो जबकि मल-मूत्र ढोने वाला शरीर तुम नहीं हो। शरीर का मलमूत्र *तुम* नहीं ढो रहे हो, शरीर को अपना रूप मान कर जबर्दस्ती मल-वाहक बन रहे हो। दृष्टांत में पता लगा कि वह कमिश्नर है, वैसे ही आत्मा का पता लगता है कि यही सर्वेश्वर सर्वज्ञ है।। १४—१५।।

आत्मा यों सदा भासमान है इसे शास्त्र से प्रमाणित करते हैं—

स्वयंज्योतिर्भवत्येष पुरोऽस्माद् भासतेऽखिलात्।
तमेव भान्तमन्वेति तद्भासा भास्यते जगत्।। १६।।

यह स्वप्रकाश है, इस सारे (जगत्) से पहले ही भासमान है। उसके भासने के बल पर ही उसके भान से जगत् प्रतीत होता है।

आत्मा स्वयंज्योति है। याज्ञवल्क्य-जनक संवाद में प्रश्न किया गया 'किंज्योतिरयं पुरुषः' किस प्रकाश से तुम काम करते हो? कहा, सूर्य की रोशनी में करते हैं। जब सूर्य अस्त होता है तब? चन्द्रमा की रोशनी में काम करते हैं। अमावस्या की रात को? तारों के प्रकाश से काम चलता है। भाद्रपद की अमावास्या को आग जलाकर काम चलाते हैं। आग बुझ जाये तो जो रोज़ाना उस रास्ते से आते-जाते हैं, इसलिये, उन्हें पता रहता है कि कहाँ गड्ढा आ रहा है, वे बोल देते हैं तो उनके शब्द से जानकर गड्ढे से बच कर चले जाते हैं। कोई साथ नहीं हो जो बताये तब भी काम चलता है, तब तुम खुद अपनी ज्योति से काम करते हो! अगर वह खुद की ज्योति न हो तो न सूर्य का प्रकाश काम देगा न चन्द्रमा और शब्द का ही प्रकाश काम देगा। तुम स्वयं ज्योति हो तब तक तो सब काम कर देंगे। वह 'तुम' नहीं हो तो अन्य सारे प्रकाश भी अंधकाररूप हैं; स्वयंज्योति आत्मा है अतः इसके सामने सब प्रकाशित होते हैं, इन सबकी प्रतीति होती है। नृसिंहतापनीय (उ.ता.२) में श्रुति है 'अस्मात् सर्वस्मात् पुरतः सुविभातम्' अर्थात् पहले 'मैं' प्रतीयमान होगा तब देखना, सुनना, खाना, पीना, सोचना आदि सब हो सकता है। बिना 'मैं' के तो ये सब कुछ नहीं हो सकते।

इसलिये वेद कहता है 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्' पहले ज्ञानस्वरूप प्रत्यगात्मा का भान है, तब बाकी सब भान होते हैं। इसलिये मारवाड़ी भाषा में कहावत है कि 'आप डूबो, जग डूबे' जब तक तुम हो तब तक सारा जग है। यह मेरी पत्नी है, यह मेरा पुत्र है, यह मेरा मकान है—ये सब तब तक हैं जब तक तुम हो। तुम नहीं रहे तो सब खत्म हो गये; मैं-रूप से आत्मा का भान

होकर बाकी सबका भान होता है। उसके प्रकाश से यह सारा जगत् प्रकाशित हो रहा है। 'तमेव भान्तम् अनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'। यह श्रुति आत्मा की स्वप्रकाशता को बिलकुल स्पष्ट कर देती है।। १६।।

इसी पर एक और श्रुति का उद्धरण भी देते हैं–

येनेदं जानते सर्वं तं केनान्येन जानताम्।
विज्ञातारं केन विद्याच्छक्तं वेद्ये तु साधनम्।। १७।।

जिससे ये सब जानते हैं उसे और किससे जानें? जानने वाले को कोई किस से जाने? ज्ञेय के ज्ञान के लिये ही साधन समर्थ होते हैं।

'येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयाद्, विज्ञातारम् अरे केन विजानीयात्' (बृ.२.४.१४) इसी श्रुति के अधिकांश शब्दों के द्वारा यह श्लोक बना है। थोड़ा परिवर्तन है ही। 'सदेव सोम्येदमग्रआसीद् एकमेवाद्वितीयम्' का विचार करते हुए बताया कि इदं का मतलब अपने से भिन्न जो कुछ भी वह सब है। सारे संसार का विचार करके देखो तो वह दो भागों में बँट जाता है–दृक् और दृश्य। एक देखने वाला और दूसरा जिसको देखता है। 'मैं' को छोड़कर जो कुछ भी संसार में है वह सब दृश्य है। एकमात्र 'मैं' ही दृश्य नहीं है। 'मैं' के द्वारा ही सब जाना जाता है। 'मैं' को अहंकार की वृत्तिरूप 'मैं' नहीं समझ लेना, क्योंकि गहरी नींद वृत्ति-रूप 'मैं' नहीं जानता। गहरी नींद के सुख को मैं मन की वृत्ति से नहीं जानता क्योंकि वहाँ मन नहीं है, परन्तु जान तो मैं रहा हूँ क्योंकि उठता हूँ तो 'मैंने जाना,' ऐसी स्मृति करता हूँ। सुषुप्ति में भी जो जानता है वह साक्षात् चैतन्य मैं है। वही चैतन्य यहाँ भी जान रहा है। 'मैं' अर्थात् अहंकार वाला, जान रहा हूँ; मैं घड़े को जान रहा हूँ–इस अहंकार वाले के ज्ञान का भी तो ज्ञान हो रहा है, अन्यथा 'मैंने जाना' इस का संस्कार भी न रहे जबकि रहता है। 'येन' अर्थात् जानने वाला साक्षिचैतन्य। कर्त्तारूप से जानने वाला अर्थात् ज्ञाता 'येन' का अर्थ नहीं। वह जैसे सुषुप्ति में जानता है वैसे ही जाग्रत् के अन्दर सुख-दुःख को जानता है। सुख-दुःख तो खुद ही मन की वृत्ति हैं, घड़े की तरह कोई बाह्य चीज़ें तो हैं नहीं। मन की वृत्ति ही सुखरूप है अतः उसको जानने वाला मन से भिन्न है। सुख-दुःख को जानने वाला साक्षी है अतः सुख-दुःख भी 'इदं' कोटि में आता है। जिस साक्षी चैतन्य के द्वारा इन सबको जानते हैं 'तं केन विजानीयात्' उस साक्षी को कैसे जानें? यदि साक्षी से भिन्न होगा तो दृश्य होगा और दृश्य द्रष्टा को कैसे प्रकाशित करे? साक्षी से भिन्न जो होगा वह अनात्मा होगा और अनात्मा होने से जड होगा। साक्षी यदि आत्मा है तो दूसरे किसके द्वारा जाना जाये? 'विज्ञातारम् अरे केन विजानीयात्'? उस आत्मा से अतिरिक्त कौन दूसरा आत्मा हो सकता है जो उसे जाने? सारे दृश्य को जो जानने वाला है, कौन ऐसा हो सकता है जो उसे जाने? कोई भी दृश्य ऐसा नहीं हो सकता। और द्रष्टा कभी दृश्य होता ही नहीं है।

जो वेद्य हो अर्थात् जाना जा सकता हो उसको ही जो ज्ञान का साधन मन है वह जान

सकता है। जानने वाला आत्मा है। वह आत्मा 'अहम्' इत्याकारक वृत्तिं के साथ सम्बद्ध होकर आँख के सामने घड़ा आने पर उसको जानता है। जानने में सामर्थ्य वाला मन है, परन्तु मन भी, जो जाना जा सकता है उसी को जानेगा। मन साधन है, वह वेद्य को तो जान सकता है, परन्तु मन भी साक्षी के लिये दृश्य कोटि में ही है, इसलिये मन अपने जानने वाले को जानने में समर्थ नहीं हो सकता। इसीलिये श्रुति कहती है 'नैव वाचा न मनसा' (कठ ६.१२)। न वाणी उसको प्रकाशित कर सकती है और न मन उसको प्रकाशित कर सकता है। बिना वाणी और मन के भी उसे नहीं समझ सकते लेकिन वाणी और मन के द्वारा भी उसे नहीं समझ सकते! यह करीब-करीब ऐसी ही बात है जैसे द्वितीया के चन्द्रमा को देखने के लिये कहते हैं कि 'वह सामने नीम के पेड़ के ऊपर दो डालियों के बीच में है' जबकि चन्द्रमा उन दो डालियों के बीच में नहीं है। फिर भी दो डालियों के बीच में नज़र ले जाने से चन्द्रमा दीख जाता है। दो डालियों के बीच में न होने पर भी तुम्हारी नज़र दो डालियों के बीच में जाती है तो तुमको उसका दर्शन हो जाता है जो दो डालियों के बीच में नहीं है। इसी प्रकार, वह न ईश्वर बना और न जीव बना, परन्तु जीव और ईश्वर की तरफ दृष्टि लगाते हो तो इन दोनों उपाधियों को छोड़कर वह शुद्ध ही रह जाता है। अतः वाणी और मन का विषय नहीं; फिर भी मन और वाणी से प्रयत्न करके ही मिलता है।। १७।।

आत्मा स्वप्रकाश है इसी में और श्रुतिवचन का परामर्श करते हैं—

स वेत्ति वेद्यं तत् सर्वं नान्यस्तस्यास्ति वेदिता।
विदिताविदिताभ्यां तत् पृथग्बोधस्वरूपकम्।। १८।।

जो कुछ ज्ञेय है उस सबको वह आत्मा जानता है, अन्य कोई उसे (आत्मा को) जानने वाला नहीं। ज्ञानस्वरूप वह चेतन ज्ञात-अज्ञात से अलग है।

श्रुति कहती है 'स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता' (श्वे. ३.१९) जो भी ज्ञान का विषय हो सकता है उन सबको वह तो जानता है पर उसे जानने वाला कोई नहीं। 'वेद्य' कहने से सारे विषय आ गये। कई बार कह देते हैं कि वह खुद ही खुद को जानता है क्योंकि समझाने के लिये शब्दों का प्रयोग करना ही पड़ता है; लेकिन खुद को खुद से जानना कहने से कर्तृ-कर्म-विरोध हो जाता है। 'अपने को ही जाने' यह कहना वैसा ही है जैसे कहना कि सूर्य अपने को प्रकाशित करता है। सचमुच में सूर्य अपने को प्रकाशित करता नहीं है, सूर्य प्रकाशरूप है परन्तु चूँकि हमें संस्कार है कि बिना प्रकाशित हुए कोई प्रकाश में आता नहीं, इसलिये समझाने के लिये कह दिया जाता है कि सूर्य खुद अपने को प्रकाशित करता है। इसी प्रकार यद्यपि ज्ञानरूप है अतः स्वयं को नहीं जानता, तथापि अज्ञायमान नहीं है यह समझाने के लिये 'खुद को जानता है' कह सकते हैं। युक्ति से तो खुद को ही खुद जानता है कहने में कर्तृ-कर्म-विरोध है। ज्ञानस्वरूप वही सारे वेद्यों को जानता है, उसको जानने वाला कोई दूसरा नहीं है। श्रुति यह भी कहती है 'अन्यदेव तद्विदितादथो अविदिताद् अधि' (केन १.३) वह जाना हुआ भी नहीं है और नहीं जाना

हुआ भी नहीं है! जैसे सूर्य किसी के द्वारा प्रकाशित नहीं है, तो किसी के द्वारा प्रकाशित हुए बिना क्या अप्रकाशित है? अप्रकाशित भी नहीं है। सूर्य न प्रकाशित और न अप्रकाशित है क्योंकि प्रकाशरूप है। इसी प्रकार आत्मा जाना हुआ भी नहीं है, क्योंकि खुद ही ज्ञानरूप है और इसीलिये नहीं जाना हुआ भी नहीं है, दोनों से पृथक् है। ज्ञान से जो अलग होता है वही ज्ञात और अज्ञात होता है। ज्ञान से सम्बद्ध हुआ तो ज्ञात और ज्ञान से असम्बद्ध हुआ तो अज्ञात। अपने से अपना सम्बन्ध तो नहीं हो सकता! फिर भी आत्मा अज्ञात नहीं है क्योंकि 'नहीं जाना हुआ' नहीं है। वह बोधस्वरूप है। जहाँ कहीं ज्ञान होता है, इसलिये होता है कि आत्मा है। इस प्रकार युक्तिपूर्वक श्रुति-विचार से ज्ञानरूप आत्मा स्थापित हुआ।। १८।।

घड़ा हो या कपड़ा, है तभी जानते हो; जो नहीं है उसे तो जानते नहीं! 'है' से सम्बन्ध वाले घड़े-कपड़े को ही जानते हैं। फिर भी लोग पूछते हैं कि सद्रूप ब्रह्म कहाँ है? क्या बतायें! रात-दिन जान रहे हो 'यह लड्डू है, कपड़ा है' आदि, फिर भी पूछते हो 'है' क्या है? इसी प्रकार रात-दिन जान रहे हो और फिर कहते हो 'चिद्रूप कैसा है, नहीं जानते।' सद्रूप भी ब्रह्म और चिद्रूप भी ब्रह्म है। सत् और चित् दोनों एक साथ ही तुम्हारे अन्दर मौजूद हैं पर फिर भी लगता है कि सत् चित् ब्रह्म को नहीं जानते! जानते हुए भी कोई कहे 'मुझे पता नहीं' तो उससे क्या कहा जाये! यही व्यक्त करते हैं—

बोधेऽप्यनुभवो यस्य न कथञ्चन जायते।
तं कथं बोधयेच्छास्त्रं लोष्टं नरसमाकृतिम्।। १९।।

सदा विद्यमान ज्ञान के बारे में भी जिसे किसी तरह ज्ञान नहीं होता ऐसे मनुष्यतुल्य आकार वाले मिट्टी के लोंदे को शास्त्र कैसे समझाये!

ज्ञानके बारे में उक्तविध प्रश्न की विद्यारण्य स्वामी हँसी उड़ाते हैं। आचार्य कहते हैं कि ऐसा प्रश्न करने वाला मनुष्य का आकार लिये हुए है, परन्तु है बिलकुल मिट्टी का लोंदा ही! जो रात-दिन कहता है 'मैं जानता हूँ,' फिर पूछता है, 'जानना क्या होता है? मुझे पता नहीं।' उसे समझदार नहीं कह सकते। रात-दिन तुम *जानते* हो। पूछें—जानना क्या है? कहते हो 'यह नहीं जानते!' विदित और अविदित दोनों से अतीत जो बोध है उसे कहते हो 'अनुभव नहीं हो रहा है' तो मात्र नासमझी है। रात-दिन सच्चित् की बात करते हुए कहना 'मुझे उसका अनुभव नहीं हो रहा है' वैसा ही है जैसे रोशनी में चीज़ें देखते हुए कहना कि रोशनी नहीं दीख रही। मिट्टी का लोंदा नहीं है क्योंकि मिट्टी का लोंदा तो जानता नहीं, फिर भी नर अर्थात् जानने वाले की आकृति के लोंदे-सा है क्योंकि अतीव अविवेकी है। आकृति को देखते हैं तो जानने वाले की दीखती है, परन्तु जब बोलता है तब पता चलता है कि लोंदे-सा है क्योंकि घट आदि का ज्ञान होने पर भी कहता है कि अनुभव नहीं है, साक्षात्कार नहीं है! उसको शास्त्र कैसे जनावे अर्थात् शास्त्र भी उसकी कोई मदद नहीं कर सकता। जैसा मनु ने कहा है कि जो दोनों आँखों से अन्धा है उसके लिये रोशनी व्यर्थ है; दोनों आँखें नहीं हैं तो रोशनी कोई फ़ायदा नहीं पहुँचा

सकती; इसी प्रकार जो शास्त्र के अक्षरों को देखकर उनके वास्तविक अर्थ को नहीं समझ सकता क्योंकि उसमें समझने की प्रज्ञा नहीं, शास्त्र भी उसके लिये व्यर्थ है। जैसे अंधे के लिये प्रकाश व्यर्थ है वैसे ही प्रज्ञाहीन के लिये शास्त्र व्यर्थ है। इसलिये कहा कि शास्त्र उसे कैसे ज्ञान करावे!

ऐसा कोई दूसरा नहीं है, हम ही लोग हैं! 'मैं' क्या हूँ इसको नहीं जानते। जब हम कहते हैं कि 'तुम ब्रह्म हो' तो 'तुम' से तुम 'मैं' ही समझो। गुरु दे उपदेश 'तत्त्वमसि' तू ब्रह्म है, तो शिष्य को समझना चाहिये 'मैं ब्रह्म हूँ'। तुम ब्रह्म नहीं होते तो तुम्हें ब्रह्म दिखा देते। जब हो ही तुम ब्रह्म तो यह बता ही सकते हैं कि तुम ब्रह्म हो। जब कहते हो 'मैं ब्रह्म हूँ इस बात को नहीं जानता' तब अर्थात् कह रहे हो कि मैं अपने को नहीं जानता! क्योंकि आत्मा दृश्य के रूप में नहीं जाना जा सकता इसलिये श्रुति मूर्त और अमूर्त सारे दृश्य पदार्थों को दो भागों में बाँटते हुए हर चीज़ को 'नेति नेति' से 'यह भी नहीं, यह भी नहीं' यों मना करती चली गई। सब चीज़ों को मना करने के बाद जब कोई ऐसी चीज़ नहीं रही जिसे 'ना' कहें तब तुम तो रह ही गये! वही तुम ब्रह्म हो। दूसरी चीज़ों से मिलकर कह रहे हो 'मैं ब्रह्म नहीं हूँ'। जैसे ब्राह्मण किसी स्कूल-कालेज में पढ़ता है, वहाँ सब जाति के लोग पढ़ते हैं, वह देखता है कि खाना-पहनना आदि सारे व्यवहार हमारे समान हैं। उसे भ्रम हो जाता है कि 'मैं भी बाकी लोगों की तरह एक आदमी हूँ, उसके सिवाय, ब्राह्मण कहा जाऊँ ऐसा मैं क्या हूँ!' इसी प्रकार हम रात-दिन पंचकोशों के साथ रहते हैं, इसलिये हमें भ्रम हो जाता है कि ये पंचकोश ही तो हम हैं, और क्या हैं! पंचकोशों के साथ रहते-रहते यही लगता है कि पंचकोशरूप ही मैं हूँ। विशेष योग्यता के द्वारा पता लगता है कि मैं कौन हूँ।

परशुराम का नियम था कि क़िसी क्षत्रिय को शस्त्रादि की शिक्षा नहीं देते थे। ब्राह्मण के अतिरिक्त किसी को नहीं पढ़ाते थे। कर्ण शिक्षा प्राप्त करने के लिये उनके पास गया। सामान्यतः सब जानते थे कि कर्ण सूतपुत्र है। इसलिये कोई बड़े आचार्य इसे शस्त्रविद्या सिखाना नहीं चाहते थे। परशुराम पृथ्वी पर तो आ नहीं सकते थे क्योंकि राम जी ने अपने बाण से उनकी पृथ्वी पर आने की शक्ति को ख़त्म कर दिया था। इसलिये उनके लिये यह प्रश्न ही नहीं था कि पता लगायें कि कर्ण जाति से कौन है? कर्ण ब्राह्मण बनकर उनके पास गया और कहा—'मैं ब्राह्मण हूँ, आपसे शस्त्रविद्या सीखना चाहता हूँ।' उन्होंने कर्ण को सिखा दिया। दीखने को तो ब्राह्मण भी वैसी रोटी खायेगा, वैसा ही कपड़ा पहनेगा जैसे अन्य। परशुराम उसे ब्राह्मण ही समझते रहे और काफ़ी विद्या सिखा गये। कर्ण बहुत योग्य था, सीख भी बहुत अच्छी तरह रहा था। परशुराम का उससे बहुत प्रेम था। वह एक बार कर्ण की गोद में सिर रख कर सो रहे थे। उन्हें गोद में नींद आ गई। थोड़ी देर बाद एक भौंरे ने आकर कर्ण की जाँघ में इतने ज़ोर से काटा कि उसकी जाँघ से खून निकलने लगा, फिर भी कर्ण स्थिर बैठा रहा ताकि गुरुजी की नींद में क़ोई खलल न पड़ जाये। कर्ण की जाँघ से खून निकलकर बहते-बहते परशुराम की कमर में छू गया! गरम-गरम खून लगने से उनकी आँख खुल गई। देखा कि खून कहाँ से आ रहा है। पता लगा कि कर्ण की जाँघ से बहकर आ रहा है। पूछा 'यह क्या हुआ?' कर्ण ने कहा

कि 'कुछ नहीं है, एक भौंरे ने काट लिया था। आप सो रहे थे, आपको नींद में विक्षेप न हो इसलिये बैठा रहा।' उसने तो सोचा था कि गुरु जी को विक्षेप न पहुँचाकर मैंने बड़ा अच्छा काम किया, लेकिन परशुराम समझ गये और उससे कहा 'तू झूठा है, तू ब्राह्मण नहीं है। केवल इतना ही नहीं कि तू ब्राह्मण नहीं, तू क्षत्रिय है। इस प्रकार से खून निकले और ऐसे चुप बैठा रहे तो वह ब्राह्मण नहीं हो सकता। ऐसा तो क्षत्रिय ही कर सकता है। तू क्षत्रिय ही है। मैंने तुझे सिखा तो दिया है लेकिन तूने ब्राह्मण बन कर सीखा है, इसलिये इस शस्त्र-विद्या को ब्राह्मण की तरह सिखा तो सकता है, परन्तु क्षत्रिय होकर युद्ध में इससे काम कर सके, यह नहीं होगा। ब्राह्मण बनकर विद्या सीखी है तो ब्राह्मण बनकर ही सिखा सकेगा।' कर्ण को खूब शस्त्रज्ञान था परन्तु लड़ाई के काम का नहीं था। भीष्म इस बात को जानते थे, उन्होंने स्वयं भी परशुराम से सीखा था, भीष्म का उनके साथ हमेशा सम्बन्ध रहता था। जब महाभारत युद्ध शुरू हुआ तब रथी, महारथी, अर्द्धरथी आदि की गणना हुई तो भीष्म ने कर्ण को अर्द्धरथी गिना। स्वभावतः कर्ण को गुस्सा आना था ही क्योंकि वह अपने को महारथी मानता था। तब भीष्म ने कहा 'देख, दुर्योधन के आग्रह से मैंने तुझे अर्द्धरथी की श्रेणी में रखा है, वरना तू अर्द्धरथी के लायक भी नहीं है। मैं पक्षपात नहीं कर रहा हूँ। तू शस्त्रविद्या तो महारथी से भी ज़्यादा जानता है, परन्तु तेरी विद्या युद्ध के काम में आने वाली नहीं है। दुर्योधन राजा है, तुझे मानता है, इसलिये उसका मन रखने के लिये मैंने अर्द्धरथी गिन लिया!' क्षत्रिय का वैशिष्ट्य है कि समय आने पर उसकी शस्त्रविद्या, वीरता प्रकट हो। इसी प्रकार से समान खाते, पहनते देखकर तो जैसा ब्राह्मण वैसा ही अन्य भी दीखेगा परन्तु ब्राह्मण का वैशिष्ट्य समय आने पर प्रकट हो जाता है।

इसी प्रकार हमेशा पंचकोशों के साथ रहते-रहते 'ये पंचकोश ही हम हैं' ऐसी प्रतीति होती है। लगता है कि इसके सिवाय हम कुछ नहीं हैं। परन्तु अन्वय-व्यतिरेकरूप विचार करने से, व्यक्ति जब अपने को देखता है कि मैं क्या हूँ और क्या नहीं हूँ, तब एक-एक करके पाता है कि ये सारे कोश मैं नहीं हूँ। विचार के द्वारा देखता है तो पता लगता है कि ये सब मैं नहीं हूँ। 'नेति नेति' के द्वारा इन सबका निषेध कर देने पर निश्चय हो जाता है कि ये सारे के सारे मैं नहीं हूँ। फिर भी केवल ज्ञानस्वरूप 'मैं' रह ही जाता हूँ क्योंकि सबका निषेध कर देने पर भी 'मैं नहीं हूँ' ऐसा होता नहीं है। नेति नेति के द्वारा जब पता लगता है कि क्या मैं नहीं, तब जो बच जाता है वह 'मैं हूँ'। लोष्टसम आकृति वाला नर पूछता है कि फिर क्या बच गया? जो निषेध करने वाला था वही तो बच गया और वह तू ही है! परन्तु जिसमें प्रज्ञा ही नहीं है, उसे लगता हैं कि कुछ नहीं बचा! तात्पर्य है कि स्वात्मा ज्ञानविषय नहीं फिर भी स्वप्रकाश होने से निषेध किया जाये ऐसा नहीं। वह सच्चिद्रूप ब्रह्म ही है।। १६।।

ज्ञान समझ नहीं आता—यह बात कैसी है? इसे दृष्टांत से बताते हैं—

जिह्वा मेऽस्ति न वेत्युक्तिर्लज्जायै केवलं यथा।
न बुध्यते मया बोधो बोद्धव्य इति तादृशी।। २०।।

'मेरी जीभ है या नहीं?' यह पूछना जैसे केवल शर्मिन्दगी का हेतु है वैसे 'मुझसे ज्ञान समझा नहीं जाता, समझना पड़ेगा'–यह कथन भी है।

शब्दोच्चारण के आठ साधन हैं–कण्ठ, तालु, मूर्धा, दाँत, होठ, नासिका, उर, शिर, परन्तु जब तक जीभ इन साधनों के साथ सम्बन्ध न करे तब तक कोई वाक्य उच्चारण नहीं होगा। यदि इनको स्पर्श करने वाली जीभ नहीं हो तो बोलेंगे कहाँ से! अतः इस प्रकार का जो बोलना है, यह केवल लज्जा का हेतु है। सुनने वाले को भी लज्जा ही आती है कि कैसा बेवकूफ है! एक आदमी इसी प्रकार का था, किसी ने उससे कहा 'तू यहाँ बैठा खा-पी रहा है, शर्म नहीं आती! तेरी पत्नी विधवा हो गई है और तू यहाँ खाने-पीने में लगा है।' उसने कहा 'वह तो पीहर गई हुई है।' उस आदमी ने कहा 'उससे क्या हुआ? विधवा तो हो ही गई।' उसने कहा–'तब तो उस विधवा से मिल आना चाहिए।' पुराने जमाने में जिस गाँव में कोई मर जाता था उस गाँव में आने वाले लोग गाँव के दरवाज़े से ही ज़ोर-ज़ोर से रोना शुरू कर देते थे। रोते हुए वहाँ गया तो ससुराल के सब लोगों ने सोचा कि उसके यहाँ कोई मर गया होगा अतः वे भी धाड़ मार कर रोने लगे! खूब रोकर कुछ ठण्डे हो गये तो किसी ने उससे पूछा–'जँवाई साहब! क्या हो गया, आप इतना रो क्यों रहे हैं?' उसने कहा–'क्या बताऊँ, मेरी पत्नी तो विधवा हो गई!' उसकी बात सुनकर सब एक-दूसरे को देखने लगे! किसी ने समझाया, 'अरे! तुम जीते-जागते बैठे हो, वह विधवा कैसे हो सकती है?' फिर उसने कहा–'क्या बताऊँ, किसी का ज़ोर नहीं चलता। मेरी माँ विधवा हो गई, मेरी बहन विधवा हो गई तब मैं नहीं रोक सका, तो इसे क्या रोकता! भगवान् के आगे किसी का ज़ोर नहीं है।' उन लोगों ने सोचा, कैसे मूर्ख के साथ हमने लड़की ब्याह दी! ऐसे भी मूर्ख होते हैं।

जैसे यह दृष्टांत है ठीक वैसी ही स्थिति होती है जब कोई कहता है कि मैं ज्ञान को नहीं समझता। जब किसी चीज़ को जानेगा तो ज्ञान से ही जानेगा, 'मैं ज्ञान को नहीं जान रहा हूँ, मुझे ज्ञान करा दीजिये' यह भी कुछ वैसी ही परिस्थिति है। कई बार लोग कहते हैं, हमें ज्ञान करा दीजिये। ज्ञान तो सबको हो ही रहा है। बिना जाने थोड़े ही कह रहे हो कि 'हमें ज्ञान करा दीजिये!' ज्ञान के बिना, जानने लायक किसी भी चीज़ को तुम कैसे जानोगे। यदि नहीं जान रहे हो तो व्यवहार की ही असिद्धि है। इस प्रकार ज्ञानरूप आत्मा का अपलाप असम्भव समझाया।। २०।।

यदि ज्ञान सदा है ही तो शास्त्र क्यों कहता है कि ब्रह्मज्ञान करो 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः?' 'आत्मा जानने लायक है' ऐसा अर्थ भी करें तो मतलब यही है कि अभी मालूम नहीं है। इसके उत्तर में कहते हैं कि ब्रह्म के बारे में ज्ञान नहीं करना है, ज्ञान तो तुमको है, परन्तु सगुण का है, गुणों को छोड़ दोगे तो निर्गुण अपने आप बच जायेगा–

यस्मिन् यस्मिन्नस्ति लोके बोधस्तत्तदुपेक्षणे।
यद्बोधमात्रं तद् ब्रह्मेत्येवं धीर्ब्रह्मनिश्चयः।। २१।।

जगत् में घड़ा आदि जिस-जिसके बारे में ज्ञान है उस घड़ा आदि विषय की उपेक्षा कर जो केवल स्फुरण है वह ब्रह्म है—इस तरह समझना ब्रह्म की अवगति है।

लोके—'लोक्यन्त इति लोका विषया उच्यन्ते।' जो कुछ अनुभव में आता है वही सब लोक है। अवलोकन आदि शब्द हिन्दी में प्रचलित ही हैं जहाँ लोकन का सीधा अर्थ है आँख से देखना किंतु अभिप्राय सभी ज्ञान से होता है। जितने भी व्यवहार तुम करते हो उन सब व्यवहारों में जितने पदार्थ हैं उन सब के अन्दर विषय मिथ्या होने से उपेक्षणीय है। कपड़ा, लड्डू, आदमी, घोड़ा, सुख, दुःख आदि देखते हो, जानते हो अतः ये सब विषय बुद्धि के हैं ही। जिसको देखकर तुम्हें लगता है कि ज्ञान हुआ, उस घट आदि विषय की उपेक्षा कर दो, अर्थात् अनादर करो। अनादर क्या होता है? कोई तुम से मिलने आया और तुम उसको देखो ही नहीं, अखबार बाँचते रहो तो उसकी उपेक्षा होती है। जिस चीज़ की तरफ ध्यान नहीं दोगे उसी की उपेक्षा हो जायेगी। उपेक्षा का मतलब है कि वह 'है' इस बात का तुम्हें ध्यान ही नहीं हो। घड़े का ज्ञान हुआ, घड़े की तरफ ध्यान ही मत दो, उसकी उपेक्षा कर दो, है और ज्ञान का ही ख्याल करो। अद्वैतसिद्धि ग्रन्थ का प्रारम्भ यहीं से है कि जब तक द्वैत-मिथ्यात्व सिद्ध न हो तब तक अद्वैत सिद्ध नहीं होता। पहला कदम ही है कि द्वैत मिथ्या है, इस का निश्चय हो।

द्वैत मिथ्यात्व के निश्चय को रोकने वाली सबसे प्रबल चीज़ राग है। जिस चीज़ में राग होता है उसे आदमी झूठी नहीं समझना चाहता! वेद के एक लाख मंत्रों में यदि कोई व्यक्ति एक वाक्य के बारे में यह कह दे कि अमुक बात आज के विज्ञान ने असिद्ध कर दी है, तो वेद में श्रद्धावाले को सहन नहीं होगा, वह किसी-न-किसी तरह से प्रयत्न करेगा कि इसे सिद्ध करे कि वह ठीक ही है। जिसकी वेद में श्रद्धा नहीं है वह कहेगा—'चलो! एक वाक्य ही तो ठीक नहीं है, वेद में सच्ची बातें भी हैं ही।' शास्त्रकार कहते हैं कि वेद में एक मात्रा भी व्यर्थ नहीं है तो वेद के पूरे किसी मंत्र की तो बात ही क्या! द्वैत अर्थात् संसार के अन्दर जिस चीज़ के प्रति तुम्हारा राग होगा उसे तुम मिथ्या नहीं मानना चाहते। राग किससे होता है? किसी भी चीज़ के गुणों को सुनकर उसके बारे में राग होता है। दमयन्ती ने नल को देखा नहीं था, परन्तु उसके इतने गुणों को सुन लिया था कि उसे जँच गया कि नल से ही ब्याह करना है। गुणों को सुनने से राग होता है और अवगुणों को सुनने से राग हट भी जाता है। किसी दवाई की खूब तारीफ करो तो मन में होता है कि ले लें। जब दवाई के साथ का पुर्ज़ा निकलता है, उसे पढ़ते हैं तो उसमें उस दवाई के पच्चीस अवगुण भी लिखे होते हैं कि इससे अमुक-अमुक बीमारी भी हो सकती है। उसको बाँच कर वह दवाई नहीं खाते, सोचते हैं, 'इससे तो जो रोग चल रहा है वही चलने दो, यह दवाई खाकर और ज़्यादा नुकसान होगा।' द्वैत के प्रति राग द्वैतमिथ्यात्वनिश्चय नहीं होने देता जिसके बिना अद्वैत कभी सिद्ध नहीं हो पाता। द्वैतमिथ्यात्व सिद्ध हुए बिना अद्वैत की सिद्धि नहीं। चाहे जितनी युक्तियाँ दे दो कि द्वैत मिथ्या है, मगर भीतरी निश्चय रहता है कि मिथ्या हो, मगर इसके बिना काम नहीं चलता। यह 'मगर'मच्छ ही खा जाता है! मिथ्यात्वनिश्चय के लिये सबसे पहले वैराग्य की ज़रूरत है। वैराग्य के लिये विवेक चाहिये।

जब द्वैतमिथ्यात्व का निश्चय हमारे अंतःकरण में दृढ हो जाता है तब यहाँ जो साधन बता रहे हैं, कि उस की उपेक्षा करो, वह हो पाता है। अभी तो लगता है कि व्यवहार सत्य ही है, होना ही है, इसलिये उसकी उपेक्षा नहीं कर पाते। जब तुम लोक के अन्दर होने वाले बोध में से नाम-रूप की उपेक्षा कर देते हो तब अपने-आप बोधमात्र ही बच जायेगा। कोई नया ज्ञान नहीं होना है, केवल नाम-रूप की उपेक्षा कर देने से बोधमात्र ही रह जाना है। मान लो तुम्हारे पास बसन्ती रंग का कपड़ा है, लेकिन शादी के लिये तुम्हें बसंती नहीं, लाल रंग का कपड़ा चाहिये तो बसंती कपड़े को पानी में 'टिनोपाल' डालकर अच्छी तरह से धो दो, बसंती रंग चला जायेगा, सफ़ेद कपड़ा अपने आप बच जायेगा, उसे लाल रंग दो; तुम्हें नया लाल कपड़ा नहीं खरीदना पड़ेगा। ठीक इसी प्रकार घटज्ञान, पटज्ञान, मठज्ञान में से घट, पट, मठ को बाधित कर दिया तो अपने आप ज्ञान ही बच गया। घट, पट को हटाने से, अर्थात् उसकी उपेक्षा कर देने से जो बोधमात्र बचता है वही बोधरूप ब्रह्म है। ऐसी बुद्धि हो जाये कि नाम-रूप का बाध होकर जो बच गया, वह ब्रह्म है, तो यही ब्रह्म का निश्चय, ब्रह्मावगति या ब्रह्मज्ञान कहलाता है। उपेक्षा करना बार-बार दोहराना पड़ता है, क्योंकि राग के संस्कार बहुत पड़े हुए हैं। उन संस्कारों के कारण बार-बार घट आदि की प्रतीति होने पर उनका मिथ्यात्व तुम्हारे अंतःकरण में झट संस्काररूप से उद्‌बुद्ध नहीं होता। विचार करके निश्चय तो कर लेते हो कि वह मिथ्या है, परन्तु सामने आने पर फिर सच्चा लगने लगता है। इसलिये सभी व्यवहारों को करते हुए, भोजन आदि व्यवहार करते हुए भी अनुसन्धान कर्त्तव्य है। जो खा रहे हो, पहन रहे हो इत्यादि सब, उसके अन्दर मिथ्यात्व की अनुवृत्ति रखनी है। यह संस्कार दृढ हो जाता है तो जीवन्मुक्ति का आनन्द आ जाता है; यहाँ वेदान्त के आत्मानुसन्धान की साधना को बड़े सरल ढंग से बताया ताकि सारे संसार में सिवाय ब्रह्म के और कुछ नहीं है—यह निश्चय हो जाये।। २१।।

शंका होती है कि इस प्रकरण के प्रारम्भ में तो कहा था कि पंचकोशों से अलग अपने को जानने से मोक्ष होता है, परन्तु यहाँ कह दिया कि सब पदार्थों की उपेक्षा कर देने पर, नाम-रूप को बाधित कर देने पर जो बच जाता है वही ब्रह्म है, इसी निश्चय से जीवन्मुक्ति है, इसलिए यह बात उपक्रम से विरुद्ध लगती है। समाधान है कि बिलकुल विरुद्ध नहीं है। तत्त्वमसि ही वह वाक्य है जो साक्षात् मोक्ष देता है। तत् अर्थात् सारे जगत् की सृष्टि, स्थिति, लय करने वाला ईश्वर है। उसी के बारे में पहले प्रकरण में बताया था कि जगत् का कारण जो तत् पदार्थ है उसके अन्दर किसी प्रकार का परिच्छेद नहीं है। वह देश, काल, वस्तु, सब परिच्छेदों से रहित है। दूसरे अध्याय में बताया था कि वह देश, काल और वस्तु से अपरिच्छिन्न तत्त्व कैसा है? वही सारी सृष्टि में अविद्या के कारण अध्यस्त हो जाता है। फिर प्रश्न हुआ कि सृष्टि का कारण जो 'तत्' है, उसका साक्षात्कार कैसा है? अतः कहा कि जो भी सृष्टि में ज्ञान होता है, उसके अन्दर सत्य केवल ब्रह्म ही है, यही ब्रह्म का निश्चय है। परन्तु वह निश्चय होने के बाद भी क्या कठिनाई आती है? 'सियाराममय सब जग जानी' तो काम हो जाना चाहिए; लेकिन नहीं होता, क्योंकि 'करहुँ प्रणाम जोरि जुग पाणी': बाकी सब चीज़ों में परमार्थ दृष्टि करने पर भी आदमी

स्वयम् को नहीं छोड़ पाता, दोनों हाथों से प्रणाम करने वाला 'मैं' तो बच ही गया। जब सभी सियाराममय हो गया तो कौन प्रणाम करे! इसी प्रकार बाकी सब चीज़ों में मिथ्यात्व दृष्टि होने पर भी, वैराग्य होने पर भी, अपने में नहीं हो पाता, सोचता है कि 'मैं तो अलग हूँ ही'। इसलिए तत् पदार्थ के बाद 'त्वं' पदार्थ को इस अध्याय में बताया कि 'मैं' जो बच गया वह कौन है। 'मैं' को तुम पंचकोशों में देखते हो। सारा जगत् कहाँ दीखता है? रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श के आकार में दीखता है। इन सब पंचमहाभूतों में वह मौज़ूद है। वे सब वह नहीं, उन सबमें वह अध्यस्त है—यह तत् पदार्थ हो गया। 'मैं' को तुम पंचकोशों में देखते हो। बहिर्जगत् में पंचमहाभूत और अध्यात्म जगत् में पंचकोश आत्मा की उपाधि हैं। पाँचों कोशों के अन्दर तुम 'मैं' देखते हो—मैं ब्राह्मण, मैं संन्यासी, मैं स्त्री, मैं पुरुष, मैं गोरा, मैं काला, इस प्रकार अन्नमय में 'मैं' को देखते हो। इसी प्रकार से मैं भूखा, मैं प्यासा ऐसा प्राणमय में भी मैं को देखते हो। मैं बेवकूफ या मैं मूर्ख, मैं बुद्धिमान् इत्यादि रूप से मनोमय में देखते हो। मैं सुखी, मैं दुःखी इस प्रकार विज्ञानमय में देखते हो। मैं अज्ञ आदि आनन्दमय में देखते हो। अब कहते हैं—

पंचकोशपरित्यागे साक्षिबोधावशेषतः।
स्वस्वरूपं स एव स्याच्छून्यत्वं तस्य दुर्घटम्।।२२।।

पाँचों कोश छोड़ देने पर साक्षिरूप ज्ञान बचा रहने से वही स्व का निज स्वभाव है। उसका शून्य होना सम्भव नहीं।

पंचकोशों का इस अध्याय में बताये तरीके से परित्याग करने पर उनके बिना वाला जो 'मैं' है, वह साक्षी बच जाता है। परित्याग से यह नहीं समझना कि स्थूल देह को छोड़ना है तो उसमें छुरा मार दो! उससे त्याग तो हो जायेगा, 'परि'त्याग नहीं होगा। एक शरीर से हटोगे तो दूसरे शरीर की प्राप्ति हो जायेगी। परित्याग का मतलब है 'परितः सर्वतः त्यागः परित्यागः' अर्थात् यह है ही नहीं इस बात का निश्चय होना है। इसमें केवल प्रतीत होने की योग्यता है, 'होने' की योग्यता नहीं। जैसे बाजीगर में हज़ार रुपये के नोटों की गड्डी 'दिखाने' की ताकत है, हज़ार के नोटों की गड्डी 'बनाने' की ताकत नहीं है। दिखाने की ताकत है, इसलिए दीख जायेगी परन्तु उसको दिखाने के बाद वह अपना बर्तन चारों तरफ घुमाकर उसमें आना-दो आना, चार आना डालने को कहता है। वह नोट दिखा देता है लेकिन बना नहीं सकता। ठीक इसी प्रकार से ये पाँच कोश दीख रहे हैं, हैं नहीं। बिना हुए दीखते रहते हैं। इसलिए ये नहीं दीखें ऐसा नहीं समझना बल्कि दीखते हुए भी 'हैं नहीं' यह निश्चय हुआ तो परित्याग हो गया, फिर चाहे जितना दीखते रहें, इनसे 'मैं' पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। संसार की अनित्यता तो सब देखते हैं। लोग कहते भी हैं 'महाराज! यह मकान एक दिन ढह जायेगा यह तो हम भी जानते हैं। हम मर जायेंगे—यह भी जानते हैं। हर चीज़ अनित्य है इस बात को तो हम समझते हैं, फिर वेदान्त में स्थिति क्यों नहीं होती'? यहाँ 'परित्याग' शब्द से विद्यारण्य स्वामी ने स्पष्ट कर दिया कि तुम अनित्य तो जानते हो, परन्तु यह भी समझते हो कि कुछ समय तक तो रहता ही है!

वास्तव में यह एक क्षण भी नहीं रहता, यह तो बाजीगर के खेल की तरह दीखता ही है, है कुछ नहीं। पाँच कोश दीख ही रहे हैं, हैं नहीं। यह अपरोक्ष निश्चय पंचकोश-परित्याग है।

मैं को आज तक इन सब रूपों में जाना है; इन सब रूपों को जब अध्यस्त जान लिया तब साक्षिरूप जो बोध है वही बच जायेगा। यही वेदान्त की उपलब्धि समझ लेना। सारे जगत् को देखकर एकमात्र सच्चित्-स्वरूपता ही नित्य सिद्ध होती है, और कुछ नहीं। इससे तत् पदार्थ का बोध हो जाता है। इसी प्रकार 'मैं' पर विचार करने से सच्चित् ही एकमात्र सिद्ध हो रहा है कि मैं एकमात्र सच्चित् साक्षिमात्र हूँ। यहाँ तक विचार करके पहुँच सकते हो।

सम्भावना होती है कि तत् और त्वं दोनों का शोधित स्वरूप सच्चित् ही है तो ये एक ही होंगे। 'एक ही होंगे' तक तुम्हें विचार पहुँचा देता है। परन्तु वह एक ही है—यह वेद के 'तत्त्वमसि' महावाक्य के बिना निश्चय नहीं हो सकता। यदि एक न हों तो ब्रह्म में भेद रह जायेगा क्योंकि दो सच्चित् हो गये जबकि ब्रह्म तब तक ब्रह्म हो ही नहीं सकता जब तक वस्तुभेदशून्य नहीं हो। इसलिए अभिन्न होना ज़रूरी है। इस प्रकार संभावित सच्चित् एक ही है क्योंकि वेद उसे अद्वितीय कहता है। पंचकोश-परित्याग करके 'मैं' क्या है? प्रत्यग्रूप है, अपरोक्ष है। 'मैं' कभी परोक्ष नहीं होता, 'मैं' यह ज्ञान हमेशा ही अपरोक्ष है। इसलिए पंचकोशों का विचार करके जहाँ पहुँचे वह अपरोक्ष सत्य है। यहाँ तक व्यापकता मालूम नहीं है। महाभूतों का विचार करके जहाँ पहुँचे वह व्यापक सच्चित् है परन्तु वह हमें अपरोक्ष नहीं है। तत्त्वमसि इन दोनों की एकता को बताता है अर्थात् जो अपरोक्ष है वही व्यापक है और जो व्यापक है वह अपरोक्ष ही है। यही अपरोक्ष सच्चित्-रूपता का ज्ञान है, जो अज्ञान को नष्ट कर देता है। मूल अज्ञान यही है कि मैं व्यापक नहीं हूँ; जगत् का कारण व्यापक है, परन्तु मैं व्यापक नहीं अतः मैं उसे जानता ही नहीं हूँ, वह परोक्ष है। यह मानकर ही सारी साधनायें होती हैं। साधनायें होती इसी लिए हैं कि परमात्मा को मैं जानता नहीं हूँ, जान लूँ। लोग परमात्मा के सारे गुण गिनाते रहेंगे लेकिन यही कहेंगे कि 'वह किसी दिन तुम्हें मिलेगा' अर्थात् परोक्ष है। उसके अपरोक्ष होने का मतलब लोग समझते हैं कि जैसे विषय अपरोक्ष होता है, वैसे ही परमात्मा भी अपरोक्ष होगा! जैसे हमने देवदत्त को नहीं देखा, फिर आँख से उसे देख लिया तो वह अपरोक्ष हो गया। ऐसे ही ब्रह्म किसी दिन अपरोक्ष हो जायेगा, ऐसा लगता है। परन्तु ब्रह्म नित्य अपरोक्ष है, 'मैं'रूप से तुम ब्रह्म को ही जान रहे हो। वेदान्त यही कहता है कि जगत्कारण ब्रह्म नित्य 'मैं'रूप से अपरोक्ष है और मैं नित्य ही ब्रह्मरूप से व्यापक हूँ। मैं ही ब्रह्म हूँ, ब्रह्म ही मैं हूँ, यह जो पदार्थद्वय-शोधन होने पर बच जाता है यही स्वस्वरूप है। अपरोक्ष व्यापक ही स्वस्वरूप है। शास्त्रकारों ने कहा है—

'विपदो नैव विपदः सम्पदो नैव सम्पदः।
स्वस्वरूपं भवेत् सम्पत् तदन्यत् सुधियां विपद्।।'

जिसे लोग विपत्ति समझते हैं जैसे शरीर कट गया, भूख-प्यास नहीं मिटी, दुःखी हो गये इत्यादि; शास्त्रकार कहते हैं कि ये कोई विपत्तियाँ नहीं हैं। ये तो थोड़ी देर रहती हैं, फिर खुद

ही खत्म हो जाती हैं। इसी तरह धन मिल गया, सुन्दर पत्नी मिल गई, रहने को बढ़िया मकान मिल गया, बढ़िया दाल का सीरा खाने को मिल गया—लोग इन सबको सम्पत्ति समझते हैं। सुन्दर बीवी मिल गई, वह मर जायेगी, बढ़िया मकान मिल गया, वह भूकम्प में खत्म हो जायेगा, दाल का सीरा चौबीस घण्टे बाद ही बदबू मारने लगेगा। इसलिए ये सब सम्पत्ति नहीं हैं। 'स्वस्वरूपं भवेत् सम्पत्' व्यापकभाव में स्थित हो जाना ही सम्पत् है, स्वस्वरूप से अन्य सब विपत्ति है। बुद्धिमान् के लिए व्यापकता क्या है? तुमको पंचकोशों के मिथ्यात्व का ज्ञान हो गया, पंचमहाभूतों के मिथ्यात्व का ज्ञान हो गया तो सारी सीमाएँ समाप्त ही हैं। इनके सिवाय तो कुछ है ही नहीं, कुछ जानते नहीं। अतः फिर कुछ सीमा बाँधने वाला नहीं बचा तो स्वस्वरूप की व्यापकता अर्थसिद्ध है।

'तस्य शून्यत्वं दुर्घटं स्यात्।' 'कुछ नहीं' बचना या शून्यता समझदार के लिए दुर्घट है, क्योंकि इस शून्यता को जानने वाला वह स्वप्रकाश है, पंचकोशों के हटने पर भी सच्चित् बचता है। जो सुधी होगा वही इस बात को समझेगा, नहीं तो कहेगा कि अधिभूत में घडा-कपड़ा कुछ नहीं तो फिर कुछ नहीं बचा! अध्यात्म में मन, बुद्धि, अहंकार आदि कुछ नहीं तो फिर कुछ नहीं बचा। बुद्धिमान् को तो समझ आता है कि 'कुछ नहीं' अर्थात् नाम-रूप नहीं बचा पर 'है' बचा। कोश नहीं बचे तो साक्षी बचा है, साक्षी का शून्य होना दुर्घट अर्थात् प्रमाण-युक्ति से विरुद्ध है। नाम-रूप छोड़ने पर कुछ न हो यह सम्भव नहीं है क्योंकि छोड़ने वाला तो बच ही जायेगा।।२२।।

जो शून्यता देखता है वह कहता है कि छोड़ने वाला भी उपाधि से ही है। बुद्धि की उपाधि से ही उसका परित्याग करता है। यदि बुद्धि का जिससे परित्याग किया वह भी न रहे तो कुछ नहीं ही रहेगा। अतः उसकी दुर्घटता को थोड़ा समझाते हैं—

अस्ति तावत् स्वयं नाम विवादाविषयत्वतः।
स्वस्मिन्नपि विवादश्चेत् प्रतिवाद्यत्र को भवेत्।।२३।।

'स्वयम्' नामक निर्विवाद वस्तु अवश्य है। 'स्व' में भी यदि विवाद हो तो इस बारे में 'स्व' का प्रतिपक्षी (विरोधी) कौन होगा!

बातचीत तीन तरह से होती है : एक, वाद होता है जैसे गुरु और शिष्य में। शिष्य समझना चाहता है, गुरु समझाना चाहता है। दोनों का उद्देश्य है कि तत्त्व क्या है, क्या वास्तविकता है, उसको समझना और समझाना है। वहाँ समझने-समझाने में प्रवृत्ति है। दूसरा, जल्प है; भले आदमियों में जल्प होता है। तुम कुछ मानते हो, हम कुछ और मानते हैं। हम तुम्हारे मानने में जो गलती है, उसे दिखाते हैं, तुम हमारे मानने में जो गलती है उसे दिखाते हो। अगर तुमने हमारी गलती बताई, हम यदि जवाब देने में असमर्थ हैं तो तुम्हारी बात मान लेते हैं और हमने तुम्हारी बात में दोष बताया, तुम उसका निवारण नहीं कर पाये तो तुमने हमारी बात मान ली। जल्प में किसी पक्ष को लेकर बैठते हैं और उसे सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं और सामने वाले का खण्डन करने का प्रयत्न करते हैं। दोनों ही बैठे किसी पक्ष को लेकर ही अतः उनकी मान्यता

है कि दोनों में से एक पक्ष सिद्ध होगा, दूसरा पराजित रहेगा। तीसरा तरीका आधुनिकों का है जिसे वितण्डा कहते हैं। वितण्डा करने वाला अपना कोई पक्ष नहीं रखता, अतः उसे कुछ निर्दुष्ट सिद्ध नहीं करना है। वह तो दूसरे से पूछेगा 'तुम क्या-क्या मानते हो' और वह जो मानता होगा उसमें वितण्डावादी दोष दिखायेगा। उससे पूछो, फिर ठीक क्या है? तो कहता है, 'ठीक बताना हमारा काम नहीं है।' आजकल अधिकतर वितण्डा होता है। कोई आकर कुछ पूछता है। हम उसका जवाब देते हैं। वह उस जवाब में अमुक दोष बताता है। हम उससे पूछते हैं 'तुम फिर क्या समझते हो?' तब कहता है 'हमें पता होता तो पूछने आते ही क्यों?' ऐसे व्यक्ति को तो केवल बात करनी है, वह समझने नहीं आया और न किसी पक्ष को सिद्ध करने आया है, वह वितण्डावादी है। ऐसे वितण्डावादी से वाद या जल्प नहीं कर सकते। उसका वितण्डा से ही मुँह बन्द भले ही कर दें। युक्ति से विचार किया जा सकता है, लेकिन युक्ति दुधारी तलवार की तरह है। जिस चीज़ को चाहो उसे तर्क से काट सकते हो। अतः युक्ति से यदि तुम किसी हल पर पहुँचो, निश्चित हो जाओ, तब तो युक्ति का फायदा है पर यदि किसी हल पर नहीं पहुँचे तो विचार करना व्यर्थ है। इन तीनों तरह की बात में वितण्डा को छोड़कर वाद और जल्प दोनों को यहाँ 'विवाद' से कहा।

गुरु-शिष्य या सहपाठी तत्त्व-निर्णय के लिए परस्पर बातचीत करते हैं। वेदों में अनेक जगह ऋषि लोग एकत्र होकर किसी विषय पर विचार करते हैं। हल करने के लिए विचार करते हैं तो यह मानकर कि तुम कोई हो जिसे हम जवाब दे रहे हैं और हम कोई हैं जिसका जवाब तुम सुन रहे हो! इसलिए हम-तुम हैं ही नहीं—यह दोनों में से कोई नहीं मानता। यदि जल्प करते हैं तो भी तुम कोई हो जिसका यह पक्ष है, इसीलिए तुम हम से बात कर रहे हो, हम भी किसी प्रक्ष को लेने वाले कोई हैं जो तुमसे बात कर रहे हैं। वाद और जल्प के अन्दर एक आधारभूत मान्यता है कि मैं हूँ और तुम हो। इसके विषय में यदि शंका है कि मैं हूँ या नहीं, तुम हो या नहीं, तब तो आपस में बात ही नहीं कर सकते! वितण्डावादी से पूछो कि तुमको जवाब दे रहे हैं, क्या तुम हो? वह कहेगा—'हम क्यों बतायें कि हम हैं?' क्योंकि वैतण्डिक है ही वह जिसे निजमत का स्थापन करना ही नहीं है। तब सामने वाले को भी वितण्डा ही करना पड़ता है कि तुम हो ही नहीं तो हम तुम्हें जवाब क्यों दें!

इसलिए वितण्डावादी को छोड़ कर चाहे वैदिक का पक्ष हो, चाहे वेदेतरवादी का पक्ष हो, सबके मत में 'स्वयं' अर्थात् 'खुद' नाम की कुछ चीज़ ज़रूर है। दोनों ही अपने को 'खुद' तो मानते ही हैं क्योंकि वह विवाद का विषय नहीं है। जो पक्ष हम रख रहे हैं वह विवाद का विषय है, परन्तु पक्ष रखने वाला मैं तो हूँ ही और जवाब देने वाले तुम तो हो ही, हम दोनों खुद तो हैं ही। विवाद का अविषय होने से 'स्वयं' नाम की कोई चीज़ निश्चित ही है, इसमें कोई संदेह नहीं है, उसके विषय में विप्रतिपत्ति अर्थात् वैमत्य नहीं है। कोई कहे, मान लो कि हम-तुम दोनों नहीं हैं! अगर कोई यह प्रश्न कर ही दे कि मैं हूँ या नहीं इसको सिद्ध किया जाये; अर्थात् 'मैं हूँ या नहीं, मुझे तो पता नहीं' ऐसा कहे तो यदि हमारा प्रतिवादी ही विवादित हो गया तो हम

जवाब किसको दें? अगर तुम हो तो तुम्हें जवाब दें। किसी से बात कर रहे हो और वह सो जाये तो थोड़े ही उससे बात करते रहोगे! कोई प्रतिवादी हो ही नहीं तो बातचीत ही चलेगी नहीं। शून्यवादी का यही कहना है कि 'मैं' नहीं हूँ। 'मैं' अर्थात् आत्मा नहीं है। मैं हूँ इस बात को कोई कैसे सिद्ध करे? तू बोल रहा है इसीलिए तू है; तू नहीं होता तो बोलता कैसे! यद्यपि तर्क के ढंग से इस पर अनेक शंका-समाधान सम्भव हैं तथापि युक्ति-संगत, जनसामान्य को भी स्वीकार है कि बातचीत चलने के लिए दोनों स्वयम् अपने को मैं मानें। इसलिए उस स्वयम् को विवाद का अविषय मानते हैं, वह विवाद का विषय नहीं हो सकता। बाकी सब चीज़ों का खण्डन-मण्डन तो हो जायेगा, परन्तु जिसका खण्डन कर रहे हो, वह तो रह ही जायेगा। स्वयम् के धर्मादि सब विशेषों का खण्डम हो जायेगा पर वह 'मैं' तो रह ही जाएगा। 'स्वयम्' पर इस रीति से विचार के बीज उपदेशसाहस्री (१६.३१) में उपलब्ध हैं।।२३।।

स्वयम् का अपलाप असंगत के अलावा अस्वीकार भी है यह समझाते हैं—

स्वासत्त्वं तु न कस्मैचिद्रोचते विभ्रमं विना।
अत एव श्रुतिर्बाधं ब्रूते चाऽसत्त्ववादिनः।।२४।।

'स्व' का (खुद का) न होना किसी को रुचिकर नहीं भले ही भ्रमसे वैसा लग सके। इसीलिए आत्मा का न होना मानने वाले का श्रुति बाध ही कहती है।

किसी को भी अपना नहीं होना रुचिकर तो होता नहीं। कोई नहीं चाहता कि मैं न रहूँ। कहोगे, 'कुछ लोग आत्महत्या करते हैं तो यही चाहते हैं कि हम न रहें?' किन्तु आत्महत्या करने वाले से भी यदि पूछते हो 'तू आत्महत्या क्यों करता है?' तो कहता है 'मैं दुःखी हो गया, मर जाऊँ तो इस दुःख से छूट जाऊँ।' अतः दुःख से *छूटने वाले* को तो मान ही रहा है! दुःख से छूटने वाला 'वह' तो रह ही जायेगा। कैसा भी आदमी हो, वह 'मैं न रहूँ' यह नहीं चाहता, वह सोचता है कि शरीर को लेकर दुःख है, मर जाऊँ अर्थात् शरीर से निकल जाऊँगा तो दुःख मिट जायेगा। यह उसे भ्रम ही है। दुःख का कारण तो किये हुए पाप हैं, शरीर उसका *कारण* है नहीं। शरीर अन्य कई लोगों के भी हैं, वे तो दुःखी नहीं हैं, खूब मौज कर रहे हैं। इसलिए दुःख से बचने के लिए शरीर से छूटना चाहता है भ्रम के कारण। यों भ्रम से चाहे कोई अपनी असत्ता की बात करे, परन्तु उसे अपनी असत्ता रुचिकर नहीं है, बल्कि अपना दुःख छुड़ाना ही रुचिकर है। चूँकि यह भ्रम से ही होता है अतः श्रुति (तै.२.६) कहती है कि जो आत्मा को असत् मानता है, वह खुद ही असत् हो जाता है।

भ्रम का दूसरा अर्थ भी हो सकता है; आत्मा के न रहने को मोक्षरूप कोई भ्रम से मानता है। उसने सोचा, 'मैं हूँ तो सारा दुःख है अतः मैं न रहूँ तो दुःखनिवृत्तिरूप मोक्ष हो जायेगा' जैसे आत्महत्या करने वाला सोचता है कि 'शरीर नहीं रहेगा तो दुःख नहीं रहेगा, मैं सुखी हो जाऊँगा।' 'जब मैं ही नहीं रहूँगा तब मैं सुखी कैसे हो जाऊँगा'—यह विचार न करने से उसे भ्रम हुआ। बौद्ध का यही कहना है कि अमुक साधना करो तो तुम नहीं रहोगे, अनात्मभाव को प्राप्त

हो जाओगे, निर्वाण हो जायेगा। चूँकि वाण नाम दुःख का है, इसलिए भाव है कि दुःख से छूट जाओगे। आत्मा नहीं रहेगा—यह भ्रम है। इसको भ्रम इसलिए कहते हैं कि सच्ची बात के ज्ञान से यह भ्रम मिटता है। बौद्ध लोग मानते हैं कि अधिष्ठान के ज्ञान के बिना ही भ्रम मिट जायेगा! सच्चाई जानने से झूठ का पता लगता है, अन्यथा, कुछ झूठ है—यह कैसे सिद्ध होगा? अधिष्ठान जब सच्चा होगा तभी उससे विरुद्ध बात को झूठ कह सकते हो। तुमने रस्सी में साँप देखा, वहाँ से भाग गये; तुमको कभी पता ही नहीं चलेगा कि वह रस्सी है तो तुम्हारा भ्रम कभी मिट नहीं सकता। जब रस्सी देखोगे तभी भ्रम मिटेगा। इसी प्रकार इस संसार-दुःख को भोगने का जो अधिष्ठान है उसको जानोगे तब पता लग सकता है कि दुःखरूप संसार उस भोगने वाले से सर्वथा असम्बद्ध है। इस प्रकार के भ्रान्त व्यक्ति को छोड़कर किसी को ऐसा रुचिकर नहीं होता कि मैं न रहूँ। श्लोक के 'बाध' शब्द का भाव 'सर्वस्व की हानि' से है अर्थात् परमार्थ सत् आत्मा को अत्यन्त असत् समझने वाला पुरुषार्थ-सिद्धि से चूक जाता है।।२४।।

अनात्मता-भ्रान्ति वाले की हानि कहने वाली श्रुति ही सूचित करते हैं—

असद् ब्रह्मेति चेद्वेद स्वयमेव भवेदसत्।
अतोऽस्य मा भूद् वेद्यत्वं स्वस्वत्वं त्वभ्युपेयताम्।।२५।।

(श्रुति ने कहा है)—यदि कोई समझे कि ब्रह्म असत् है तो वह खुद ही असत् हो जाता है। इसलिए आत्मा में ज्ञेयता नहीं है पर वह सद्रूप अवश्य मान्य है।

श्रुति कहती है 'असन्नेव स भवति। असद् ब्रह्मेति वेद चेत्' (तै.२:६)। 'असत् ब्रह्म' अर्थात् ब्रह्म नहीं है, शून्य है; यदि ऐसा तुम जानते हो तो तुम चूँकि स्वयं ब्रह्म-स्वरूप हो, इसलिए तुम स्वयं ही असत् हो जाते हो! यह ऐसी ही बात है जैसे एक अफीमची था, उसने खूब अफीम पी ली। अफीम पीने से कुछ होश तो रहता नहीं; शाम हो रही थी, आकाश लाल हो गया था। उसने सोचा कि आकाश में तो बड़े जोरों की आग लग गई है, इसको बुझाना ज़रूरी है। वह नशे में पड़ा हुआ था ही, वहीं से जोर से पेशाब करने लगा कि पानी पड़ेगा तो आग बुझ जायेगी! वह पेशाब उसके मुँह पर ही गिर पड़ा। उसने कहा 'आग बुझ गई, तभी पानी वहाँ से वापिस आ गया है।' ठीक इसी प्रकार जो ब्रह्म को असत् कहता है वह खुद अपने आपको ही असत् कह रहा है। अतः कहा कि उसकी बात मानें तो वही असत् हो जाता है। चूँकि श्रुति ने ऐसा समझाया है इसलिए ब्रह्म वेद्य नहीं है परन्तु है अवश्य। तुम तो रहोगे ही और तुम्हें ही तो ब्रह्म कह रहे हैं। 'मैं हूँ' इस बात को तो स्वीकार करना ही प्रमाण-युक्ति से संम्भव है। यदि तुमसे भिन्न ब्रह्म होता तब तो उसका खण्डन-मण्डन बनता। तुम खुद ही ब्रह्म हो, अतः इसका खण्डन करना असम्भव है।।२५।।

साधक को लगता है कि मान भी लिया कि मैं ही ब्रह्म हूँ, परन्तु आगे कुछ पता तो लगे कि यह ब्रह्म कैसा है? अर्थात् ब्रह्म कैसा है यह जिज्ञासा रहती है। इसे मिटाते हैं—

कीदृक् तर्हीति चेत् पृच्छेदीदृक्ता नास्ति तत्र हि।
यदनीदृगतादृक् च तत् स्वरूपं विनिश्चिनु।।२६।।

अगर कोई पूछे कि ब्रह्म कैसा है, तो यही निश्चय रखो कि 'ऐसापन' उसमें है ही नहीं। जो 'ऐसा' या 'वैसा' नहीं, वही स्वरूप है।

ठीक से समझें तो आत्मा समझने से ज़्यादा सरल कोई चीज़ नहीं है और जब तक समझ में नहीं आता तब तक लगता है कि यह महा मुश्किल है कि मैं ब्रह्म हूँ। उसमें वेद्यता तो है नहीं, उसको जान सकते नहीं, क्योंकि वही तो जानने वाला है। पहले (श्लोक १७) कह आये हैं—'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' जानने वाला जानने का विषय कैसे बने! वेद्य नहीं है तो वह आत्मा कैसा है? हम लोग विशेषरूप से चीज़ को जानने की आदत वाले हैं। 'कोई चीज़ सामने है, कुछ सामने है', सुनकर हमें शांति नहीं होगी, जब तक यह पता न लगे कि वह क्या है। सामने पेड़ है तो कैसा पेड़ है? नीम या बबूल का पेड़ है? इत्यादि आकांक्षा बनी रहती है। इसी प्रकार से जानना चाहते हैं कि ब्रह्म कैसा है, कुछ तो उसका विशेष ज्ञान हो। इस पर आचार्य कहते हैं—बस, यह निश्चय जान लो कि ऐसा-वैसा कुछ नहीं है, केवल 'है' ही है! 'है' के साथ समझते रहना 'मैं'। मैं ऐसा-वैसा नहीं, केवल मैं हूँ। भगवान् गौडपाद कहते हैं कि ध्यान करने बैठो और कोई अन्य चीज़ याद आने लगे तो धीरे-धीरे मन को शांत करो। जब मन को शांत करोगे, कोई वृत्ति नहीं बनाओगे, तो नींद आने लगेगी। जब नींद आने लगे तो फिर इसको जगाओ। जब मन अशांत हो तो इसे शान्त करो। जब यह लीन होने लगे तो इसे अशांत करो। मन वृत्तिहीन होता है तो सो जाता है अतः वहाँ से रोको। वृत्तिहीनता से निद्रा आती है, उसको रोकने के लिए वृत्ति बनानी पड़ेगी। ओंकार की वृत्ति बनाओ या जाग्रत्-स्वप्न के द्रष्टा की वृत्ति बनाओ। वह वृत्ति बनाओगे तो विक्षेप हो गया, अतः फिर वृत्ति को शांत करो। यह व्यायाम करते-करते अंत में थक जाओगे तो ऐसी अवस्था आयेगी कि जिसमें वृत्ति है नहीं किन्तु 'वृत्ति नहीं है' ऐसा भी नहीं! बस वहाँ स्थिर हो जाओ। वहाँ फिर यह वृत्ति न बनाओ कि क्या है? 'क्या' अर्थात् वह कैसा है? यह सोचा तो वह स्थिति हाथ से गयी। इसलिए कहा कि जो ऐसा नहीं, वैसा भी नहीं वही स्वरूप है—यह विनिश्चय करो। क्योंकि यह समझ सामान्य ढंग से नहीं आती इसलिए गौडपादाचार्य द्वारा कहा साधन बताया जिस अभ्यास से निष्प्रकार वस्तु स्फुर सके।।२६।।

'ऐसा' आदि का भाव बताकर समझाते हैं कि क्यों परमात्मा ऐसा आदि नहीं—

अक्षाणां विषयस्त्वीदृक् परोक्षस्तादृगुच्यते।
विषयी नाक्षविषयः स्वत्वान्नास्य परोक्षता।।२७।।

इन्द्रियों का गोचार 'ऐसा' तथा परोक्ष पदार्थ 'वैसा' कहा जाता है। विषय करने वाला क्योंकि इन्द्रियों का विषय नहीं और वही स्वयम् होने से परोक्ष नहीं इसलिए न ऐसा है, न वैसा है।

वह 'ऐसा नहीं वैसा नहीं', इतना कहने से कुछ समझ में नहीं आया, क्योंकि हमारे अनुसार चीज़ या ऐसी होती है या वैसी होती है। इसलिए आचार्य कहते हैं कि ऐसा और वैसा का अर्थ भी तो समझो : इन्द्रियाँ जिसको जानती हैं उसी को 'ऐसा' कहा जाता है। आँख से देखा तो रूप है, नाक से देखा तो गंध है, तभी कहते हैं कि 'इस चीज़ का यह रूप है, यह गंध है। यह आदमी गोरा है, इस औरत की गन्ध कमल की तरह है।' इन्द्रियों का जो विषय होता है उसी को 'ऐसा' कहा जाता है। और जो चीज़ इन्द्रियों का विषय नहीं होती साक्षात् नहीं भासती, कहीं-कभी है भले ही लगे पर भास नहीं रही होती, उसी को 'वैसा' कहा जाता है जैसे धर्म। धर्म इन्द्रियों से देखा नहीं जा सकता। अतः जो सामने हो उसे 'ऐसा' कहते हो और जो सामने होने के योग्य नहीं है उसको 'वैसा' कहते हो। साधारण भाषा में, इस देश काल में जो इन्द्रियों का विषय है उसको 'ऐसा' कहते हो और इस देश काल में जो इन्द्रियों का विषय नहीं, जैसे न्यूयार्क का 'वार्ल्डऑफ एस्टोरिया' उसे 'वैसा' कहते हो। जब सेव सामने पड़ा है, कोई पूछे 'सेव कैसा होता है'? झट सेव दिखाकर कहोगे 'ऐसा होता है।' सेव मौजूद न हो तो कहना पड़ेगा कि हल्के लाल रंग का होता है, नारंगी जैसा होता है। इन्द्रियों के सामने जो हो उसे ऐसा कहेंगे और इन्द्रियों के सामने जो नहीं है उसे वैसा कहेंगे। जो भी इन्द्रियों का विषय इस देश-काल में हो सकता है उसको ऐसा कह सकते हैं। परन्तु जो कभी भी किसी भी देश या काल में इन्द्रियों का विषय न हो, जैसे धर्म, उसे वैसा कहोगे। धर्म को किसी भी देश काल में *इन्द्रियों से* तो देख नहीं सकते कि 'यह धर्म है'। 'धर्म' का अर्थ यहाँ अपूर्व समझना। यज्ञ आदि भी धर्म हैं, यज्ञ तो देखा जाता है; परन्तु यज्ञ आदि से होने वाला जो अपूर्व या पुण्य, धर्म तो वह है, उसे 'वैसा' कहते हैं।

आत्मा क्यों न ऐसा न वैसा है?—इस प्रश्न का उत्तर श्लोक के उत्तरार्ध से बताया : विषय करने वाला जो मैं हैं वह इन्द्रियों का विषय तो है नहीं, इन्द्रियों से मैं देखा नहीं जा सकता। तुम्हारे शरीर को तो देख सकते हैं, तुम्हें नहीं देख सकते। मैं विषयी है अर्थात् विषय करने वाला है। वह इन्द्रियों का विषय हो नहीं सकता, न अपनी इन्द्रियों का, न दूसरे की इन्द्रियों का। फिर क्या उसे परोक्ष कह दें? परोक्ष भी नहीं है क्योंकि वह हमेशा सर्वत्र मौजूद है भासमान है, खुद ही तो है! इसलिए इसकी परोक्षता नहीं। चूँकि परोक्षता नहीं, इसलिए 'तादृक्' या वैसा नहीं कह सकते। जो द्रष्टा आत्मा है उसको विशिष्ट नहीं जान सकते, वह तो निर्विशेष ही है और चूँकि अपना रूप है इसलिए बिना जाना हुआ कभी नहीं होता। जानते तो उसको सब समय हैं, लेकिन केवल सत्-चित्-प्रिय रूप से ही। जैसे कोई कहे 'आकाश को मैं तब मानूँ जब आकाश आँखों से दीख जाये', तो आकाश तीन काल में आँख से नहीं दीख सकता, क्योंकि दीखने के योग्य नहीं है। उसी प्रकार जो कहता है 'मैं परमात्मा को तब मानूँ जब उसे देखूँ, चाहे इन्द्रियों से, मन से विषय करूँ' तो ऐसा होगा नहीं, क्योंकि वह तो न मन का विषय है और न इन्द्रियों का विषय है। इस प्रकार, विशेषों के बारे में जिज्ञासा छोड़ने का औचित्य बताया कि वह तत्त्व ही निर्विशेष है। सब अपेक्षा हटने पर प्रत्यग्रूप से भासमान आत्मा ही ब्रह्म समझ में आता है।।२७।।

यद्यपि आत्मा हमेशा वेदिता अर्थात् जानने वाला है, इसलिए कभी भी जानने का विषय या वेद्य नहीं बनता तथापि उसके कारण ही जानने वाले बनते हैं इसलिए वह असत् या शून्य नहीं, यह कहते हैं—

अवेद्योप्यपरोक्षोऽतः स्वप्रकाशो भवत्ययम्।
सत्यं ज्ञानमनन्तं चेत्यस्तीह ब्रह्मलक्षणम्।।२८।।

विषय हुए बिना भी साक्षात् भासमान होने से यह स्वयम्प्रकाश है। शास्त्र में ब्रह्म का लक्षण बताया है सत्य, ज्ञान, अनन्त।

बिना जाने हुए भी वह नित्य जाना हुआ ही है, अपरोक्ष है अर्थात् हमेशा ही उसका साक्षात्कार ज्ञानरूप से होता ही है। इसीलिए उसको स्वप्रकाश कहा जाता है; किसी के द्वारा नहीं जाना होकर ज्ञानस्वरूप से हमेशा जाना हुआ ही है। इसी का नाम स्वप्रकाश होता है। जिस प्रकार सूर्य किसी के द्वारा प्रकाशित न होकर भी अप्रकाश नहीं है, इसी प्रकार आत्मा कभी भी 'जाना हुआ' न होकर भी 'बिना जाना हुआ' नहीं है। यही स्वप्रकाश का लक्षण है। आत्मा स्वप्रकाश है क्योंकि जानने का कर्म हुए बिना भी अपरोक्ष है। परोक्षरूप से आत्मा को नहीं जान रहे हैं। 'मैं' को जो हम जान रहे हैं, वह परोक्षरूप से नहीं कि मुझसे भिन्न यह आत्मा है, वरन् अपरोक्षरूप से जान रहे हैं कि आत्मा हूँ। परोक्ष का मतलब होता है कि कोई दूसरा बीच में हो, जिसके द्वारा जानें। संसार में जितनी भी चीज़ें हैं वे किसी-न-किसी के मार्फत जानी जाती हैं। बाह्य चीज़ों को बाह्य इन्द्रियों के मार्फत जानते हो, अन्दर के अन्तःकरण को अविद्या के माध्यम से जानते हो। हर चीज़ माध्यम से जानी जाती है, परन्तु ज्ञान स्वयं किसी माध्यम से नहीं जाना जाता, वह ज्ञानस्वरूप होने से ही जाना हुआ है। जो ऐसा स्वप्रकाश होता है उसी को वेद ने ब्रह्म कहा है। 'ऐसा-वैसा' न सही लेकिन ब्रह्म की पहचान है क्योंकि 'इह' अर्थात् वेदान्तों में, उपनिषदों में, ब्रह्म का लक्षण किया 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'। सत्य, ज्ञान, अनंत—यही ब्रह्म का स्वरूप या लक्षण है।।२८।।

'सत्यं ज्ञानमनन्तम्' का अर्थ स्वयं मूलकार ही बताते हैं—

सत्यत्वं बाधराहित्यं जगद्बाधैकसाक्षिणः।
बाधः किंसाक्षिको ब्रूहि न त्वसाक्षिक इष्यते।।२९।।

सत्यता अर्थात् बाधरहितता। जगत् के बाध के साक्षी का बाध किस साक्षी से पता चलेगा! बताओ। बिना साक्षी का बाध तो स्वीकार्य है नहीं।

सत्य ब्रह्म है। जिसका कभी बाध नहीं होता है उसी को सत्य कहते हैं। बाध अर्थात् यह निश्चय कि यह चीज़ तीनों कालों में स्वरूप से 'है' नहीं। तीनों कालों में अर्थात् न यह वास्तविक थी, न यह वास्तविक है और न आगे ही वास्तविक होगी। जैसे रस्सी में जिस समय साँप दीख रहा है तब भी नहीं है, देखने से पहले भी नहीं था और बाद में भी नहीं रहेगा। यही

त्रैकालिक अत्यंताभाव का निश्चयरूप बाध है। घड़ा बनने से पूर्व 'मिट्टी में अभी घड़ा नहीं है'—यह समझना बाध नहीं क्योंकि लगता है कि जब बनायेंगे तब हो जायेगा। 'मिट्टी में घड़ा होगा', अर्थात् भविष्य के अस्तित्व का निषेध नहीं है। अथवा, 'घड़ा फूट गया, इसलिए अब मिट्टी में घड़ा नहीं है' यह निश्चय भी बाध नहीं क्योंकि लगता है कि पहले था, अब नहीं है। जहाँ कार्यकारण-भाव संबंध होता है वहाँ कारण अवस्था को 'असत्' पद से कई जगह कहा जाता है, क्योंकि कार्य-उत्पत्ति के पहले और कार्यनाश के बाद कारण के बारे में ही कहा जाता है कि 'यह कार्य नहीं है'। घड़ा पैदा होने के पहले और घड़ा नष्ट होने के बाद मिट्टी में घड़ा नहीं है किन्तु जितनी देर तक घड़ा है उतनी देर तक मिट्टी में ही है। बाध का मतलब यह निश्चय है कि न था, न है और न होगा। यह जो त्रैकालिक अत्यंताभाव का निश्चय है, इसी को बाध कहते हैं। जिसका ऐसा कभी बाध न हो वह सत्य है, जिसका बाध होता है उसी को मिथ्या कहते हैं। रस्सी में साँप को इसलिए मिथ्या कहते हैं कि उसका बाध होता है। अन्यथा, उसका नाश हो सकता, उत्पत्ति हो सकती है। जिसकी उत्पत्ति हो सकती है उसका कारण में प्रागभाव है, जो नष्ट हो गया उसका कारण में प्रध्वंसाभाव है, परन्तु वास्तविक कार्य का कारण में अत्यंताभाव नहीं है।

प्रश्न होता है कि यथाकथंचित् 'सदेव सोम्येदमग्र आसीद् एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि श्रुतियों से यह मान लेंगे कि जगत् पैदा होने के पहले नहीं था। जगत् अभी भी विचार से सत्य सिद्ध नहीं होता है। परन्तु आत्मा भी ऐसा ही अर्थात् कादाचित्क और विचार से असिद्ध ही क्यों न हो? जैसे घड़ा है तब देखते हैं, घड़ा नष्ट हो गया तो नहीं दीखा, इसी प्रकार से घड़ा है तो तुम घटद्रष्टा हो, घड़े को देखने वाले हो, घड़ा नहीं है तो घड़े को देखने वाला भी नहीं है। कोई कहे कि तब घड़े को देखने वाला नहीं, परन्तु कपड़े को देखने वाला तो है; कुछ-न-कुछ तो दीखता ही रहता है, इसलिए घड़े को देखने वाला नहीं पर देखने वाला तो है? तब कहते हैं—'जगद्बाधैकसाक्षिणः' सृष्टि के क्षण से लेकर प्रलय-पर्यन्त यह सारा जगत् है। इस सारे जगत् के बाध को करने वाला जो साक्षी है, आगे उसके बाध का साक्षी कहाँ से आयेगा! अधिष्ठानज्ञान से बाध होता है। अत्यन्ताभाव-निश्चय भी एक ज्ञान है। सारे जगत् के अत्यंताभाव का निश्चय करने वाला तो साक्षी है, इसलिए जगत् का बाध समझ में आ सकता है, लेकिन इसके बाध का साक्षी यदि बाधित होता है तो उस साक्षी का बाध करने वाला भी फिर कोई बचेगा ही। रस्सी के ज्ञान से सर्प तीनों काल में नहीं है, यह बांधरूप निश्चय हुआ तो इस निश्चय वाला कोई है। जब तक अत्यंताभाव का निश्चय न हो तब तक बाध नहीं है। सारे जगत् के बाध को करने वाले साक्षी का बाध कौन करेगा, यह बताओ। साक्षी का बाध किसने किया या उस बाधरूप निश्चय को करने वाला कौन है? यदि कहो कि कोई दूसरा साक्षी है तो उसे सत्य मानोगे ही, क्योंकि उसका बाध नहीं होगा। यदि कहो कि ये दोनों साक्षी एक-दूसरे का बाध करें तो ऐसा मानने में अन्योन्याश्रय दोष हो जायेगा। दो से ज़्यादा मानोगे तो चक्रिका हो जायेगी। और यदि आगे चार-पाँच मान लोगे तो अनवस्था हो जायेगी। इसलिए आत्मा के बाध का साक्षी कोई दूसरा मानना युक्तिसंगत नहीं है। साक्षी की विद्यमानता, ब्रह्म

की विद्यमानता शास्त्र से सिद्ध है, क्योंकि शास्त्र कह रहा है 'सत्यं ब्रह्म'। उसका बाध होता है, यह तो सिद्ध नहीं होता जबकि बाध नहीं होता है—यह वेद से सिद्ध हो रहा है। यदि कहो कि उसको बिना साक्षी के ही मान लेंगे तो संभव नहीं। जब तक अत्यंताभाव का निश्चय न हो, तब तक तो बाध हो नहीं सकता क्योंकि अत्यंताभाव का *निश्चय* होना ही तो बाध है; अतः साक्षी का बाध असम्भव है।

इसका अनुभव हम लोगों को रोज़ होता है : जब हम गहरी नींद में जाते हैं तब सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर दोनों नहीं रहते। स्थूल-सूक्ष्म शरीर ही तो सारा जगत् है! जो अनुभव में आता है वह गहरी नींद में नहीं रहता, मूर्च्छा में नहीं, समाधि में नहीं रहता। 'नहीं रहता', यह कैसे पता लगा? चूँकि वहाँ साक्षी रहता है। अहंकार उस साक्षी पर ही परिच्छेदक बनकर आ जाता है, इसलिए साक्षी का वह ज्ञान अहंकार में आ जाता है, अतः 'वहाँ मैंने कुछ नहीं जाना' यह अहंकारघटित प्रतीति हो जाती है। इस प्रकार का अर्थात् ससाक्षिक बाध साक्षी का नहीं हो सकता है। अगर पूछो कि किस प्रमाण से हम ऐसा मानते हैं, तो दो प्रमाण हैं : एक प्रमाण यह अर्थापत्ति कि उसका बाध होना असम्भव है और दूसरा प्रमाण श्रुति है। साक्षी का बाध होता है यह न श्रुतिप्रमाण से सिद्ध हो सकता है और न युक्ति से सिद्ध होता है।।२६।।

'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः' के अनुसार आकाश के दृष्टांत से समझाते हैं—

अपनीतेषु मूर्तेषु ह्यमूर्तं शिष्यते वियत्।
शक्येषु बाधितेष्वन्ते शिष्यते यत्तदेव तत्।।३०।।

मूर्तिमान् घट आदि हटा दिये जाने पर मूर्तिरहित आकाश बचा ही रहता है, इसी तरह जिनका सम्भव है उन सब उपाधियों का बाध हो जाने पर जो बचता है वही आत्मतत्त्व है।

दृष्टान्त देते हैं कि जितने मूर्त पदार्थ हैं, अर्थात् जो पदार्थ या छुए जा सकते हैं या देखे जा सकते हैं। मूर्त्त चीज़ें हम आँख से देख लेते हैं और अन्धा उन्हें छूकर जान लेता है। अगर तुम्हारी पेटी में कपड़े पड़े हैं तो उनको चाहे देखकर या छूकर पेटी में से हटा दो तो सब मूर्त पदार्थ हटा दिये गये। उन्हें हटाने पर अमूर्त आकाश स्वयमेव बच जाता है। अतः कहते हो, 'सारे कपड़े हटा दिये, पेटी खाली है' यह *खालीपना* तुम्हें आँख से दीख नहीं सकता; छूकर भी पता चल नहीं सकता अतः मूर्त नहीं है। अब वहाँ कोई मूर्त पदार्थ नहीं है—यह साक्षी जान रहा है, तभी यह कहते हो कि 'यहाँ कुछ नहीं है'। मूर्त पदार्थों को जानने के लिए तो इन्द्रियों की सामर्थ्य है परन्तु यह जगह खाली है इसको साक्षी जानता है। मूर्त पदार्थों को हटा देने पर जो अमूर्त बचा वह आकाश है। हटाने लायक चीज़ों को हटा देने पर जिसको नहीं हटाया जा सकता है वह अपने आप बच जाता है। नहीं हटने वाली चीज़ को कहीं से लाना नहीं पड़ता, वह बच ही जाती है। ठीक इसी प्रकार से जिन चीज़ों का बाध हो सकता है उनके बाध के बाद बचा आत्मा है। जगत् के सारे पदार्थों का बाध हो सकता है क्योंकि वे सारे कभी होते हैं कभी नहीं होते हैं। बाध करते-करते अंत में बाध करने वाला ही बचेगा! सर्वथा खाली कमरे में तुम कहते

हो 'कमरे में कुछ नहीं बचा।' तुम्हारा यह मतलब नहीं कि तुम भी वहाँ नहीं बचे! मतलब यह है कि खालीपन जानने वाले तुम्हारे सिवाय अन्दर कुछ नहीं है। मैं अन्दर नहीं होऊँ तो कैसे कहूँ कि अन्दर कुछ नहीं है? सब चीज़ों को निकालने के बाद अपने आप वहाँ हो ही तभी कह रहे हो। इसी प्रकार सारे जगत् को हटाने के बाद हटाने वाला साक्षी है ही। बाधयोग्य सबके बाध के पश्चात् भी जो बच जाता है वही आत्मा है।

श्रुति उपदेश करती है 'नेति नेति'। जो-जो मूर्त-अमूर्त है, उसका सत्य होना, आत्मा होना श्रुति मना कर देती है। आचार्य सुरेश्वर कहते हैं कि अनात्म वस्तुओं का अदर्शन (हटाना) ही परमात्मा की उपासना है। सगुण परमात्मा की तो उपासना है कि उनको कुछ चढ़ाओ पर निर्गुण परमात्मा की उपासना है कि उनके ऊपर से सब कुछ हटा दो! प्रातः काल जब भगवान् शंकर के मन्दिर में जाते हैं तब सबसे पहला कार्य करते हैं निर्माल्य का विसर्जन करना। जो कुछ चढ़ाया है, वह सब कुछ हटा देना है। यह सारा जगत् निर्माल्य ही है। यह सब अधिष्ठान ब्रह्म के ऊपर चढ़ा हुआ है। कई बार सुनते होगे कि भगवान् शंकर के निर्माल्य को ग्रहण मत करो, उसे मत खाओ। उसका वास्तविक तात्पर्य ही यह है कि यह सारा जगत् शिव के ऊपर चढ़ा हुआ है। वैराग्य के द्वारा इस सबको हटा देना है, इसलिए इसका ग्रहण तुम मत करो। इसका ग्रहण कौन करता है? राजस्थान में भगवान् शंकर के मन्दिर का प्रसाद ग्रहण करने वाले को सेवक कहा जाता है। परमेश्वर की सेवा करने वाले जो तुम्हारे शरीर से लेकर अहंकार पर्यन्त हैं वे ही संसार के पदार्थों को ग्रहण कर सकते हैं, तुम ग्रहण नहीं कर सकते। निरन्तर वैराग्य का अभ्यास कर्त्तव्य है। जो सेवा करने वाले शरीर से लेकर अहं-पर्यन्त हैं वे सिवाय निर्माल्य के, सिवाय भगवान् शंकर के प्रसाद के और क्या ग्रहण कर सकते हैं! सभी तो उनका निर्माल्य है।। ३०।।

पूर्वोक्त तथ्य ही और स्पष्ट करते हैं–

सर्वबाधे न किंचिच्चेद् यन्न किंचित् तदेव तत्।
भाषा एवात्र भिद्यन्ते निर्बाधं तावदस्ति हि।।३१।।

यदि कहो कि सब का बाध हो जाने पर कुछ नहीं रहता, तो जिसे 'कुछ नहीं' समझ रहे हो वह (ज्ञानरूप तुम स्वयम्) ही वह आत्मवस्तु है। इस बारे में कहने के तरीके का ही अन्तर है क्योंकि बाधहीन तत्त्व है अवश्य।

जिसकी प्रतीति होती है उस सबका बाध करना हो तो द्रष्टा भी प्रतीत होता ही है, उसका भी बाध क्यों न हो? ठीक जिस प्रकार, कमरे में कोई चीज़ है तब तक तो बिजली का लट्टू उसका प्रकाशक है, परन्तु जब कमरे में कुछ नहीं है तब लट्टू किसका प्रकाश करे! अर्थात् किसी का नहीं करेगा, अतः उसे *प्रकाशक* नहीं कह सकते। इसी प्रकार जब सारे दृश्य का बाध हो गया तब किसका द्रष्टा रहेगा? इसलिए, कुछ नहीं है–यह मानना ठीक होगा। इस समस्या का समाधान ऐसे समझना चाहिए : मान लो कमरे में घुप्प अंधेरा है। हमने दरवाज़ा खोला।

कोई पूछता है 'क्या अन्दर कहीं कुर्सी पड़ी है?' उससे कहते हैं 'रोशनी करके देखते हैं कि कुर्सी पड़ी है या नहीं।' यह तो नहीं कह देते कि वहाँ कोई कुर्सी नहीं है क्योंकि अंधकार है! और यदि कमरे में लट्टू जल रहा हैं तब कह सकते हैं कि कोई कुर्सी है या नहीं है। कुर्सी है—यह जिस प्रकाश में देखते हैं, कुर्सी नहीं है भी उसी प्रकाश में देखकर कहते हैं। ये दोनों बातें तभी कह सकते हैं कि जब कमरे में प्रकाश है। इसी प्रकार इस सारे जगत् का बाध हो जाने पर प्रकाश होगा तभी कहोगे 'यहाँ कुछ नहीं है।' कुछ नहीं है—यह अगर तुम समझ रहे हो तो तुमने ज्ञानरूप को मान ही लिया। हम उसको विधिमुख से कहते हैं कि वहाँ प्रकाश है। तुम उसे निषेधमुख से कहते हो कि कुछ नहीं है। परन्तु दोनों इस विषय में एकमत हैं कि प्रकाश है। यदि सारे दृश्य प्रपंच का बाध हो गया तो फिर 'कुछ भी नहीं है'—यह जान कर ही कहोगे, बिना जाने तो नहीं कहोगे। 'कुछ नहीं है' का जो ज्ञान, वही तो ब्रह्म है! हमारे-तुम्हारे बात करने में इतना ही फ़र्क़ है कि बोलने के तरीके दो हैं। कमरे में कुछ है, यह भी प्रकाश से जानोगे, कमरे में कुछ नहीं है—यह भी प्रकाश से जानोगे। प्रकाश के बिना दोनों ज्ञान नहीं होंगे। फिर भी बोलने का तरीका यह है कि 'कमरे में केवल रोशनी है' या 'साफ़ दीख रहा है कि कमरे में कुछ नहीं है।' सबका बाध होने पर कुछ नहीं है का ज्ञान है ही। भाषा अर्थात् बोलने का ढंग ही अलग है, जो बाध-रहित है वह है ही, उसके बारे में कोई मतभेद नहीं है। 'वह कुछ नहीं का साक्षी है' कहो या 'केवल साक्षी है' कहो, स्थिति में अन्तर नहीं।

फिर भी दोनों तरीकों में इतना फ़र्क समझ लेना कि 'कुछ नहीं का ज्ञान'—इस प्रकार से कहते हो तो 'कुछ नहीं' को मान रहे हो। इसलिए हम उन लोगों को अभावाद्वैती कहते हैं कि द्वैत के अभाव वाला ब्रह्म है अर्थात् भाव पदार्थ तो एक अद्वैत ही है, परन्तु सबका अभाव भी वहाँ रहता है। हम लोगों का कहना है कि अभाव भी नहीं रहता। जैसे भाव कुछ नहीं रहता वैसे ही अभाव भी कुछ नहीं रहता क्योंकि 'सब कुछ' को लेकर के ही 'सब कुछ नहीं' का ज्ञान होगा। अभाव हमेशा किसी प्रतियोगी भाव को रखकर ही हो सकता है। अतः भावाभाव, दोनों से निर्मुक्त वह तत्त्व है। अतः अद्वितीयता के ऊपर ज़ोर देने के कारण हमको अभाव भी सहन नहीं होता। भाव भी नहीं और अभाव भी नहीं है। अभावाद्वैती की कठिनाई यह है कि वह इन दोनों (भाव और अभाव) कोटियों को इकट्ठा करके नहीं सोच सकता। जैसे जब तक हमारा स्थूल-सूक्ष्म शरीर है तब तक हम में भाव की दृष्टि है। इसी प्रकार जब तक स्थूल-सूक्ष्म शरीर है तभी तक अभाव की भी दृष्टि रहेगी। इसलिए जगत् का जब बाध होता है तो केवल भाव पदार्थों का बाध नहीं होता, अभाव पदार्थों का भी बाध हो जाता है। जैसे रस्सी में सर्प दीखने के बाद यह बाध नहीं होता कि सर्प का रस्सी में अभाव होने से सर्प नहीं है बल्कि यह कि अभाव भी नहीं है क्योंकि सर्प का रस्सी से कभी सम्बन्ध हुआ ही नहीं, केवल कल्पना से सम्बन्ध था, वह कल्पना नष्ट हो गई। इसलिए साँप है और साँप नहीं है, ये दोनों ही सुधी के लिए बाधित होते हैं। शुरू के साधक को 'नहीं है' पर ज़रूर ज़ोर देना है, वैराग्य की दृढता के लिए ऐसा करना ज़रूरी है। परन्तु वस्तुतः जब वहाँ पहुँचते हो तो भाव-अभाव से सर्वथा निर्मुक्त है।। ३१।।

दर्शित तथ्य वेद ने कैसे बताया यह समझाते हैं—

अत एव श्रुतिर्बाध्यं बाधित्वा शेषयत्यदः।
स एष नेति नेत्यात्मेत्यतद्व्यावृत्तिरूपतः।।३२।।

अत एव 'स एष' आदि श्रुति अतत् के निषेध के तरीके से बाधयोग्य का बाध कर प्रत्यगात्मा को बचा हुआ बताती है।

चूँकि साक्षिचैतन्य का कभी बाध नहीं हो सकता इसलिए ही श्रुति ने (बृ.३.९.२६)'स एष नेति नेति' इस प्रकार 'यह नहीं, यह नहीं' कहकर मूर्त-अमूर्त सबको हटा दिया अर्थात् जिस-जिसका बाध हो सकता है उन सब का बाध कर दिया, तब 'अदः शेषयति' आत्मा ही अवशिष्ट रह गया। इसलिए श्रुति ने कहा 'स एष नेति नेति इति आत्मा' अर्थात् निषेध का साक्षी है। इस प्रकार से जिस-जिसकी व्यावृत्ति हो सकती है उस-उसकी व्यावृत्ति करने का प्रयत्न करो। जिसकी व्यावृत्ति नहीं हो सकती उस साक्षी की व्यावृत्ति करने की चेष्टा मत करो। इसीलिए भगवान् गौडपादाचार्य ने कहा कि जब मूर्त-अमूर्त सामने आये तब तक तो चित्त को उपशान्त करो। चित्त को उपशांत करोगे तो अभाव प्रत्ययालम्बन निद्रा आने लगेगी, तब उसे पुनः जगाओ। इस प्रकार से जब दोनों तरह से देखते हैं अर्थात् जब न भाववृत्ति रहती है और न अभाव-वृत्ति रहती है, तब समता की प्राप्ति हो जाती है। 'समं प्राप्तं न चालयेत्' भाव-अभाव दोनों से निर्मुक्त होने के बाद फिर उसको विक्षिप्त मत करो कि यह क्या है, केवल उसमें स्थित हो जाओ। जिसका निराकरण नहीं किया जा सकता है उसका श्रुति ने निराकरण करने के लिए नहीं कहा है, वरन् उसके अन्दर स्थित हो जाने के लिए कहा है।। ३२।।

जो कुछ भी दृश्य जगत् है उसका बाध कर देने से बाध कर देने वाला शेष रह जाता है जिसका आगे बाध नहीं किया जा सकता। बाध्य-अबाध्य का विवेक दिखाते हैं—

इदंरूपं तु यद् यावत् तत् त्यक्तुं शक्यतेऽखिलम्।
अशक्यो ह्यनिदंरूपः स आत्मा बाधवर्जितः।।३३।।

जितना कुछ भी 'यह' इसी स्वरूप वाला है वह सब छोड़ा जा सकता है। जो 'यह' इस स्वरूप वाला नहीं वह छोड़ा नहीं जा सकता अतः बाधरहित वही सर्वप्रसिद्ध आत्मा है।

छोड़ उसी को सकते हो जो तुमसे अलग हो, अपने-आपको तो छोड़ा नहीं जा सकता क्योंकि तुम छोड़ने वाले हो। अतः जो तुमसे भिन्न होगा वही छोड़ा जा सकेगा। जिसे छोड़ा जा सकता है वह सब दृश्य है। द्रष्टा अपने को नहीं छोड़ सकता। जो इदं-रूप नहीं है अर्थात् अपने से भिन्नरूप नहीं है, दृश्यरूप नहीं है, उसे छोड़ना अशक्य है, वह छोड़ा नहीं जा सकता, वही आत्मा है। इसलिए उसका बाध नहीं हो सकता। इसका मतलब हआ कि अन्तःकरण में जो-जो चीज़ आती चली जाये उसका, दृश्य होने से, त्रैकालिक अत्यंताभाव-निश्चय-रूप बाध करते चले

जाओ। करते-करते जब कुछ न आये तो 'कुछ नहीं' की जो अभावरूपता है उसका भी बाध कर दो! जैसे अंतःकरण में 'कुछ' (है) आता है वैसे ही 'कुछ नहीं' भी आता है। जब इन दोनों चीज़ों को छोड़ दिया जाता है तब अंतःकरण की सत्ता ही विलीन हो जाती है, उस का भी बाध हो सकता है। तब अपने स्वरूप से स्थित हो जाते हो। उस स्थिति में जाकर 'वह कैसा है' इसका चिन्तन नहीं करना चाहिए, अन्यथा फिर अंतःकरण में कुछ न कुछ आने-जाने लगेगा।।३३।।

उक्त विचार का नतीजा बताते हैं–

सिद्धं ब्रह्मणि सत्यत्वं ज्ञानत्वं तु पुरेरितम्।
स्वयमेवानुभूतित्वाद् इत्यादिवचनैः स्फुटम्।।३४।।

ब्रह्म में कही सत्यता इस विचार से आत्मा में सिद्ध हुई। आत्मा की ज्ञानरूपता तो 'खुद अनुभूतिरूप होने से' इत्यादि वाक्यों से पहले (श्लो.१३) स्पष्ट कह चुके हैं।

प्रकारण तो यह चला हुआ था 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्'। फिर प्रश्न हुआ, वह गुहा कौन-सी है? तब पंचकोशों का निरूपण किया। इस गुहा के अन्दर ही वह ब्रह्म अधिष्ठानरूप से स्थित है। अब अबाध्यता की बात आयी जो मूल प्रसंग से असम्बद्ध नहीं है, वही बात है, 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' की ही सिद्धि कर रहे हैं। सत्यत्व का अर्थ कर दिया था कि जिसका कभी भी बाध नहीं हो सकता अर्थात् 'यह नहीं है' ऐसा कोई भी विचार हो नहीं सकता। अभी किये विचार से यही पता लगा कि एक ही चीज़ है जिसके बारे में 'नहीं है' हो ही नहीं सकता और वह मैं खुद हूँ! 'मैं नहीं हूँ' ऐसा नहीं हो सकता। ब्रह्म में यों बाधराहित्यरूप सत्यता सिद्ध होती है। ब्रह्म को छोड़कर और कोई भी चीज़ बाध से रहित नहीं हो सकती। इसलिए ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है, 'ब्रह्म सत्यं'। ज्ञान को आत्मरूप पहले 'स्वयमेवानुभूतित्वाद् विद्यते नानुभाव्यता' (३.१३) के द्वारा बताया था। आत्मा अनुभवस्वरूप होने से अनुभव का विषय नहीं है, ज्ञानमात्र है। अंतःकरण की उपाधि से ज्ञाता हो जाता है, ज्ञानेन्द्रियों की उपाधि से ज्ञान हो जाता है। यह ठीक है कि अंतःकरण की उपाधि से भी सुख-दुःख आदि ज्ञेय हो जाते हैं, परन्तु अंतःकरण की अहंकाररूप उपाधि के द्वारा ही ज्ञाता होता है। अंतःकरण की अहंवृत्ति के कारण जानने वाला और वृत्त्यन्तरों के कारण जाना जाने वाला हो जाता है। अंतःकरण की ही वृत्तिविशेष 'मैं' इस आकार की है, उसमें आत्मा ज्ञाता बन जाता है। वस्तुतः वह ज्ञानरूप है, न ज्ञाता है और न ज्ञेय है।

ज्ञानरूप होने से ही यह नहीं कह सकते कि वह अज्ञात है। सूर्य के दृष्टांत से समझाया था कि जो चीज़ अप्रकाशरूप होती है वह प्रकाशित नहीं हो तो अप्रकाशमान रहती है परन्तु जो स्वप्रकाश है वह प्रकाशित हुए बिना ही अप्रकाशमान नहीं है। आत्मा कभी ज्ञान का विषय नहीं होता, कभी जाना नहीं जाता, परन्तु ज्ञानस्वरूप होने से वह 'नहीं जाना हुआ' भी नहीं है। ज्ञान अर्थात् स्वप्रकाश। इस प्रकार आत्मा की सत्यता और ज्ञेयता का प्रतिपादन किया।। ३४।।

'यो वेद निहितं गुहायां' का वर्णन हो गया, सत्य और ज्ञान का वर्णन भी हो गया। वह

परमात्मा अनंत है, इसका विचार अब करते हैं—

न व्यापित्वाद् देशतोऽन्तो नित्यत्वान्नापि कालतः।
न वस्तुतोऽपि सार्वात्म्यादानन्त्यं ब्रह्मणि त्रिधा।।३५।।

व्यापक, नित्य, सर्वात्मा होने से ब्रह्म में देश-काल-वस्तुकृत अन्त नहीं, यों तीन प्रकार की अनन्तता है।

व्यापकता के विषय में हमारी तीन प्रकार की कल्पनायें हैं। आकाश इत्यादि को हम व्यापक इस प्रकार समझते हैं कि वह सब जगह है, यहाँ भी है, आगे भी है, पीछे भी है, अगल भी है, बगल भी है। सारे देशों में कोई चीज़ है तो उसे देश में व्यापक कहेंगे। इसी प्रकार से भूतकाल, भविष्य काल और वर्तमान काल तीनों में रहने वाले को हम काल में व्यापक कहते हैं। एक आदमी बीस साल का है तो इसका मतलब है कि बीस साल पहले वह पैदा हुआ था और आज है। 'इस आदमी की आयु साठ साल है' इसका मतलब है कि यह बीस साल पहले से है, आगे चालीस साल तक रहेगा और अभी तो है ही। जितना काल भूत में और जितना काल भविष्य में कोई चीज़ रहे उसे उतने काल में व्यापक कहते हैं। यदि कोई चीज़ जितना भूतकाल था उस सब में रहे तथा जितना भविष्य काल है उस सबमें रहे और वर्तमान में तो है ही, उसे काल में व्यापक कहेंगे। कोई चीज़ काल में व्यापक होकर भी देश में व्यापक न हो, यह हो सकता है जैसे हीरा। हीरा बहुत मज़बूत होता है, कहते हैं, इसलिये हज़ारों साल रह सकता है लेकिन देश-व्यापी नहीं है। उसका काल तो दस हज़ार साल पहले से आगे तक है परन्तु देश सीमित है, जहाँ पड़ा है, वहीं पड़ा रहेगा, और तो कहीं वह है नहीं। इसलिए कोई चीज़ काल में व्यापक है तो यह ज़रूरी नहीं कि वह देश में व्यापक हो। ऐसे ही, देशव्यापी हो परन्तु पहले पीछे न रहे तो काल में व्यापक नहीं है। यों देशगत व्यापकता और कालगत व्यापकता होती हैं। तीसरी वस्तुकृत है : घड़ा कपड़ा नहीं है, कपड़ा घड़ा नहीं है। इसलिए घड़ा कपड़ेरूप में व्यापक नहीं है और कपड़ा घड़ेरूप में व्यापक नहीं है। इसे वस्तु-कृत अव्यापकता कहते हैं। जो घड़े-कपड़े दोनों में रहेगा वही इन दोनों में व्यापक हुआ। ये तीन प्रकार की परिच्छिन्नतायें होती हैं और इसलिए तीन प्रकार की अपरिच्छिन्नता अर्थात् व्यापकता होती है।

वेद जब कहता है 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' तो तीनों प्रकार के अंत या परिच्छेद का निषेध है। ब्रह्म के स्वरूप को बताते हुए, नित्य भी कहा और देशगत व्यापकता भी कही। 'सर्वगतं' अर्थात् सब पदार्थों में है। इस प्रकार से श्रुति ने तीनों प्रकार की अनन्तता का प्रतिपादन किया है। व्यापक या विभु होने के कारण वह देश से परिच्छिन्न नहीं है, देश से उसका अंत नहीं है। उसे नित्य भी कहा है, इसलिए काल के द्वारा भी उसका अंत अर्थात् परिच्छेद नहीं है। वस्तु के द्वारा भी अंत नहीं है, क्योंकि सर्वगत कहा। वह सबमें है चूँकि सर्वरूप है। इसलिए कोई वस्तु इसका अंत या सीमा नहीं है। तीन प्रकार की सांतता प्राप्त होती है अतः तीनों प्रकार की अनंतता का प्रतिपादन श्रुति ने 'अनंतं' पद से कर दिया।।३५।।

श्रुति ने तो कह दिया लेकिन इस बात को युक्ति से कैसे समझा जाये जिससे मन में बात बैठ जाये? कहते हैं—

देशकालान्यवस्तूनां कल्पितत्वाच्च मायया।
न देशादिकृतोऽन्तोऽस्ति ब्रह्मानन्त्यं स्फुटं ततः।।३६।।

देश, काल एवं अन्य वस्तुएँ माया से कल्पित होने के कारण देशादि द्वारा किया वास्तविक अन्त है नहीं अतः ब्रह्म की अनन्तता स्पष्ट है।

भगवान् भाष्यकार ने कहा है 'मायाकल्पित-देश-काल-कलनावैचित्र्यचित्रीकृतम्' परिच्छेद का कारण जो देश, काल और वस्तु, तीनों ही दृश्य हैं, इदंरूप हैं और जो दृश्य होता है वह माया के द्वारा ही (कल्पित) होता है। इसलिए देशगत, कालगत और अन्यवस्तु-कृत परिच्छेद माया के द्वारा कल्पित है। जैसे रस्सी में साँप दीखेगा तो किसी देश में ही दीखेगा। इसलिए देश कल्पित हो जाता है। किसी काल में ही दीखेगा तो काल कल्पित हो जायेगा और जो सर्प दीखा वह माला, भूछिद्र इत्यादि नहीं है, इसलिए वस्तु-भेद कल्पित हो गया। इस प्रकार देश, काल, वस्तु की तीनों ही कल्पनायें मायिक हैं। ठीक जिस प्रकार से गन्धर्वनगर दीखता है, परन्तु गन्धर्वनगर देखने से उससे आकाश परिच्छिन्न नहीं होता इसी प्रकार देश, काल, वस्तु के परिच्छेद से ज्ञान परिच्छिन्न नहीं होता। एक अखण्ड ज्ञान में ही ये सब कल्पित हैं, प्रत्यगात्मा तो अकल्पित है क्योंकि उसके लिए माया की जरूरत नहीं। परन्तु प्रत्यगात्मा से भिन्न जो भी अनात्मा होगा, उस अनात्मा को आने के लिए माया की जरूरत है। स्थूल रूप से समझ लो : मन के बिना न देश रहेगा, न काल और न वस्तु रहेगी। जब तक मन है तभी तक देश, काल, वस्तु हैं, इसलिए मन के अधीन होने से इनको कल्पित ही कह सकते हैं। मन को ही महर्षि वसिष्ठ आदि ने माया का स्वरूप बता दिया है। उपनिषदों में भी 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः' बन्धन और मोक्ष का कारण मन ही कहा है। मन को ही आत्मा क्यों नहीं मान लेते? भगवान् ने अत्यंत दया करके हमको एक अवस्था सुषुप्ति दे दी जिसमें मन नहीं रहता, परन्तु सुषुप्ति से उठते हैं तो सारा का सारा संसार वैसा का वैसा रहता है। इसलिए मानना पड़ता है कि मन के बिना संसार नहीं यह तो ठीक है लेकिन मन स्वयं भी किसी कारण में लीन हो जाता है; वह कारण ही माया है। मन के बिना संसार नहीं यह तो सीधा समझ में आता है क्योंकि मन के बिना हमको किसी भी दृश्य की प्रतीति नहीं हो सकती। घुटने का दर्द भी गहरी नींद में नहीं, हमें लड़की की शादी की चिंता है तो वह भी गहरी नींद में नहीं है। इसलिए मन नहीं तो संसार नहीं, यह अनुभव से सिद्ध होता है, परन्तु संसार पैदा होता है, मन भी पैदा होता है, इससे सिद्ध होता है कि मन का भी कारण है। मन का जो कारण है उसी को माया या अविद्या कहते हैं। इस माया से ही देश, काल और अन्य सारी वस्तुएँ कल्पित हैं। सारा जगत् माया में कल्पित है। जिसमें यह सारा कल्पित है वह अधिष्ठान आत्मा है। कोई चीज़ कल्पित है यह तभी कह सकते हो जब अधिष्ठान के ज्ञान से उसका त्रैकालिक-अत्यंताभाव-निश्चय हो जाये। रस्सी देखकर ही निश्चय

होता है कि मुझे जो सर्प दीखा था वह तीनों कालों में नहीं था। जो तीनों कालों में न हो और दीखे, उसी को कल्पित कहते हैं, उसका बाध होता है। बाध होने के लिए अधिष्ठान-ज्ञान आवश्यक है। इसी प्रकार देश, काल और अन्य वस्तुएँ कल्पित हैं यह सिद्ध होने के लिए देश, काल और अन्य वस्तुओं का बाध होना जरूरी है और वह ब्रह्मस्वरूप के ज्ञान से ही होता है। इसलिए अधिष्ठान ब्रह्म पारमार्थिक है। चूँकि देश, काल और अन्य वस्तुएँ उसमें कल्पित हैं, अतः वे उसे परिच्छिन्न नहीं कर सकतीं। जैसे रस्सी में दीखने वाला साँप उस रस्सी को परिच्छिन्न नहीं कर सकता इसी प्रकार प्रत्यगात्मा के अन्दर इन चीज़ों की प्रतीति कल्पित होने से, प्रत्यगात्मा के ज्ञान से इनका बाध होने से, ये इसको परिच्छिन्न नहीं कर सकतीं। इसलिए ब्रह्म की अनन्तता प्रत्यगात्मा में स्फुट हो जाती है, प्रकट हो जाती है, स्पष्ट हो जाती है।।३६।।

'वस्तु' कल्पित कहने से जड वस्तुओं की चर्चा प्रतीत होती है अतः चेतन जीवों से ब्रह्म भिन्न अर्थात् परिच्छिन्न ही होगा यह सम्भावना रह जाती है, इसका निवारण करते हैं—

सत्यं ज्ञानमनन्तं यद् ब्रह्म तद् वस्तु तस्य तत्।
ईश्वरत्वं च जीवत्वम् उपाधिद्वयकल्पितम्।।३७।।

जो सत्य, ज्ञान, अनन्त है वही ब्रह्म वस्तु है। उसकी ईश्वररूपता और जीवरूपता दो उपाधियों से कल्पित ही है।

उपनिषद् ने ब्रह्म का स्वरूप बताया 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' अर्थात् जिसका कभी बाध न हो, कभी अज्ञात न हो और कोई चीज़ जिसके बिना न हो, वही ब्रह्म वस्तु-शब्द का अर्थ है। उसी ब्रह्म के अन्दर ईश्वरत्व और जीवत्व दोनों कल्पित हैं, अवस्तु हैं। ईश्वरत्व एक उपाधि को लेकर कल्पित है और जीवत्व दूसरी उपाधि को लेकर कल्पित है। ऐसे समझ लो : आँख की उपाधि को लेकर तुम्हें द्रष्टा कहा जाता है और कान की उपाधि को लेकर तुम्हें श्रोता कहा जाता है। द्रष्टा श्रोता नहीं है, श्रोता द्रष्टा नहीं है, परन्तु द्रष्टा श्रोता दोनों तुम्हारे बिना नहीं हैं। इसलिए जब तुम चले जाते हो तो न आँख देखेगी, न कान सुनेगा। ठीक इसी प्रकार से ईश्वर की उपाधि से ईश्वरता और जीव की उपाधि से जीवता है। जीव कभी ईश्वर नहीं है, ईश्वर कभी जीव नहीं है। परन्तु ईश्वर और जीव दोनों माया या अविद्यारूप उपाधिमात्र से नहीं हो सकते। ब्रह्म है तभी उसमें इन उपाधियों से ईश्वरता और जीवता है। जैसे आँख के बिना तुम द्रष्टा नहीं, कान के बिना तुम श्रोता नहीं, आँख से श्रोता नहीं हो सकते, कान से द्रष्टा नहीं हो सकते। जब तुम होगे तभी आँख के द्वारा द्रष्टा बनोगे, कान के द्वारा श्रोता बनोगे। इसी प्रकार से जो सत्य-ज्ञान-अनंतस्वरूप है वही माया की उपाधि से ईश्वरभाव को प्राप्त हुआ कहा जायेगा और अविद्या की उपाधि से जीवभाव को प्राप्त हुआ कहा जायेगा। जीव ईश्वर नहीं, ईश्वर जीव नहीं, परन्तु ब्रह्म के बिना न ईश्वर है, न जीव है। केवल माया से कुछ नहीं हो सकता। जो इस पारमार्थिक भाव को नहीं समझता वह इस बात को नहीं समझ सकता कि माया, अविद्या के न रहने पर भी ब्रह्म तो रहता ही है। जैसे मेरे आँख-कान फूट जायें तो भी मैं रहूँगा ही। मेरे

बिना तो आँख-कान रह नहीं सकते, परन्तु आँख-कान के बिना मैं देख सुन भले ही नहीं सकूँगा परन्तु रहूँगा तो ज़रूर। इसी प्रकार से माया की उपाधि के बिना सृष्टि कर नहीं सकूँगा, अविद्या की उपाधि के बिना सुख-दुःख भोग नहीं सकूँगा, परन्तु रहूँगा तो सही।

कुछ लोगों की यह मान्यता हो जाती है कि शिव शक्ति के बिना कुछ नहीं कर सकता, स्पन्दन नहीं कर सकता, इसलिए *प्रधान* शक्ति ही है। यह मान्यता उन लोगों की है जो संसार के अन्दर अत्यंत आसक्ति के कारण उसकी सत्यता का बाध नहीं कर पाते है। आँख के बिना मैं नहीं देख सकता लेकिन आँख मुझसे प्रधान नहीं हो गयी। इसलिए नहीं क्योंकि आँख के बिना मैं रह सकता हूँ, मेरे बिना आँख रहेगी ही नहीं। इसी प्रकार माया बिना ब्रह्म के रहेगी ही नहीं। जैसे बाजीगर खेल दिखाता है, तो उसकी शक्ति की प्रशंसा है किंतु आखिर शक्ति है तो बाजीगर की ही। वह शक्ति नहीं भी रहेगी तो बाजीगर रहेगा ही, भले ही उसे बाजीगर नहीं कह सकते। शक्ति तो कहीं *पड़ी* नहीं रहेगी कि बाजीगर ने छोड़ दी तो वह पड़ी रहे। इसी प्रकार से माया और अविद्या के बिना न भोग्य और न भोग होगा, परन्तु स्वरूप बना ही रहेगा।

ब्रह्म अनन्त है यह श्रुति ने कहा है। 'यो वै भूमा तत्सुखं नाऽल्पे सुखमस्ति' जो व्यापक है वही सुख है, जो परिच्छिन्न होता है उसमें सुख नहीं है। अधिक भी अन्य की अपेक्षा कम प्रतीत हो तो सुखद नहीं होता जैसे साथी का वेतन अधिक बढ़े तो अपना बढ़ा वेतन भी सुखद नहीं रहता। कोई भी चीज़ अंत वाली हो जाती है तो वह, जो अंत वाली चीज़ नहीं उसकी अपेक्षा से दुःख का कारण बन जाती है। इसलिए श्रुति कहती है कि जो बड़ा या व्यापक होता है वही सुख है। इतना ही नहीं, श्रुति ने निषेध कर दिया कि अल्प में सुख नहीं और सब देश, काल और वस्तु माया से कल्पित होने के कारण परमात्मा की अपेक्षा अल्प हैं। अतः अनन्त का अर्थ आनन्द समझना, जैसा श्रुति ने अन्यत्र कहा है 'विज्ञानम् आनन्दम् ब्रह्म'। अनन्त मायने आनन्द। देश, काल, वस्तु तो सब अल्प हैं। जब तक माया की कल्पना रहेगी तब तक सुख नहीं रहेगा, माया की कल्पना नहीं रहेगी तो तुम आनन्दरूप रहोगे। अतः जो लोग कहते हैं कि शक्ति प्रधान है वे मानो यही कहते हैं कि गेंग्रीनग्रस्त पैर बचा रहे, मैं भले ही मर जाऊँ!

माया और अविद्या जो दो उपाधियाँ, इनसे ईश्वरता और जीवत्व दोनों कल्पित हैं। सत्यादिरूप जो ब्रह्मवस्तु है वही पारमार्थिक है। लोक में दो तरह से आत्मा प्रसिद्ध है—एक, ईश्वररूप से और दूसरा, जीवरूप से। आगे इन उपाधियों का विचार करेंगे। हमको दो तरह से चैतन्य की प्रतीति होती है—एक बनाने वाला रूप और दूसरा भोगने वाला रूप। इस सृष्टि को जिसने बनाया वह बनाने वाला निमित्त कारण है और मैं इसमें सुख-दुःख का भोग करने वाला चेतन हूँ। लोक में दो प्रकार से ही चेतन की प्रतीति होती है—या भुगवाने वाले रूप से या भोगने वाले रूप से। तुम किसी के यहाँ नौकरी करते हो तो उसका रूप तन्ख्वाह देने वाला और तुम्हारा रूप लेने वाला। मालिक और नौकर रूप में भी चेतन-भेद की प्रतीति होती है। इसलिए भाष्यकार कहते हैं—'विश्वं पश्यति कार्य-कारणतया स्वस्वामिसम्बन्धतः। शिष्याचार्यतया तथैव पितृपुत्राद्यात्मना भेदतः।' दुनिया में चेतन के ये दो ही भेद प्रसिद्ध हैं। ये दोनों ही एक चेतन में कल्पित हैं। किस के द्वारा कल्पित हैं? माया और अविद्या इन दोनों उपाधियों के द्वारा कल्पित हैं।।३७।।

ब्रह्म वस्तु के अन्दर से जीवता और ईश्वरता जिनसे कल्पित हैं वे कौन-सी उपाधियाँ हैं, इसे बताने के लिए कहते हैं–

शक्तिरस्त्यैश्वरी काचित् सर्ववस्तुनियामिका।
आनन्दमयमारभ्य गूढा सर्वेषु वस्तुषु।।३८।।

सब वस्तुओं पर शासन रखने वाली कोई ईश्वरसम्बद्ध शक्ति है जो आनन्दमय से शुरू कर सभी वस्तुओं में छिपी है।

शक्ति कैसी है? 'काचित्', कोई, जिसको कहा नहीं जा सकता कि वह कैसी है। इसलिए भाष्यकार कहते हैं 'सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो' न कह सकते हैं कि शक्ति है क्योंकि यदि है तो हमेशा रहे परन्तु वह हमेशा नहीं है। न कह सकते हैं कि नहीं है क्योंकि यदि न होती तो इतना बड़ा संसार प्रकट कैसे होता! सत् और असत् दोनों है भी कहना तो बनता नहीं क्योंकि सत्-असत् दोनों परस्पर विरुद्ध धर्म हैं। कुछ ऐसे विचारक हुए हैं जिन्होंने ब्रह्म को माया से अभिन्न माना है! उनके अनुसार ब्रह्म ही जगत् को बनाता है, कभी नहीं बनाता है, लीन कर देता है। चूँकि कारण होना उसका स्वरूप है इसलिए फिर बना देता है। वे लोग ब्रह्म और माया को एक-स्वरूप समझते हैं। जगत् बनाने के समय मायारूप वाला प्रतीत होता है और मोक्ष देने के समय ब्रह्मरूप प्रतीत होता है। चूँकि एक ही है इसलिए फिर कभी मायारूप भी हो जाता है। ऐसा मानना अच्छा तो बहुत लगता है, विशेष करके उन्हें जिनमें वैराग्य नहीं होता है। वे सोचते हैं कि यह सब कुछ नहीं रहेगा तो मोक्ष से फायदा क्या होगा! संसार के प्रति जिन्हें वैराग्य नहीं वे सोचते हैं कि जगत् बना रहना चाहिए, यह अच्छा लगता है। परन्तु विचार करो तो ऐसा मानने से अनन्त मोक्ष असंभव है क्योंकि कब वह फिर संसार बना दे और तुम जीवभाव में आ जाओ, कोई ठिकाना नहीं! कुछ लोग एक कदम और आगे जा कर कहते हैं कि उसको शक्ति की जरूरत नहीं है, बिना शक्ति के ही कभी वह संसार बन जाता है कभी नहीं बनता है। पूछो कभी बनता है, कभी नहीं बनता है इसमें कारण क्या है? कहेंगे–उसकी मर्ज़ी। उसकी मर्ज़ी को ही हम शक्ति कहते हैं। 'तदैक्षत' में इच्छा-शक्ति सबसे पहले कही है। वह न सत् और न असत् है और न सदसत् है।

कुछ लोग मानते हैं कि यह ब्रह्म से अलग है। खास करके वर्तमान काल में लोग देवियों को शक्तियाँ गिन लेते हैं और देवों को ब्रह्म गिन लेते हैं! विष्णु ब्रह्म हो गये और लक्ष्मी शक्ति हो गई, शिव ब्रह्म और पार्वती शक्ति हो गई, कृष्ण ब्रह्म और राधा शक्ति हो गई। इसी प्रकार राम और सीता ब्रह्म और शक्ति का रूप हो गये। इस प्रकार से दोनों को भिन्न समझते हैं। भिन्न होंगे तो कभी भी अद्वैत नहीं होगा जबकि श्रुतियों में ब्रह्म को बार-बार अद्वैत (अद्वितीय) कहा है। राम ब्रह्म है और उनके साथ सीता है तो राम अद्वैत नहीं रहे। सीता और राम दोनों एक हों तब अद्वैत है। इसलिए आचार्य कहते हैं कि माया को भिन्न और अभिन्न दोनों नहीं कह सकते। भिन्न नहीं, अद्वैत होने के कारण; अभिन्न भी नहीं क्योंकि अभिन्न होगी तो मोक्ष असंभव हो जायेगा। भिन्न भी और अभिन्न भी दोनों विरोधी होने से एक-साथ हो नहीं सकते।

किंच अगर उसे अंगवाली कहो तो उसका अंग कहाँ से आयेगा क्योंकि कारण ही अंग होते हैं जबकि माया का कारण कुछ नहीं। कहो कि वह अंग वाली नहीं है, तो यह अंग वाला संसार कैसे पैदा करती है? इसलिए न इसे अंग वाला कह सकते हैं और न अंग-रहित कह सकते हैं। अंग वाली और अंगरहित दोनों एक साथ कह ही नहीं सकते। किसी चीज़ को या सावयव या निरवयव कहते हैं। चीज़ को दोनों कह नहीं सकते क्योंकि विरोध हो जाता है। इसलिए माया अत्यंत अद्‌भुत है।

जिसे देखकर स्तब्ध रह जाया जाता है उसके बारे में शब्द की कुछ प्रवृत्ति नहीं होती। वेदान्तों में अनिर्वचनीय-शब्द पारिभाषिक है। प्रत्येक शास्त्र के अन्दर कुछ बातों को कहने के लिए लक्षण बनाकर शब्द दे दिया जाता है कि यह लक्षण होगा तो यह शब्द कहेंगे। अनिर्वचनीय का सीधा अर्थ तो हो जाता है—जिसे कह न सको। वाणी का अविषय ब्रह्म भी है क्योंकि ब्रह्म को भी वाणी से नहीं कह सकते लेकिन उसके लिए 'अनिर्वचनीय' शब्द का प्रयोग नहीं किया जाता। अनिर्वचनीय पारिभाषिक शब्द है जो माया और माया के कार्यों के लिए वेदान्त शास्त्र में प्रयुक्त होता है। अनिर्वचनीय बताने के लिए यहाँ 'काचित्' शब्द का प्रयोग है। इसका बीज केनोपनिषद् में मिलता है। देवताओं और असुरों में संघर्ष हुआ। देवता भगवान् की कृपा से जीत गये और आकर खुशी मनाने लगे कि 'वाह! देखो हमने असुरों को कैसा मारा कि उन्हें जीत लिया।' परमेश्वर ने सोचा कि असुर तो घमण्डी थे इसलिए उन्हें देवताओं से हरवाया। अब ये देवता भी घमंडी होने लग गये जो कह रहे हैं 'अस्माकम् एव विजयः।' इसलिए इन्हें भी रास्ते लाना चाहिए। भगवान् शंकर यक्ष का रूप धारण करके, जहाँ देवता लोग उत्सव मना रहे थे, खूब खा-पी रहे थे, वहाँ एक पहाड़ की चट्टान के ऊपर जा कर बैठ गये। रोज़ स्तोत्र में पाठ करते हैं 'यक्षस्वरूपाय जटाधराय।' वेदों में परमेश्वर को अनेक जगह यक्षरूप कहा है। उनका महान् यक्षरूप था। देवताओं ने उन्हें देखकर सोचा कि पता लगाना चाहिए कि कौन है। वहाँ गये लेकिन पता नहीं लगा पाये। भगवान् तो वहाँ से लुप्त हो गये पर वहीं पर भगवती पार्वती प्रकट हो गयीं। देवताओं ने उनसे पूछा तो उन्होंने बताया 'वह वही भगवान् शंकर हैं जिनकी कृपा से तुम लोग विजयी हुए हो। जो तुम कह रहे हो 'हम जीते, हम जीते,' यह तुम्हारा गर्व व्यर्थ है।' इस प्रकार देवताओं ने महादेव का परिचय प्राप्त किया।

शक्ति या पार्वती क्या है? शक्ति वह है जो शिव का परिचय करा देती है, यही वहाँ पार्वती ने किया। परमेश्वर की शक्ति से बना सारा जगत् परमेश्वर की अनन्ततामात्र बताने के लिए है। अनन्तता का पता तब हो जब अनेक परिच्छिन्न रूपों में वह प्रकट हो। अनन्त सृष्टि में उसका पता लगा, पंचकोशों के द्वारा पता लगा, ये सारे उसका परिचय कराने के लिए हैं। वह सुन्दर इतनी है कि उसने परिचय कराने के लिए यह सब प्रकट किया पर जिसको प्रकट किया वह भी उसकी सुन्दरता के कारण परम सुन्दर हो गया और इस सुन्दर सृष्टि को देखकर हम सुन्दर परमात्मा की तरफ जाते, इसके बजाये सुन्दर संसार देखकर हम उसी में फँस गये! सुन्दर तो वह परमेश्वर के सौन्दर्य से है, परन्तु जिसके सौन्दर्य से उसमें सुन्दरता आती है, जिसकी सत्यरूपता से उसकी सत्यता प्रतीत होती है, जिसके आनन्द से उसमें आनन्दरूपता की प्रतीति होती है, उसको तो हम भूल गये और इसी के सौन्दर्य आदि के अन्दर हम फँस गये।

अनन्तता प्रकट करने के लिए होकर भी अप्रकट रखने के काम की हो गई। जिस माया के द्वारा हमको परमेश्वर की समझ होनी चाहिये, उसी माया के द्वारा परमेश्वर ढका हुआ है। वेदांत सिद्धान्त में कहते हैं कि माया की दो शक्तियाँ हैं—आवरण शक्ति और विक्षेप शक्ति। आवरण शक्ति जीव पर काम करती है और विक्षेप शक्ति के द्वारा परमेश्वर कार्य करता है। हम जीवों को तो वह आवरण में रखती है। आवरण में रहकर ही हम सारे संसार को देखते हुए भी जिसके कारण संसार दीख रहा है उसको नहीं समझ पाते। इसलिए केनोपनिषद् में कहा कि वाणी जिसको कह नहीं सकती परन्तु जिसके कारण वाणी बोलती है, आँख जिसको देख नहीं सकती परन्तु जिसके कारण आँख देखती है, कान उसको सुन नहीं सकते परन्तु जिसके कारण कान सुनते हैं वह परमेश्वर है। परमेश्वर की अनन्तता को आँख, कान इत्यादि प्रकट करते हैं तभी सारा अनंत संसार दीखता है, सबका ग्रहण होता है, परन्तु इस प्रकार देखते हुए भी *उसकी* अनन्तता को हम नहीं समझ पाते, अनंत वस्तुओं को ही देखते हैं।

वह सर्ववस्तु-नियामिका है। सारे पदार्थों को नियमन में रखती है। कोई ऐसी चीज़ नहीं है जो नियम-विरुद्ध चले। हमारा मन, हमारे प्राण आदि सब उसके नियम में चलते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् में अन्तर्यामी ब्राह्मण (३.७) है, जहाँ विस्तार से समझाया है कि सर्वत्र रहकर अज्ञात बना परमेश्वर ही भीतर से सब पर शासन करता है। वह शासन इस शक्ति से है। हमारे अन्दर रहते हुए, पृथ्वी में रहते हुए, हरेक चीज़ के अन्दर रहते हुए सबका ऐसा नियमन करती है कि बाहर से कहीं कुछ करते नहीं देखी जाती। तुम सोचोगे 'मैं कर रहा हूँ' लेकिन वह बैठी कर रही है। बार-बार शास्त्र कहते हैं कि 'तू अकर्त्ता, अभोक्ता है। न तू कुछ करने लायक है और न तू कुछ भोगने लायक है।' परन्तु सवेरे उठने से लेकर रात को सोते समय तक हमारा अनुभव है कि हम नहीं करेंगे तो कैसे होगा? हमारी स्थिति कुछ वैसी ही है कि जैसे एक कुत्ता बैलगाड़ी के नीचे चलकर भार का मारा मर रहा है कि 'सारी बैलगाड़ी का भार मेरे ऊपर है'! भार तो सारा बैल खींच रहा है। इसी प्रकार सबका नियमन करने वाली तो वह शक्ति है। अंतर्यामी रूप से शासन करती है इसलिए पता नहीं चल पाता है। पानी को बहाने वाला कोई दीखता नहीं है, यही लगता है कि पानी बहता है, हवा बहती है, आग जलती है; परन्तु वस्तुतः आग में बैठा हुआ वही उसको जलाये जा रहा है, पानी में बैठा हुआ वह उसको बहा रहा है।

शंका होती है कि नियमन करने वाला हमेशा चेतन होता है। तो क्या दो चेतन हैं, एक ब्रह्म और दूसरी माया? अतः कहा 'ऐश्वरी शक्तिः अस्ति' वही ईश्वर की शक्ति अर्थात् उपाधि है। ईश्वर की उपाधि होने से वह चेतन की तरह लगती है। वेदान्त-सम्मत माया को कभी भी सांख्यों की प्रकृति नहीं समझना चाहिए क्योंकि साँख्यों की प्रकृति तो स्वतंत्र काम करती है। ऐसी स्वतंत्र काम करने वाली हो तो द्वैत सिद्ध हो जायेगा। यह ईश्वर की शक्ति है। नियमन करने वाली इसलिए बनी हुई है कि ईश्वर चेतन है।

एक बात और, जिन्हें नियम में रखना है उन्हीं में जा छिपी है! लोकमें यदि कार्यकर्त्ता पर निगरानी रखने के लिये किसी अन्य को रखो, पुनः उस पर अन्य को तो यों व्यर्थ भीड़ होकर कार्य ही अनियमित हो जाता है अतः परमेश्वर ने ऐसी नियामक-श्रृंखला का भरोसा न कर

जिस-जिस पर शासन करना है वहीं स्वयम् अवस्थित हो गया। इसलिए परमेश्वर सारी वस्तुओं के अन्दर अन्तर्यामी रूप से छिपा हुआ है। शासन वह करता है, नियामक वह है। इस ढंग से नियमन करता है कि छिपा रहता है, पता ही नहीं लगता कि वह कर रहा है। शासित सब वस्तुएँ कौन-सी हैं? 'आनन्दमयमारभ्य' आनन्दमय से प्रारम्भ करके ब्रह्माण्ड-पर्यन्त सभी हैं। आनन्दमय अर्थात् सुषुप्ति में पड़ा जीव, जिस समय केवल अविद्या उपाधि है। उसका भी नियन्त्रण करने वाली परमेश्वर की ही शक्ति है। तुम लाख कोशिश करो कि नींद आये, तो नहीं आती और लाख कोशिश करो कि जगते रहो, कॉफी पर कॉफी पिये जाओ, परन्तु नींद की झेरें छोड़ेंगी नहीं। अन्तर्यामी ही इसका नियंत्रण कर रहा है। इस एक रहस्य को अच्छी तरह समझ लो तो तुम्हारा कर्त्ता-भाव समाप्त हो जाये। जब नींद ही तुम नहीं ला सकते या रोक सकते तो और क्या कर सकते हो! नींद में जो अविद्या है, उसी से फिर तुम्हारी बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ, प्राण, स्थूल शरीर आदि बनते चले जायेंगे। इस प्रकार यह शक्ति सारी वस्तुओं में छिपी हुई है।।३८।।

अप्रत्यक्ष यह शक्ति मानना क्यों अनिवार्य है यह समझाते हैं–

वस्तुधर्मा नियम्येरञ् शक्त्या नैव यदा तदा।
अन्योन्यधर्मसाङ्कर्याद् विप्लवेत जगत् खलु।।३९।।

वस्तुओं के धर्म यदि शक्ति से नियममें न रखे जायें तो एक-दूसरे के धर्मों का मिश्रण होने से अवश्य ही जगत् में व्यवहार अनियत हो जाये।

यदा अर्थात् जिस पक्ष में, अर्थात् यदि ऐसा मानते हो कि शक्ति के द्वारा अन्दर रहकर नियमन नहीं कर रहा है 'तदा' तब पदार्थों के धर्म अनिश्चित रहेंगे। पानी की कभी मर्ज़ी होगी तो वह प्यास बुझायेगा और उसकी मर्ज़ी होगी तो वह जलाने वाला हो जायेगा! कभी हाथ सेकने के लिये आग जलाकर हाथ उसके सामने किया तो वह बर्फ जैसी ठण्डी लगेगी! इस प्रकार सब वस्तुओं के अन्दर धर्म-सांकर्य हो जायेगा। कुछ पता नहीं लगेगा कि किस चीज़ से क्या करें। आग पर पतीले में चावल चढ़ाओ तो वह माँस बन जाये! इसलिए जगत् के विप्लव की आपत्ति होगी। निश्चित रूप से यह संसार अनियत व्यवहार के कारण विप्लव को प्राप्त कर जायेगा, संसार में विप्लव हो जायेगा। प्लव नाव को कहते हैं। नाव वह होती है जो तुमको पानी में ठीक ढंग से पार ले जाती है। नाव में कई जगह छेद हों तो वह तुम्हें डुबा भी देती है। प्लव का उल्टा विप्लव अर्थात् जगत् व्यवहार-सम्पादक न रहकर व्यवहार-विरोधी हो जायेगा। इसीलिये वह ऐश्वरी शक्ति सब पदार्थों में रहकर उन्हें नियम में रखती है कि तुम उन नियमों को जानकर, उन्हें समझकर इस व्यावहारिक संसार की यात्रा ठीक से कर सकते हो। अगर वह ऐश्वरी शक्ति न होती तो धर्म-सांकर्य होने से तुम निरन्तर डूबते ही रहते। सारा का सारा विज्ञान इस एक ही आधार पर है कि सारी वस्तुओं का नियमन करने वाली कोई शक्ति है। तभी तांबे के एक टुकड़े के गुण-धर्म को देखकर यह निश्चय कर लेते हैं कि जहाँ भी तांबा मिलेगा वहाँ ये ही गुण-धर्म उसमें मिलेंगे। हर तांबे के टुकड़े को तो नहीं देखना पड़ता। वह शक्ति पदार्थों के अन्दर रहकर ही नियमन करती है इसलिए सारे जगत् के अन्दर ऐसी व्यवस्था देखकर

शक्ति माननी पड़ती है। चूँकि वह शक्ति सदसद्-विलक्षण है, भिन्नाभिन्न-विलक्षण है, सांग-अनंग-विलक्षण है, इसलिए अनिर्वचनीय तो है, परन्तु है नियामक अवश्य ही। इसलिए निश्चित पता है कि यदि हमने धर्माचरण किया तो हमको उसका फल स्वर्ग मिलना है और अगर हमने अधर्माचरण किया तो हमको नरक मिलना ही है। जैसे प्रत्यक्ष से दीखने वाले पदार्थों के क्या नियम हैं इसका पता प्रत्यक्ष से लगता है उसी प्रकार धर्म, ब्रह्म इत्यादि शास्त्रीय विषयों का पता शास्त्र से लगता है। अतः हम निश्चित जानते हैं कि ब्रह्मज्ञान से मोक्ष होता है। अन्यथा, वस्तुधर्म का कोई नियम न रहे तो किसी को ब्रह्मज्ञान से नरक हो जाये और कोई ब्रह्मज्ञान से मुक्त भी हो जाये! इसलिए निश्चय है कि धर्म-सांकर्य नहीं हो सकता।।३६।।

जड शक्ति स्वयं नियामक नहीं हो सकती अतः उसकी नियामकता उपपन्न करते हैं—

चिच्छायावेशतः शक्तिश्चेतनेव विभाति सा।
तच्छक्त्युपाधिसंयोगाद् ब्रह्मैवेश्वरतां व्रजेत्।।४०।।

चेतन के आभास के प्रवेश से वह शक्ति चेतन-सी प्रतीत होती है। उस शक्तिरूप उपाधि के सम्बन्ध से ब्रह्म ही ईश्वरभाव पा लेता है।

इस शक्ति के अन्दर चेतन का प्रतिबिम्ब पड़ता है, ब्रह्म की छाया पड़ती है। चिच्छाया का उसमें प्रवेश हो जाने से वह चेतन की तरह दीखती है। काँच के अन्दर वैसी ही चमचमाहट प्रतीत होती है, जैसी सूर्य देखकर होती है। दर्पण को सूर्य के सामने करते हो तो दर्पण को देखकर भी आँखें वैसी ही चौंधियाती हैं जैसी सूर्य को देखकर चौंधियाती हैं। उस समय लगता है कि काँच ही चमचमा रहा है। रात में कभी सड़क पर जाओ तो एक ऐसा रंग लगा होता है जो तुमको स्पष्ट दीखता है कि पत्थर चमक रहा है। वह चमकता हुआ दीखता है, लेकिन *वह* चमक नहीं रहा। तुम अपनी मोटर की बत्ती बन्द कर दो तो वहाँ कुछ नहीं दीखेगा! तुम्हारी मोटर की रोशनी से ही वह चमचमाता है, उसकी अपनी चमक कुछ नहीं है। इसी प्रकार माया में ब्रह्म का प्रतिबिम्ब पड़ता है इसलिए वह चेतन की तरह लगती है। चिच्छाया के प्रवेश से वह शक्ति चेतन लगती है, लेकिन वह चेतन नहीं है, वह तो जड है। चेतन हो तो द्वैत सिद्ध हो जायेगा! जड मिथ्या होता है, इसलिए उससे सत्य का द्वैत नहीं हो सकता। यह शक्ति ही उपाधि है जिसके सम्बन्ध से ईश्वर भासता है। यहाँ जो संयोग कहा वह कौन-सा है? प्रायः संयोग का मतलब होता है, चीज़ें आपस में जुड़ें परन्तु ब्रह्म और माया कभी जुड़ ही नहीं सकते! एक सत्य है, दूसरी मिथ्या जाति की है तो दोनों का संयोग कैसे हो सकता है? जैसे आज का लड़का चाहे कि सौ साल पहले वाली लड़की से शादी करे तो कैसे कर सकता है क्योंकि वह मर गई। शक्तिरूपी उपाधि जड है, असत् है, दुःखरूप है, और ब्रह्म सच्चिदानंदरूप है। दोनों का संयोग सम्बन्ध तो हो नहीं सकता क्योंकि एक पारमार्थिक है और दूसरी व्यावहारिक है। इसलिए यहाँ संयोग का मतलब आध्यासिक सम्बन्ध है। ऐसा सम्बन्ध है जैसे रस्सी *पर* साँप है। जब रस्सी है तब साँप नहीं है और जब साँप प्रतीत हो रहा है तब रस्सी नहीं भासती है। फिर भी कहते हैं कि रस्सी पर साँप था। इसी प्रकार जब सच्चिदानन्द ब्रह्म है तब माया का स्पर्श नहीं, माया काल में

सच्चिदानंदरूप की कोई प्रतीति नहीं है। फिर भी ब्रह्म में ही माया है! यही आध्यासिक सम्बन्ध है। उस शक्ति के संयोग से वह ब्रह्म ही ईश्वरता को प्राप्त होता है, ईश्वर कहा जाता है।

इसलिए कहा गया है 'शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति' शक्त वह तब होता है जब शक्ति के साथ हो। शक्ति से रहित भी वह सच्चिदानन्द ब्रह्म है। उसमें किंचित् भी स्पंद नहीं हो सकता। परिवर्तन दो तरह का होता है। एक जगह से उठकर दूसरी जगह जाकर बैठो, तो गति है। यहीं बैठे-बैठे साँस लेते हो तो छाती पेट आगे-पीछे जाते हैं, इसको स्पन्द कहते हैं। ब्रह्म ऐसा स्थिर सत्य है कि उसमें स्पन्द भी नहीं है। सन्मात्र, सद्घन है पर इतना बड़ा संसार बनाता हुआ दीखता है! कैसे दीखता है? उस की जो छाया पड़ रही है, उससे ऐसा दीखता है। इसी लिए वह ईश्वरता को प्राप्त करता है। शक्ति तो दीखती है चेतन वाली, और चेतन सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् दीख जाता है। यही ईश्वरता है जो केवल आध्यासिक सम्बन्ध से है। जिस प्रकार रस्सी की लम्बाई सर्प में दीख गई और सर्प का सर्पत्व रस्सी में दीख गया, इसी प्रकार चेतन का प्रतिबिम्ब पड़कर माया चेतन दीख गई और ब्रह्म सब चीज़ों का ज्ञान, सब चीज़ों का शासन करता दीख गया। जीव के जितने ज्ञान हैं वे सारे अंतःकरण में ही होते हैं। ज्ञान होता तो मन में है परन्तु लगता है कि 'मुझे ज्ञान हुआ'। सुख-दुःख होते मन में हैं लेकिन लगता है कि 'मैं सुखी, मैं दुःखी हूँ'। मन के धर्मों का अपने में अध्यास कर लेते हैं, अपने आपको मन की अहंकारात्मिकावृत्ति में अध्यस्त कर लेते हैं। इसी प्रकार ब्रह्म का माया में और माया के सर्वज्ञत्व सर्वकर्तृत्व आदि का ब्रह्म में अध्यास हो गया इसलिए ब्रह्म को ईश्वरभाव की प्राप्ति हो गई और शक्ति चेतन की तरह दीखने लग गई। इस प्रकार जो शक्तिरूप उपाधि ईश्वर की है उसे बता दिया।।४०।।

तीन तत्त्व हैं—पशु, पाश और पशुपति। पाश को हाथ में रख कर नियंत्रण करने वाला पशुपति कहलाता है और पाश के बंधन में रहने वाला पशु कहलाता है। पाश माया है, जो माया को नियंत्रण करता है उसको ईश्वर कहते हैं और जो माया से नियंत्रित होता है उसे जीव कहते हैं। जीवभाव और ईश्वरभाव माया को लेकर ही हैं। बिना माया के वह किसका शासन करेगा और बिना माया कौन शास्य होगा! माया में उसका शासक रूप से प्रतिबिम्ब है और माया के अधीन होकर वही शास्य है। तत्त्व एक ही है। ब्रह्म का जो प्रतिबिम्ब शक्तिरूप उपाधि में पड़ा, उस संबंध से ही ब्रह्म को ईश्वर कहा जाता है।

ब्रह्म ही जीव कैसे कहलाता है यह बताते हैं—

कोशोपाधिविवक्षायां याति ब्रह्मैव जीवताम्।
पितापितामहश्चैकः पुत्रपौत्रौ यथा प्रति।।४१।।

कोशरूप उपाधि की अपेक्षा से ब्रह्म ही जीवभाव पा लेता है। जैसे एक ही व्यक्ति पुत्र के प्रति पिता और पौत्र के प्रति दादा हो जाता है वैसे उपाधिभेद से एक ब्रह्म ही जीव-ईश्वर दोनों है।

शरीर, प्राण, मन, बुद्धि और अविद्या अर्थात् आनन्दमय, इन पाँचों कोशों की उपाधि वाला इन कोशों के साथ एक हुआ ब्रह्म ही जीवभाव को प्राप्त करता है। शरीर से लेकर अहं पर्यन्त के साथ सम्बन्ध है तब जीवभाव है। माया के साथ तो ईश्वर का भी सम्बन्ध है और जीव का भी सम्बन्ध है। परन्तु ईश्वर का सम्बन्ध माया के शासकरूप से है, माया से शासितरूप से नहीं है। जहाँ भी शरीर, प्राण आदि की बातें हैं वह चाहे जितना बड़ा हो, जीव हो सकता है, ईश्वर नहीं हो सकता। ईश्वर में इन सबकी प्रतीति हो सकती है, परन्तु वह प्रतीति मायिक है, पांचभौतिक नहीं है, यही सब से बड़ा फ़र्क ईश्वर और जीव में है। ईश्वर में प्रतीति तो है, परन्तु उसके साथ तादात्म्य-बोध न होने से बंधन नहीं है। ईश्वर में माया के द्वारा मन, बुद्धि, प्राण आदि सबकी प्रतीति हो सकती है, परन्तु इन प्रतीतियों के होने पर उसे अध्यास नहीं है जबकि जीवका इन शरीर आदि कोशों के साथ तादात्मयाध्यासरूप सम्बन्ध है। जीवभाव को प्राप्त करने वाला ब्रह्म ही है पर कोशों की उपाधियों से युक्त हो गया इसलिये इन कोशों में चूँकि मन ही प्रधान है इसलिए कह दिया जाता है कि 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः' बंधन और मोक्ष का कारण मन ही है। मन बन्धन का कारण विषयासक्ति से है अतः जब विषयों में आसक्ति नहीं रह जाती है, तब जीव परब्रह्म परमात्मा ही है। वही मुक्ति है। अतः 'जीवतां गच्छति' का मतलब यह नहीं समझ लेना कि वह जीव बन जाता है। मतलब इतना ही है कि व्यवहार काल के अन्दर उसकी जीवसंज्ञा या नाम पड़ जाता है, रहता तो वह ब्रह्म ही है।

प्रश्न होता है कि जैसे मालिक और नौकर एक ही तो नहीं हो सकते हैं वैसे सृष्टि को बनाने वाला, कर्मफल देने वाला, और सृष्टि में रहने वाला, कर्मफल भोगने वाला, दोनों अत्यंत विरुद्ध उपाधियों वाले एक कैसे हो सकते हैं? उत्तर है कि एक ही उपाधि से एक ही चीज़ में विरुद्ध धर्म नहीं रह सकते, परन्तु उपाधिभेद से रह सकते हैं। जैसे हमारी आँख से सूर्य में अंधेरा नाममात्र को नहीं है और उल्लू की दृष्टि से सूर्य के अन्दर नाममात्र का प्रकाश नहीं है; उल्लू की अपेक्षा से सूर्य अंधकाररूप है और मनुष्य की अपेक्षा से सूर्य प्रकाशरूप है। इसी प्रकार पंचकोशों की दृष्टि से ब्रह्म जीव है और माया की दृष्टि से ब्रह्म ईश्वर है। इसलिए ब्रह्म ही दृष्टिभेद से जीव-ईश्वर दोनों है। दूसरे दृष्टांत से समझाया है कि जैसे देवदत्त एक ही है, एक-साथ ही वह बाप भी है, दादा भी है। पुत्र के लिए वह पिता है और पौत्र के प्रति वह पितामह है। पुत्र-पौत्र के लिए एक देवदत्त पिता और पितामह दोनों है। वस्तुतः बेटा पैदा होने के पहले वह पिता भी नहीं था और पोता होने के पहले वह पितामह भी नहीं था, देवदत्त ही था। देवदत्त उसका स्वरूप है।

इसी प्रकार सच्चिदानन्द ब्रह्म का स्वरूप है। माया के कारण, माया उपाधि से देखते हैं तो वह ईश्वर प्रतीत होता है और पंचकोशों की उपाधि से देखते हैं तो वह जीव प्रतीत होता है। इस प्रकार विरुद्ध धर्म उपाधिभेद से एक में रह जाते हैं। इन दोनों उपाधियों को जानना जरूरी है। बिना माया की उपाधि वाले ईश्वर को समझे हुए ब्रह्म जगत् का कारण, सर्वव्यापक, देश-काल-वस्तु से अपरिच्छिन्न, कर्मफलदाता आदि सब है यह समझ में नहीं आयेगा। अतः जो केवल पंचकोशों के विवेक के आधार पर चलेंगे वे कपिल की तरह वास्तविक व्यापकता को नहीं

समझ पायेंगे। दूसरी तरफ, जो माया की ही उपाधि को लेकर चलेंगे वे उसको सृष्टि, स्थिति, संहार करने वाला, कर्मफलदाता, व्यापकरूप से जान लेंगे, परन्तु उन्हें कभी भी अपरोक्षता नहीं हो सकती। उनके लिए परमेश्वर हमेशा परोक्ष ही रहेगा, पर्दे में ही रहेगा। जब ब्रह्म को इन दोनों दृष्टियों से देखते हैं तब माया की उपाधि से उसके रूप को देखकर उसकी अपरिच्छिन्नता का बोध हो जाता है तथा जीव की उपाधि को देखकर उसकी नित्य अपरोक्षता का ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार से ब्रह्म की व्यापकता और अपरोक्षता, दोनों को स्पष्ट करने वाली दोनों उपाधियों को समझना जरूरी है ।। ४१।।

दृष्टान्तानुसार जीव-ईश्वरभेद भी अपारमार्थिक है यह स्पष्ट करते हैं–

पुत्रादेरविवक्षायां न पिता न पितामहः।
तद्वन्नेशो नापि जीवः शक्तिकोशाविवक्षणे।।४२।।

पुत्र आदि की अपेक्षा छोड़ने पर वह जैसे न पिता न दादा है वैसे शक्ति और कोश दोनों उपाधियों के बिना वह न ईश्वर है, न जीव है।

जैसे देवदत्त तो देवदत्त ही है, वैसे ही ब्रह्म, ब्रह्म ही है। यदि उसको अपरोक्ष नहीं कहना चाहते हैं तो पंचकोशों के विवेक की जरूरत नहीं है और यदि उसको ईश्वर नहीं कहना चाहते हैं तो माया के विचार की जरूरत नहीं है। जब पुत्र आदि की दृष्टि कहना इष्ट नहीं है तब वह न पिता है, न पितामह है, वह तो केवल देवदत्त है। उसी प्रकार से जब न शक्ति की दृष्टि से कहना है और न पंचकोश की दृष्टि से कहना है, तब वह न ईश्वर है और न जीव है। इस प्रकार से अपरोक्ष ब्रह्म ही जीव और ईश्वर माया और माया के कार्यों के कारण है। माया स्वरूप से हुआ नहीं करती है, इसलिए अद्वैत की सिद्धि है।। ४२।।

बताये अद्वैतबोध का फल सूचित करते हैं–

य एवं ब्रह्म वेदैष ब्रह्मैव भवति स्वयम्।
ब्रह्मणो नास्ति जन्मातः पुनरेष न जायते।।४३।।

। इति श्रीविद्यारण्यमुनिविरचितायां पञ्चदश्यां पञ्चकोशविवेकः।।३।।

जो इस प्रकार से ब्रह्म को जानता है वह स्वयम् भी ब्रह्म हो जाता है। उस का फिर से जन्म नहीं होता। क्योंकि ब्रह्म का जन्म है ही नहीं।

प्रकरण का उपसंहार करते हुए कहते हैं कि विवेक, वैराग्य, शम, दम आदि सबसे जो युक्त है, वह तत्त्वज्ञान पाता है। वेदान्त वहीं फलीभूत होता है जहाँ ये चीज़ें मौजूद रहती हैं अन्यथा जाना हुआ भी फल नहीं देता। हमको बहुत से ऐसे ज्ञान होते हैं जिनका फल नहीं हो पाता क्योंकि फल तभी होता है जब ज्ञाता में उसकी योग्यता हो। बी.ए. की कक्षा में बैठ जाओगे, प्रोफेसर का लैक्चर भी समझ लोगे, परन्तु बी.ए. पास तब तक नहीं हो सकते जब तक पहले बारहवीं पास न कर लो। जैसे कोई कहे कि मुझे तो बी.ए. होना है, बारहवीं पास करने से क्या

होगा, इसी प्रकार वे हैं जो सोचते हैं कि हमको ज्ञान की प्राप्ति हो जाये, हम मुक्त हो जायें, हमको कर्म-उपासना से क्या फायदा है! जब तक कर्म-उपासना के द्वारा चित्त शुद्ध होकर विवेक आदि की प्राप्ति नहीं होती तब तक वेदांत-श्रवण अपने फल मोक्ष को उत्पन्न नहीं करता। यह बात समझ में आ जाती है तो पाश का नियंत्रण करने वाले पशुपति के अधीन होकर इन दोनों उपाधियों से रहित हो जाने के कारण भेद की कोई प्रतीति नहीं रहती है। सच्चिदानन्द ब्रह्म को प्रत्यगात्मा से अभिन्न जब साक्षात् जान लेता है तो वह स्वयं ब्रह्म ही हो जाता है। अविद्या की निवृत्ति होने के बाद ब्रह्म और ब्रह्मवेत्ता में कोई फ़र्क नहीं है। इसलिए श्रुति ने कहा है 'स यो ह वै तत् परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मुं. ३.२.९) जिसने ऐसा निश्चय कर लिया है उसे ब्रह्मवित् नहीं कहते, साक्षात् ब्रह्म ही कहते हैं। इसलिए रोज़ गुरुप्रार्थना में कहते हो 'गुरुः साक्षात् परब्रह्म' गुरु ब्रह्मस्वरूप है। जब तक उसमें गुरु की दृष्टि है, तब तक वह तुम्हें ज्ञान देता है, है तो वह ब्रह्म ही। हमारे ज्ञान का मनन आदि के द्वारा रक्षण करता है इसलिए विष्णु भी है। हमारी अविद्या का नाशक है इसलिए रुद्र भी है। परन्तु यह सब कार्य उसके शरीर-मन की उपाधि से होता हुआ दीखता है, वह स्वयं ब्रह्म ही है।

बार-बार वेदों ने कहा है कि ब्रह्म अज है, जन्मरहित है। यह जो जन्मरहितता है यह न जन्म का प्रागभाव है, न जन्म का प्रध्वंसाभाव है और न जन्म का अन्योन्याभाव है। अर्थात् ऐसा नहीं है कि ब्रह्म का जन्म हुआ और अब नहीं है। न ऐसा है कि ब्रह्म का जन्म होगा पर अभी नहीं है। परिपक्व ज्ञान की दशा में ऐसी प्रतीति नहीं है कि 'मैं बद्ध था और मुक्त हो गया'। इसलिए भगवान् भाष्यकार ने उपदेशसाहस्री में कहा कि जो यह समझता है कि मैं मुक्त हो गया, दूसरे बद्ध हैं, उसे ज्ञान हुआ ही नहीं! ब्रह्म कभी बद्ध होता ही नहीं। जीवरूप में प्रतीत होने पर भी वह बद्ध नहीं है। बंधन की प्रतीतिमात्र है। जन्म मायने जो चीज़ पहले न हो और फिर हो जाये। सृष्टि के पहले भी ब्रह्म ही था। इसलिए 'पहले नहीं था, फिर हुआ,' इस प्रकार का प्रादुर्भाव उसका संभव नहीं है। चूँकि विद्वान् ब्रह्मरूप हो गया इसलिए वह उत्पन्न नहीं होता। 'पुनः' शब्द का प्रयोग शिष्य के प्रति समझाने के लिए है। 'अनावृत्तिः शब्दात्' (४.४.२२) ब्रह्मसूत्र भी कहता है कि 'न च पुनरावर्तते (छां. ८.१५.१) आदि के अनुसार मुक्त का संसार-चक्र में पुनः आवर्त्तन (घूमना) नहीं होता। यद्यपि वहाँ ब्रह्मलोक की प्राप्ति को लेकर कहा है, वहाँ ज्ञानी का विषय नहीं है, तथापि उस अपुनरावर्तन को यहाँ अर्थवाद के रूप में कह दिया 'पुनः न जायते'। ऐसा नहीं कि एक बार तो पैदा हुआ था, अब आगे पैदा नहीं होगा! क्योंकि जन्म के त्रैकालिक अत्यंताभाव का निश्चय है।। ४३।।

इस प्रकार यह पंचकोशविवेक प्रकरण पूर्ण हो गया।

चतुर्थ
द्वैतविवेक प्रकरण

पहले प्रकरण में तत्त्व के स्वरूप का, सद् ब्रह्म का विचार किया। फिर पंचमहाभूतों की उत्पत्ति बताने से, ईश्वररूप का वर्णन हो गया। तदनन्तर उसी सद् ब्रह्म को पंचकोशों की प्राप्ति समझाने से जीवरूप का वर्णन हो गया। अब द्वैतविवेक प्रकरण प्रारम्भ करते हैं। द्वैत का विवेक क्या है? जीव चेतन है, और ईश्वर भी चेतन है। दोनों ही ब्रह्मरूप हैं। दोनों ही चेतन हैं, इसलिये जीव-ईश्वर दोनों ही सृष्टि करते हैं। किंतु ईश्वर सृष्टि करके सृष्टि में बँधता नहीं है, जबकि जीव सृष्टि करके बँधता है। ईश्वर की सृष्टि बाँधने वाली नहीं है, जीव की सृष्टि बाँधने वाली है। अतः जीव के द्वारा सृष्ट कौन-सा और ईश्वर के द्वारा सृष्ट कौन-सा—यह जानने पर ही जीवसृष्टि को हटाकर मुमुक्षु बन्धन से मुक्त हो सकता है। अन्यथा, मनुष्य व्यर्थ प्रयास करता रहता है क्योंकि विवेक से यह नहीं समझता कि बंधन का कारण जीवसृष्टि है, ईश्वरसृष्टि बंधन का कारण नहीं है। मनुष्य प्रयास करता रहता है ईश्वरसृष्टि को हटाने का! यह योगियों का मार्ग है कि ईश्वर-सृष्टि से सम्बन्ध न रहे तो हम भी सृष्टि कर नहीं पायेंगे, अतः सब बंधन खत्म हो जायेगा। परन्तु ईश्वरसृष्टि ख़त्म होगी नहीं। इसलिये जैसे ही मन फिर कार्य करेगा वैसे ही यह सृष्टि वैसी-की-वैसी सामने रहेगी।

ईश्वरसृष्टि को हटाना जीव के लिये सम्भव नहीं है। जीवसृष्टि को हटाना सम्भव है क्योंकि तुम्हारी बनाई हुई है। तुम अपनी सृष्टि न बनाओ तो ईश्वर-सृष्टि तुम्हारे लिये कोई बंधन नहीं कर सकती। दूसरी तरह से सोच लो : रिज़र्व बैंक में खरबों रुपये हैं, उनकी रक्षा के लिये तो तुम्हें क़ोई कोशिश नहीं करनी पड़ती। तुम्हारे पास लाखों रुपये हैं, उसीकी रक्षा में तुम परेशान रहते हो! जो तुम्हारे पास हैं वे रुपये भी हैं तो रिज़र्व बैंक के ही! तुम्हारे पास बैंक के लिखे हुए रुक्के हैं, उनमें लिखा है कि यह रुक्का लाओगे तो तुम्हें पाँच सौ रुपये देंगे। तुम्हारे पास केवल यह रुक्का है, धेला एक भी नहीं है। परन्तु तुम्हें भ्रम हो जाता है कि 'मैं लखपति हूँ'। इस भ्रम के कारण परेशान हो। इसी प्रकार ईश्वर की सृष्टि के पंचकोश और तत्सम्बन्धी पदार्थों को तुमने मान लिया कि 'ये मेरे हैं।' जब तुम कहते हो मेरे हैं तब भी 'तुम्हारे' हैं नहीं। कहते हो कि 'यह शरीर मेरा है,' लेकिन एक वाक्य की भी पूर्व सूचना के बिना ही यह शरीर तुमसे छीन लिया जायेगा! फिर तुम कैसे घमण्ड करके कहते हो कि 'शरीर मेरा है'? तुम्हारा मन कब क्या विचार करेगा यह तुम्हें कुछ पता नहीं है। भगवान् खुद कहते हैं 'मत्तः स्मृतिः ज्ञानमपोहनं च' अर्थात् मुझ परमेश्वर से ही स्मृति, ज्ञान और भूलना—तीनों होते हैं। अतः ईश्वर न चाहे तो तुम

सिर के बाल नोंच डालो फिर भी याद नहीं ही आयेगा। जिस आदमी को बीस साल से जान रहे हो, तुम्हारा खूब परिचित है, फिर भी कई बार उसका नाम याद करने की कोशिश करते रहते हो, याद ही नहीं आता। किसी समय जिसको याद भी नहीं कर रहे हो, उसी का नाम याद आ जाता है। हमारा मन के ऊपर इतना नियंत्रण भी नहीं है, फिर भी ठप्पा मारते रहते हैं कि 'मेरा मन अच्छा या मेरा मन ख़राब हो गया'। जैसे हमारे पास रुपये नहीं हैं, रुक्के ही हैं लेकिन खुश होते रहते हैं कि लाखों रुपये हैं, वैसे ही तुम्हें पंचमहाभूतों के कुछ विकार मिल गये तो समझते हो 'मेरे हैं' जबकि तुमने व्यर्थ का ठप्पा मार रखा है, वे तुम्हारे हैं नहीं। द्वैत का विवेक कर देने से, ये जो दो ठप्पे तुमने मार रखे हैं कि यह मेरा और यह मैं हूँ, ये निवृत्त हो जाते हैं। तुम न पंचकोश हो और न पंचकोश से सम्बद्ध के साथ तुम्हारे मेरेपने का सम्बन्ध है। जैसे ही तुम्हारी यह जीवसृष्टि ख़त्म हो जाती है वैसे ही माया की सृष्टि का मायापन, मिथ्यापन स्पष्ट हो जाता है। चूँकि मिथ्या चीज़ कभी किसी के बंधन का कारण नहीं होती, इसलिये उससे कभी बंधन नहीं होता। यही द्वैतविवेक प्रकरण का उद्देश्य स्पष्ट करते हैं—

ईश्वरेणापि जीवेन सृष्टं द्वैतं विविच्यते।
विवेके सति जीवेन हेयो बन्धःस्फुटीभवेत्।। १।।

ईश्वर और जीव द्वारा उत्पादित द्वैत का विवेचन किया जा रहा है। विवेक हो जाने पर जीव द्वारा त्यागने योग्य बन्धन स्पष्ट हो सकेगा।

ईश्वर ने क्या सृष्टि की है, ईश्वर क्या है—इसे पहले बता आये हैं। माया की उपाधिवाला, कारण उपाधिवाला ईश्वर है। वह पंचमहाभूत, उनके तामस भाग का पंचीकरण, पंचमहाभूतों के सूक्ष्म भाग से हमारे मन, बुद्धि, प्राण और इन्द्रियों की अर्थात् भोग के साधनों की सृष्टि करता है। भोगायतन शरीर की सृष्टि पंचीकृत भूतों से करता है। ईश्वर ही कारण उपाधिवाला होकर सारे द्वैत को उत्पन्न करता है। ईश्वर के द्वारा सृष्ट यह सारा द्वैत है। जैसे ईश्वर कारण उपाधिवाला वैसे कार्य उपाधिवाला जीव है। जीव भी सृष्टि करता है। वह उन ईश्वर-सृष्ट पदार्थों के अन्दर 'यह स्वादिष्ट है, यह बेस्वाद है' इत्यादि सृष्टि करता है। चीज़ तो जैसी है वैसी ही है, 'स्वादिष्ट और बेस्वाद' यह सृष्टि तुम्हारी की हुई है। ईश्वर एक है इसलिये उसकी सृष्टि में एकता रहेगी। जीव अनेक हैं अतः इनकी सृष्टि में अनेकता है। बढ़िया सुन्दर लाल मिर्च डालकर छौंका लगाते हो तो तुम्हें कितना मज़ा आता है, कोई बंगाली वहाँ हो तो तड़पने लगे! मिर्च के स्वाद को अनिष्ट कहोगे, या स्वादिष्ट कहोगे? एक के लिये जो स्वादिष्ट है, दूसरे के लिये बेस्वाद है, परन्तु मिर्च तो मिर्च ही है। इसलिये जीव की सृष्टि अनेक प्रकार की है। आजकल कई बार सुन्दरता की प्रतियोगितायें होती हैं, जो 'मिस युनिवर्स' हो वह हमें सुंदर लगे ऐसा कोई नियम नहीं। विदेशियों को वही बहुत सुन्दर लगती है, भारतीयों को भद्दी लगती है। सुन्दरता-बदसूरती जीवसृष्ट हैं, ईश्वर ने वस्तु जैसी बनाई वैसी ही है। उसी चीज़ के बारे में

जिसकी कल्पना है कि यह सुन्दर है, उसके मन में प्रेम हो जाता है और जिसके बारे में कल्पना है कि बदसूरत है, उससे द्वेष हो जाता है।

संकल्प से राग-द्वेष होते हैं। राग-द्वेष से जिस चीज़ को अच्छा समझते हो, उसे पाने की इच्छा करते हो और जिसे अच्छा नहीं समझते, उससे दूर होने की चेष्टा करते हो। इसलिये राग-द्वेष-प्रयुक्त कर्म कर लेते हो और जब कर्म कर लिया तो उसका फल आता ही है। इस प्रकार से चक्र चलता रहता है जिसमें नये सिरे से अपनी सृष्टि शुरू कर देते हो। 'कति नाम सुता न लालिताः' अनन्त जन्मों के अन्दर कितने अनंत बच्चों को खिलाकर देख लिया। हर जन्म में बच्चे होते हैं; हीजड़े का जन्म तो कभी-कदाचित् हुआ होगा। प्रायः जीवके बच्चे होंगे ही। हर बार नये बच्चों का लालन-पालन-पोषण करते हो, फिर एक दिन छोड़कर चले जाते हो, जाकर फिर नई सृष्टि कर लेते हो! अनादि काल से यही चक्र चल रहा है। हर बार सोचते हो कि यही बच्चे सुखी रहें शांत रहें। इस प्रकार राग-द्वेष से कर्म, कर्म से कर्मफलभोग और पुनः जन्म का चक्र अनादि काल से चल रहा है। 'मैं' और 'मेरा' केवल यही सारा बंधन है, यही तुम्हारी सृष्टि है। यह परमेश्वर ने नहीं बनाई। इस प्रकार जब ईश्वर-सृष्टि और जीवसृष्टि का विवेक हो जाता है तब जीव के द्वारा जो छोड़ने लायक है अर्थात् जो बंधन करने वाला है वह स्पष्ट हो जाता है।

अन्यथा, लोग यही कहते रहते हैं कि 'हमें भगवान् ने माया में फँसा दिया है' जबकि सत्य है कि फँसे हम अपने अविवेक से हैं। जैसे कोई मरता है तो मारवाड़में चिट्ठी आती है 'ठाकुर जी, बुरो कियो।' वह मनमाना खाता रहा, खाकर रोगी हुआ, रोगी होकर मरा; यह कोई नहीं लिखता, 'उसकी आदतें ऐसी बुरी थीं, खाने-पीने की आदत थी, इसलिये मर गया, अच्छा हुआ।' लोग यह लिखते हैं कि ठाकुर जी ने बुरा किया। इसी प्रकार 'हम राग-द्वेष से बंधते हैं' यह कोई नहीं कहता। यही कहते हैं कि भगवान् ने हमें माया में, मोह में बाँध रखा है। इसलिये इस विवेचन को व्यर्थ नहीं समझना चाहिये। यह विवेक किये बिना जीव-सृष्टि और ईश्वर-सृष्टि का अंतर पता नहीं लगेगा। जीव को अपनी सृष्टि करना छोड़ना है क्योंकि वही बंधन का कारण है। ईश्वर की सृष्टि के बारे में तुम्हें कोई चिंता करने की ज़रूरत नहीं है। जीव को क्या छोड़ना है, यह स्पष्ट होना ज़रूरी है, अन्यथा ईश्वर-सृष्टि को हटाने के निष्फल प्रयास में लगे रहते हो। लड़के के लिये बहू देखकर तुम खुद ही लाये हो; परन्तु यह भूल जाते हो, यही सोचते हो कि 'लड़का मेरी ममता का विषय है, अपनी पत्नी की ममता का विषय कैसे हो गया? मेरी ही ममता का विषय रहे।' न लड़का, न उसकी वधू तुम्हारे बन्धन का विषय है वरन् तुम्हारी ममता ही तुम्हें बाँधती है।

जीव का संकल्प, राग-द्वेष और राग-द्वेष से प्रयुक्त कर्म—इन सबको छोड़ना है। जब काम-प्रयुक्त कर्म नहीं करेगा तब परमेश्वर की सृष्टि अर्थात् शास्त्रीय कर्म करेगा, जिससे अंतःकरण शुद्ध होगा। दृश्य में ममता नहीं रहेगी तो परमात्मा में तुम्हारी ममता होगी। कर्म और उपासना का प्रयोजन सिद्ध होने पर ब्रह्म का साक्षात्कार हो जायेगा जिससे बंधन निवृत्त हो

जायेगा। ये सारी बातें तभी स्पष्ट हों जब ईश्वर-सृष्टि और जीव-सृष्टि को विवेक करके समझ लिया जाये।। १।।

विवेक करने का लाभ क्या है? यह समझना कि जीवसृष्टि बंधन का कारण है, ईश्वर-सृष्टि बंधन का कारणं नहीं है। मीमांसक यह मानता है कि जीव के अदृष्ट से सृष्टि होती है इसलिये ईश्वर-सृष्ट कुछ मानने की कोई ज़रूरत नहीं है! जीव ही संसार का स्रष्टा है। किंतु ईश्वर-सृष्टि श्रुति के अनुरोध से माननी पड़ती है। यद्यपि ईश्वर ही कारण होना युक्तिसंगत भी है, तथापि 'प्रमाण' के तौर पर ईश्वर के बारे में वेद ही निश्चित है। अदृष्ट की कारणता तो हर हालत में माननी पड़ती है। यदि अदृष्ट की कारणता नहीं मानें तो ईश्वर के अन्दर वैषम्य और नैर्घृण्य दोनों दोष प्राप्त हो जाते हैं। अगर ईश्वर ने सृष्टि की तो सबको एक जैसा बनाना चाहिये था। एक जैसा नहीं बनाया, इसलिये विषम है। और अधिकतर लोगों को उसने दुःखी बनाया, इसलिये वह घृणा अर्थात् करुणा से रहित निर्घृण अर्थात् क्रूर भी है। किंतु इस प्रकार विषमता और क्रूरता वाले ईश्वर को कोई ईश्वरवादी स्वीकर नहीं करता। अतः जाग्रत् के वैचित्र्य में अदृष्ट की कारणता स्वीकार है। श्रुति ने कहीं भी सिर्फ अदृष्ट को सृष्टि का कारण कहा नहीं है वरन् एकमेवाद्वितीय ईश्वर को कारण कहा है, इसलिये मीमांसक का कहना संगत नहीं कि ईश्वर के बजाये अदृष्ट ही जगत्कारण है।

चारों ही वेदों ने संसार का कारण ईश्वर बताया है यह दिखाते हैं—

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
स मायी सृजतीत्याहुः श्वेताश्वतरशाखिनः।। २।।

श्वेताश्वतरशाखा वाले कहते हैं कि माया को प्रकृति और मायी (मायावी) को तो महेश्वर जानो; वह मायी (सबको) उत्पन्न करता है।

कृष्ण यजुर्वेद की श्वेताश्वतर शाखा है। उस शाखा की उपनिषद् में (४.६) बताया है कि यह किसकी सृष्टि है। माया-कृत सृष्टि है। माया ही इस समग्र संसार की बनावट करने वाली है। इस माया उपाधि को चलाने वाला, नियंत्रित करने वाला महेश्वर है। इसमें यह युक्ति समझ लेना कि जगत् की रचना के अन्दर अत्यंत निपुणता का दर्शन होता है, अत्यंत कुशलता से बनाई गई सृष्टि है। बीसवीं शताब्दी का एक बहुत बड़ा नास्तिक दार्शनिक हुआ है जो जन्म भर ईश्वर-खण्डन ही करता रहा और अब काफ़ी बुड्ढा, ६१ साल का है। आज डी.एन.ए. देखकर पता लग जाता है कि कौन किससे पैदा हुआ क्योंकि वे तत्त्व शरीरसृष्टि का आधार हैं अर्थात् जीव के शरीरों को बनाने का आधार हैं। उसमें अत्यन्त नियमबद्धता देखी जाती है। सृष्टि का प्रारम्भ जिन द्रव्यों से हुआ वे ही इतने संश्लिष्ट हैं कि वे केवल आकस्मिक हो जाते हैं, बिना किसी बुद्धि के हो जायें, यह समझ में नहीं आता! इतनी संश्लिष्ट और विचित्र रचना जब हो तभी प्राणियों का प्रादुर्भाव हो, यह विज्ञान मानता है। अब तक तो बात बड़ी सीधी-सी कह देते थे कि पानी में कलल हो गये। अमुक-अमुक कार्बन, हाईड्रोजन हो गये तो जीवन सम्भव हो

गया। किंतु जब जीवन के मूल आधार-कणों को देखा तब उसमें गजब की व्यवस्थित श्रृंखलाएँ मिली तो इस उम्र में आकर वह नास्तिक दार्शनिक कहता है 'मैं यह नहीं कह सकता कि ऐसा काम कोई जड भी कर सकता है। यह काम तो कोई न कोई बुद्धि वाला ही कर सकता है।' चाहे छोटे-से-छोटे उस डी.एन.ए. को देखें, चाहे बड़े से बड़े ब्रह्माण्ड को देखें, उन सबमें इतनी ज़्यादा क्रमबद्धता है कि जो भी उन्हें बनाने वाला है उसको चेतन मानना पड़ेगा। श्रुति कहती है कि चेतन 'सत्यं ज्ञानमनन्तम् ब्रह्म' है। प्रकृति के कार्य बुद्धि में जिस ज्ञानवान् की प्रतीति होती है वह 'सत्यं ज्ञानमनन्तम् ब्रह्म' का प्रतिबिम्ब है, प्रकृति का अपना वैशिष्ट्य नहीं है। 'मायी सृजति' महेश्वर बनाता है, माया या प्रकृति इन सब रूपों में बनती है। इस बात को कृष्ण यजुर्वेद की श्वेताश्वतर उपनिषत् में कहा है।। २।।

इसी विषय में ऋग्वेद का प्रमाण देते हैं–

आत्मा वा इदमग्रेऽभूत् स ईक्षत सृजा इति।
संकल्पेनासृजल्लोकान् स एतानिति बह्वृचाः।। ३।।

पहले यह आत्मा ही था। उसने 'उत्पन्न करूँ' ऐसा विचार किया। संकल्प से उसने ये लोक बनाये। यह ऋग्वेदी बताते हैं।

'बह्वृचाः' अर्थात् ऋग्वेदी। ऋग्वेद का पाठ करने वाले ऐतरेयोपनिषत् में बताते हैं 'अग्रे इदं आत्मा वै अभूत्' सृष्टि के पहले अर्थात् जब तक इस दृश्य जगत् की सृष्टि नहीं हुई थी तब यह सारा क्या था? यह निश्चित रूप से केवल आत्मा था। 'मिषत्' यह जो मिथ्या संसार है यह नहीं था। पलक गिरने को मिषत् कहते हैं अर्थात् पलक गिरने जितना भी वहाँ कोई कार्य या गति नहीं थी। इस प्रकार जो अद्वितीय परमात्मा, उसने ईक्षण किया 'मैं जिन चीज़ों का अनुभव होता है उनकी अर्थात् दृश्य जगत् की, अनुभूयमान विषयों की सृष्टि करूँ'। परमेश्वर बिना किसी दूसरी चीज़ के था। वह ज्ञानस्वरूप है। उसने सोचा कि 'जो दीखे उसकी सृष्टि करूँ।' देखने वाला तो वह खुद है ही! यह ईक्षण करते ही उसने सारे लोकों का सृजन कर दिया। संकल्पमात्र से ही परमेश्वर सृष्टि करते हैं। उसके संकल्प करते ही सृष्टि हो जाती है। इसलिये उसे कवि कहते हैं। कवि काव्य की रचना संकल्पमात्र से कर देता है, उसे कुछ अन्य करना नहीं पड़ता। जो संकल्प किया उसको शब्द दे देता है, और कुछ नहीं करता। परमेश्वर कवि है, वह जैसे शब्द की रचना करता है वैसे ही संकल्पमात्र से अर्थ की भी रचना कर देता है। इसीलिये यह रचना माया की है। जैसे रस्सी में साँप हम बना देते है; रस्सी में जो साँप दीखता है वह साँप हमने ही बना दिया, संकल्पमात्र से, संस्कारों के कारण बना दिया। संस्कार के कारण संकल्प होता है। इसी श्रुति के आधार पर भगवान् बादरायण ने ब्रह्मसूत्र में 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' (१.१.५) लिखा। परमेश्वर के ईक्षणमात्र से सृष्टि कही गई है। इसलिये जिस प्रकार की त्रिगुणात्मिका प्रकृति को जगत् का कारण कपिल ने माना है, वह ठीक नहीं है। यजुर्वेद ने जो कहा है ऋग्वेद (ऐत.१.१) ने भी वही कहा है।। ३।।

तैत्तिरीय श्रुति से वही बात कहते हैं–

खं वाय्वग्निजलोर्व्योषध्यन्नदेहाः क्रमादमी।
सम्भूता ब्रह्मणस्तस्मादेतस्मादात्मनोऽखिलाः।। ४।।
बहु स्याम् अहम् एवातः प्रजायेयेति कामतः।
तपस्तप्त्वाऽसृजत् सर्वं जगदित्याह तित्तिरिः।। ५।।

उस इस आत्मा ब्रह्म से आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, ओषधि, अन्न, शरीर ये सब क्रमशः प्रकट हुए। 'मैं ही बहुत हो जाऊँ' इस उद्देश्य से 'प्रकर्ष से उत्पन्न हो जाऊँ' इस कामना से तपका अनुष्ठान कर सारा जगत् पैदा किया। यह तित्तिरि ने कहा है।

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्' कहकर (तै.२.१) श्रुति ने बताया कि हृदय में स्थित परमेश्वर ही है जिससे 'तस्माद् वा एतस्मादात्मनः आकाशस्सम्भूतः आकाशाद् वायुः' आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, ओषधि अर्थात् वनस्पति फिर अन्न और फिर शरीर–ये सब क्रम से उत्पन्न हुए। परमेश्वर से ही ये सारी चीज़ें पैदा हुई। जो गुहा में छिपा हुआ है उसका 'मैं ही बहुत हो जाऊँ' संकल्प हुआ। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' तो एकरूप है। माया से मिलकर ब्रह्मरूप महेश्वर ही जगत्-सर्जन की इच्छा शक्ति से युक्त हुआ स्रष्टा है। उसने कामना की 'बहु स्यां प्रजायेय' मैं बहुत हो जाऊँ, प्रजाओं को उत्पन्न कर दूँ। कैसे उत्पन्न करूँ–यह निर्धारित करने के लियें 'स तपोऽतप्यत' उसने तप किया। परमेश्वर का तप क्या है? 'यस्य ज्ञानमयं तपः' सोचना ही उसका तप है। सोच कर उसने जो कुछ भी है वह सब बना दिया। यह तैत्तिरीय उपनिषद् के अन्दर कहा गया है। इस प्रकार ऋग्वेद और यजुर्वेद की श्वेताश्वतर व तैत्तिरीय दो शाखाओं से उक्त विषय बता दिया।। ४-५।।

सामवेद भी इसी बात को कहता हैं–

इदमग्रे सदेवासीद् बहुत्वाय तदैक्षत।
तेजोऽबन्नाण्डजादीनि ससर्जेति च सामगाः।। ६।।

साम-गायक बताते हैं कि यह सब पहले सत् ही था। उसने बहुत होने की इच्छा की। तेज-जल-अन्न-अण्डजादिं उत्पन्न किये।

परमेश्वर ने बहुत होने की कामना की। क्या-क्या बनाऊँ?–यह सोचा और सृष्टि हो गई! इसलिये भगवान् बादरायण ने (ब्र.सू.१.१.१८) स्पष्ट कहा है–'कामाच्च नानुमानापेक्षा' परमेश्वर की इच्छा से यह सृष्टि हुई है क्योंकि उसने कामना की, यह श्रुति से स्पष्ट है। इसलिये अनुमान से सिद्ध प्रकृति इत्यादि कुछ जगत् का अंतिम कारण नहीं हो सकता। 'सदेव सोम्येदमग्रआसीत्'। (छां ६.८) अर्थात् सृष्टि के पहले इदंरूप से दृश्य यह सारा जगत् जो युष्मद्-रूप से दीखता है, वह सब उस सत् ब्रह्म से एक ही था, ब्रह्मरूप ही था। फिर मायी महेश्वर ने संकल्प किया। वह

केवल निमित्त कारण नहीं है, उपादान कारण भी है। माया से मिलकर ही वह उपादान कारण होने से सोचता है कि 'मैं बहुत बन जाऊँ'। माया को उसके संकल्प ने प्रवृत्त किया। उसने बहुत बनने के लिये ईक्षण किया, फिर 'तत्तेजोऽसृजत' उसने तेज बनाया, जल बनाया, अन्न बनाया, अण्डज साँप, पक्षी इत्यादि भी बनाये। इस प्रकार से छांदोग्य में सृष्टि बताई है। महेश्वर को ही सृष्टि बनाने वाला सामवेदी भी कहते हैं।। ६।।

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद को बताने के बाद अथर्ववेद का प्रमाण देते हैं—

विस्फुलिंगा यथा वह्नेर्जायन्तेऽक्षरतस्तथा।
विविधाश्चिज्जडा भावा इत्याथर्वणिका श्रुतिः।। ७।।

आग से चिनगारियों की तरह अक्षर से विविध चेतन व जड पदार्थ पैदा होते हैं ऐसा अथर्ववेद का कहना है।

आथर्वणा अर्थात् अथर्ववेद के अन्दर आने वाली मुण्डकोपनिषत् (२.१.१.) में बताया है कि जैसे आग से चिंगारियाँ निकलती हैं वैसे परमेश्वर से संसार बनता है। खूब तेज़ आग जल रही हो तो उससे हज़ारों चिंगारियाँ निकलती हैं। वे सारी चिंगारियाँ अग्नि का ही स्वरूप होती हैं। जो अग्नि का स्वरूप है वही चिंगारियों का स्वरूप है। अग्नि का स्वरूप गर्मी है और वह उन सभी चिंगारियों में है। उसी प्रकार से श्रुति कहती है कि उस अक्षर ब्रह्म से सारे प्राणी और सब कुछ उत्पन्न होता है। 'विविधाः' अनेक प्रकार के 'भाव' एकरस परमात्मा से पैदा होते हैं। अनेक प्रकार के चेतन भी उत्पन्न होते हैं, जैसे कई मूर्ख भी होते हैं और कई अत्यंत बुद्धिमान् भी होते हैं। जड भी अनेक प्रकार के उत्पन्न होते हैं। श्रुति में कहा है भाव, पर वे क्या भाव हैं—यह स्पष्ट कर दिया कि जड और चेतन जगत् को ही यहाँ 'भाव' कहा गया ज़िसे अक्षर ने उत्पन्न किया। जड जगत् वह है जिसमें परमात्मा की सत्ता तो प्रकट होती है, परन्तु चिद्रूपता और आनंदरूपता प्रकट नहीं होती है। है वह भी उत्पन्न परमात्मा से ही। ठीक जिस प्रकार से रस्सी में तुम साँप भी पैदा करते हो और उसी रस्सी में माला भी पैदा करते हो। माला पैदा हुई जो जड है, साँप चेतन पैदा होता है। इसी प्रकार से परमात्मा भी अनेक प्रकार के चेतन और जड पदार्थों के रूप में बनता है। यह अथर्ववेद की श्रुति अक्षर ब्रह्म से ही जगत् की उत्पत्ति बताती है।। ७।।

ऋक्, साम, अथर्व की तरह तैत्तिरीय अर्थात् यजुः का भी प्रमाण दे चुके फिर भी सारी ही शाखाओं की एकवाक्यता है यह स्पष्ट करने के लिये शुक्लयजुर्वेद की बृहदारण्यक (१.४.७) का समर्थन दिखाते हैं—

जगदव्याकृतं पूर्वमासीद् व्याक्रियताधुना।
दृश्याभ्यां नामरूपाभ्यां विराडादिषु ते स्फुटे।। ८।।

विराण्मनुर्नरा गावः खराश्वाऽजाऽवयस्तथा।
पिपीलिकाऽवधि द्वन्द्वमिति वाजसनेयिनः।। ९।।

जगत् पहले अव्यक्त था, अब दृश्य नाम-रूपों से सम्पन्नरूप में व्यक्त है। विराट् आदि में नाम-रूप स्पष्ट (प्रकट) हैं। विराट्, मनु, मनुष्य, गायें, गधे, भेड़ें, तथा चींटी पर्यन्त सारे जोड़े (अद्वितीय परमेश्वर से पैदा हुए) ऐसा शुक्ल यजुर्वेद के अध्येता बताते हैं।

बृहदारण्यक शुक्ल यजुर्वेद की उपनिषद् है। इसके अंदर कहा है 'तद्धेदं तर्हि अव्याकृतम् आसीद्'। 'इदम्' अर्थात् जितना भी दृश्य जगत् उत्पन्न हुआ यह सारा का सारा महाप्रलय के अन्दर अव्यक्त था। इसलिये भगवान् ने गीता में कहा 'अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे' (८.१८) जब स्रष्टा ब्रह्मा का दिन होता है तब अव्यक्त से सारा संसार व्यक्त, प्रकट, उत्पन्न हो जाता है। रात्री में हम लोग सो जाते हैं तो कोई संसार 'नहीं' रहता। हमारी बुद्धि कहाँ गई? गहरी नींद में गई अर्थात् अव्यक्त हो गई। मन, इन्द्रियाँ सभी अव्यक्त हो गये, सब कुछ अव्यक्त हो गया। इसी तरह से सृष्टि से पहले यह सब अव्यक्त था अव्याकृत था। 'अधुना' अब अर्थात् सृष्टिकाल में यह सब व्यक्त हो गया। 'तन्नामरूपाभ्याम् एव व्याक्रियत' उन सब का व्यक्तीकरण हो गया, सब कुछ व्यक्त हो गया। जैसे तुम जगते हो तो आँख, कान, जीभ, हाथ, पैर सब के सब तुम्हारे उठते ही व्यक्त हो जाते हैं, इसी प्रकार से जब वह परम महेश्वर जगता है तब यह सारी सृष्टि प्रकट हो जाती है। जैसे तुम जिस हालत में सोने गये थे, अगर मोटा चश्मा लगाकर देखने वाले तुम गये थे तो उठने पर भी उसी चश्मे से देखने वाले उठोगे। अगर कान में मशीन लगाकर सुनने वाले गये थे तो उठकर भी मशीन लगाकर ही सुन सकोगे। ऐसा नहीं होता कि हम सोने तो ख़राब आँख लेकर जायें और उठ जायें अच्छी आँख लेकर! इसी प्रकार सृष्टि के पहले जो चीज़ जैसी थी, जो पुण्यात्मा पापात्मा जैसे जीव थे, फिर वही उसी प्रकार व्यक्त हो जायेंगे।

व्यक्त होना क्या है? नाम-रूप वाला हो जाना ही अभिव्यक्ति होती है। नाम और रूप, ये दो ही चीज़ें हैं जो व्याकृत होती हैं। जब नाम रूप होंगे तब आगे कर्म बनेगा। नाम-रूप—दोनों दृश्य हैं। दृश्य हो जाना ही व्यक्त हो जाना है। दृश्य का मतलब आँखों से दीखना ही नहीं वरन् ज्ञेय हो जाना, जानने योग्य हो जाना, यह अभिप्राय है। दृश्य होना ही व्यक्त होना है। जब पदार्थ जानने योग्य नहीं होता तब अव्यक्त हो जाता है। श्वेताश्वतर में केवल मायी-मात्र कहा, ऐतरेय के अन्दर लोकों की सृष्टि को बताया। यजुर्वेद में तैत्तिरिय उपनिषद् के अन्दर बताया कि जो हृदय गुहा में छिपा हुआ है, उसने सृष्टि की; वहाँ बहुभवन का संकल्प कहा और आकाश आदि से सृष्टि को बताया। सामवेद ने आकाश, वायु की सृष्टि न कहकर तेज, जल, अन्न की सृष्टि कही। तैत्तिरीय ने भी 'अन्नात् पुरुषः' कहा था। सामवेद ने 'तेषां भूतानां त्रीणि एव बीजानि भवन्ति' (२.३.१) इस प्रकार अण्डज आदि सृष्टि को कहा जो तैत्तिरीय में नहीं कहा। मुण्डक के अन्दर जो उत्पन्न हुए हैं वे जड और चेतन रूप हैं यह स्पष्ट किया। वहाँ आकाश

आदि या अण्डज आदि प्रकार से नहीं कहा। सृष्ट जगत् तो अलग-अलग प्रकार से बताया, लेकिन इस विषय में एक-वाक्यता है कि परमेश्वर ने ही बनाया। इसमें कुछ भी संदेह नहीं है। कैसे बनाया? इसके बारे में अनेक प्रकार हैं। सृष्टि की अनेक प्रकारता यह बताने के लिये है कि यह कृति सच्ची नहीं है! सच्ची बात तो एक जैसी होती है, परन्तु झूठी बात एक जैसी नहीं होती, कई तरह की होती है। यह सृष्टि मायिक है यह बताने के लिये सृष्टि के भेद कह दिये। यह सृजन वास्तविक नहीं है, यह केवल इन्द्रजाल की तरह है। वेदान्त के अंदर वास्तविक सृष्टि स्वीकृत नहीं है। परन्तु शुरू में ही यदि यह कह दिया जाये कि यह बना ही नहीं है तो समझ में नहीं आयेगा। इसलिये श्रुति का कहने का तरीका यह है कि यह सब ब्रह्म ने माया से बनाया। आगे समझ में आयेगा कि जो माया से बनाया जाता है वह बनता नहीं है! जैसे बाज़ीगर तुम्हें पाँच सौ रुपये के नोटों की गड्डी दिखाता है, परन्तु वहाँ गड्डी है नहीं, केवल दीखती ही है। या आजकल के दृष्टांत से समझ लो कि टेलिविज़न के अन्दर बढ़िया से बढ़िया रसगुल्ला दीखता ही है। सोचो इस रसगुल्ले की दुकान से एक-दो रसगुल्ले उठा लें; तो वहाँ कुछ नहीं है। यों देखना और सुनना मायिक रूप से तो वैज्ञानिकों ने ही सिद्ध कर दिखाया। परमेश्वर ने पाँच रूपों में कर दिया। जैसे दीखता है वैसे ही हमें स्वाद भी आता है, गंध भी आती है परन्तु वैसा है नहीं। जैसे टेलिविज़न में दीखता है परन्तु है नहीं, उसकी आवाज़ भी सुनाई देती है परन्तु 'वह' आवाज़ उसकी तो है नहीं! इसी प्रकार से जहाँ सूँघा जाता है वहाँ गंध नहीं है, जहाँ छुआ जाता है, वहाँ स्पर्श है नहीं। बिना हुए प्रतीत होना वेदांतानुसार मूलतः सृष्टि है।

श्रुति ने संकल्प से, ईक्षण से, ज्ञानरूप तप से सृष्टि होती है इत्यादि प्रकार से बताया परन्तु यह समझना क्लिष्ट होता है। इसलिये वेदांत की पूर्व भूमि में परिणामवाद स्वीकार कर लेते हैं। पूर्व भूमि के रूप में बताया परिणामवाद, विवर्तवाद को समझने के लिये उपयोगी है इसलिये पहले परिणामवाद से बात को समझा देते हैं। मिट्टी में घड़ा है। अगर मिट्टी में घड़ा न हो तो उससे निकले कैसे? तिलों में तेल नहीं होता तो उन्हें चाहे जितना पेर लो, तेल नहीं निकलेगा। दूध में घी होता है तभी निकलता है। दिल्ली में डबल टोण्ड दूध मिलता है, उसे सवेरे से शाम तक उबालो, मलाई की थर नहीं आयेगी क्योंकि चिकनाई को तो उसमें से निकाल लेते हैं। दूध में घी होगा तो निकलेगा, नहीं तो नहीं निकलेगा। इसी प्रकार मिट्टी से घड़ा निकलता है; मिट्टी में घड़ा है तभी निकलता है। परन्तु तिलों में तेल अव्यक्त है, अप्रकट है, प्रतीत नहीं होता। चाहे जितने तिल हाथ में मसलो, कोई चिकनाई नहीं आयेगी। तिलों में तेल अप्रकट है, व्यक्त नहीं है, दूध में घी अप्रकट है, अव्यक्त है, है ज़रूर लेकिन व्यक्त नहीं है। उन्हीं तिलों को तेली के पास ले जाकर पेरते हो तो तेल प्रकट हो जाता है। इसी प्रकार चाक के ऊपर चढ़ाकर मिट्टी में घड़ा प्रकट हो जाता है, अव्यक्त से व्यक्त हो जाता है। इसी प्रकार यह सारी सृष्टि बनने के पहले अव्यक्त रहती है, फिर परमेश्वर के संकल्प के द्वारा यह प्रकट हो जाती है। परमेश्वर किस रूप में प्रकट करता है? नाम-रूप जो दृश्य हैं वे विराट् इत्यादि के अन्दर स्फुट हैं, स्पष्ट हैं। परमेश्वर ही अव्यक्त माया से जगत् को व्यक्त अर्थात् विभिन्न नाम-रूपों वाला करता है। इसे

परिणामवाद के तरीके से अव्यक्त से व्यक्त होना कहते हैं। सृष्टि की अवास्तविकता को बताना हो तो उसे मायिक या मायामात्र कहते हैं।

वाजसनेयी अर्थात् शुक्ल यजुर्वेद वालों ने विराट् आदि सृष्टि बतायी। विराट् से मनु, मनु के बाद मनुष्य, गौएँ, गधे, घोड़े, बकरे, भेड़, चींटियाँ आदि सब द्वंद्वों को पैदा किया। इस प्रकार सारी सृष्टि द्वन्द्व में पैदा हुई। मनुष्य, गाय आदि सभी जोड़े हैं। छोटी से छोटी पिपीलिका (चींटी) तक सब चीज़ों (जीवों) को परमेश्वर ने बनाया।। ८-६।।

शरीरों को बनाकर क्या किया यह कहते हैं–

कृत्वा रूपान्तरं जैवं देहे प्राविशदीश्वरः।
इति ताः श्रुतयः प्राहुर्जीवत्वं प्राणधारणात्।। १०।।

जीवसम्बन्धी अन्य रूप बनाकर ईश्वर ने शरीर में प्रवेश किया–यों वे वेदवाक्य बताते हैं। प्राणों को धारण करने से जीवभाव पहचाना जाता है।

जैसे कायव्यूह में योगी अपने शरीर को रखते हुए अन्य शरीरों को भी पैदा कर लेता है, वैसे ही परमेश्वर ने ईश्वररूप रखते हुए ही रूपान्तर किया अर्थात् जीवरूप का बनकर सारे शरीरों में प्रवेश किया। ब्रह्म ही जीवरूप से प्रविष्ट हुआ। पहले ईश्वर-रूप में था, फिर जीव-रूप धारण कर देह में प्रविष्ट हुआ। इतना याद रखना चाहिये कि ब्रह्म स्वरूप से अविकारी है। अतः जीवरूप धारण करने पर भी वह जीव *हो* नहीं जाता है। ईश्वररूप के अन्दर वह अव्यक्त के साथ है और जीवरूप में व्यक्त के साथ है अर्थात् यह विकारी रूप है। जीवरूप में वह अध्यास कर लेता है। ईश्वररूप के अन्दर अध्यास नहीं है, ईश्वर को भ्रम नहीं है। मायाशक्ति से युक्त है परन्तु उसको माया में सत्यतादिका अध्यास नहीं है, वह जानता है कि माया का स्वरूप मिथ्या है। जीवरूप में वही है, परन्तु उसको पता नहीं लगता कि 'ये पंचकोश मैं नहीं हूँ'! रूपान्तर अर्थात् अविकारी ब्रह्म से विकारी जीवरूप हो गया। चूँकि तत्त्वतः वह अविकारी है इसलिये जीवरूप में आने पर भी वह ब्रह्म तो बना ही रहता है। उसको जीव क्यों कहते हैं? 'जीवत्वं प्राणधारणात्' प्राण से इंद्रियों और अंतःकरण की भी उपलक्षणा कर लेनी चाहिये। वही अंतःकरण का प्रेरक है। प्राणों के द्वारा कर्मेन्द्रियों का प्रेरक होने से उसमें कर्तृत्त्व का अध्यास हो जाता है और अंतःकरण का प्रेरक होने से उसमें भोक्तृत्व का अध्यास होता है। 'प्राण' से उपलक्षणा सूक्ष्म शरीर की है। 'जीव प्राणने' धातु है इसलिये जीव का अर्थ 'प्राण धारण करने वाला' है। वही शरीर में प्रवेश करता है क्योंकि सूक्ष्म शरीर का प्रेरक है ।। १०।।

जीव के ही स्वरूप को बताते हैं–

चैतन्यं यदधिष्ठानं लिंगदेहश्च यः पुनः।
चिच्छाया लिंगदेहस्था तत्संघो जीव उच्यते।। ११।।

जो अधिष्ठान चैतन्य है तथा जो सूक्ष्म शरीर है एवं उसमें स्थित चेतन की छाया है, उनका समुदाय जीव कहा जाता है।

जीव 'संघ' है। जहाँ अनेक चीज़ें इकट्ठी होती हैं वहाँ संघ कहा जाता है। परन्तु चीज़ें कैसे इकट्ठी हों? सब मिलकर एक होकर कार्य करें। जैसे फौज की एक इकाई में एक सौ दस सैनिक होते हैं परन्तु उनके चलने का, लड़ने का आदि सब एक ही उद्देश्य होता है। उनमें कोई पंजाब से, कोई मद्रास से, कोई बम्बई से तो कोई क्षत्रिय, तो कोई वैश्य, शूद्र भी होता है। परन्तु सब के सब एक कमाण्डिंग ऑफिसर के निर्देश के अनुसार ही चलते हैं, वह जो कहे वही करना है। इसी प्रकार से लिंग (सूक्ष्म) देह, अधिष्ठान चैतन्य और चिच्छाया का संघ है अर्थात् जीवन-निर्वाहादि एक ही कार्य सम्पन्न करने के लिये ये परस्पर सम्बद्ध हैं।

अधिष्ठान चैतन्य अर्थात् जिसमें जीवभाव की प्रतीति हो रही है। इसके ज्ञान से ही मोक्ष होता है। जीव जिस अपने स्वरूप को जानकर मुक्त होता है वह अधिष्ठान चैतन्य ही है। सभी अपने को जानते ही हैं कि 'मैं कर्त्ता भोक्ता हूँ, शरीर को चलाता हूँ' इस रूप में सब अपने को जानते हैं। परन्तु अपने जीव-नामक संघ में अधिष्ठान चैतन्य भी है जिसमें यह सब कल्पित है, उसको नहीं जानते। उस अधिष्ठान के अन्दर माया के द्वारा लिंग देह बन गया, लिंग देह की कल्पना हो गई। लिंग देह में स्थित चिच्छाया है। लिंग देह में प्रधान अंतःकरण है। अंतःकरण में यह सामर्थ्य है कि वह चैतन्य को अपने में प्रतिबिम्बित कर लेता है। जैसे दीवार में छोटा-सा काँच लगा हो तो सूर्य का जो प्रकाश सारी दीवार पर पड़ेगा उसे देखकर सूर्य के बिम्ब का ज्ञान नहीं होगा, परन्तु वहीं काँच में जो प्रकाश पड़ेगा उससे पता लग जाता है कि सूर्य कैसा है। इसी प्रकार अंतःकरण में यह सामर्थ्य है कि वह चैतन्य के प्रतिबिम्ब को ग्रहण कर लेता है। अधिष्ठान चैतन्य, लिंग देह और उसमें होने वाली चिच्छाया—इन सबको मिलाकर जीव कहा जाता है। इसलिये कहेंगे जीव कर्त्ता-भोक्ता है। जो चिच्छाया है उसी से कर्तृत्व-भोक्तृत्व सम्पन्न होता है। भोगने वाला जीव-चैतन्य है, अधिष्ठान-चैतन्य तो है नहीं! लिंग देह के द्वारा जीव कर्त्ता-भोक्ता है। लिंग देह में जो चेतन की छाया वह करने वाला है। किस के द्वारा करता है? जैसे सूर्य की छाया किसके द्वारा है? काँच के द्वारा है। इसी प्रकार लिंग देह के द्वारा जीव कर्त्ता-भोक्ता है। इस प्रकार से चार चीज़ें हो गयीं—अधिष्ठान चैतन्य, लिंगदेह और उसमें चिच्छाया—ये तीन और तीनों को मिलाकर जो संघ हुआ वह चौथा।। ११।।

प्रश्न होता है कि माया के साथ महेश्वर होने पर तो उसमें अज्ञानीपना और दुःखीपना नहीं आता, जीवरूप बन गया तो अज्ञानीपना और दुःखीपना कहाँ से आ गया? तब कहते हैं—

माहेश्वरी तु माया या तस्या निर्माणशक्तिवत्।
विद्यते मोहशक्तिश्च तं जीवं मोहयत्यसौ।। १२।।

जो महेश्वर की माया है उसकी निर्माणसामर्थ्य की तरह मोहित करने की भी सामर्थ्य है, वही उस जीव को मोह में डालती है।

परमेश्वर की माया में एक आवरण शक्ति और दूसरी विक्षेप शक्ति है। जैसे अंधकार के कारण रस्सी नहीं दीखी, यह तो आवरण हो गया, रस्सी आवृत हो गई; और उस रस्सी की जगह तुमने साँप देख लिया, यह विक्षेप हो गया। असली चीज़ को ढाँकना और उसकी जगह ग़लत चीज़ को बना देना—इन कामों की ये शक्तियाँ हैं। जिसे पहले 'मायिनं तु महेश्वरं' कहा उसी की मायाशक्ति को यहाँ 'माहेश्वरी तु माया' कहा। भगवान् शंकर की माया निर्माण अर्थात् स्थूल-सूक्ष्म जगत् का निर्माण या सृष्टि करने की जैसे शक्ति है, उसी तरह से उसकी दूसरी शक्ति मोह करने की भी है। बाजीगर तुम्हें खेल दिखाता है तो जो असली चीज़ है उसे तुम नहीं जान पाते। खेल दिखाते समय बाजीगर सभी देखने वालों की आँखें 'बाँध' देता है अर्थात् वह जो चाहता है वही दिखा देता है, जो उपस्थित वस्तु है उसे देखना रुक जाता है। एक जादूगर ने पूछा—'तुम लोग क्या खाना चाहते हो?' सबने कहा—'गुलाब जामुन खिलाओ!' उसने जादू से गुलाब जामुन उपस्थित कर दिये, सभी खा रहे थे। उसी समय वहाँ किसी को बुलाने के लिये एक लड़की आ गई। उसकी आँखें तो बँधी नहीं थी। उसने देखा कि सब तो घोड़े की लीद खा रहे हैं! लीद अधिष्ठान थी जिससे उसने गुलाब जामुन बनाया था। जैसे ही उसने कहा—'अरे! तुम लोग यह क्या खा रहे हो?' तब सबकी बंधी हुई आँख खुल गई, लीद को देखा तो सब बाज़ीगर को गालियाँ देने लगे कि तुमने क्या खिला दिया! उसने कहा 'भ्रांति निरधिष्ठान तो होती नहीं, तुमने गुलाब जामुन खिलाने को कहा तो लीद ही पड़ी थी, उसी को अधिष्ठान बना दिया।'

ठीक इसी प्रकार सारे जीवों की आँखें बंधी हुई हैं इसलिये सबको यह दुनिया दीख रही है। जैसे ही अधिष्ठान ब्रह्म का ज्ञान होता है वैसे ही पता चल जाता है कि यह सारा जगत् तीन काल में नहीं है। यह जो बाजीगर की आँख बाँधने की प्रक्रिया है, इसी को महेश्वर की मोहशक्ति या शास्त्रीय भाषा में आवरण शक्ति कहते हैं। परमेश्वर ने यह सारी सृष्टि ब्रह्मरूप अधिष्ठान में रची। उसमें लिंग देह बनाया। उस लिंग देह के अन्दर जो चैतन्य है, आवरण शक्ति से उसकी आँखें बाँधी हैं इसलिये उसे दुनिया दीखती है, ब्रह्म नहीं दीखता। संसार में अधिकतर लोगों की शंका रहती है कि यदि परमेश्वर है तो हमें प्रतीत क्यों नहीं होता? इसलिये कुछ लोग यहाँ तक चले जाते हैं कि परमेश्वर है ही नहीं, होता तो प्रतीत होता। लेकिन उस लड़की की तरह जिस की आँखें बँधी हुई नहीं हैं, उसे वास्तविकता का ज्ञान हो जाता है। वेद की दृष्टि बिना बँधी हुई है। इसलिये वेद के द्वारा परमेश्वर कहता है 'तत्त्वमसि'। यह श्रवण करते ही अधिष्ठान चेतन का ज्ञान हो जाता है। ज्ञान होते ही यह सब कार्य प्रपंच बाधित, व्यर्थ हो जाता है।

परमेश्वर में केवल निर्माण-शक्ति ही नहीं है, मोह-शक्ति भी है। सप्तशती में इसी शक्ति को कहा 'ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति।।' वह महामाया मोह अर्थात् अज्ञान की तरफ ले जाती है। अज्ञान अर्थात् आवरण-शक्ति। जीव सारे ज्ञानी ही हैं। सप्तशती के इस प्रसंग में ज्ञानी से ब्रह्मज्ञानी नहीं समझना क्योंकि इसके पहले

ही कहा है कि कुछ प्राणियों को दिन में नहीं दीखता, कुछ प्राणियों को रात में नहीं दीखता। अज्ञान या मोह से जिनकी आँखें बँधी हुई हैं वे बहुत ढूँढते हैं लेकिन उन्हें परमेश्वर नहीं मिलता। कोई अमरनाथ तो कोई बद्रीनाथ जाता है, सोचता है कहीं तो मिलेगा, लेकिन कहीं दीखता नहीं है। और जिसका वह आवरण हट गया, वह कहता है 'ब्रह्मैवेदं सर्वं' संसार कहाँ है! भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं 'काकोलूकनिशेव' जैसे उल्लू को दिन में नहीं दीखता वैसे ही कौए को रात में नहीं दीखता। इसी तरह आवरण वाले को संसार दीखता है, परमात्मा नहीं; जबकि निरावृत को परमात्मा दीखता है, संसार नहीं। सप्तशती में जिन्हें ज्ञानी कहा उन्हें घट-पट आदि का ज्ञान होता है और इसीलिये वे उसी की तरफ जाते हैं। निर्माण-शक्ति के द्वारा जो संसार बनाया गया है उसकी तरफ वह मोह के लिये आकृष्ट करती है।

जिस जीव को संघ कहा था, यह माहेश्वरी माया उसे मोह में डाल देती है। है तो वह आनन्दस्वरूप, जीव का वास्तविक स्वरूप तो आनन्द है, पर मोह के कारण बक-बक करता है 'मैं दुःखी हूँ, तंग हो रहा हूँ, परेशान हो रहा हूँ'। आनन्दरूप होकर भी माया से विषय उसे अपनी तरफ आकृष्ट करते हैं, अपने स्वरूप का ज्ञान उसे नहीं हो रहा है।। १२।।

मोह का प्रभाव दिखाते हैं—

मोहादनीशतां प्राप्य मग्नो वपुषि शोचति।
ईशसृष्टमिदं द्वैतं सर्वमुक्तं समासतः।। १३।।

मोह से अनीश्वरभाव (अर्थात् जीवभाव) पाकर शरीर में तादात्म्याभिमानी बना 'दुःखी हूँ' आदि अध्यास करता है। संक्षेप में यह सारा ईश्वर द्वारा उत्पादित द्वैत बताया।

यहाँ तक परमेश्वर की सृष्टि बतायी। पंचमहाभूत, विराट् इत्यादि से लेकर चींटी तक के शरीर बना दिये। लिंग देह के अन्दर जो चिच्छाया है उसे मोह शक्ति से अपने स्वरूप को भुलाकर निरंतर सुख-दुःख के लिये दौड़ने लायक बना दिया। जैसे कस्तूरी तो मृग की नाभि में होती है, उसी की सुगन्धि उसे भाती है, लेकिन वह समझता है कि सुगन्ध कहीं बाहर से आ रही है, उसकी तरफ़ दौड़ता है। ज़ोर से दौड़ने पर उसी की नाभि में पड़ी हुई कस्तूरी पिघल जाती है तो तरल पदार्थ से सुगन्ध और ज़्यादा आती है। उसके कारण वह ज़्यादा दौड़ता है, परन्तु उसे बाहर कहीं मिलती नहीं क्योंकि वह तो उसी की नाभि में हैं! इसी प्रकार जीव का आनन्द उसके अधिष्ठानरूप में हैं, परन्तु वह सोचता है कि ये विषय सुख देने वाले हैं। सुखरूप वह स्वयं है। सुख की इच्छा करके जीव दौड़ता है, विषय की प्राप्ति हो गई तो चित्त पुनः अन्तर्मुख होने पर सुख मिलता है तो सोचता है कि इस *विषय से* सुख हो गया। अतएव लगातार विषयों की तरफ ही आस लगाये रहता है। प्रपंच-निर्माण करके जीवभाव से प्रवेश तक तो परमेश्वर की सृष्टि है, इसके बाद दौड़ना आदि सब करना जीव का कार्य है।

मोह अर्थात् आवरण-शक्ति के द्वारा अनीशता को प्राप्त कर लेता है अर्थात् वह ईश नहीं रहा। इसलिये जिस इष्ट को प्राप्त करना चाहता है वह प्राप्त नहीं होता और जिस अनिष्ट से

बचना चाहता है, वह अनिष्ट उसे प्राप्त होता रहता है। जो चाहता है वह मिलता नहीं, जो नहीं चाहता वह मिलता रहता है। इसीलिये अनीश है। ऐसा क्यों होता है? 'वपुषि मग्नः'; अपना जो स्थूल-सूक्ष्म शरीर है उसके अन्दर मग्न हो जाता है अर्थात् इसी को देखता रहता है। 'अपनी' तरफ इसकी नज़र कभी जाती नहीं है, स्थूल-सूक्ष्म देहों में ही मग्न है, अधिष्ठान की तरफ कभी भी देखता ही नहीं। मग्न का मतलब होता है कि किसी चीज़ में इतने डूब जाओ कि कोई दूसरी चीज़ दीखे ही नहीं। पानी में मग्न हो जाओ, गोता लगा लो तो वहाँ चारों तरफ पानी ही पानी दीखेगा। इसी प्रकार किसी विचार में ऐसे मग्न हो जाओ, जैसे शकुन्तला दुष्यंत में मग्न हो गई थी कि दुर्वासा की बात ही नहीं सुन सकी। इसी प्रकार जीव स्थूल-सूक्ष्म शरीरों में ऐसा मग्न है कि उसके सिवाय उसे कुछ नहीं दीखता। 'मैं यही हूँ' ऐसा निश्चय हो जाता है; उससे सर्वथा तादात्म्याभिमान हो जाता है। 'मेरी माँ ब्राह्मणी, मेरा बाप ब्राह्मण, मैं ब्राह्मण ही हूँ,' ऐसा निश्चय कर लेता है अर्थात् स्थूल शरीर में मग्न है। मैं गोरा ही हूँ, मैं गुजराती ही हूँ; इसी में एक-दम मग्न हो जाता है। ये सब चीज़ें तो स्थूल शरीर में हैं! फिर भी इसमें ऐसा मग्न है कि निश्चय है 'यही मैं हूँ।' वैसे ही सूक्ष्म शरीर में मग्न है कि मन दुःखी तो मैं दुःखी, मन सुखी तो मैं सुखी हूँ। बुद्धि ने किसी चीज़ का ठीक निश्चय किया तो कहता है 'मैंने ही निश्चय किया'। देहद्वय से तादात्म्याभिमान करके हमेशा शोक करता रहता है।

मन हमेशा कुलाँचे मारकर नई-नई इच्छायें सामने ले आता है। जीव उनको पूरा करना चाहता है, पूरा कर नहीं पाता इसलिये 'हाय-हाय' करता रहता है। इसलिये श्रुति ने कहा है 'समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नः अनीशया शोचति मुह्यमानः' इस शरीररूपी वृक्ष में मग्न हुआ अनिष्ट का परिहार नहीं कर पाता, इष्ट प्राप्त नहीं कर पाता, इसलिये दुःखी हो रहा है। जीवन में विचार करके देखो तो कम चीज़ें ऐसी होंगी जो *आवश्यक* हों और तुम्हें न मिली हों। अधिकतर चीज़ें तो केवल मानसिक चंचलता से इष्ट लगती हैं इसलिये शोक होता है। यहाँ तक ईश्वर की सृष्टि बतायी। नाम रूप की सृष्टि, जीव के स्थूल-सूक्ष्म शरीर की सृष्टि, फिर उनके अन्दर चिदाभासरूप से बैठ जाना—यहाँ तक की द्वैत-सृष्टि ईश्वर की है। ये सारी चीज़ें ऐसी हैं जिनमें तुम कुछ नहीं कर सकते।

यह स्मरण रखना चाहिये कि जो ईश्वरसृष्ट द्वैत है उसमें जीव मन-मानी हेर-फेर नहीं कर सकता, उस द्वैत के नियम समझकर उनके अनुसार द्वैत का उपयोग ही कर सकता है। ईश्वर-सृष्टि पर अपना नियंत्रण स्थापित करने की अभिलाषा हमेशा अपूर्ण रहनी है, ऐसी इच्छा वाला असन्तुष्ट, दुःखी ही रहेगा। युग-युगान्तर से धर्ममार्ग कठिन और तपोमूलक है और रहेगा, प्रेयोमार्ग सरल और आकर्षक ही है और रहेगा। इसमें मौलिक अंतर नहीं लाया जा सकता। यह परिस्थिति जानकर अपना कल्याण संपन्न कर सकते हैं।। १३।।

जीवसृष्टि भी वेदोक्त बताते हैं—

सप्तान्नब्राह्मणे द्वैतं जीवसृष्टं प्रपंचितम्।
अन्नानि सप्त ज्ञानेन कर्मणाऽजनयत् पिता।। १४।।

'सप्तान्न ब्राह्मण' में जीवद्वारा उत्पादित द्वैत समझाया गया है। (वहाँ कहा है कि) 'पिता' ने ज्ञान और कर्म से सात अन्न पैदा किये।

सप्तान्न ब्राह्मण बृहदारण्यक उपनिषद् में (१.५.१) आता है। जीव ने जो सृष्टि की, उसका वहाँ विस्तार से वर्णन किया गया है। वहाँ वाक्य है 'यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाऽजनयत् पिता' समष्टि जीव जो हिरण्यगर्भ है, वह सबका पिता है, उसने ये सप्तान्न बनाये। यों जीवसृष्टि को कहा। 'मेधया तपसा' अर्थात् अदृष्ट के द्वारा। जिसने पूर्वजन्म में सबसे अधिक कर्म व उपासना का अनुष्ठान किया वह अगले कल्प में हिरण्यगर्भ बनकर पैदा होता है। अपने अदृष्ट के द्वारा ही वह सप्तान्नों की सृष्टि करता है। मेधा को यहाँ ज्ञान और तप को कर्म कह दिया। उपासना और कर्म के द्वारा आदिजीव हिरण्यगर्भ ने द्वैत पैदा किया।

जो खाया जाता है उसे अन्न कहते हैं। अन्न खाने का मतलब भोग करने से है। जिसका भी भोग किया जाता है वह सब अन्न है। इसलिये जहाँ उपनिषद् ने 'अनशन' कहा है वहाँ भाष्यकार आचार्य शंकर लिखते हैं कि अनशन का मतलब केवल मुँह में नहीं डाला, इतना ही नहीं समझना! आँख से रूप को, कान से शब्द को, नाक से गंध को इत्यादि सब चीज़ें खायी जाती हैं। जो खाया जाये या भोगा जाये वह सब अन्न है। श्रुति कहती है कि अन्न न केवल खाया जाता है वरन् अपने भक्षक को खा भी जाता है! जितना तुम्हें चाहिये उससे ज़्यादा खाओगे तो वह ज़्यादा खाया हुआ तुम्हें खायेगा, बीमारी तथा और भी अनेक विकारों को पैदा करेगा। जिस किसी इन्द्रिय से तुमने ग्रहण किया है वह सब अपच होकर नई-नई इच्छायें पैदा करेगा। इसलिये भगवान् ने कहा है—'ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते। संगात् संजायते कामः' विषयों को जैसे ही तुमने मन में ग्रहण किया, उनका चिंतन करने लगे, वैसे ही उनके प्रति आसक्ति हो जाती है, इष्टबुद्धि हो जाती है। आज से ४०-५० साल पहले तक हिन्दुस्तान में एक मोटर 'एम्बेसेडर' कलकत्ते में, दूसरी 'स्टैण्डर्ड' मद्रास में और तीसरी बम्बई में 'फ़ीयट' ये तीन ही गाड़ियाँ थीं। किसी को अन्य किसी गाड़ी की इच्छा भी नहीं होती थी। अब दिल्ली जैसे शहर में ही पचास तरह की गाड़ियाँ घूमती हैं। किसी में आठ आदमी तो किसी में केवल चार ही आदमी बैठ सकेंगे। ये सब विषय जब अंदर प्रविष्ट हुए तभी इनकी इच्छा भी हुई। व्यापारी-वर्ग न जाने कितनी चीज़ें लाकर प्रकट करता रहता है। विदेशों की चीज़ों को भी टेलीविज़न में दिखाते रहते हैं। ये सब अन्न हैं जो अविवेकपूर्वक ग्रहण करते हो तो अपच भी हो जाता है! हमारे पास बीस लाख रुपये हैं और कोई मोटर ऐसी देख ली जो चौबीस लाख की है तो परेशान हो जाते हैं। उस मोटर को लिये बिना कुछ बिगड़ता नहीं है लेकिन नई इच्छा होने से उसकी आपूर्ति का क्लेश व्यर्थ सहना पड़ता है।।१४।।

द्वैत का विवेक प्रारम्भ करने पर समझ आता है कि एक तो देखने वाले हम और दूसरा, दीखने वाला ससांर—यों दीखने वाले संसार से ही हमारा द्वैत है। संसार जो हमको दीखता है, अर्थात् दृश्य जगत् दो प्रकार का है—एक , ईश्वर का बनाया हुआ और दूसरा, जीव का बनाया हुआ। ईश्वर के बनाये हुए संसार से किसी प्रकार का बंधन नहीं है। जीव के द्वारा बनाया हुआ

संसार ही बन्धन का कारण है। ईश्वर ने अपनी माया शक्ति के द्वारा पंचमहाभूत बनाये, उन्हीं से हमारा सूक्ष्म शरीर अर्थात् प्राण, मन, बुद्धि और इंद्रियाँ बनाये; ये सब चीज़ें ईश्वर की सृष्टि हैं। जीव की सृष्टि क्या है? बृहदारण्यक उपनिषद् में सात प्रकार के अन्नों का वर्णन किया गया है जो जीव की सृष्टि है। वे सात प्रकार के अन्न क्या हैं, यह समझाते हैं—

मर्त्यान्नमेकं देवान्ने द्वे पश्वन्नं चतुर्थकम्।
अन्यत् त्रितयमात्मार्थम् अन्नानां विनियोजनम्।। १५।।

एक मर्त्यों (मनुष्यों) का अन्न है, दो देवताओं के और चौथा पशुओं का अन्न है। इनसे अन्य तीन आत्मा के अन्न हैं। इस प्रकार सातों अन्नों का उपयोग बताया गया है।

मर्त्यधर्मा जो प्राणी हैं अर्थात् सभी प्राणी, उनका तो एक अन्न है। जौ, चावल इत्यादि जिन के द्वारा सारे प्राणी ज़िन्दा रहते हैं वे मर्त्यों का अन्न है। यह अन्न वह है जो मरणधर्मा शरीर को पुष्ट करता है। इसी प्रकार देव, पशु और आत्मा के उपयोगार्थ अन्य छह अन्न बनाये। इस प्रकार से अन्नों का विनियोग है। जीव ने जो सात अन्न बनाये और जिस-जिस उपयोग से बनाये उसका उक्त उपनिषद् में कथन है, तदनुसार उन्हें संक्षेप में यहाँ भी समझायेंगे।। १५।।

पूर्वोक्त अन्नों का स्वरूप ही बताते हैं—

व्रीह्यादिकं दर्शपूर्णमासौ क्षीरं तथा मनः।
वाक् प्राणश्चेति सप्तत्वम् अन्नानामवगम्यताम्।। १६।।

चावल आदि, दर्श एवं पूर्णमास, दूध, मन, वाक् तथा प्राण—ये सात अन्न जानने चाहिये।

चावल, जौ इत्यादि खाने की चीज़ें हैं जिनसे शरीर पुष्ट होता है। फल, फूल भी 'आदि' पद से कह दिये गये। ये शरीर का पोषण करने वाले हैं। यह एक अन्न है। जौ, चावल इत्यादि तो परमेश्वर की सृष्टि है; इसी प्रकार दूध, प्राण, वाक्, मन—ये सब भी ईश्वर की सृष्टि है; परन्तु इनमें *अन्नरूपता* जीव की अपनी सृष्टि है। इसलिये जो खाने लायक चीज़ है उसको हम अन्न मानते ही हैं पर जो खाने लायक चीज़ नहीं है उसको भी अन्न बना लेते हैं! अगर मनुष्य के दाँतों और पेट को देखो तो न मनुष्य के दाँत माँस खाने लायक हैं और न मनुष्य का पेट माँस पचाने लायक है। फिर भी मनुष्य ज़बर्दस्ती माँस खाता है। इसलिये भगवान् की बनायी किस चीज़ में हम अन्नरूपता बनायें, यह हमारे हाथ में हैं।

दो अन्न दर्श और पूर्णमास याग हैं। ये दोनों देवताओं के अन्न हैं। देवता इनको ग्रहण करते हैं। मनुष्य-शरीर में सभी देवता रहते हैं क्योंकि ऋग्वेद में आता है कि परमेश्वर ने सृष्टि की तो भेड़ बकरी इत्यादि प्राणी पैदा किये, देवताओं से कहा—'तुम इसमें रहो।' देवताओं ने कहा—'ये हमारे रहने लायक नहीं हैं, इसलिये हम इनमें नहीं रहेंगे।' अंत में जब मनुष्य की सृष्टि की तब देवताओं ने कहा, 'बस यह हमारे रहने के लायक है, हम इसमें रहेंगे।' इसलिये

सारे देवताओं का वास मनुष्य शरीर में है। सामान्य लोगों में भी यह प्रसिद्धि है कि जो कुछ ब्रह्माण्ड में है वह अपने शरीर या पिण्ड में है क्योंकि सारे देवता इसमें हैं। इस देवभाव को पुष्ट करने वाले दर्श और पूर्णमास याग हैं। गीता में भगवान् ने कहा कि यज्ञ से देवता भावित होते हैं और वे देवता पुष्ट करते हैं। इस प्रकार से परस्पर भावना करनी चाहिये, उसी से कल्याण की प्राप्ति बताई। अपने शरीर में भी जो देवता हैं इन्हें दर्श-पूर्णमास से पुष्ट किया ज़ाता है। उसको न करके अपने आसुर भावों को बढ़ाते हैं। श्रुति में कहे हुए दर्श, पूर्णमास आदि याग शरीर में भी देवताओं को पुष्ट करेंगे। चूंकि देवता सबके शरीरों में हैं, इसलिये देवताओं को जितना पुष्ट किया जायेगा उतनी ही सबके अन्दर देवभाव की वृद्धि होगी। अगर उसकी अपेक्षा असुरों को पुष्ट करेंगे तो सर्वत्र अशास्त्रीय भावों की पुष्टि, वृद्धि होगी। असुर हमेशा चाहते हैं कि देवताओं को जीत कर हम शासन करें।

सामवेद ने बताया है कि एक बार असुरों को जीतते हुए देखकर देवताओं ने विचार किया 'हम कहीं बैठकर उत्तम अनुष्ठान के द्वारा जीत हासिल करें।' इसके लिये वे वाणी में जाकर बैठे। असुर सोचने लगे 'ये देवता कहाँ चले गये! ज़रूर कहीं छिपकर हमारे नाश की तैयारी कर रहे होंगे।' ढूँढते-ढूँढते उन्होंने देखा कि वे वाणी पर बैठकर अनुष्ठान कर रहे हैं। असुरों ने वाणी को पाप से बींध दिया। इसलिये, श्रुति कहती है कि वाणी सत्य बोलती है पर झूठ भी बोलती है। परमेश्वर की निंदा और प्रशंसा दोनों वाणी करती है। देवताओं ने देखा 'यहाँ तो फिर असुरों का प्रभाव हो गया!' उसे छोड़कर वे कान में जाकर बैठे कि वहाँ अनुष्ठान करें। असुरों ने पता लगाकर कान को भी आसुरभाव, कामना या पाप से बींध दिया। इसलिये कान अच्छी बातें सुनता है पर बुरी बातें भी सुनता ही है। इसी प्रकार देवताओं ने आँख इत्यादि सभी इन्द्रियों में बैठकर देखा लेकिन सभी में असुरों का ज़ोर हो गया। अंततोगत्वा वे प्राण में जाकर बैठे। उससे पूर्व मन, बुद्धि इत्यादि जितने स्थानों में बैठे, वे सभी आज तक भी अच्छा-बुरा करते देखे जाते हैं क्योंकि सभी स्थान असुरों द्वारा पाप से बींधे गये। अंत में जिस प्राण में जाकर बैठे उस प्राण में कभी आसुर भाव नहीं होता। प्राण कभी बुरा नहीं करता, वह एक-जैसा ही चलता है। असुरों ने प्राण को भी बींधने का प्रयत्न किया; वहाँ श्रुति कहती है कि जैसे मिट्टी के लोंदे को किसी चट्टान पर मारें तो वह टुकड़े-टुकड़े हो ज़ाता है, इसी प्रकार असुर भी टुकड़े-टुकड़े हो गये। प्राण का पापरहित रहना प्रत्यक्ष भी है, वह कभी भी बुरा काम नहीं करता, हमें केवल जीवन देता है। असुरों के द्वारा हमारी इन्द्रियाँ इत्यादि पाप से बींधी जाती हैं, परन्तु प्राण कभी नहीं बींधा जाता। दर्शपूर्णमास याग आदि जो शास्त्रीय कर्म बताये हैं उनके द्वारा हमारी सारी इन्द्रियों का देवभाव पुष्ट होगा। प्राण किसी भी विकार से रहित है, ऐसे सब विकारों से रहित होकर कर्म करने से देवताभाव पुष्ट होगा।

'क्षीर'—पशुओं का अन्न दूध है। जब तक बच्चा पशुभाव में है तब तक दूध से ही पुष्ट होता है। साल-डेढ़ साल के बच्चे को किसी बुराई-अच्छाई का पता नहीं है, केवल सुख-दुःख को जानता है अर्थात् उसे किसी चीज़ से अनुकूलता और किसी चीज़ से प्रतिकूलता है, इतना ही

जानता है। इतना ही समझना पशुभाव है। जब तक पशुभाव है तब तक उसके लिये दूध ही भोजन है। उसके बाद भी दूध का सेवन इसीलिये किया जाता है कि हमारे अन्दर अनिवार्य पशुभाव स्थिर रहे।

जीव ने अपने लिये तीन अन्न बनाये हैं—मन, वाक् और प्राण ये तीनों उसने अपने लिये पैदा किये। इसलिये श्रुति ने वहाँ (बृ.१.५.३) कहा है—'अयमात्मा वाङ्मयो मनोमयः प्राणमयः'। जीव का अपना अन्न वह है जो मन में होता है। मन का भोग हम खुद करते हैं। बाह्य पदार्थ का भोग तो देवताओं के अनुग्रह से इन्द्रियों के द्वारा मन में पहुँचता है। सामने हमें कोई चीज़ दिखाई दी तो वह चीज़ आँख के द्वारा प्रविष्ट होकर मन ने उसको जाना। जब मन ने जाना तभी हम उसकी सुन्दरता से प्रसन्न हो सकते हैं। मन का ही भोग जीव साक्षात् करता है। भोग केवल ज्ञानरूप से ही नहीं, क्रियारूप भी है। हम कुछ करते हैं, तब भी मज़ा आता है। किसी कार्य को नहीं करने का मज़ा आता है। बहुत-से लोग आलसी होते हैं, उन्हें नहीं करने में ही मज़ा आता है। प्राचीन काल में हमारी पाठशालाओं में रविवार को छुट्टी नहीं होती थी, ईसाईयों ने रविवार की छुट्टी शुरू कर दी। हमारे यहाँ तो प्रतिपदा और अष्टमी के दिन छुट्टी होती थी। उस दिन गुरुकुल की सेवा के अनेक कार्य सम्पन्न किये जाते थे। सर्वथा कुछ न कर आलस्य बढ़ाना पाश्चात्य दृष्टि है। हम लोग मानते हैं कि एक काम की जगह दूसरा काम करो, वह छुट्टी है। छुट्टी का मतलब 'कुछ नहीं करो' ऐसा नहीं है।

अंग्रेज़ों का यहाँ नया-नया राज्य था। एक व्यक्ति पंजाब में अफसर बन गया था। उसने एक जर्नल में अपना एक अनुभव लिखा है : उसके कार्यालय में छह महीने बाद अंग्रेज़ कलक्टर आ गया। प्रतिदिन का काम एक रजिस्टर में लिखा जाता था। वह हिन्दुस्तानी अफसर रविवार को भी काम करता था। अंग्रेज़ कलक्टर ने रजिस्टर देखा तो उससे पूछा 'तुम रविवार को काम क्यों करते हो?' उसने कहा—'जी! हमें तन्ख्वाह मिलती हैं। रविवार को और कोई काम नहीं होता तो यहाँ आकर काम करता हूँ।' कलक्टर ने कहा—'ऐसा नहीं किया जाता। हमारे यहाँ नियम है कि रविवार को काम मत करो।' वह कह कर चला गया। छह महीने बाद फिर आया तो रजिस्टर में देखा कि वह अफसर हफ्ते में किसी भी दिन 'रविवार की छुट्टी' लिख देता था, जैसे 'आज पत्नी की तबियत ठीक नहीं थी इसलिए आज रविवार मनाया'। कलक्टर ने पूछा—'किसी भी दिन रविवार कैसे लिख दिया?' उसने कहा—'पत्नी को अस्पताल ले जाना था, इसलिए रविवार की छुट्टी मना ली। रविवार को और काम नहीं था, इसलिए ऑफिस आकर काम किया'। कलक्टर ने कहा—'तबियत खराब थी तो उसके लिए अलग छुट्टी लेते, ऐसे रविवार को जब जरूरत तब काम में नहीं लिया जाता'। वह अफसर लिखता है 'यह कैसा बेवकूफी का नियम है! जिस दिन अन्य कोई काम नहीं, उस दिन कहते हैं 'छुट्टी मनाओ', और जिस दिन घर पर काम है तब के लिए कहते हैं 'उसके लिए पहले से लिखकर अलग छुट्टी लो!'

कर्म भी एक अन्न या भोग्य है। उसमें जो वाक् या वाणी है उसकी शुद्धि बड़ी आवश्यक होती है। हम लोग शब्द का जितना भोग करते हैं उतना भोग किसी और चीज़ का नहीं करते।

शास्त्र में सृष्टि को नाम-रूपात्मक कहा है। प्रत्येक चीज़ का कोई नाम है और कोई-न-कोई रूप है। रूप का मतलब आँख से जो दीखे केवल वही नहीं है। 'रूप्यते' अर्थात् जिससे किसी चीज़ का निरूपण हो जाता है कि 'यह चीज़ ऐसी है,' उसी को रूप कहते हैं। रूप मूर्त और अमूर्त दोनों हो सकते हैं। मूर्त और अमूर्त दोनों के नाम होते ही हैं। वाक् के प्रयोग पर बहुत ध्यान देने की ज़रूरत है। वाक् भी अन्न है। अगर किसी को बोलने न दिया जाये तो यह बहुत बड़ा दण्ड इसलिए मानते हैं कि उसे वागूरूप अन्न से वंचित किया जाता है। वाक् भी जीव का अपना अन्न है।

प्राणश्च—प्राण के द्वारा ही हमें सारे कर्म करने की शक्ति मिलती है। यहाँ तक कि जानने की शक्ति भी प्राण की शक्ति से है। भगवान् सुरेश्वराचार्य ने कहा है कि मन और प्राण ऐसे हैं जैसे काँच के अगला और पिछला दो हिस्से होते हैं। काँच के पिछले हिस्से में मुँह नहीं दीखता, काँच के अगले हिस्से में दीखता है। परन्तु काँच तो दोनों हिस्से मिलकर ही है। अगर कोई सोचे कि इतना मोटा काँच क्यों लेना, पिछला हिस्सा हटा दे, तो उसमें मुँह नहीं दीखेगा! एक तरफ दीखता है, एक तरफ नहीं दीखता परन्तु दोनों तरफ मिलकर ही दीखता है। इसी प्रकार प्राण पिछले हिस्से जैसा है, इसलिए प्राण में ज्ञान का पता नहीं लगता और मन अगले हिस्से जैसा है जिसमें ज्ञान का पता लगता है। परन्तु पता तभी लगता है जब मन की वृत्ति बनती है। वृत्ति बनाना एक कार्य, परिवर्तन है। जब तक प्राण नहीं होगा तब तक कार्य वृत्ति नहीं हो पायेगा, वृत्ति नहीं बनेगी। इसी प्रक्रिया का प्रयोग योगाभ्यास में करते हैं : मन को रोकना बड़ा दुष्कर है। 'चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्।' मन ऐसा है कि हमें मानो मथ डालता है। मन को नियंत्रित करना कठिन है, परन्तु वह अपनी चंचलता के लिए प्राण के पराधीन है। प्राण वृत्ति बनने देगा तभी मन वृत्ति बनायेगा। इसलिए प्राणायाम के द्वारा योगाभ्यासी प्राण का नियंत्रण करते हैं। प्राण का नियंत्रण हो गया तो मन वृत्ति बना नहीं पायेगा। मन के नियंत्रण से भी प्राण नियंत्रित हो जाता है। मन किसी चीज़ में एकाग्र होता है तो साँस अपने आप क्षीण हो जाती है। मनोनिरोध से प्राणनिरोध का मार्ग दुर्गम है। प्राण को रोककर मन को रोकना सरल है, मन को रोककर प्राण को रोकना कठिन है। चूँकि सारी शक्तियों का प्रयोग साधारण प्राण के अधीन है इसलिए प्राण का भी हम लोग 'भोग' करते हैं। प्राण की एक शक्ति ऐसी है जो और किसी चीज़ में नहीं है। भूख और प्यास प्राणों का धर्म है। जब तक शरीर में प्राण रहेगा तब तक भूख-प्यास रहेगी। भूख-प्यास शरीर के किसी *अंग* का धर्म नहीं है, प्राण का ही धर्म है। भूख-प्यास के द्वारा हमको बड़े आनन्द की प्राप्ति होती है। यह ठीक है कि स्वाद तो जीभ से आता है लेकिन तभी तक आता है जब तक भूख हो। पचास गुलाब जामुन खाने के बाद, हमारी जीभ कितनी भी चटोरी हो, आगे नहीं खा सकती, खाने का स्वाद नहीं आ सकता क्योंकि पेट में जगह ही नहीं। किसी व्यक्ति की भूख कम हो जाती है तो वैद्य से कहता है 'भूख लगने की कोई औषधि दो।' वैद्य क्षुधावर्द्धक बटी दे देता है। भूख मिट गई तो खा ही नहीं सकते। भूख आवश्यक है क्योंकि भूख लगे तभी भूख मिटे, और तब सुख आये। जो बात भूख के विषय

में है वही प्यास के विषय में है। शक्तिप्रद होने से और भूख-प्यास के द्वारा प्राण अन्न हो जाता है। इस प्रकार एक साधारण अन्न चावल, जौ आदि, एक पशु का अन्न क्षीर, दर्श-पूर्णमास ये दो देवताओं के अन्न और मन आदि तीन जीव के अपने अन्न; यों कुल सात अन्न जीव ने बनाये। जिस-जिस चीज़ का भोग किया जाता है, जो जीवभाव के लिए, शरीर की पुष्टि के लिए, हमारे पशुभाव को पुष्ट करने के लिए और देवों को भोग देने के लिए है, वे सब जीव के द्वारा निर्मित अन्न हैं।। १६।।

स्वयं ही स्पष्ट करते हैं कि इन्हें जीव ने किस तरह तैयार किया—

ईशेन यद्यप्येतानि निर्मितानि स्वरूपतः।
तथापि ज्ञानकर्मभ्यां जीवोऽकार्षीत्तदन्नताम्।।१७।।

यद्यपि स्वरूपतः ये पदार्थ परमेश्वर द्वारा निर्मित हैं तथापि इनमें अन्नता का सम्पादन जीव ने ज्ञान (उपासना) और कर्म द्वारा किया है।

अन्न, दूध, वाक्, प्राण आदि जीव ने नहीं बनाये। इनके स्वरूप अर्थात् ये वस्तुएँ तो परमेश्वर के द्वारा बनायी हुई हैं। फिर इन्हें जीव-निर्मित क्यों कहा? चूँकि ज्ञान और कर्म के द्वारा जीव ने उनमें अन्नता की प्राप्ति कराई है। 'अन्नता' अर्थात् भोग। ऐसा नहीं समझना कि चीजें हमने बनाई। चावल तो भगवान् ने उगाया, परन्तु जब हम चावल खाने के योग्य हुए तब वह हमारा अन्न बना। संसार में उपलब्ध चावल ही ज्ञान और कर्म से अन्न बनते हैं। ज्ञान व कर्म दो तरह के हैं, एक दृष्ट और दूसरे शास्त्रीय। दृष्ट जैसे अमुक भोजन हमारे शरीर के लिए पौष्टिक है। यह ज्ञान हुआ तब उसे हम अन्न बनाते हैं। फिर उसके लिए कर्म हुआ—हल जोतना आदि। अथवा धन आदि कमाकर बाजार से खरीदना। ज्ञान और कर्म के द्वारा वह तुम्हारा अन्न बना। जैसे ये ज्ञान और कर्म, वैसे ही शास्त्र में बताई हुई उपासनायें भी ज्ञान हैं और शास्त्र में बताये हुए भी कर्म हैं। उपासना और कर्म के द्वारा तुम्हारा जो प्रारब्ध बनता है उसके अनुसार ही अन्न तुम्हें प्राप्त होता है। जो कर्म एवं उपासना हम करते हैं उसके अनुसार ही हमें चीज़ें मिलती हैं। जो नहीं मिलती हैं तो इसमें कारण है कि हमारा प्रारब्ध उनके अनुकूल नहीं है। ईश्वर ने तो सब चीज़ें बनाई परन्तु उनमें से कौन-सी हमारे भोगने लायक है, कौन-सी नहीं है, कौन-सी हमारे अनुकूल है कौन-सी नहीं, इसका निर्णय जीव के हाथ में है। इस तरह जीव चीज़ों में अन्नता को पैदा करता है। चीज़ स्वरूप से परमेश्वर की बनाई हुई है पर ज्ञान-कर्म के द्वारा अन्नरूपता की सृष्टि हो जाती है। चीज़ें परमेश्वर ने बनाई, परन्तु उसमें भोग्य दृष्टि करना या नहीं करना जीव का काम है, इसके लिए हम ज़िम्मेवार हैं।

हमें दो चीज़ों का भोग होता है, एक तो हमें जो शरीर मिला है उसका और दूसरा उस शरीर के कारण जो सुख-दुःख होते हैं उनका। ये दोनों अगल-अलग भोग हैं। सर्वत्र ऐसे असंख्य मनुष्य-शरीरधारी हैं जिन्हें सिर छिपाने को छप्पर नहीं, तन ढकने को कपड़ा नहीं, भूख मिटाने को अन्न नहीं। साथ ही अनेक ऐसे पालतू कुत्ते दीखते हैं जिन्हें भोजन और अन्य सारी

सुविधायें उपलब्ध हैं। उनका कुछ कर्म तो ऐसा है जिसके कारण वे कुत्ते की योनि में पैदा हुए और कुछ ऐसा है कि सुख-सुविधा से सम्पन्न हैं। दूसरे, किन्हीं कर्मों से मानव योनि पाकर भी कर्मवश दुःख एवं असुविधा से ग्रस्त हैं। हम कहाँ पैदा होंगे—इसका निर्णय ज्ञान (उपासना) करता है और वहाँ पर भोग कैसा करेंगे— इसका निर्णय कर्म (पुण्य-पाप) करता है। भगवान् ने गीता में कहा है कि अंतकाल में तुम्हारी जो वृत्ति होती है, वह तुम्हें कहाँ जाना है, इसका निर्णय करती है। 'अंतमति सो गति' ऐसा सामान्य भाषा में भी लोग कहते हैं। जिसका जिस चीज़ पर ज़्यादा स्नेह होता है, अंत समय में वही उसे याद आती है। विदेशों में बहुत से ऐसे लोग हैं जिनको अपनी घरवाली से प्रेम नहीं है, कुत्तों से ही प्रेम है! ऐसे व्यक्ति को अंतकाल में भी कुत्ता ही याद आयेगा एवं अंत में जैसी हमारी वृत्ति रहती है वैसा ही हमें शरीर मिल जाता है। साथ ही, जैसे हमारे पुण्य-पाप होते हैं उनके अनुसार पैदा होने पर हमें सुख-दुःख की प्राप्ति हो जाती है। इस तरह ज्ञान और कर्म के द्वारा जीव अन्नता को बनाता है।।१७।।

भगवान् के बनाये में भी जीव कुछ बना सकता है इसे दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं—

ईशकार्यं जीवभोग्यं जगद् द्वाभ्यां समन्वितम्।
पितृजन्या भर्तृभोग्या यथा योषित्तथेष्यताम्।।१८।।

जैसे स्त्री अपने पिता से जन्म पा चुकी है और भर्त्ता से (पति से) भोग्यभाव (पत्नीत्व) पाती है वैसे जगत् ईश्वर का कार्य एवं जीव का भोग्य—यों दोनों से सम्बद्ध है।

एक ही चीज़ को दो कैसे बना सकते हैं? जैसे लड़की को पैदा तो पिता करता है परन्तु उसको भोग्या पति बनाता है। यद्यपि भोग्यता से यहाँ पत्नीभाव विवक्षित है तथापि भारतीय परम्परा यहाँ तक रही है कि कन्या दान की वस्तु होने से उसके स्वत्वकी कोई भी वस्तु पिता उपभोग नहीं करता था, ब्याही लड़की के घर जाकर वहाँ का जल भी ग्रहण नहीं करता था क्योंकि वह पति की ही भोग्य है यह निश्चय था। पिता ने पैदा की, लेकिन उसका भोग तो पति करेगा। इसी प्रकार चीज़ों को पैदा तो ईश्वर ने किया है लेकिन वह पूर्णकाम नित्यतृप्त है, इन्हें भोग्य जीव ने अपने कर्म और उपासना या ज्ञान और कर्म के द्वारा बनाया है। इस तरह से यह जगत् इन दोनों के द्वारा ही निर्मित है।।१८।।

ईश्वर व जीव को जगद्-उत्पादनार्थ उपलब्ध साधन बताते हैं—

मायावृत्त्यात्मको हीशसंकल्पः साधनं जनौ।
मनोवृत्त्यात्मको जीवसंकल्पो भोगसाधनम्।।१९।।

जगत् की उत्पत्ति में साधन है ईश्वर का मायावृत्तिरूप संकल्प एवं जीव का मनोवृत्तिरूप संकल्प भोग के लिए साधन है।

संसार उत्पन्न करने के लिए परमेश्वर अपनी माया नामक शक्ति का जो प्रयोग करते हैं वह उस माया की वृत्ति, माया का बर्ताव, व्यापार, दशाविशेष ही ईश्वर का संकल्प कहा जाता

है जो जगत् के उत्पादन के लिए पर्याप्त है। अचिन्त्य सामर्थ्य होने से संकल्प ही काफी है कि माया सारा सृष्टि-विस्तार कर ले, परमात्मा को अन्य कोई आयास करने की आवश्यकता नहीं। तुम हाथ उठाते हो कोई सामान पकड़ने के लिए तो सामान के अनुसार तुम्हारी प्राण-शक्ति हाथ आदि को तैयार करती है लेकिन यह सारी प्रक्रिया प्रारम्भ तो तुम्हारे इस संकल्प से ही होगी कि 'हाथ से सामान उठाउँ'। संकल्प में सामर्थ्य अतिशय है, स्वल्प से संकल्प में ताकत है बड़े-से-बड़े परिवर्तन लाने की। इसी प्रकार माया को परमेश्वर के शरीर की जगह समझ लो। माया चीज़ें बनाती है परन्तु परमेश्वर के संकल्प से बनाती है। परमेश्वर के संकल्प कैसे होते हैं? अन्यत्र शास्त्रों ने बताया है कि जैसा जीव का प्रारब्ध होता है उसके अनुसार ही परमेश्वर का संकल्प होता है। चीज़ें बनेंगी तो परमेश्वर के संकल्प से ही, परन्तु जैसा तुम्हारा कर्म होगा उसके अनुसार ही चीज़ों का निर्माण होगा। इसलिए कहा कि ईश्वर का मायावृत्तिरूप संकल्प चीज़ों के पैदा होने में साधन या कारण है।

जैसे परमेश्वर का संकल्प मायावृत्ति है, वैसे ही जीव का संकल्प मन की वृत्ति है, जो भोग का साधन है। जब तक जीव संकल्प करके मन की वृत्ति नहीं बनायेगा तव तक उसमें भोग्यता नहीं आयेगी। जीव के संकल्प में उसके संस्कार कारण पड़ते हैं और मनुष्य को सुधारना या बिगाड़ना सम्भव करते हैं। जैसे संस्कार हमारे ऊपर डाले जायेंगे, उनके अनुसार ही हमारे भोगविषयक प्रयास बनते हैं। चाहे माता-पिता हों, चाहे समाज के नेता हों सभी को इन बातों का विचार करना चाहिये कि बाल्यावस्था से ही प्रारम्भ कर किस स्तर पर क्या संस्कार उपलब्ध कराये जायें। वर्तमान पद्धति विचारहीनता, अविवेक को ही प्रश्रय देने की है। असमर्थ एवं गैरज़िम्मेवार व्यक्तियों-समूहों को सभी माध्यमों से प्रचार की स्वच्छन्दता सुरक्षित रखने से मूल्यहीनता, अनैतिकता, उद्वेगनिष्ठता, असन्तोष एवं अशान्ति की ही वृद्धि सर्वत्र प्रत्यक्ष हैं। धन एवं सुविधाओं की अस्थायी उपलब्धि को महिमामण्डित कर देने से कोई उत्कर्ष सम्भव नहीं तथा क्लेशों का अभिवर्धन अपकर्ष का ही निश्चित लक्षण है।

जीव का संकल्प संस्कारों से बनेगा इसलिए उसके अच्छे-बुरे संस्कारों के द्वारा किये संकल्प में भेद लाया जा सकता है, परन्तु संस्कार कार्यकारी हों या नहीं इसमें जीव अपने स्वातंत्र्य का उपयोग कर सकता है। अनिष्ट संस्कार उद्बुद्ध होने पर यदि उसके विरोधी संस्कार मौजूद हैं तो उनका उद्बोधन उसे दबा देगा। यदि वे मौजूद ही नहीं हैं या जीव उन्हें प्रश्रय देकर उद्बोधित करे ही नहीं तो अनिष्ट संस्कार कार्यकारी हो ही जायेंगे। शास्त्र इसीलिए जरूरी है कि अयोग्य के विरोधी संस्कार पड़ जायें। लेकिन सविवेक अभ्यास करने पर ही वे प्रबल होंगे, अपने आप नहीं होंगे। इसीलिए पुराने लोग कहा करते थे कि धर्म अपंग होता है, उसके पैर नहीं होते। उसे धक्का देकर चलाना पड़ता है। आजकल लोग इसे भूल जाते हैं और सोचते हैं कि धर्म अपने आप चलता है जबकि इसे चलाओ तभी चलता है, चलाने से चलता है, खुद अपंग है। जीव का संकल्प मनोवृत्तिरूप है और मनोवृत्ति बनने में कारण संस्कार पड़ते हैं। जीव का संकल्प ईशसृष्ट पदार्थों को भोग्य बना देता है। इस तरह भोग्य-विषय ईश्वर-जीव दोनों की उपज हैं, दोनों से

सम्बद्ध हैं। दोनों के पास इसके लिए साधन हैं। मन क्योंकि मायाकार्य है इसलिए मूलतः ईश्वर का प्रशासन कायम रहता ही है भले ही चित् का ही आभास होने से जीव में निहित स्वातन्त्र्य व्यक्त हो यह भी व्यवस्था स्थिर है।।१९।।

परमेश्वर का मायावृत्तिरूप संकल्प सृष्टि को उत्पन्न करता है और जीव के मनोवृत्तिरूप संकल्प के द्वारा सृष्ट चीज़ों को भोग का साधन बनाया जाता है। अगर वृत्ति हुई कि 'यह हमारे अनुकूल है' तो सुख का भोग होगा और 'हमारे प्रतिकूल है' यह वृत्ति बनी तो दुःख का भोग होगा। इसी भेद को बताते हैं—

ईशनिर्मितमण्यादौ वस्तुन्येकविधे स्थिते।
भोक्तृधीवृत्तिनानात्वात् तद्भोगो बहुधेष्यते।।२०।।

परमेश्वर द्वारा निर्मित मणि आदि वस्तु एक प्रकार की रहते भोक्ताओं की बुद्धिवृत्तियों के भेद से मणि आदिका बहुत तरह का भोग हो जाता है।

हीरे को परमेश्वर ने अपने संकल्प से उत्पन्न किया। 'आदि' पद से, जितने भी भोग्य पदार्थ हैं, उनका ग्रहण कर लेना। मणि वस्तु या पदार्थ हुआ, वह तो एक प्रकार का ही है। सत्तर कैरेट का, आठ पहलुओं का है तो सबके लिए उस तरह ही वह स्थित रहता है। परन्तु भोग करने वाले की बुद्धि-वृत्तियाँ अनेक प्रकार की हैं। इसलिए हीरे का भोग अनेक प्रकार का हो जाता है। मणि एक जैसी है, परन्तु उसका भोग्याकर अलग-अलग। ईश्वर की सृष्टि एक जैसी ही होती है जो माया वृत्ति से है। परन्तु भोक्ताओं की बुद्धियाँ अलग-अलग हैं अतः जीव-सृष्टियाँ विभिन्न हो जाती हैं। उसे जीव-सृष्टि इसीलिए मानना पड़ता है कि पदार्थ एक प्रकार का होने पर भी हरेक जीव के लिए भोग्य की आकृति अलग-अलग हो जाती है।।२०।।

भोग्याकार कैसे अलग-अलग होता है यह दिखाते हैं—

हृष्यत्येको मणिं लब्ध्वा क्रुध्यत्यन्यो ह्यलाभतः।
पश्यत्येव विरक्तोऽत्र न हृष्यति न कुप्यति।।२१।।

एक व्यक्ति मणि पाकर प्रसन्न होता है, दूसरा उसे न पाने से क्रोधित होता है जबकि मणि के प्रति वैराग्यवान् उसे देखता-भर है, न प्रसन्न व न क्रोधित होता है।

अंतःकरण के अन्दर कभी सात्त्विक वृत्ति होती है, कभी राजस वृत्ति होती है और कभी तामस वृत्ति होती है। एक व्यक्ति को मणि मिल गई तो वह प्रसन्न होता है कि मुझे मणि मिल गई। राजस्थान में राँका और बाँका पति-पत्नी हुए हैं। दोनों ही साधक थे। राँका ने रास्ते चलते देखा कि एक जगह सोने का टुकड़ा पड़ा है। उसने सोचा 'मेरी पत्नी पीछे आ रही है, वह सोना देखेगी तो उसका मन डाँवाडोल हो जायेगा'। इसलिए उसने झटपट बालू के ढेर से ढक दिया। ढक ही रहा था तब तक बाँका ने देख लिया और पूछा 'यह क्या कर रहे हो?' राँका ने कहा—'मैंने सोचा कहीं सोना देखकर तुम डाँवाडोल न हो जाओ इसलिए इसे ढाँक रहा हूँ।'

बाँका ने कहा—'तुमने अब तक खाक साधना की! अभी तुम्हें सोने और मिट्टी में फ़र्क लग रहा है? अर्थात् मिट्टी उपादेय नहीं है, सोना उपादेय है, तभी तो ढक रहे हो। इसलिए तुम्हारी साधना व्यर्थ है।' ऐसा विवेकी मणिलाभ से कैसे हर्षित होगा? जो मणि पाना चाहे वह मणि मिलने पर प्रसन्न होता है। दूसरा, जिसे मणि चाहिए लेकिन मिल नहीं रही है वह क्रोध करता है। मणि खरीदने जाता है। मणि दो लाख की है। उसके पास एक लाख नव्वे हजार हैं। दुकानदार दो से कम में बेचता नहीं तो ग्राहक को गुस्सा आता है, व्यापारी पर अनर्गल आरोप मढ़ता रहता है। उसे क्रोध आता है क्योंकि उसे मणि प्राप्त नहीं हुई। वहीं एक विरक्त खड़ा हुआ भी उस मणि को देखता तो है ही। उसे भी दीखती मणि ही है लेकिन न उसे हर्ष होता है और न उसे क्रोध आता है क्योंकि जैसे बहुत-सी चीज़ें पड़ी हैं, ऐसे ही मणि पड़ी है। इस तरह वही मणि एक को हर्ष दे रही है, दूसरे को दुःख दे रही है, क्रोध पैदा कर रही है और तीसरे को न दुःख दे रही है, न सुख दे रही है। मणि एकरूप है परन्तु ये जो तीनों भेद हैं, ये अपने-अपने मन की वृत्तियों के कारण हैं। जो एकरूप मणि है वह ईश्वर की सृष्टि है और जो अनेकरूप भोग्य हैं वे जीव की सृष्टि है। बंधन का कारण यह जीव-सृष्टि है। मणि पड़ी रहो, अगर तुम्हारी उसमें लाभ-अलाभ की दृष्टि नहीं तो वह तुम्हें सुख-दुःख नहीं दे सकती।।२१।।

मणि के स्वरूप से अतिरिक्त जीव द्वारा उत्पादित विभिन्न आकारों को स्पष्ट करते हैं—

प्रियोऽप्रिय उपेक्ष्यश्चेत्याकारा मणिगास्त्रयः।
सृष्टा जीवैरीशसृष्टं रूपं साधारणं त्रिषु।।२२।।

प्रिय, अप्रिय और उपेक्षायोग्य—मणि में होने वाले ये तीन आकार जीवों द्वारा उत्पादित हैं। तीनों में एक समान रहने वाला मणिस्वरूप ईश्वर द्वारा उत्पादित है।

कई बार लोगों को शंका होती है कि भोग अलग-अलग होने पर भोग्य का भेद होता है अर्थात् ईशसृष्ट पदार्थ ही सुखद या दुःखद होते हैं। परन्तु अनुभव में आता है कि एक ही भोग अर्थात् विषय अनेक भोग्याकार ग्रहण करता है। कई बार लोग नीलम खरीदते हैं, तीन दिन पहनते हैं; प्रतिदिन कोई दुर्घटना हो जाती है, कभी फिसल जाते हैं, कभी मोटर से टकरा जाते हैं, कभी उनकी जेब कट जाती है। तीन दिन बाद नीलम जौहरी को वापिस कर देते हैं कि यह अनुकूल नहीं पड़ा। उसके लिए यह नीलम अप्रिय हुआ। जौहरी उसे दूसरी मणि देता है, उसे पहनता हैं तो दुर्घटना नहीं होती बल्कि कुछ अच्छी घटना हो जाती है। कुछ दिनों में उसे पता लग जाता है कि यह मणि उसके अनुकूल हो गई। पहले वाली मणि उसे अप्रिय हो गई थी, यह प्रिय हो गई। उसी नीलम को जौहरी और किसी को देता है, वह हफ्ते-भर बाद आकर कहता है, 'नीलम मुझे अनुकूल पड़ा।' इसलिए उसे नीलम प्रिय हो गया। एक ही नीलम किसी को अप्रिय हुआ और दूसरे को प्रिय हो गया। तीसरा व्यक्ति उस मणि की उपेक्षा करता है कि 'मणि से क्या होना है! हमारे सुख-भोग का प्रारब्ध होगा तो मिल जायेगा, दुःखभोग का प्रारब्ध है तो दुःख मिल जायेगा, पत्थर पहनने से क्या होना है?' उसे नीलम न प्रिय है, न अप्रिय है। इस

प्रकार मणि में होने वाले प्रिय, अप्रिय और उपेक्ष्य ये तीन आकार जीव के द्वारा सृष्ट हैं, तीनों हर जीव के अलग-अलग हैं। ईश्वर-सृष्ट पदार्थ दीखता तो एक जैसा ही है। 'यह मणि तीन रत्ती की है, अमुक रंग की है,' यह तो एक जैसा ही तीनों को दीखता है। जो एक जैसा पदार्थ दीखा वह ईश्वर-सृष्ट है। प्रिय, अप्रिय, उपेक्ष्य बुद्धियाँ तुम बना सकते हो। इन्हीं में प्रतिजीव भेद है एवं इन आकारों के परिवर्तन में जीव समर्थ भी है।।२२।।

जीव-सृष्टि में अन्य उदाहरण देते हैं–

भार्या स्नुषा ननान्दा च याता मातेत्यनेकधा।
प्रतियोगिधिया योषिद् भिद्यते न स्वरूपतः।।२३।।

पत्नी, पुत्रवधू, ननद, देवरानी, माता आदि अनेक तरह से सम्बन्धिभेदवश स्त्री में भेद होते हैं, स्वरूप से भेद नहीं, एकरस रहती है।

एक ही स्त्री ४५ किलोग्राम वज़न की है, पाँच फुट छह इंच लम्बी है। इस विषय में जितने लोग हैं सब एकमत हैं। परन्तु एक से पूछते हैं 'यह कौन है?' वह कहता है 'यह मेरी पत्नी है।' दूसरे से पूछते हैं तो वह कहता है 'यह मेरी माता है।' पत्नी और माता बिलकुल विरुद्ध पदार्थ हैं, परन्तु प्रतियोगी के भेद से संगत हैं : भार्या का प्रतियोगी भर्त्ता है इसलिए पति के लिए वह पत्नी है जबकि पुत्र के लिए माता ही है। ससुर के लिए वह स्नुषा है। स्नुषा को ही पंजाबी भाषा में नूँ कहते हैं। ससुर कहता है यह मेरी पुत्रवधू है। कोई कहती है 'यह मेरी ननद है।' इसी प्रकार चौथी, उसे देवरानी कहती है। एक ही स्त्री को भार्या, माता, स्नुषा, ननद, देवरानी आदि अलग-अलग प्रकार से अलग-अलग व्यक्ति कहते हैं। प्रतियोगी अर्थात् सम्बन्धी की दृष्टि से वे सभी अलग-अलग हैं। इस तरह जीव-सृष्ट आकारों से वह स्त्री अनेक आकार की भी हो गई। वह केवल प्रिय, अप्रिय और उपेक्ष्य ही नहीं, अन्य भी अनेक प्रकार की बनती रहती है। अलग-अलग प्रतियोगी होंगे तो जीवसृष्टि बदलती है, परन्तु योषित् (स्त्री) स्वरूप से एक ही है। परमेश्वर की सृष्टि एक जैसी होती है। उसके अन्दर जो अलग-अलग प्रकार की बुद्धि है यह हरेक जीव अपनी-अपनी बनाता है।।२३।।

जीव-सृष्टि उपपन्न करने के लिए प्रश्नोत्तर व्यक्त करते हैं–

ननु ज्ञानानि भिद्यन्तामाकारस्तु न भिद्यते।
योषिद्वपुष्यतिशयो न दृष्टो जीवनिर्मितः।।२४।।

प्रश्न होता है कि पत्नी-पुत्रवधू आदि ज्ञान भले ही विभिन्न हैं, स्त्री के आकार में तो कोई अन्तर आता नहीं! जीव द्वारा रचित कोई विशेषता स्त्री-शरीर में नहीं देखी जाती है।

प्रश्न का भाव है कि जैसे स्त्री-नामक द्रव्यात्मक रचना ईश्वर की है वैसे जीव ने उत्पन्न क्या किया? रिश्ते या प्रियता आदि केवल ज्ञान, अनुभूतियाँ, भावनाएँ अर्थात् द्रष्टा की मनोवृत्तियाँ ही हैं अतः जीवों ने अपने मनों की विभिन्न वृत्तियाँ बनायीं–यहाँ तक समझ आता है लेकिन

भार्या, स्नुषा आदि कोई चीज़ तो जीव ने बनायी ऐसा नहीं लगता। जीव ने स्त्री के शरीर में कुछ और बनाया तो नहीं कि ननद या देवरानी नामक विशेषता उत्पन्न हो गई हो! कोई परिवर्तन बाहर स्त्री-शरीर में आये तभी 'उसको बनाया' कह सकते हैं। जीव ने तो केवल जाना इसलिए जीव ने सृष्टि की यह कैसे? अपने मन में सोचता रहता है, और कोई सृष्टि करता नहीं है; ईश्वर-सृष्टि के बारे में अनेक प्रकार से ज्ञान करता अर्थात् जानता है, उत्पन्न कुछ नहीं करता, यह प्रश्न है।।२४।।

उक्त शंका का समाधान करते हैं–

मैवं मांसमयी योषित् काचिदन्या मनोमयी।
मांसमय्या अभेदेऽपि भिद्यते हि मनोमयी।।२५।।

जीव कुछ उत्पन्न नहीं करता–ऐसा नहीं है। मांसात्मक स्त्री कोई और है जबकि मनोविकाररूप जीवोत्पादित भार्यादि अलग हैं। मांसरूप स्त्री अभिन्न रहने पर भी मनोजनित भार्यादि परस्पर विभिन्न ही हैं।

जीव ने कुछ नहीं बनाया हो, ऐसा नहीं है। मांस की बनी हुई स्त्री कुछ और है तथा मनोमयी स्त्री कुछ और ही है। 'काचिदन्या' पद दोनों तरफ लग जायेगा। मांस की बनी हुई औरत अलग है, मनोमयी अलग है। मांसमयी स्त्री तो एक जैसी है, उसमें कोई भेद नहीं है, लेकिन मनोमयी भार्या आदि में भेद है। मन के द्वारा जो भार्यादि बनी हैं वे अलग-अलग हैं। सामान्यतः नियम है कि ज्ञेय में भेद हो तभी ज्ञानों में अंतर आयेगा। सर्वथा वही, वैसा ही ज्ञेय हो तो चाहे जब चाहे जितनी बार देखे, ज्ञान एकरूप ही होगा। ज्ञान में अंतर आने से ही ज्ञेय में भेद स्वीकारते हैं। कच्चे आम की सुगंध अलग है, वैसा आम रखकर रोज़ सूँघते हैं, जब सुगंध में अंतर मिलता है तब 'आम पक गया' यों आम में भी अन्तर समझा जाता है। इसी तर्क से, क्योंकि भार्या, स्नुषा आदि ज्ञानों में भेद है इसलिए मानना उचित है कि इनके ज्ञेयों में भी अंतर है। वह अंतर ही जीव द्वारा सृष्ट है, यह भाव है।।२५।।

जीवसृष्टि उपपन्न करने के लिए और विचार प्रवृत्त करते हैं–

भ्रान्ति-स्वप्न-मनोराज्य-स्मृतिष्वस्तु मनोमयम्।
जाग्रन्मानेन मेयस्य न मनोमयतेति चेत्।।२६।।

भ्रम, सपना, मनोराज्य, स्मरण आदि में मनोविकाररूप विषय भले ही हों, जाग्रत् मे जब प्रमाण से विषय किया जा रहा है तब उस प्रमेय का कोई मनोमय रूप भी है–ऐसा न स्वीकारें तो क्या विरोध है?

काँच का टुकड़ा हीरे की तरह लगे तो मान लेंगे कि वह हीरा मन से बना। भ्रम स्थल के अन्दर तो ठीक है कि जिस हीरे को देखा वह हीरा है नहीं, काँच है। अथवा रात को तुमने स्वप्न देखा कि तुम हरद्वार के ब्रह्मकुण्ड में गोता लगा रहे हो। जो ब्रह्मकुण्ड तुमने देखा, वह तुम्हारे

मन की ही सृष्टि है। स्वप्न में जो देखा वह जीव की सृष्टि है, यह भी मान लेंगे। इसी प्रकार जब मनोराज्य बनाते हो तब भी ऐसा ही होता है।

हमारे यहाँ सोमशर्मा की कथा! आती है जो भीख मांगकर गुजारा करता था। एक दिन उसे भीख ज़्यादा मिल गई। उसमें से कुछ सत्तू खा-पीकर उसका पेट भर गया। बाकी सत्तू बच गया तो उसने एक पोटली में बाँध कर टाँग दिया और वहीं किसी के बरामदे में लेट गया, पड़े-पड़े सोचने लगा कि 'आज खूब सत्तू मिल गया। वह एक-दो आने में बिक जायेगा तो दो आने का चना खरीद लूँगा। कल उसे बेचूँगा तो दो आने के तीन आने मिल जायेंगे। फिर तीन आने का चना खरीदूँगा तो पाँच आने मिल जायेंगे।' इस प्रकार सोचते-सोचते उसने सोचा कि 'धीरे-धीरे मैं इतना धनी हो जाऊँगा कि एक ठेला लगा लूँगा। जब रोज़ी में बहुत पैसे हो जायेंगे तो एक दुकान ले लूँगा, दुकानदार बन जाऊँगा। तब कोई अपनी लड़की मुझसे ब्याह देगा तो ब्याह कर लूँगा, फिर बच्चे हो जायेंगे। जब मैं दुकान में काम कर रहा होऊँगा और बच्चे आकर हल्ला मचायेंगे, उनसे कहूँगा 'यहाँ से जाओ' तो वे मेरी बात नहीं सुनेंगे। मैं उन्हें एक लात मारूँगा...।' बस इसी विचार में उसकी लात जो ऊपर लगी तो टँगा हुआ सत्तू वहीं पास की नाली में जाकर बिखर गया! वह बुरी तरह से रोने लगा। उसे रोते देखकर दूसरे भिखारियों ने पूछा—'रो क्यों रहा है? आज तो अच्छी तरह से सत्तू खा रखा है।' उसने कहा—'क्या करूँ? बचा हुआ सत्तू नाली में गिर गया!' दूसरे भिखारियों ने कहा—'गिर गया तो गिरने दे। आज खूब पेट भरकर खा ही रखा है। कल और कुछ मिल जायेगा।' उसने कहा—'तुमको लगता है कि सत्तू गिर गया लेकिन मेरी तो बनी हुई दुकान, व्यापार, बाल-बच्चे सब चले गये!'

इसी प्रकार मनुष्य मनोराज्य के अन्दर कल्पना करते-करते कहाँ तक फँस जाता है, कोई ठिकाना नहीं। ऐसे स्थल में मान लेंगे कि जीव के द्वारा रचा गया है। इसी प्रकार स्मृति आती है तो अमरीका गया हुआ पुत्र भी बिलकुल एकदम सामने खड़ा हुआ दीखता है, जबकि मांसमय पुत्र तो उस समय अमरीका में ही है। उस याद आते पुत्र को मनोमय या जीव-सृष्ट मानना संभव है। भ्रम, स्वप्न, मनोराज्य तथा स्मरण में मनोमय या जीवसृष्टि मान लेंगे, लेकिन जाग्रत् अवस्था ही उसे कहते हैं जहाँ आँख, कान, नाक आदि इन्द्रियों के द्वारा, प्रमाण के द्वारा, किसी विषय को जानते हैं। इन्द्रियों से अर्थोपलब्धि की दशा को जाग्रत् अवस्था कहते हैं।

प्रायः जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तीन अवस्थायें बताई गई हैं। स्वप्न अर्थात् नींद आ गई लेकिन मन काम कर रहा है। सुषुप्ति वह है जहाँ सोये हैं, मन भी काम नहीं कर रहा है। इसे गहरी नींद कहते हैं। परन्तु महर्षि वसिष्ठ ने विचार करते हुए कहा कि जाग्रत् में भी स्वप्न होता है! जिस समय तुम जगे हुए हो तब भी तुम ऐसी चीज़ों को देखते हो जो आँख आदि से नहीं दीखती। इसी तरह कई बार तुम थके हुए हो तो जगे हुए भी तुम्हें कुछ भान नहीं रहता; थके हुए शरीर के दर्द का भी भान नहीं रहता; उसे जाग्रत्-सुषुप्ति कहते हैं। जिस समय तुम भ्रान्ति, स्मृति और मनोराज्य आदि बना रहे हो उस समय 'जाग्रत्-स्वप्न' अवस्था में हो, शुद्ध जाग्रत् अवस्था में हो ही नहीं। लोक में भी जब कोई आदमी ऐसी बात कहता है जिसका इस जीवन

से कोई संबंध नहीं लगता तब कहते हैं 'स्वप्न छोड़ो, दुनिया की बात करो, तुम्हारी कल्पना से कुछ नहीं हो जायेगा।'

अधिकतर लोग कल्पना की शक्ति को नहीं समझते। पाकिस्तान बना था तो फ्रन्टियर से एक आदमी दिल्ली आया, उसके घर के सारे लोग मारे गये थे। बिलकुल निढाल पड़ा रहता था, थोड़े दिन तो कुछ नहीं करने से चला, आखिर कब तक ऐसे रहता! कुछ दिनों बाद एक आर्किटेक्ट के पास गया और उससे कहने लगा 'इतने कमरों के घर का ठीक-ठीक नक्शा बना दो।' नक्शा बना दिया तो वह उसे पैसे देकर नक्शा ले आया। उसके सब साथी कहने लगे 'तुम्हारा दिमाग़ खराब हो गया है! अपने पास खाने तक को तो कुछ है नहीं और नक्शे में रुपया बर्बाद कर दिया।' उसने उन्हें समझाया 'ऐसी बात नहीं है कि मैंने पैसा बर्बाद किया वरन् यह ऐसी कल्पना संजोयी है जो मुझे सहारा देगी कि मुझे ऐसा मकान बनाना है।' कुछ लक्ष्य सामने होगा तब उसके लिए कार्य करोगे। उस नक्शे को देख-देखकर ही उसे उत्साह आता रहा और सचमुच काम करके उसने इतना पैसा कमा लिया कि मकान बना लिया, घर भी बस गया! वह हमेशा कहा करता था 'केवल यही मेरा एकमात्र आधार था।' मनुष्य जो कल्पना करता है उसके अनुसार काम करेगा। विशेष करके जब किसी महत् कार्य को करने जाते हो तब तुम्हारे उद्देश्य के अनुसार तो लगता है कि यह कभी पूरा हो ही नहीं सकता लेकिन यदि धैर्यपूर्वक लगातार सोत्साह सचेष्ट रहना है तो 'होगा ही' ऐसी कल्पना आवश्यक है।

मोटी बात ले लो : यदि आज कोई कहे कि 'भारत में संस्कृत भाषा सामान्य हो जायेगी' तो सुनने वाले सब कहेंगे कि 'इसका दिमाग़ खराब हो गया है। हिन्दी तो सर्वत्र सामान्य हो नहीं पा रही है और यह संस्कृत भाषा के सामान्य होने की बात कर रहा है!' परन्तु जिसके सामने यह आदर्श होगा वह उस कार्य में लग जायेगा। उसको अपने जीवन में सफलता मिले या न मिले, परन्तु उस कार्य को पूरा करने में वह अपने जीवन को होम देगा। ऐसे कई होमनेवाले मिल जायेंगे और एक दिन देखोगे कि वह भाषा सामान्य हो भी जायेगी। यह केवल कल्पना नहीं है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हम इज़रायल में देखते हैं। दो हज़ार साल में हिब्रू भाषा कहीं नहीं बोली जाती थी, केवल यहूदी मन्दिरों आदि में पाठ के काम आती थी। जीवन में कोई उसका प्रयोग नहीं करता था। जितनी भयंकर स्थितियों से यहूदी लोग निकले, आज हमारी परिस्थिति तो उतनी भीषण हुई भी नहीं है। उनका कोई देश नहीं रह गया था। सारे विश्व में फैल गये थे। जहाँ जो काम मिले उसे करने को तैयार और एकमात्र धन को ही सबसे ज़्यादा महत्त्व का समझते थे। दुनिया-भर में ये लोग बदनाम थे कि बड़े लोभी होते हैं, दूसरे को लूटने वाले होते हैं। परन्तु विज्ञान के क्षेत्र में, आर्थिक आदि क्षेत्रों में वे आगे थे, जिस देश में रहते थे उसी के लिए काम करते थे। योरोप में लाखों यहूदियों को जला दिया गया। नतीजा हुआ कि आज इज़रायल देश बन गया। वहाँ हिब्रू भाषा आ गई। विज्ञान में सारी प्रगति उनकी उसी भाषा में उपलब्ध है। जब सारे देशों से उस पुनर्गठित देश में आये तब उन्हें एक ही भाषा चाहिए थी और वह हिब्रू ही हो सकती थी। वह उनकी धर्म-भाषा थी। इज़रायल तो छोटा-सा

ही मिला था। बाइबल में जो वर्णन आया है कि ईश्वर ने यह देश हिब्रू वालों के लिए बनाया, उससे भी ज़्यादा भाग इन लोगों ने जीत लिया। यदि इज़रायल में हिब्रू भाषा आ सकती है तो हमारे देश में संस्कृत भाषा नहीं आ सकती, यह हो नहीं सकता। कल्पना में कितनी शक्ति होती है यह बात एक व्यक्ति और एक समाज में देखने को मिल जाती है।

जीवसृष्टि की इस महिमा से अनभिज्ञ ही यह प्रश्न उठा रहा है कि मनोमय भ्रमादि-स्थलों के लिए कार्यकारी भले ही हो, जाग्रत् में इसे व्यावहारिक उपयोग का कैसे समझें?।।२६।।

उक्त प्रश्न का उत्तर पूर्वाचार्यों के निर्णय के अनुसार देते हैं—

बाढं माने तु मेयेन योगात् स्याद् विषयाकृतिः।
भाष्यवार्तिककाराभ्यामयमर्थ उदीरितः।।२७।।

(प्रमा स्थल में बाहरी विषय भी होता है) यह बात ठीक है लेकिन प्रमेय से संबंध के कारण मन भी विषय के आकार वाला बनता है। यह तथ्य भाष्यकार एवं वार्तिककार ने उजागर किया है।

प्रमा में प्रतीत होती विषय की आकृति क्या चीज़ है—यह समझने की बात है। रंग क्या चीज़ है? सब लोगों को लगता है कि यह जो सामने दीख रहा वह हरा या पीला रंग है। परन्तु किसी वैज्ञानिक से पूछो कि यह पीला रंग क्या है? वह कहेगा कि चीज़ पीली नहीं होती! उस पर जो (सूर्य की) किरणें पड़ती हैं, उनके बाकी सब रंगों को जो पी जाती है, पीले रंग को नहीं पीती, वह पीली दीखती है। इस तर्क से जो चीज़ काली *होती* है वह सफेद दीखती है, जो सफेद *होती* है वह काली दीखती है! वैज्ञानिक कहेगा कि चीज़ का जो रंग दीखता है वह चीज़ में होता नहीं है। फिर भी पीली दीखती चीज़ का व्यवहार पीले रूप में ही सर्वत्र होता है। जैसे यह बात वैज्ञानिक दृष्टि से है, वैसे ही वेदांत कहता है कि प्रमाण के द्वारा प्रमेय का सम्बन्ध होने पर जो विषय की आकृति बनती है, जब तक प्रमाण के साथ प्रमेय का सम्बन्ध नहीं होता तब तक *वह* विषयाकृति नहीं है। ऐसे समझ लो : इस कमरे में रोशनी के लिए लाल लट्टू लगा हो तो तुम्हें यहाँ चीज़ों का रंग कुछ अलग लगेगा, ललाई वाला दीखेगा। यदि बैंगनी रंग का लट्टू लगा हो तो उसी जैसी चीज़ें दीखेंगी। सफेद रंग के सूर्य के प्रकाश में दीखने वाली चीज़ के रंग को ही हम सच्चा मानेंगे—यह केवल व्यवहार सिद्ध करने वाली व्यवस्था है। प्रत्येक चीज़ का रंग उसके ऊपर पड़ने वाले प्रकाश के अनुसार प्रतीत होता है।

ठीक इसी प्रकार, हमारे मन की वृत्ति जब जाकर पदार्थ पर पड़ेगी, तब उस वृत्ति के आकारानुरूप हमें पदार्थ की प्रमा होगी। पदार्थ नहीं है—यह हम नहीं कह रहे हैं, लेकिन वह पदार्थ कैसा है, विषयाकृति कैसी है—यह जैसा वृत्ति का आकार है, उस पर निर्भर करेगा। विषय एक जैसा रहेगा, परन्तु वह वृत्तियों के, मनोमयता के, जीवसृष्टि के भेद से अनुकूल या प्रतिकूल *बन* जायेगा। किस के द्वारा बन जायेगा? तुम्हारे मन की वृत्ति के द्वारा ही बनेगा। इसलिए मनोमय को केवल कल्पनामात्र नहीं कह सकते। प्रमाण के साथ प्रमेय का सम्बन्ध होने पर मन

विषयाकार बनता है। जैसे रोशनी पड़ा हुआ रंग ही दीखता है, वैसे अंतःकरण जो आकार लेता है वही विषय का आकार दीखता है। मन के आकार लिए बिना, विषय क्या है—इसका कुछ पता नहीं चल सकता। यह सिद्धांत कपोलकल्पित नहीं है क्योंकि भगवान् भाष्यकार ने उपदेशसाहस्री में और सुरेश्वराचार्यों ने वार्तिक में इस अर्थ को स्पष्ट करके बताया है।।२७।।

प्रमाण की प्रवृत्ति जब मेय के प्रति होती है तब प्रमाण के अन्दर विषय की आकृति तो मेय से सम्बन्ध होने के बाद बनती है। वस्तु बाहर है लेकिन वह विषय तब बनेगी जब प्रमाण के साथ उसका सम्बन्ध हो। इसलिए, विषयाकृति बनने के लिए जरूरी है कि मन की वृत्ति बने। ईश्वर-सृष्टि वस्तु की तो है, परन्तु विषय की आकृति की सृष्टि ईश्वरकृत नहीं वरन् जीवकृत है। यह बात भाष्यकार ने भी कही है। उपदेशसाहस्री (१४.३) से आचार्य शंकर का प्रमाण देते हैं—

मूषासिक्तं यथा ताम्रं तन्निभं जायते तथा।
रूपादीन् व्याप्नुवच्चित्तं तन्निभं दृश्यते ध्रुवम्।।२८।।

साँचे में ढाला ताम्बा जैसे साँचे जैसा हो जाता है वैसे रूप आदि को व्याप्त करता चित्त अवश्य ही रूपादि की तरह उपलब्ध होता है।

मूर्ति बनानी हो तो लकड़ी का साँचा बना देते हैं। साँचे में जो शक्ल बना दी, उसी में पिघला तांबा डाला। वह तांबा उसमें रहकर ठण्डा हो जाता है तब वह उसी आकार का हो जाता है जिस आकार का साँचा है। साँचे में पिघला तांबा डालने से तांबा साँचे के आकार वाला हो जाता है, उसी प्रकार कोई वस्तु—रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श—सामने है, उस पर तुम्हारा मन या चित्त जाकर, जिस शक्ल का वह पदार्थ है उसी शक्ल का बन जाता है अर्थात् वैसा ही बन जाता है। हमें जो प्रतीति होती है कि विषय दीखा, वास्तव में वह विषयका आकार लिया मन ही दीखता है। मन ने जो आकार ग्रहण किया उससे अतिरिक्त विषय क्या-कैसा—यह जानने का कोई उपाय जीव के पास नहीं है।।२८।।

तांबा पिघलने-जमने वाली वस्तु है परन्तु चित्त ऐसी कोई गर्मी से पिघलने वाली चीज़ नहीं है, वह विषय के आकार का कैसे हो जायेगा? इसका समाधान तो यह है कि दृष्टांत इतने ही अंश में है कि जैसे साँचा और मूर्ति विभिन्न वैसे साँचा-स्थानीय ईश्वर-सृष्टि और मूर्तिस्थानीय जीवसृष्टि भी विभिन्न हैं; मूर्तिकार भले ही साँचे को प्रधानता दे, अन्य लोगों के लिए मूर्ति ही उपलब्ध है, ऐसे ही हमारा व्यवहार जीवसृष्टि-प्रधान है, भले ही ईश्वरसृष्टि पर निर्भर है। किंतु स्पष्ट करने के लिए आचार्य (उप.सा.१४.४) स्वयं दूसरा दृष्टांत ले लेते हैं जहाँ पिघलने की जरूरत नहीं होती है—

व्यंजको वा यथाऽऽलोको व्यंग्यस्याकारतामियात्।
सर्वार्थव्यंजकत्वाद्धीरर्थाकारा प्रदृश्यते।।२९।।

अथवा जैसे (रूप को) व्यक्त करने वाला प्रकाश व्यंग्य के आकार का हो जाता है वैसे सब अर्थों को व्यक्त करने वाली होने से बुद्धि अर्थों के आकार की दीखती है।

प्रकाश सामने पड़ी हुई चीज़ को प्रकट कर देता है। कमरे में घड़ा रखा है लेकिन उस पर रोशनी न पड़े तो वह व्यक्त नहीं होता, नहीं दीखता है। टॉर्च से उस पर रोशनी डाल देते हो तो वह घड़ा व्यक्त हो जाता है, दीख जाता है। प्रकाश घड़े को विना बदले हुए, जैसा घड़ा है वैसा व्यक्त कर देता है। वैसे ही चेतनरूप प्रकाश से युक्त हुआ मन विषय पर पड़ता है तो विषय व्यक्त हो जाता है। जैसे प्रकाश व्यक्त करने वाला है वैसे ही मन में पड़ा हुआ जो चित् का प्रतिबिम्व है वह भी व्यक्त करने वाला है। प्रकट करने वाला प्रकाश, जिसको प्रकट करता है उसी के आकार का हो जाता है, उसी प्रकार सारे पदार्थों को व्यक्त करने वाली जो बुद्धि या ज्ञान है अर्थात् बुद्धि में पड़ा हुआ जो चैतन्य है, वह सारे पदार्थों के आकार का मिलता है। चेतन के प्रकाश से युक्त मन जिस पदार्थ को प्रकट करता है उस पदार्थ के आकार का हो जाता है। चाहे यह सोचो कि बाहर का पदार्थ साँचा है, उसमें पिघला हुआ चित्त जाता है तो उसी आकार का हो जाता है और चाहे यह सोचो कि व्यक्त करने वाला जो प्रकाश (ज्ञान) है, वह जिस वस्तु पर पड़ता है, उस पदार्थ के आकार के जैसा ज्ञान का आकार हो जाता है--तात्पर्य एक ही है। ये दोनों श्लोक आचार्य शंकर के हैं जिनमें उन्होंने साफ कहा है कि मन जब तक विषय के आकार का नहीं होता तब तक विषय का ज्ञान नहीं होता। अर्थात् ईश्वरसृष्ट वस्तु जीवका 'विषय' नहीं बनती। विषय बनने के लिए मन की वृत्ति तदाकार होनी चाहिए। अतः इसे मानस सृष्टि ही कह रहे हैं। जैसे प्रकाश पड़कर जब उस पदार्थ के आकार का हो जाता है तब चीज़ दीखती है, इसी प्रकार मन उस आकार का हुआ तभी तुम्हें वह चीज़ दीखती है। दोनों दृष्टांतों में बात यही है कि चीज़ों का ज्ञान तभी होता है जब चीज़ों के आकार की तुम्हारी बुद्धि बन जाती है।।२९।।

इसी विषय में भगवान् सुरेश्वराचार्य (बृ.वा.१.२.१०३) के वाक्य का प्रमाण देते हैं--

मातुर्मानाभिनिष्पत्तिर्निष्पन्नं मेयमेति तत्।
मेयाभिसंगतं तच्च मेयाभत्वं प्रपद्यते।।३०।।

प्रमाता से प्रमाण (मनोवृत्ति) की उत्पत्ति होती है। उत्पन्न हुआ प्रमाण प्रमेय से सम्बद्ध होता है एवं सम्बद्ध होकर प्रमेय के समान आकार वाला बन जाता है।

जानने वाला अर्थात् प्रमाता है। प्रमाता या जीव का स्वरूप इस अध्याय के शुरू में बता दिया था--एक अधिष्ठान चैतन्य, उस अधिष्ठान चैतन्य के अन्दर बुद्धि या अंतःकरण और उस अंतःकरण के अन्दर चिदाभास--इन तीनों का संघ जीव या जानने वाला है। अधिष्ठान चैतन्य अर्थात् ब्रह्म है, उस ब्रह्म के अन्दर माया के द्वारा बुद्धि बनी। बुद्धि के अन्दर चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ा। इनका मिलाजुला जो रूप वह प्रमाता है। वह जिस साधन से जानता है उसे प्रमाण कहते हैं। शब्द को जानने के लिए मन कान के साथ युक्त होकर प्रमाण-भाव प्राप्त

करता है, आँख के साथ युक्त होकर रूप के प्रति प्रमाणभाव प्राप्त करता है। चेतन के प्रतिविम्ब के साथ जो अंतःकरण आँख, कान आदि के साथ मिलकर विषयका अज्ञान मिटाने योग्य व्यापार करता है वह प्रमाण है। आँख के द्वारा अंतःकरण की वृत्ति (बाहर) जाकर रूप के आकार की हो गई, वही रूप में प्रमाण है। ठीक जिस प्रकार से प्रकाश पड़ने पर ही चीज़ व्यक्त होती है उसी प्रकार से अंतःकरण की वृत्ति के पड़ने पर ही चीज़ प्रतीत होती है या व्यक्त होती है। इसलिए साभास अंतःकरण की जो वृत्ति है वही प्रमाण है। प्रमाता के प्रमाण की अभिनिष्पत्ति अर्थात् वृत्ति का उत्पन्न होना। वह अभिनिष्पत्ति हो कर वही 'मेयम् एति' मेय अर्थात् घट आदि को प्राप्त करती है। प्रमाता की प्रमाणाकार वृत्ति जब जाकर घट के आकार की हो गई तब घट मेय हो जाता है, उसके पहले घट 'मेय' नहीं है। घट तो है, परन्तु मेय तब होगा जब प्रमाता की प्रमाणवृत्ति उसे विषय करे। जो अंतःकरण की वृत्ति प्रमाण है वह मेय या प्रमेय घट के साथ सम्बद्ध हो या एकाकार होकर घट के जैसी बनती है तभी वह प्रमेय कहलाता है। इस तरह भाष्यकार एवं वार्तिककार दोनों आचार्यों के अनुसार जीवसृष्टि का उपपादन हो जाता है।।३०।।

हमको घड़ा कैसे दीखता है—यह स्पष्ट होना ज़रूरी है। एक बहुत बड़ी समस्या दर्शनों में भी है कि दीवार तो बाहर है और मैं इस शरीर में हूँ। फिर दीवार का और मेरा सम्बन्ध कैसे हो गया कि मुझे वह दीवार दीख गई? इसलिए दीखी कि मन के साथ आँख वहाँ जाती है, मन उस दीवार के आकार का हो जाता है। इसी का नाम 'दीवार का दीख जाना' है। आँख के द्वारा जाकर दीवार के आकार को मन ने ही लिया। दीवार जैसी पहले है वैसी अब भी है, उसमें कोई फ़र्क़ नहीं आया परन्तु दीखेगी तब जब हमारा मन वहाँ जाकर तदाकार बने। इसलिए वहाँ दो चीज़ें हैं—एक दीवार है जो ईश्वरसृष्ट है, ईश्वर के द्वारा बनाई गई है और दूसरी, दीवार के आकार की मन की वृत्ति है जो हमारी सृष्टि, मानसी सृष्टि है। यह निष्कर्ष दिखाते हैं—

सत्येवं विषयौ द्वौ स्तो घटौ मृन्मयधीमयौ।
मृन्मयो मानमेयः स्यात् साक्षिभास्यस्तु धीमयः।।३१।।

यह स्थिति होने से मृन्मय (मिट्टी का) और धीमय (बुद्धि या मन का) यों विषयभूत घड़े दो हैं। मृन्मय घड़ा प्रमाण से प्रमेय होता है जबकि धीमय घड़ा साक्षी से भास्य है।

दो विषय हैं अथवा दो घड़े हैं—एक मृन्मय अर्थात् मिट्टी से बना हुआ और दूसरा मनोमय। मृन्मय का तात्पर्य है कि घड़े में असली चीज़ तो मिट्टी ही है। व्यवहार के लिए नाम-रूप का विभाजन भले ही है परन्तु चीज़ तो मिट्टी ही है। मिट्टी ही घड़े के आकार की दीख रही है। ईश्वरसृष्ट मिट्टी ने माया से जो नाम-रूप ग्रहण किया वह एक घट है। दूसरी मनोमय सृष्टि अर्थात् मन ने जाकर उस आकार को लिया, मृन्मय घट के जैसा हो गया, वह अंतःकरण की घटाकार वृत्तिरूप सृष्टि है। भगवान् भाष्यकार ने जो दृष्टांत दिया था, वह ज़्यादा स्पष्ट है क्योंकि साँचा व ढली मूर्ति दो मिलते हैं। प्रकाश दृष्टांत सूक्ष्म विचार करने से समझ में आता है। लकड़ी के साँचे में कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता, परन्तु पिघला तांबा उसके आकार का हो जाता

है, दो चीज़ें स्पष्ट दीख जाती हैं। तांबे वाली मूर्ति की जगह मनोमयी सृष्टि है और लकड़ी के साँचे की तरह ईश्वरसृष्टि है।

ईश्वर की बनाई हुई सृष्टि के अनुसार मन की सृष्टि होती है। प्रमाता ईश्वरसृष्टि को जानता है। जो मिट्टी का बना हुआ घड़ा है उसको अंतःकरण की वृत्ति आँख से जानती है तब वह जाग्रत् अवस्था कही जाती है। जो मन की वृत्तिरूप घड़ा है वह साक्षिभास्य है अर्थात् साक्षी के द्वारा जाना जाता है। जैसे रंगीन प्रकाश में वस्तु प्रकाश के रंग से रंगी दीखती है वैसे मन की वासनाओं से रंजित ग्रहण जीव को होता है, उससे ईश्वरसृष्ट वस्तु की यथास्थिति में अन्तर नहीं आता जैसे अन्यथा दीखने पर भी वस्तु के रंग में अन्तर नहीं आता। इसलिए जीव को प्रियतादि वाला दीखने पर भी पदार्थ प्रियतादि वाला हो नहीं जाता, चीज़ जैसी है वैसी ही रहती है। यदि मन में, 'गुलाब जामुन मुझे अनुकूल है,' ऐसे संस्कार हैं तो अनुकूलता के आकारवाला अंतःकरण जब गुलाब जामुन पर पड़ता है तब गुलाब जामुन के आकार का तो होगा ही परन्तु साथ में 'अनुकूल' ऐसा रंग चढ़ा गुलाब जामुन होगा, इसलिए तुम्हें लगेगा 'यह *बढ़िया* गुलाब जामुन है।' जिसे डॉक्टर ने कहा है 'तुम्हारी शक्कर बढ़ी हुई है, तुमने कोई मिठाई खाई तो अगले दिन मर जाओगे', उसके अंतःकरण में चढ़ा हुआ है कि गुलाब जामुन जहर है क्योंकि इसके खाने से मर जायेंगे; इसलिए वह देखता है तो उसे भय होता है कि 'कहीं खा लिया तो मेरा क्या होगा!' गुलाब जामुन किसी को बहुत अनुकूल दीख रहा है और दूसरे को वही उसी समय प्रतिकूल लग रहा है। जिसका पेट ठीक हो वह जिस दिन खीर पूड़ी बने, बड़ा प्रसन्न होता है कि 'आज खूब खायेंगे'। जिसका पेट खराब होता है, वह कहता है 'सवेरे शाम दोनों समय पूड़ी क्यों बना दी!' जिसका पेट ठीक है उसको जिसमें अनुकूलता प्रतीत होती है, जो बीमार है उसको उसी में प्रतिकूलता प्रतीत होती है। पूड़ी जैसी है वैसी ही है, अनुकूलता और प्रतिकूलता के रंग के साथ हमारा अंतःकरण उसे प्रकाशित कर रहा है इसलिए वह चीज़ अनुकूल या प्रतिकूल दीख रही है। अनुकूलता-प्रतिकूलता संस्कारों के कारण दीख रही है, साक्षिभास्य है, इसलिए अलग-अलग अंतःकरणों की वृत्तियों के अनुसार अलग-अलग प्रतीत होती है। इस प्रकार प्रमाणगम्य गुलाब-जामुन और अनुकूल व्यंजन—यों भूतमय और धीमय दो विषय स्पष्ट हैं।।३१।।

इन दोनों में से हेय, छोड़ने योग्य कौन-सा है, यह कहते हैं—

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां धीमयो जीवबन्धकृत्।
सत्यस्मिन् सुखदुःखे स्तस्तस्मिन्नसति न द्वयम्।।३२।।

धीमय विषय रहते सुख-दुःख होते हैं, धीमय विषय न हो तो सुख-दुःख दोनों नहीं होते—इस अन्वय-व्यतिरेक से सिद्ध है कि धीमय विषय जीव के लिए बन्धनकारी है।

जिस एक चीज़ के होने पर जो दूसरी चीज़ ज़रूर हो उनमें अन्वय है और जिस चीज़ के न होने पर जो दूसरी चीज़ निश्चित रूपसे न हो उनका व्यतिरेक है। जो अंतःकरण की वृत्ति

वाला विषय है, अंतःकरण के संस्कारों से युक्त प्रकाश से प्रकाशित है वह जीव का बन्धन करता है और जहाँ-जहाँ वह संस्कार वाला विषय नहीं है वहाँ-वहाँ केवल ईश्वरसृष्ट विषय कोई बन्धन पैदा नहीं करता। यह बात अन्वय-व्यतिरेक से दीखती है।

कई साल पहले हम एक मोटर में जा रहे थे। तब भारत में केवल एम्बेसेडर मोटर ही दीखती थी। उस दिन सामने से और गाड़ियों सहित एक कैडिलाक मोटर निकल रही थी। उस एक गाड़ी को देखते ही हमारे साथ बैठे किसी व्यक्ति ने बड़े जोर से कहा—'आह!' हमने सोचा कोई साँप दीख गया होगा! वह हमसे कहने लगा—'आपने देखा कि सामने से एक बढ़िया कैडिलाक गाड़ी निकल गई?' उसको कैडिलॉक के संस्कार थे कि वह कोई बड़ी अच्छी चीज़ होती है तो उसे वह बड़ा मनोरम दृश्य दीख गया, बाकी सब लोगों के वैसे संस्कार न होने से उन्हें कुछ विशिष्ट नहीं लगा। इसलिए चीज़ अपने आपमें सुख-दुःख नहीं देती यह बात अन्वय-व्यतिरेक से पता लगती है।

जो साक्षिभास्य, मन की वृत्तिरूप विषय है वही जीव का बन्धन करता है। जब तक किसी चीज़ की मनोवृत्ति नहीं बनेगी, वह कोई बन्धन नहीं कर सकती। अमरीका पचासों साल से खूब पैसे वाला देश था लेकिन जिन्हें मालूम नहीं था उन्हें इच्छा नहीं होती थी कि वहाँ जाकर पैसा कमायें। जब लोग यहाँ बैठे हुए रेडियो, टेलिविज़न के द्वारा बार-बार अमरीका को सुनने-देखने लगे तब उनकी वृत्ति बनने लगी कि वहाँ जाकर कितना ज़्यादा धन कमाया जा सकता है! यहाँ बैठे-बैठे ही सुन-सुनकर जब पता लगा अर्थात् धीमय अमरीका सामने आया तभी वहाँ जाने की इच्छा हुई। मृन्मय अमरीका तो पहले से ही था परन्तु तब कोई इच्छा नहीं हुई। बहुत से लोग जो वहाँ पहले-पहल गये थे उनके पास टिकट भी नहीं था! पानी के जहाज जाया करते थे। उनमें किसी कोयला झोंकने वाले की ज़रूरत पड़ी तो पाँच-सात कुली उस काम में लगा दिये। वहाँ पहुँचे तो किसी ने कह दिया 'हमें नौकर की ज़रूरत है, इतने रुपये देंगे।' वे काम करते हुए वहीं रह गये। उन लोगों ने वहाँ खेती-बाड़ी शुरू कर दी और उनके पास खूब धन हो गया। वहाँ से यहाँ अपने गाँव आये तो सबको सुनाया कि 'वहाँ बहुत बढ़िया माल मिलता है'। धीरे-धीरे प्रचार बढ़ता गया तो अब पासपोर्ट, वीज़ा लेने के लिए धक्के खाते रहते हैं। यह सब इसलिए हुआ कि उसके बारे में सुना। अमरीका तो तुम्हें दुःख नहीं दे रहा था, जब तुमने अमरीका को जाना तब दुःख हुआ। यह अन्वय-व्यतिरेक से पता लगता है कि जिस-जिस चीज़ को जानते हो वह तुम्हारा बन्धन करती है और जिन चीज़ों को तुम नहीं जानते वे भले ही पड़ी रहें, तुम्हारा बंधन नहीं करती।

जब बुद्धि की वृत्ति वाला पदार्थ है, जाना हुआ पदार्थ है, तब वह सुख-दुःख दे सकेगा। कई बार ऐसा होता है कि सवेरे जब नहाते हैं तो पैर में जलन होती है, तब देखते हैं कि पैर में तो बहुत बड़ा चीरा लगा हुआ है। कहीं घूमने गये थे, पैर में काँटा लग गया था, हमें पता ही नहीं चला। जब तक नहाये नहीं तब तक कुछ पता नहीं था। काँटा लग तो पहले ही चुका था। लेकिन जब पता लगा तभी दुःख शुरू हुआ कि 'कहाँ से लगा, डाक्टर को दिखायें।' डाक्टर

पूछता है कि कहीं कील तो नहीं लग गई थी? क्योंकि तब एन्टिटेटनस का इन्जैक्शन लगाना पड़ेगा! इत्यादि। एक तो पहले ही काँटे से दुःखी थे, फिर एक कील डाक्टर ने और घुसा दी! यह सब दुःख तब शुरू हुआ जब घाव या चीरे का पता लगा। इसलिए जब मन की वृत्ति वाला पदार्थ बनता है तभी सुख-दुःख होता है और जब तक मन की वृत्तिवाला पदार्थ नहीं बना तब तक न उससे सुख है और न दुःख है।।३२।।

ईश्वरसृष्ट वस्तुओं में यों अन्वय-व्यतिरेक से बन्धनकारित्व नहीं मिलता यह बताते हैं—

असत्यपि च बाह्यार्थे स्वप्नादौ बध्यते नरः।
समाधिसुप्तिमूर्च्छासु सत्यप्यस्मिन्न बध्यते।।३३।।

स्वप्नादि में बाहरी पदार्थ न रहते भी मनुष्य बँधता है जबकि समाधि, सुषुप्ति व मूर्छा में बाहरी पदार्थ रहते भी बँधता नहीं।

'स्वप्न आदि' के 'आदि' पद से भ्रम, मनोराज्य आदि सभी स्थल विवक्षित हैं। वहाँ बाह्य विषय कुछ नहीं है। यह तो सभी मानते हैं कि स्वप्न में बाह्य विषय नहीं हैं, एक बेचारे हरिश्चन्द्र को छोड़कर जिसने स्वप्न के दान को सच्चा मान लिया! विश्वामित्र ने आकर सपने की ही घटना का जिक्र किया था। वह कह सकता था कि 'स्वप्न में दिया तो दिया अब क्यां देना!' पर उसने यही सोचा कि 'स्वप्न में ही सही, दिया तो मैंने है, कैसे नट जाऊँ?' केवल उसे छोड़कर और तो कोई नहीं कहेगा कि 'स्वप्न में दस करोड़ रुपये देने को कहा था तो जाग्रत् में दे दूँ'। स्वप्न के अन्दर कोई बाह्य विषय नहीं है, ईश्वरसृष्ट कुछ भी नहीं है। स्वप्न में कोई बाह्य चीज़ न होने पर भी सुख-दुःख होता है। वहाँ भी कभी तो बढ़िया गुलाब जामुन खाने को मिलता है और कभी कहीं भिक्षा लेने जाओ तो डण्डे खाने को मिलते हैं। डण्डे खाने को मिलें तो सवेरे उठकर मन में होता है कि 'आज रात बड़ा दुःख हुआ'। स्वप्न में किस चीज़ से सुख-दुःख हुआ? बाहरी चीज़ तो वहाँ कुछ नहीं है। मन ही गुलाब जामुन के आकार का बना और मन ही डण्डे खाने के आकार का बना। बाह्य विषय कोई न हो तब भी स्वप्न आदि में सुख-दुःख होता है। 'आदि' पद से भ्रमस्थल भी ग्राह्य है। रस्सी में साँप दीखता है जो साँप वहाँ है नहीं। उसे देखकर भय होता है, भागते हो, दुःख होता है। और, यदि उसी रस्सी में मोतियों की माला दीख जाती है तो बड़े खुश हो जाते हो कि 'जाकर उठा लें, हमें मोतियों की माला मिल गई'। वहाँ न मोतियों की माला है और न साँप है, फिर भी सुख-दुःख हो जाता है। साँप हो तभी दुःख हो—ऐसी बात नहीं है। तुमको यदि अपने मन की वृत्ति से सर्प की प्रतीति हो गई तो तुम्हें दुःख होगा। इसी प्रकार का अनुभव कई लोगों को स्मृति में होता है जिसमें सोमशर्मा के पिता की कथा या शेख चिल्ली का किस्सा प्रसिद्ध है। वह जग ही रहा था, कल्पना में सौदेबाजी करके लखपति हो रहा था, बड़ा सुख हो रहा था लेकिन मिला तो उसे एक धेला भी नहीं! इसलिए बिना बाह्य पदार्थ हुए स्वप्न आदि में मनुष्य सुख-दुःख का अनुभव करता है, बँध जाता है।

बाह्य विषय हो, तब भी समाधि, सुषुप्ति, मूर्च्छा में सुख-दुःख का अनुभव नहीं है। समाधि में बैठ जायें तो यदि साँप आकर चारों तरफ से शरीर को लपेट लेते हैं तो भी तुम्हें कोई भय या दुःख नहीं होता। साँप है परन्तु तुम्हें दुःख नहीं दे पाता। इसी प्रकार गहरी नींद में होता है। जब तुम सोने गये थे तो भयंकर गर्मी थी, नींद नहीं आ रही थी। एक हाथ से पंखा झल रहे थे। फिर नींद आ गई और तब बड़ी ठण्डी हवा चली लेकिन उस ठण्डी हवा का मज़ा कुछ नहीं आया। इसलिए यदि चीज़ अर्थात् ठण्डी हवा है परन्तु तुम सुषुप्ति में हो तो तुम्हें उससे कोई सुख होने वाला नहीं है। इसी प्रकार से मूर्च्छा आ जाती है, तो उस समय कुछ पता नहीं लगता, वहाँ चीज़ पड़ी होने पर भी किसी सुख-दुःख का अनुभव नहीं होता, कोई बन्धन का अनुभव नहीं होता।

इस तरह, विषय के होने पर भी सुख-दुःख का अनुभव नहीं है जैसे गहरी निद्रादि में और विषय के न होने पर भी सुख-दुःख स्वप्न में होते हैं, इसलिए सुख-दुःख या बन्धन का कारण तुम्हारी मनोमय सृष्टि है, बाह्य सृष्टि इसका कारण नहीं है।।३३।।

ईश्वरसृष्टि और जीवसृष्टि दोनों में से बन्धन का कारण जीवसृष्टि है क्योंकि बाह्य विषय न होने पर स्वप्न में मनुष्य सुखी-दुःखी होता है और समाधि, सुषुप्ति, मूर्च्छा में बाह्य विषय होने पर भी सुखी-दुःखी नहीं होता। इसी में दृष्टांत देते हैं—

दूरदेशं गते पुत्रे जीवत्येवात्र तत्पिता।
विप्रलम्भकवाक्येन मृतं मत्वा प्ररोदिति।।३४।।

पुत्र कहीं दूर गया हो, वहाँ जीवित ही हो फिर भी किसी ठग के कहने से उसे मरा मानकर उसका पिता अत्यधिक रोता है।

पुत्र कहीं दूर देश में चला गया हो, पुत्र के वहाँ जीते हुए ही यहाँ रहने वाले पिता को किसी झूठे, वंचक या ठगने वाले व्यक्ति ने झूठमूठ दुःखी करने के लिए कह दिया 'तुम्हारा लड़का मर गया, मैं वहीं से आ रहा हूँ'। उस पिता के अंतःकरण में अंतःकरणवृत्तिरूप पुत्र मृत है क्योंकि वह समझता है कि लड़का मर गया। ईश्वरसृष्ट पुत्र तो जी ही रहा है, पिता की मानसिक सृष्टि में ही वह मर गया। इतने से ही वह आदमी बड़े ज़ोर से रोने लगता है—'हाय! मेरा लड़का मर गया'। इस तरह मनोमय प्रपंच बन्धनकारी है, ईश्वरसृष्ट बंधनकारी नहीं यह अनुभव रूढ हो जाता है।।३४।।

ईश्वरसृष्ट में दुःखहेतुता की योग्यता रहते भी मनोमय के बिना दुःखादि नहीं होते यह दिखाते हैं—

मृतेऽपि तस्मिन् वार्तायामश्रुतायां न रोदिति।
अंतः सर्वस्य जीवस्य बन्धकृन्मानसं जगत्।।३५।।

वह पुत्र मर चुका हो फिर भी यह समाचार न सुनने तक पिता रोता नहीं। इससे स्पष्ट है कि मानस जगत् ही सब जीवों को बाँधता है।

दूरदेश गया हुआ लड़का मर भी जाये, लेकिन उसके मरने की खबर अभी पिता को नहीं मिली तो वह नहीं रोता। ईश्वरसृष्टि के अन्दर तो पुत्र मरा हुआ है तब भी दुःख नहीं होता है क्योंकि जो जीव की मानस सृष्टि है, उस में वह अभी ज़िन्दा ही है। यों अन्वय-व्यतिरेक दोनों मिल गये : ईश्वरसृष्ट पदार्थ अर्थात् लड़के के जीवित होने पर भी, झूठी खबर सुनकर कि 'वह मर गया', पिता रोने लगता है। ईश्वर-सृष्टि में पुत्र जीवित होते हुए भी यदि मानस पुत्र मर गया, उसके मरने की वृत्ति बन गई, तो पिता रोता है। और ईश्वरसृष्ट पुत्र मर भी गया लेकिन मानस पुत्र अभी ज़िन्दा है तो वह नहीं रोता है। इस अन्वय-व्यतिरेक से यह पता लगता है कि ईश्वरसृष्टि सुख-दुःख नहीं देती, जीवसृष्टि ही सुख-दुःख देती है। इसलिए 'धीमयो जीवबन्धकृत्' यह पूर्वोक्त बात निश्चित हो जाती है।

कई बार आदमी धोखा खा जाता है। पुराने जमाने में लोग दिशा मैदान के लिए बाहर जाया करते थे। एक आदमी रात में ही एक लोटा पानी भरकर अपने बिछौने के नीचे रख देता था ताकि सवेरे परेशानी न उठानी पड़े। एक सुबह वह उठा, लोटा लिया और दिशा मैदान चला गया। उस समय अँधेरा था ही, भरा लोटा उठाया अतः उसमें देखने का प्रसंग नहीं था। जब आबदस्त लिया तब देखा कि शौच में खून ही खून है! इतना खून देखकर तो उसके हाथ-पैर ठण्डे पड़ गये कि 'न जाने क्या बीमारी हो गई!' अत्यंत दुःखी हुआ। वहाँ से आने में ही बड़ी कमज़ोरी महसूस करने लगा। किसी तरह घर तो पहुँच गया, परन्तु पहुँचते ही बिछौने पर लेट गया। घरवाली ने पूछा—'क्या हो गया, इतने परेशान क्यों हो रहे हो?' उसने कहा—'क्या बताऊँ! आज तो मेरे पेट से बहुत खून निकल गया।' उसने कहा—'अभी वैद्य बुलाते हैं।' इतने में उसकी लड़की कमरे में आयी तो कुछ लेने के लिए उसके बिछौने के नीचे देखने लगी। उसे वहाँ रखा हुआ लोटा नहीं मिला तो पूछा 'मैंने इसके नीचे लोटा रखा था, कहाँ गया?' माँ ने पूछा—'यहाँ क्यों रखा था?' उसने कहा—'रात में लोटे में गेरू घोल कर रखा था।' यह सुनते ही बाप तुरन्त उठ बैठा 'गज़ब हो गया! मैंने तो पानी का लोटा समझा था और लेकर शौच चला गया। अरे! तब तो कोई खून नहीं था।' इस प्रकार बिना ख़ूनी पेचिश हुए ही वह आदमी ठण्डा पड़ गया था।

अन्वय-व्यतिरेक के ढंग से पता लगता है कि सभी जीवों के लिए मानस जगत् ही बन्धन करने वाला है, वही सुख-दुःख देता है।।३५।।

धीमय जगत् अर्थात् मानस सृष्टि ही बन्धनकारी मानें तो बाहरी विषयों को मानना ही व्यर्थ होगा जिससे बौद्धसम्मत विज्ञानवाद तो सिद्ध हो जायेगा, वेदान्तसंमत ईश्वरसृष्टि नहीं। इसलिए शंका-समाधान द्वारा आचार्य समझाते हैं कि विज्ञानवाद से वेदान्त में क्या अन्तर है अर्थात् धीमयसे अन्य ईश्वरसृष्टि क्यों मान्य है—

विज्ञानवादो बाह्यार्थवैयर्थ्यात् स्यादिहेति चेत्।
न, हृद्याकारमाधातुं बाह्यस्यापेक्षितत्वतः।।३६।।

यदि प्रश्न हो कि बाहरी वस्तुएँ व्यर्थ होने से इस बारे में क्या विज्ञानवाद स्वीकार हो गया? तो उत्तर है कि ऐसा नहीं क्योंकि हृदय अर्थात् बुद्धि में आकार के आधान के लिए बाहरी वस्तु की ज़रूरत है।

प्रश्न है कि क्या बाहर की चीज़, जिसे तुम ईश्वरसृष्टि कहना चाहते हो, वह व्यर्थ है, उसकी कोई ज़रूरत नहीं है? सुख-दुःख देने के लिए तो मानस जगत् ही पर्याप्त है, बाह्य चीज़ को मानना ही क्यों जब वह व्यर्थ है? यह शंका नहीं करना कि बाह्य चीज़ को नहीं मानेंगे तो मन के अन्दर संस्कार कैसे बनेगा? क्योंकि पूर्व संस्कार से उत्तर संस्कार यों क्रमशः संस्कार बनते चले जायेंगे। ऐसा विज्ञानवादी बौद्ध मानता है कि कोई बाह्य चीज़ नहीं है, जो कुछ है सो मन में अर्थात् क्षणिक विज्ञान ही है। वह कहता है कि संसार एक सपना है। वही यहाँ वेदान्त शास्त्र में भी स्वीकार हो जायेगा यदि यह मानोगे कि मानस जगत् ही जीवों के लिए बन्धन करने वाला, सुख-दुःख देने वाला है। फिर वेदान्ती और बौद्ध में कोई फ़र्क़ नहीं रह जायेगा।

इसके जवाब में कहते हैं कि दोनों में बड़ा फ़र्क़ है। बौद्ध तो कहता है कि संस्कारों से ही दूसरे संस्कार हो जायेंगे परन्तु वेदान्तियों का कहना यह है कि मन में आकार बनने के लिए बाह्य चीज़ अपेक्षित है। सामने घड़ा है, तब तुम्हारा मन घड़े के आकार का बनता है और जब घड़े के आकार का बनता है तब सुख-दुःख होता है। यदि बाहर घड़ा हो ही नहीं तो तुम्हारा मन किस आधार से वृत्ति बनायेगा? इसलिए, मन या बुद्धि में घट-पट आदि के आकार का आधान करने के लिए बाह्य पदार्थ अपेक्षित है। यह ठीक है कि पुत्र जीवित है, मृत पुत्र का समाचार सुनने से दुःख हो गया क्योंकि मानस पुत्र मर गया परन्तु बाह्य पुत्र है तभी मृत पुत्र का भी आकार मन ने ग्रहण किया। अगर पुत्र हो ही नहीं, कोई निपूता या हीजड़ा हो, उसे कोई कहे 'तुम्हारा बेटा मर गया', तो उसकी मनोवृत्ति बनेगी ही नहीं कि बेटा मर गया! इसलिए मन में आकार लाने के लिए बाह्य चीज़ की अपेक्षा है। बाह्य चीज़ होगी तभी मन उसका आकार बनायेगा। यह बात स्वप्न के लिए भी समझ लेना। स्वप्न में जो चीज़ दीख रही है वह तो नहीं है लेकिन स्वप्न को भी तभी देखोगे जब जाग्रत् में तुमने उन चीज़ों को देखा हुआ है। जिस तरह की चीज़ को कभी देखा ही नहीं है उसका स्वप्न आयेगा कैसे?

इस तरह बौद्ध और वेदान्ती में यह बहुत बड़ा भेद है कि सुख-दुःख का कारण मन तो है, परन्तु मन उस आकार को बनाने के लिए बाहरी किसी चीज़ की अपेक्षा करता है। संस्कार बनने के लिए बाह्य अर्थ की स्वीकृति होने से विज्ञानवाद का वेदान्त में प्रसंग नहीं है। विज्ञानवादी न ईश्वर को मानते हैं और न ईश्वरसृष्टि मानते हैं। हमारा यह कहना है कि बाहर की चीज़ है, उससे संस्कार मन में आया। जब संस्कार मन में आया तभी वह चीज़ तुम्हारे लिए है, जब तक तुम्हारे मन में संस्कार नहीं आया तब तक चीज़ नहीं है, ऐसी बात नहीं। तुम्हारे लिए नहीं, इतनी ही बात है।।३६।।

यद्यपि मानस आकार अनादि परम्परा से भी संभव है अर्थात् जैसे भ्रम भी संस्कार डालता है वैसे यह मान सकते हैं कि सदा से मनोमय ही जगत् रहा है, पहले के प्रपंच-संस्कार ही बाद के मानस प्रपंच का हेतु बनते चले जाते हैं; तथापि बाह्यार्थ स्वीकारना आवश्यक है यह स्पष्ट कर रहे हैं। बाह्यार्थ न मानने वाले विज्ञानवादी का बाह्य व्यवहार संगत नहीं हो पाता जबकि वेदान्ती के अनुसार वह भी संगत है, यह विशेष है। 'नाभाव उपलब्धेः' (ब्र.सू.२.२.५.२८) अधिकरण में इस बारे में विस्तृत चर्चा है। वहाँ आचार्य ने कहा कि खाते हुए तृप्ति अनुभव करते हुए 'न खा रहा हूँ न तृप्ति पा रहा हूँ' बोलने की तरह बाह्यार्थ न स्वीकारने वाले का कथन है। बाह्यार्थ प्रमाणों से उपलब्ध हैं अतः अपलापयोग्य नहीं हैं। यही समझाते हैं—

वैयर्थ्यमस्तु वा बाह्यं न वारयितुमीश्महे।
प्रयोजनमपेक्षन्ते न मानानीति हि स्थितिः।।३७।।

युक्तिमात्र से बाहरी पदार्थों की व्यर्थता भले ही हो, उनका निषेध नहीं कर सकते क्योंकि प्रमाण प्रयोजन पर निर्भर नहीं करते, यह निश्चित बात है।

हम यह नहीं कहते हैं कि बाह्य वस्तु सुख-दुःख देने में व्यर्थ नहीं है, वह चाहे व्यर्थ हो परन्तु सुख-दुःख न देने वाली होने से कोई चीज़ नहीं होती, ऐसी बात नहीं है। चीज़ तो प्रमाणिक होने पर है ही। अनेक साधारण चीज़ें दीखती हैं, सुख या दुःख कुछ नहीं देती, पर होती ही हैं। जो चीज़ सुख-दुःख दे, वही हो—यह जरूरी नहीं है। यह तो ठीक है कि तुम्हारे मन से सम्बद्ध होकर ही चीज़ सुख-दुःख देती है, परन्तु होने के लिए सुख-दुःख देने पर निर्भर नहीं है। ईश्वरसृष्टि का प्रयोजन हो तभी वह सिद्ध होगी, ऐसा नहीं है। यही बात सारे दार्शनिक मानते हैं 'मानाधीना मेयसिद्धिः' प्रमाण के अधीन ही प्रमेय की सिद्धि होती है। प्रयोजन को लेकर किसी चीज़ की *सिद्धि* नहीं होती। केवल एक बौद्ध को छोड़कर किसी ने ऐसा नहीं माना कि कोई चीज़ है इसमें प्रमाण अर्थक्रियाकारिता ही है अर्थात् कोई न कोई प्रयोजन वह चीज़ सिद्ध करे तभी वह चीज़ सच्ची है। हम लोगों का कहना है कि रस्सी है तो उसमें हमने साँप भ्रम से देखा। बौद्ध कहेगा कि क्योंकि तुमने वहाँ साँप देखा और तुम उस साँप से डरकर भागे तो प्रयोजन सम्पन्न हो गया इसलिए वहाँ साँप है! हम लोग कहते हैं कि वह दौड़ावे, चाहे कुछ करे, परन्तु जब हम मशाल जलाकर देखते हैं कि वहाँ रस्सी है तब निश्चय होता है कि वहाँ साँप तीन काल में नहीं है।

इसलिए प्रमाण के अधीन प्रमेय की सिद्धि है, न कि प्रयोजन के अधीन। साँप है या नहीं इसका पता लगाने के लिए यह मत देखो कि उसने कोई प्रयोजन सिद्ध किया या नहीं, अर्थक्रियाकारी है या नहीं, वरन् यह देखो कि रोशनी वहाँ ठीक थी या नहीं, मेरी आँख ठीक है या नहीं अथवा मेरा मन तो अन्यत्र नहीं गया हुआ है इत्यादि। यदि आँख ठीक है, मन से मैं ध्यानपूर्वक देख रहा हूँ, रोशनी पूरी है तो जो चीज़ वहाँ होगी वही दीखेगी। बौद्ध जो कहता है कि जो चीज़ प्रयोजन को सिद्ध करे या अर्थक्रियाकारी हो वह सच्ची होती है, यह समझ लेना

कि सामान्य व्यवहार में अधिकतर हम लोगों की भी यही सोच होती है! पाँच सौ रुपये के नोट को हम पाँच सौ रुपये क्यों मानते हैं? क्योंकि उस नोट से पाँच सौ रुपये का काम चल जाता है। प्रमाण से तो वे पाँच सौ रुपये सिद्ध नहीं हैं, प्रमाण से वह पाँच सौ रुपये का एक पुर्जा है। एक बैंक वाले ने लिख कर दे दिया, इसे लेकर हिन्दुस्तान में हम कहीं चले जाते हैं तो यह पुर्जा चल जाता है। जैसे किसी दुकानदार के पास रेजगी कम होती है तो वह एक पुर्जा लिखकर दे देता है कि चार आने बकाया हैं या उससे रोज का लेना-देना है तो जमाखर्च कर देता है तो फिर हम उस पुर्जे को लेकर शाम को जायें तो वह दे देता है या जमाखर्च है तो अगली बार उतने का सामान दे देता है, वैसे ही रिजर्व बैंक का पुर्जा हिन्दुस्तान में चल जाता है, है वह भी पुर्जा ही। तुम्हारे पास एक तोला सोना है तो तुम वेनेज़ुएला, अफ्रीका, मैक्सिको कहीं भी चले जाओ, जहाँ जाओगे वह एक तोला सोना दोगे तो तुम्हारा काम एक तोले सोने के मूल्य का हो जायेगा। परन्तु वहाँ यहाँ के रिज़र्व बैंक का वह पुर्जा लेकर जाओगे तो एक धेले की चीज़ नहीं मिलेगी। इसलिए व्यवहार सिद्ध हो रहा है इससे चीज़ सच्ची सिद्ध नहीं हो जाती क्योंकि चीज़ सच्ची है या नहीं यह प्रमाण से सिद्ध होगा।।३७।।

योग प्रक्रिया के दृष्टिकोण से शंका उठाते हैं—

बन्धश्चेन्मानसद्वैतं तन्निरोधेन शाम्यति।
अभ्यसेद्योगमेवातो ब्रह्मज्ञानेन किं वद।।३८।।

बंधन यदि मानस ही द्वैत है तो मनोनिरोध से ही समाप्त हो जायेगा अतः योग का ही अभ्यास करना चाहिए, ब्रह्मज्ञान से क्या लाभ—यह बताओ।

बौद्ध की शंका थी कि मानस जगत् ही बन्धन का कारण है तो फिर बाह्य जगत् को क्यों मानना? उसका निराकरण कर दिया कि बाह्य जगत् मन को तदाकार बनाने के लिए अपेक्षित है। बाह्य जगत् मन में आने पर ही सुख-दुःख देगा यह तो ठीक है लेकिन बाह्य जगत् है ज़रूर, तभी मन में आयेगा। बौद्ध को जवाब देने पर योगी कहता है कि यदि मन से होने वाला द्वैत ही बन्धन का कारण है तो ब्रह्मज्ञान का प्रयास व्यर्थ है। मानस-द्वैत में एक तो हम हुए जो मानस जगत् को देखने वाले हैं और एक मानस जगत् हुआ इसलिए उसे द्वैत कह दिया। अगर वही बंधन है तो मन का निरोध कर दो। मन चीज़ों का आकार लेता है तभी बंधन होता है, चीज़ तो बंधन का कारण है नहीं, इसलिए मन का निरोध कर लोगे तो सुख-दुःख का अनुभव नहीं होगा। कपिल और पतञ्जलि यही मानते हैं कि बाह्य जगत् रहता है। बौद्ध तो कहता है कि बाह्य जगत् है ही नहीं, कपिल और पतञ्जलि उनसे दूसरी तरफ चलकर कहते हैं कि बाह्य जगत् है, परन्तु तुम मन से उसकी वृत्ति नहीं बनाओगे तो तुम्हें सुख-दुःख नहीं होंगे। गहरी नींद में सारी चीज़ें तो वैसी की वैसी रहती हैं, केवल तुम बेखबर रहते हो। कमरे की तिजोरी वैसी की वैसी रहती है, चोर आता है तुम सोये पड़े हो, वह तिजोरी को तोड़कर उसमें से माल निकाल कर भाग जाता है। माल वहाँ पड़ा था तभी लेकर भागा, तुम को पता नहीं लगा। जब सवेरे पता

लगता है तब रोते हो। इसी प्रकार अगर तुम मन का निरोध कर लो तो तुम्हें किसी चीज़ का पता नहीं लगे। अतः तुम्हारा दुःख दूर हो जायेगा। इसलिए उनका कहना है कि योगाभ्यास के द्वारा मन को बाह्य विषय के आकार का न बनने दो तो पुरुषार्थ सिद्ध हो जायेगा। बहुत से लोगों को भी ऐसा लगता है 'सब चीज़ों से दूर हो जाओ, तुम्हारी वृत्ति नहीं बनेगी, फिर शांति से रहोगे, काम हो जायेगा'। अर्थात् चित्तवृत्ति का निरोध कर लो, फिर कोई बंधन नहीं रहेगा।

इस तरह सिद्धान्ती ने जो बात सिद्ध की उससे तो यही निष्कर्ष निकला कि मन को विषयों में नहीं ले जाना चाहिए। इसलिए अष्टांग योग का ही अनुष्ठान ठीक है। समाधि में बैठ जाओगे तो फिर यह दुनिया तुम्हें कोई कष्ट नहीं देगी। फिर यह सारा श्रवण, मनन का प्रयत्न करके ब्रह्मज्ञान को प्राप्त करके क्या होगा? इसमें मेहनत भी बहुत है और मानस जगत् रहने पर दुःख होगा ही, इसलिए मन को ही रोक लो, इस ईश्वर-सृष्ट जगत् से अपने सम्बंध को तोड़ दो। मन के द्वारा सम्बंध होता है, तुम उस मन को ही वहाँ से हटा लो। यह योगमार्गी एवं उसी तरह की सोच वालों की शंका है। अगले श्लोक में समाधान देंगे।।३८।।

उक्त शंका के समाधान में कहते हैं कि जितनी देर समाधि में बैठोगे उतनी देर ही सुख-दुःख नहीं होंगे लेकिन संसार तो कहीं जायेगा नहीं अतः समाधि से उठोगे तो फिर यह संसार वैसा का वैसा ही दीखेगा, सुख-दुःख का अनुभव भी वैसे ही होगा जैसे अभी है! इसलिए स्थायी बन्धनिवृत्ति के लिए परमात्मज्ञान आवश्यक है यह समझाते हैं–

तात्कालिकद्वैतशान्तावप्यागामिजनिक्षयः।
ब्रह्मज्ञानं विना न स्यादिति वेदान्तडिंडिमः।।३९।।

(योग से) द्वैत की कुछ समय (समाधिकाल में) के लिए शांति (निवृत्ति) हो जाने पर भी भावी जन्म की निवृत्ति ब्रह्मज्ञान के बिना नहीं होती यह उपनिषदों की घोषणा है।

तत्काल अर्थात् समाधि के काल में अकेले तुम ही रह जाओगे तो द्वैत की शांति हो जायेगी। उस दौरान जो बात तुम कह रहे हो उसको हम नहीं नकारते हैं। जितनी देर समाधि लगाओगे उतनी देर सुख-दुःख नहीं होगा यह तो ठीक है। लेकिन आगे फिर संसार की प्रतीति नहीं होगी, जन्म-मरण का चक्र नहीं चलेगा, यह तो नहीं कह सकते। बहुत से लोग सोचते हैं कि नशा करने से सुख हो गया। बड़ी मुश्किल से पैसा कमाते हैं और जाकर शराब पीते हैं। उनसे पूछो तो कहते हैं कि 'हफ्ते में एक दिन ही पीते हैं, उस दिन बड़ा आनन्द आता है। न पियें तो घर के बच्चे परेशान करते हैं।' उनसे पूछते हैं कि जब नशा उतर जाता है तो क्या फिर बच्चों की समस्या हल मिलती है? कहते हैं–'नहीं, वह समस्या तो वैसी की वैसी बनी रहती है।' उनसे यही कहना उचित है कि अगर तुम वह रुपया बचा लो तो धीरे-धीरे बच्चों की समस्या हल हो जायेगी! तुम जो पैसा नशे में बर्बाद कर रहे हो, उन पैसों को बचाओगे तो बच्चों की आवश्यकता पूरी हो जायेगी। तुम्हारे नशे के कारण ही उनकी आवश्यकता पूरी नहीं हो रही है। जैसे नशा, वैसे ही योगी ने समाधि लगाई। जितनी देर लगाई उतनी देर तो ठीक है, लेकिन उठने पर दुनिया वैसी की वैसी है।

पुराणों में सौभरि महर्षि की कथा आती है। उन्होंने साठ हज़ार साल की समाधि लगाई। जहाँ समाधि में बैठे थे उस जगह पर धीरे-धीरे नदी बहने लगी और वे बालू के नीचे दब गये, ऊपर से नदी बह रही थी। एक बार राजा के लोगों ने बालू निकालने की चेष्टा की तो अकस्मात् देखा कि उनके फावड़े में खून लगा है, सब घबरा गये। बालू में सौभरि महर्षि बैठे थे। राजा के लोगों ने बहुत हाथ-पैर जोड़े कि 'हम ने तो सोचा कि यहाँ बालू ही बालू है। ध्यान नहीं रहा, क्षमा कीजिए।' सौभरि को भी बड़ा आश्चर्य हुआ कि 'यह क्या हो गया! मैं तो ध्यान लगाने बैठा था, यहाँ ऊपर से नदी आ गई।' साठ हज़ार सालों में तो बहुत परिवर्तन हो जाता है। वहीं उन्होंने एक मच्छ-मछली को आपस में खेलते देखा। उसको देखकर उनके मन में आया कि 'अरे! हम ब्रह्मचारी थे और समाधि में बैठ गये, शादी-ब्याह तो किया ही नहीं। ये मछलियाँ तो खूब मौज ले रही हैं!' तब सोचा कि शादी करें।

राजा के यहाँ पहुँचे। सारे शरीर में झुर्रियाँ पड़ी हुई थी, रंग काला हो गया था। राजा से कहा—'मैं तुम्हारी एक लड़की से ब्याह करूँगा।' राजा के घर में पचास लड़कियाँ थीं। राजा ने सोचा 'किसी लड़की को कैसे कुएँ में फेंकूँ! ये तपस्वी हैं, ना करूँगा तो शाप देकर नुकसान करेंगे।' इसलिए उसने चतुराई की। सौभरि से कहा 'मेरे महल में पचास लड़कियाँ हैं। उनमें से जो आपको पसंद कर ले, वही मैं आपको दे दूँगा।' सौभरि समझ गये कि मेरे शरीर की स्थिति देखकर राजा ऐसा कह रहा है क्योंकि इस हालत में मुझे कोई भी पसंद नहीं करेगी। तप में बड़ी शक्ति होती है। महल के अन्दर जाते हुए उन्होंने अपने शरीर को सोलह वर्ष का सुन्दर जवान बना लिया! अन्दर जाकर उन्होंने कहा 'राजा ने ऐसा कहा है कि आपमें से जो मुझे पसंद करे उससे मेरा ब्याह कर देगा।' यह सुनकर पचासों लड़कियाँ कहने लगी कि 'मैं आपसे ब्याह करूँगी, मैं करूँगी।' ऋषि ने राजा से कहा—'ये तो पचासों तैयार हैं, इसलिए सबसे मेरी शादी करा दो'। सौभरि का उन सबसे ब्याह हो गया। साठ हज़ार साल की समाधि की तपस्या के बल से उन्होंने सबके लिए अलग-अलग मकान बना दिये, और भी नौकर-चाकर आदि सारी सुविधायें हो गयीं। महर्षि खूब आनन्द से रहने लगे। कुछ साल बीत गये, बच्चे आदि सब हो गये। एक दिन एक रानी के सिर में बहुत दर्द था। उसने कहा कि आज सिर बहुत दूख रहा है। उन्होंने झट अपनी तपस्या के बल से सिर-दर्द ठीक करने के लिए उसके सिर पर हाथ रखा लेकिन कुछ असर नहीं हुआ! महर्षि ने सोच लिया कि 'अब तपोबल का 'बैंक बैलेंस' निल (शून्य) हो गया क्योंकि अब मैं सिर-दर्द ठीक नहीं कर पा रहा हूँ! अब ये सारे मकान खोने पड़ेंगे, कुछ भी नहीं रहेगा।' उन सबसे उन्होंने कहा 'अब तुम सब अपने बाप के घर जाओ।' वापिस तपस्या करने चल दिये क्योंकि तपस्या भी वैसी है जैसे कमाया हुआ धन, कमाते रहो तो बना रहेगा, नहीं तो कुछ नहीं रहेगा।

इसलिए पुराने लोग कहते थे कि कुएँ में पानी आता रहे और निकलता रहे तो कुआँ रहेगा। लेकिन केवल पानी निकलता रहे और आने का स्रोत नहीं हो तो कुआँ सर्वथा सूख जायेगा। ठीक इसी प्रकार धन कमाते रहो तो चलता रहेगा, अन्यथा खर्च करने मात्र से थोड़े दिन में खत्म

हो जायेगा। तपस्वी जब किसी से कोई चीज़ लेता है तो तुरन्त अपनी तपस्या को खर्च करता है क्योंकि किसी की चीज़ लोगे तो अपनी शक्ति क्षय करोगे। उतनी ही तपस्या ज़्यादा करो तब तो ठीक है, अन्यथा तपोबल शून्य हो जायेगा। सौभरि तो पिछले तपोबल से केवल भोग ही करते रहे थे इसलिए समझ गये कि अब सारा माल खत्म हो गया, इसलिए वापिस तपस्या के लिए चल दिये। साठ हज़ार साल तक समाधि लगाकर भी आगामी जन्म-मरण का चक्र नहीं मिटता, आगे तो फिर आयेगा ही।

आगामी जन्म का क्षय परमात्मा का साक्षात्कार करके ही होगा। यह बात उपनिषदों के अन्दर डोंडी पीट-पीट कर कही है अर्थात् बार-बार कही है। 'ज्ञात्वा देवं सर्वपाशैः मुच्यते' (श्वे. १.८) उस परमात्मदेव का साक्षात्कार करके ही पाशों की निवृत्ति होती है। 'यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः। तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति।।' (श्वे.६.२०) जब चमड़े की तरह तुम आकाश को लपेट सकोगे (आकाश को तो लपेट नहीं सकते अर्थात् असम्भव कार्य है), तब ही परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार किये बिना, विज्ञान किये बिना, दुःख का अंत होगा। इस प्रकार श्रुति ने दोनों तरह से कहा है—ब्रह्मज्ञान से बंधन नष्ट हो जाता है और ब्रह्मज्ञान के बिना नहीं नष्ट होता। रोज़ पुरुष-सूक्त सुनाते हैं 'तमेव विदित्वा अति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।' एक ही पंक्ति में अन्वय-व्यतिरेक दोनों कह दिये। सर्वोपाधिनिर्मुक्त सच्चिदानन्दरूप उस परमात्म-तत्त्व का साक्षात्कार करके अथवा वेदन करके मृत्यु के परे चला जाता है—यह अन्वयमुख से कहा। आगे निषेधमुख से कह दिया कि इस जन्म-मरण के बंधन को काटने वाला कोई दूसरा रास्ता नहीं है। सिवाय परमात्म-ज्ञान के और कोई उपाय ऐसा नहीं है जिससे तुम्हारे जन्म-मरण का प्रवाह खत्म हो। योगाभ्यास से जब तक समाधि लगाओगे तब तक तुम्हें सुख-दुःख नहीं होगा यह तो ठीक, है लेकिन अंत में समाधि से उठना ही पड़ेगा।।३९।।

अद्वैतबोध के लिये द्वैत की अनुपलब्धि की अनिवार्यता भी नहीं, यह स्पष्ट करते हैं—

अनिवृत्तेऽपीशसृष्टे द्वैते तस्य मृषात्मताम्।
बुद्ध्वा ब्रह्माद्वयं बोद्धुं शक्यं वस्त्वैक्यवादिनः।।४०।।

ईश्वरोत्पादित द्वैत निवृत्त हुए बिना भी वह मिथ्या है—ऐसा जानकर अद्वय ब्रह्म समझा जा सकता है। यह तत्त्व की अद्वयता स्वीकारने वाले के मत में विशेष है।

श्रुति कहती है कि आत्मा से दूसरा कुछ नहीं है। जब तक यह सारा संसार मौजूद है तब तक अद्वैत ब्रह्म की प्राप्ति होगी कैसे? कुछ लोगों का इसीलिये कहना है कि समाधि का अभ्यास करोगे तभी ब्रह्मज्ञान हो सकता है। इस पर आचार्य कहते हैं कि मानस सृष्टि को हटाना ज़रूरी है, जो हमारे मन की द्वैत सृष्टि है उसे तो हटाना ज़रूरी है क्योंकि उसके हटाये बिना अद्वय ब्रह्म समझ में आता नहीं। इसलिये उपनिषद् ने (कठ.१.२.२४) स्पष्ट कह दिया है 'नाशांतमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्' जिसने अपने मन को शांत नहीं कर लिया अर्थात् जिसका मन काम-क्रोध से रहित नहीं हो गया है वह चाहे जितना प्रज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करे, होता

नहीं है। तात्पर्य है कि मानस सृष्टि को हटाना ज़रूरी है। जिसने अपने सारे दुश्चरित्र छोड़ नहीं दिये हैं और जिसका मन काम-क्रोध-लोभ से रहित नहीं हो गया है वह इस प्रज्ञा को प्राप्त नहीं कर सकता। शब्द का अर्थ तो समझ आ जायेगा कि किताब में यह लिखा है, लेकिन वह लिखी हुई बात अनुभव में नहीं आ पायेगी। रसगुल्ले के बारे में तुम चाहे जितना पढ़ लो, लेकिन रसगुल्ले का जो विशेष स्वाद है उसका पता रसगुल्ला खाये बिना नहीं लग सकता। इसलिये आचार्य शंकर कहते हैं कि शहद भी मीठा होता है, दूध भी मीठा होता है, अंगूर भी मीठा होता है, चीनी भी मीठी होती है। ये सब मीठे हैं, परन्तु ये सचमुच में *कैसे* मीठे हैं, इसे शब्द से नहीं कहा जा सकता। रसगुल्ले मीठे हैं इतना तो पता लगेगा लेकिन कैसे मीठे हैं, उसका विशेष स्वाद बिना खाये पता नहीं लगेगा। ठीक इसी प्रकार उपनिषदों को, वेदादि को पढ़ने से 'परमात्मा सच्चिदानन्दरूप है' यह तो पता लग जायेगा परन्तु 'सत् चित् आनन्द' इन शब्दों को हमने किसी न किसी नाम-रूप के साथ ग्रहण किया है, इसलिये ऐसा लगेगा कि ब्रह्म है, ऐसा लगेगा कि ब्रह्म जानने वाला है, ऐसा लगेगा कि ब्रह्म मौज में रहता है। परन्तु बिना किसी नाम-रूप के सच्चिदानन्द कैसा है—यह समझ में नहीं आ सकता। वह अद्भुत आनन्द है, जब प्राप्त करो, अनुभव करो तभी वह कैसा है, यह ज्ञान होता है।

इसलिये जीवसृष्टिरूप धीमय द्वैत तो हटाना आवश्यक लेकिन ईश्वर की सृष्टि बनी रहे उससे कोई रुकावट नहीं आती। हमारा मानस जगत् शांत हो जाये तो बाह्य सृष्टि बनी रहे, द्वैत दीखता रहे इससे हानि नहीं। तब अद्वैत कैसे मन में आयेगा? यह पता लग जाने पर कि यह सब ईश्वर-सृष्टि मिथ्या है, द्वैत इस रूप में रहेगा कि मिथ्या है। झूठी चीज़ सच्ची चीज़ में दोपना नहीं लाती। दो सच्ची चीजों में तो दोपना आ जायेगा, दो झूठी चीज़ों में भी दोपना आ जायेगा। चौथी, पाँचवी कक्षा में ही पढ़ा देते हैं कि रुपये, आने, पाई को जोड़ना हो तो रुपये के साथ आने को मत जोड़ना। आनों को अलग जोड़ना, पैसों को रुपयों से अलग जोड़ना। पाँच रुपये और तीन पैसे मिलकर न आठ रुपये होंगे, न आठ पैसे होंगे। रुपये रुपयों से मिलेंगे, पैसे पैसों से ही मिलेंगे। द्वैत हमेशा समानधर्मा चीज़ों में होता है। ब्रह्म कभी नहीं बदलने वाला सत् है और जिस सत् को हम अभी जानते हैं वह बदलने वाला सत् है। 'घड़ा है' का मतलब यह है कि बनने के पहले घड़ा नहीं था, टूटने के बाद नहीं रहेगा, ऐसा घड़ा है। और जब कहते हैं कि ब्रह्म सत् है तो न कभी ऐसा था कि ब्रह्म नहीं था, न कभी ऐसा है कि ब्रह्म नहीं है और न आगे कभी ऐसा होगा कि ब्रह्म नहीं है। इसी प्रकार चित् आनन्द शब्दों में समझ लेना। इसलिये जिस सच्चिदानन्द को हम जानते हैं वह तो मिथ्या है। जब उसके मिथ्यात्व को जान लेते हैं तब उस ब्रह्म में द्वैत नहीं आता। अभी तो द्वैत इसलिये समझते हैं कि इन लौकिक सच्चिदानंद को भी हम ब्रह्म के समान ही समझते हैं कि जैसे ये हैं वैसे ब्रह्म। जब दोनों के 'है' के भेद का पता लगता है तब समझ में आता है कि दोनों एक-से नहीं हो सकते। परमेश्वर की सृष्टि मिथ्या है, माया से उन्होंने बनाई है। जब हम जान लेते हैं कि यह मिथ्या है तब ब्रह्म की अद्वितीयता समझ में आ जाती है। वास्तविक चीज़ या पारमार्थिक चीज़ एक ही है, इस बात को समझना है। ऐसा

जानकार दुनिया को ऐसा का ऐसा देखते हुए उसे मिथ्या जानता है। इसलिये इसे हटाने की कोई ज़रूरत नहीं होती। समाधि के अभ्यास से तो केवल तत्काल के लिये शांति मिलेगी, सच्ची और चिर शांति नहीं मिलेगी। जब तुम समझ लेते हो कि यह मिथ्या है, अतः अद्वितीय ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है तब शाश्वत शान्ति उपलब्ध हो जाती है।।४०।।

अद्वयनिष्ठा के लिये ईश्वरसृष्ट द्वैत की निवृत्ति अनावश्यक है। यह पूर्व श्लोक में दिखाकर अब बताते हैं कि वह निरुपयोग भी है क्योंकि उसकी निवृत्ति से ज्ञानदृष्ट्या कोई लाभ नहीं–

प्रलये तन्निवृत्तौ तु गुरुशास्त्राद्यभावतः।
विरोधिद्वैताभावेऽपि न शक्यं बोद्धुमद्वयम्।।४१।।

प्रलयावस्था में द्वैत हटने पर तो अद्वैतज्ञान का विरोधी माना जाता द्वैत रहता नहीं, फिर भी गुरु, शास्त्र आदि ज्ञानसाधनों के न रहने से अद्वय वस्तु समझी नहीं जा पाती।

मन को बन्द कर लेने से मानसी सृष्टि निवृत्त हो जायेगी, परन्तु ईश्वर की सृष्टि निवृत्त नहीं होगी। ईश्वर तो अपनी सृष्टि प्रलय-काल में हमेशा लीन कर देता है। प्रलय-काल में ईश्वर-सृष्टि नहीं है, वहाँ न गुरु है, न शास्त्र है। 'आदि' पद से मनन इत्यादि करने का भी वहाँ मौका नहीं है। वहाँ विरोधी द्वैत नहीं होता, निवृत्त हो चुकता है। लेकिन ईश्वर-सृष्टि न दीखने पर अद्वैत की सिद्धि हो जायेगी, ऐसा नहीं है। वादी यह कहना चाहता है कि द्वैत सामने नहीं है तो अद्वैत समझ आता है, लेकिन द्वैत सामने न होने पर अद्वैत समझ आता नहीं है। प्रलयकाल में द्वैत तो नहीं है, यदि वहाँ अद्वैत की समझ हो गई होती तो पुनः सृष्टि में नहीं आना पड़ता। गुरु, शास्त्र आदि अर्थात् मनन, निदिध्यासन आदि का अभाव होने से अद्वैत की सिद्धि नहीं है। अद्वैत का विरोधी कहलाने वाला द्वैत वहाँ नहीं है फिर भी अद्वय का साक्षात्कार या ज्ञान नहीं हो पाता अर्थात् द्वैत हटने से अद्वैत का ज्ञान नहीं होता है। साधारण आदमी यही समझता है कि बाह्य संसार नहीं दीखेगा तो द्वैत *ख़त्म* हो जायेगा। ख़त्म इसलिये नहीं होगा कि बाह्य संसार कारण में लीन होगा अतः कारण से फिर कार्य उत्पन्न होगा और द्वैत सामने आयेगा तो फिर तुम्हारा अद्वैत गया। अद्वैत का ज्ञान कब होगा? जब गुरु, शास्त्र आदि हों। गुरु व शास्त्र तो ईश्वरसृष्ट पदार्थ हैं, ईश्वर के बनाये हुए हैं। ईश्वर का बनाया हुआ जो संसार है वह केवल तुम्हारे मन के संस्कारों का उद्बोधन करके तुमको बन्धन में रखने के लिये ही नहीं है, बल्कि ठीक प्रकार के संस्कारों से गुरु, शास्त्र की उपलब्धि कराके तुमको मोक्ष देने के लिये है।।४१।।

उक्त विचार का निष्कर्ष कहते हैं–

अबाधकं साधकं च द्वैतमीश्वरनिर्मितम्।
अपनेतुम् अशक्यं चेत्यास्तां तद् द्विष्यते कुतः।।४२।।

ईश्वर-निर्मित द्वैत अद्वैत का बाधक नहीं वरन् अद्वैत का (अद्वैतज्ञान का) साधक (उपकारक) है। किं च ईश्वरसृष्टि हटाना जीव के लिये सम्भव भी नहीं! अतः उसे रहने दिया जाये, उस से द्वेष क्यों!

एक समस्या हमेशा लोगों की बनी रहती है, कि परमेश्वर ने यह संसार बनाया ही क्यों? अधिकतर लोग संसार में दुःखी देखे जाते हैं। परमेश्वर ने न यह संसार बनाया होता और न लोग दुःखी होते। विचार करो, दिल्ली के अन्दर एक-दो पीढ़ी पहले लोगों ने बड़े-बड़े आलीशान बगीचों के साथ मकान बनाये और आज उन्हीं के बच्चे उन मकानों को बेचने के चक्कर में हैं और उसके बदले में बड़ा फ्लैट लेकर रहना चाहते हैं क्योंकि, उनका कहना है कि उस मकान की सफेदी कराने में ही पच्चीस हजार रुपये खर्च हो जाते हैं। और इतने बड़े मकान में झाडू कौन दे! हम उनसे कहते हैं कि तुम्हारे बड़े इतना बड़ा मकान बनाने में समर्थ हो सके और तुम लोगों का काम भी बढ़ रहा है, पैसे की कोई कमी नहीं है, फिर भी तुम उस मकान की झाड़ू, पुताई आदि करने की सामर्थ्य वाले क्यों नहीं हो? बड़ों ने तो वह मकान उनके सुख के लिये बनाया था कि पीढ़ी दर पीढ़ी बच्चे सुख से रहेंगे परन्तु उस मकान को ही कमज़ोर लोगों ने अपने दुःख का कारण बना दिया। क्या बड़ों को दोष दिया जाये? लेकिन बच्चे ऐसा ही दोष देते हैं कि इतना बड़ा मकान क्यों बनाया? ठीक इसी प्रकार परमेश्वर ने यह सृष्टि इसलिये बनाई कि हम यहाँ आकर आत्मज्ञान प्राप्त करके इस संसार में निरन्तर आनन्द से रहें। इतनी बढ़िया सृष्टि परमेश्वर ने बनाई कि कल्पना नहीं कर सकते। तुम्हारी बड़ी से बड़ी कोई इण्डस्ट्री नहीं है जिसमें इतनी कम लागत से इतना ज़्यादा मुनाफा हो। आम की केवल एक गुठली बो, थोड़ा-सा खाद-पानी दे दो और पाँच साल में आम का पेड़ तैयार, फिर चालीस साल तक हर साल उसमें से पाँच सौ आम लेते रहो! क्या तुम्हारी ऐसी कोई इण्डस्ट्री है जिसका यह परिणाम हो? फिर भी लोग कहते हैं कि हम दुःखी हैं। परमेश्वर ने तो सृष्टि बहुत सुन्दर बनाई, परन्तु हम लोग इसमें बिना मतलब चीजों में फँसकर, जो आनन्द इस सृष्टि का लेना था, वह नहीं ले पाते। मनोमयी सृष्टि करते रहते हैं और उससे दुःखी होते रहते हैं। ईश्वर ने हमें वेद दिया, गुरु दिया जिसके द्वारा इस सृष्टि के मूल कारण अविद्या को हटाकर इस सृष्टि में आनन्द ले सकते हैं। दुःख देने वाली हमारी मनोमयी सृष्टि है, ईश्वर की सृष्टि दुःख देने वाली नहीं है। ईश्वर की सृष्टि तुमको आत्मज्ञान में बाधा नहीं देती, उससे तुम्हारे आत्मज्ञान में कोई रुकावट नहीं आती। इसलिये आत्मज्ञान के साधनों में विवेक, वैराग्य, शम, दम, श्रद्धा, मुमुक्षा है। इनमें से एक भी ऐसा साधन नहीं है जो तुमसे कहे कि संसार के पदार्थों को हटाना ज़रूरी है। सारे साधन तुम्हारी मनोमयी सृष्टि को हटाने के उपाय हैं। इसलिये ईश्वर की सृष्टि तुम्हारे कल्याणमार्ग में कोई बाधा डालने के लिये नहीं है कि तुम अद्वैतज्ञान न कर सको।

वह केवल अबाधक ही नहीं है, उपयोगी भी है। गुरु और शास्त्र भी इसी सृष्टि में हैं। इसलिये ईश्वर-सृष्टि अद्वैत-ज्ञान उत्पन्न करने में मदद करने वाली है; रुकावट डालने वाली नहीं है, ज्ञान का साधन भी है। उसको हटाना ज़रूरी नहीं और वह हट जाये तो ज्ञान के साधन भी नहीं रहेंगे। किं च एक और बात भी है कि परमेश्वर के बनाये हुए आकाश, वायु, हिमालय, समुद्र आदि सबको तुम हटा सको, यह असंभव है। इसको नहीं हटा सकते। एक तो, हटाना ज़रूरी नहीं; दूसरा, यदि हटा दोगे तो अद्वैत-ज्ञान हो नहीं सकता; और तीसरा, इसको हटाना

तुम्हारी सामर्थ्य में नहीं है। यह सृष्टि तो ईश्वर के संकल्प से बनी है और ईश्वर के संकल्प से ख़त्म होगी, तुम्हारे संकल्प से नहीं। इसलिये उस परमेश्वर की सृष्टि से तुम क्यों द्वेष करते हो? प्रायः लोग ऐसा कहते हैं कि 'अगर यह संसार न होता तो हम मुक्त हो जाते'। जबकि यह संभव नहीं। अतः इसके साथ द्वेष मत करो, द्वेष तो तुम्हें अपनी मनोमयी सृष्टि से करना है। गुरु, शास्त्र की सहायता से दृढ मिथ्यात्व-ज्ञानपूर्वक आत्मा को ब्रह्मरूप से जानना आवश्यक है।।४२।।

मनोमयी सृष्टि को फिर कैसे हटायें? सामने घड़ा है तो मन में घड़ा आ ही जाता है, इस पर कहते हैं कि सीढ़ी-सीढ़ी चलना पड़ता है—

जीवद्वैतं तु शास्त्रीयमशास्त्रीयमिति द्विधा।
उपाददीत शास्त्रीयमाऽऽतत्त्वस्यावबोधनात्।।४३।।

जीवसृष्टिरूप द्वैत शास्त्रीय और अशास्त्रीय भेद से दो तरह का है। शास्त्रीय का ग्रहण करना आत्मतत्त्व के ज्ञान होने तक उचित है।

जीवसृष्ट द्वैत भी दो प्रकार का है। तुम दो प्रकार की मनोमयी सृष्टि करते हो : पत्नी में भोग्या की दृष्टि करते हो तो शास्त्रीय है, दूसरों की औरतों में भोग्या की दृष्टि करते हो तो अशास्त्रीय है, हैं दोनों ही मनोमयी। 'मैं रसगुल्ला खाऊँ' यह शास्त्रीय दृष्टि करते हो; सफेद अण्डा देखकर 'मैं इसे खाऊँ' यह अशास्त्रीय दृष्टि करते हो। इस तरह जीव जो मनोमयी सृष्टि करता है वह भी दो प्रकार की है—शास्त्रीय और अशास्त्रीय। वेद ने कहीं नहीं कहा कि तुम संसार के मालिक बन सकते हो। वेद ने तो तुम्हारा एकमात्र कर्तव्य बताया है 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' आत्मा का साक्षात्कार करो, यही जीव का एकमात्र कर्तव्य है, यही वेद ने बताया है। बाकी सब चीजों में कहा कि अगर तुम अपने को ब्राह्मण मानते हो तो अमुक-अमुक कार्य करो, क्षत्रिय मानते हो तो यह करो, पुरुष या स्त्री मानते हो तो वैसे कर्म करो। जीव का तो एक ही कर्तव्य बताया है कि परमात्मा का साक्षात्कार करो। इसलिये आत्मविचार करना, उसके उपयोगी विवेक, वैराग्य आदि की प्राप्ति करना इत्यादि शास्त्रीय द्वैत है। है यह भी द्वैत ही। गुरु को देखोगे तो सेवा करोगे, बात सुनोगे तब श्रवण होगा। यह सब है तो द्वैत लेकिन इस शास्त्रीय द्वैत को ग्रहण करो।

इसे ग्रहण करने से क्या होगा? उत्तरकाशी में बरसात के मौसम में गंगा जी से पानी की बाल्टी भर कर लाते हैं तो उसमें बालू भरी होती है, पीने लायक पानी नहीं होता। पानी को साफ करने के लिये फिटकरी का एक डला, या एक निर्मली बूटी आती है, उसे लेकर उस पानी में घुमा देते हैं तो सारी बालू बाल्टी के पेंदे में बैठ जाती है और साफ पानी ऊपर रह जाता है। वह पीते हैं तो उसमें फिटकरी या निर्मली बूटा का किंचित् भी स्वाद नहीं आता। फिटकरी खुद भी एक कचरा है लेकिन वह पानी में बालू को नीचे बैठाते हुए खुद भी उसी में बैठ जाती है। कंकड़, बालू, चूना, कोयला आदि की पर्त्तों से गुज़ारने पर भी पानी साफ हो जाता है क्योंकि

वे कंकड़ादि बाकी कचरा रोक लेते हैं और खुद भी पानी में घुलते नहीं। चूना आदि सारी चीजें कचरा होने पर भी पानी का कचरा पी लेती हैं, अपना कोई नया कचरा उस पानी में नहीं डालतीं।

जैसे कोई कचरा पानी गन्दा करने वाला और कोई उसे साफ करने वाला, ठीक इसी प्रकार द्वैत दो तरह का है—शास्त्रीय और अशास्त्रीय। श्रवण, मनन आदि भी कचरा ही है परन्तु संसार का राग-द्वेष से भरा मन जब इस श्रवण-मनन से निकलता है तो राग-द्वेष से रहित शुद्ध होकर निकलता है। जब तक तत्त्व का साक्षात्कार नहीं हो जाता तब तक तो दो चीजें अर्थात् द्वैत है। जब परमात्मा का साक्षात्कार हो गया, साक्षात् अपरोक्ष हो गया, तो फिर श्रवण, मनन, गुरु, शास्त्र आदि द्वैत की भी ज़रूरत नहीं है। जब तक तत्त्व-साक्षात्कार न हो जाये तब तक उस द्वैत की ज़रूरत है। तत्त्व-साक्षात्कार होने पर शास्त्रीय द्वैत को भी छोड़ दो।।४३।।

शास्त्रीय द्वैत और उसकी अवधि बताते हैं—

आत्मब्रह्मविचाराख्यं शास्त्रीयं मानसं जगत्।
बुद्धे तत्त्वे तच्च हेयमिति श्रुत्यनुशासनम्।।४४।।

आत्मा और ब्रह्म का विचार कहलाने वाला शास्त्रीय मानस संसार है। ब्रह्मात्मैक्य का अप्रतिबद्ध अपरोक्ष हो जाने पर शास्त्रीय जीवद्वैत भी त्याज्य है ऐसा वेद का निर्देश है।

आत्मा अर्थात् प्रत्यक् आत्मा। जो अन्दर से प्रकाश अर्थात् ज्ञान होता है उसे प्रत्यक् कहते हैं। 'प्रातिलोम्येन अञ्चति इति प्रत्यक्'। संसार की सारी चीजें तो तुम्हें अपने से बाहर दीखती हैं, परन्तु 'मैं' कभी बाहर नहीं दीखता। भगवान् भाष्यकार ने ब्रह्मसूत्रभाष्य का प्रारम्भ ही किया कि यह सारा संसार दो भागों में बँट जाता है—युष्मद् और अस्मद्, अर्थात् विषय और विषयी। मैं के अन्दर जो प्रकाश है वह प्रत्यगात्मा है। वह प्रत्यगात्मा ही ब्रह्म है, साक्षात् परमेश्वर है। यह जो वेदान्त का तत्त्व है यह सनातन धर्म को एक ऐसा आयाम प्रदान करता है जो संसार में किसी मत-मतांतर, मज़हब में नहीं मिल सकता। सब कहते हैं कि ईश्वर को ज़रूर मानो, ईश्वर जगत् को बनाने वाला है। वह कौन है? वह तो जब तुम स्वर्ग या बहिश्त में जाआगे तो दिखाई देगा। यहाँ उसका कुछ अता-पता नहीं है। ऐसा ईश्वर तुम्हें मानना पड़ेगा। वेदांत कहता है कि तुमको 'तुम' बनाने वाला परमेश्वर है। सब चीजें तुम्हें दीखने वाली अर्थात् ज्ञेय मिलती हैं। केवल 'मैं' ऐसा है जो कभी दीखता नहीं, वह दीखने वाला नहीं है, 'मैं' देखने वाला हूँ। देखने वाले को जो देखने वाला बना रहा है वह ब्रह्म है। 'मैं जान रहा हूँ' यह तुम्हारा अनुभव है, यह हम तुम्हारे सिर पर नहीं डाल रहे हैं कि तुम जान रहे हो। तुम जान रहे हो, यह तुम्हारा प्रत्यक्ष अनुभव है। तुमको जो जानने वाला बनने की शक्ति दे रहा है वह तुम ही ब्रह्म हो। यह तुम्हारा असली रूप ही है। आत्मा का ब्रह्मरूप से जो शास्त्र, गुरु तुमको विचार करवाता है वही शास्त्रीय मानस जगत् है। बाकी जितने कर्तव्य हैं वे तो तब हैं जब तुम जबर्दस्ती मान लेते हो कि 'मैं शरीर हूँ'। शास्त्र नहीं कहता कि तुम अपने को शरीर मानो। मैं पुरुष हूँ, मैं स्त्री हूँ, जब तुम

यह मान लेते हो तब शास्त्र आगे तुम्हारे कर्तव्य बताता है। अगर शास्त्र से पूछो तो वह एक ही बात कहता है कि तुम परमात्मा का साक्षात्कार करो, तुम सचमुच में क्या हो—केवल इसी बात को जानो। ब्रह्म-विचार करवाने का जो शास्त्र है वह भी तुम्हारा मानस जगत् या द्वैत है। परन्तु वह शास्त्रीय द्वैत है। वह भी हेय है, छोड़ने के लिये है लेकिन तब जब तुम्हें तत्त्व का अपरोक्ष साक्षात्कार हो जाये। तभी उस द्वैत को छोड़ो, उसके पहले नहीं।

आत्मा को ब्रह्मरूप समझने की अनेक प्रक्रियायें हैं उनमें से कोई एक, दो या जिन-जिन भी प्रक्रियाओं के द्वारा वह समझ में आता है वे हैं तुम्हारा मानस जगत् ही, तुम ही उस द्वैत की रचना करोगे। सभी प्रक्रियाओं में दोष भी होते हैं। चूँकि मानस जगत् है इसलिये दोष तो होगा ही। कोई भी प्रक्रिया ऐसी नहीं जो दोष वाली न हो। जितना प्रमेय समझने के लिये आवश्यक होता है वह तत्त्वसाक्षात्कार तक के लिये है। जब साक्षात्कार हो गया तब उस शास्त्रीय द्वैत का परित्याग करो, यह श्रुति का अनुशासन है अर्थात् श्रुति ने यही करने को कहा है।

एक शंका होती है कि शास्त्र यह भी कहता है कि 'आसुप्तेरामृतेः कालं नयेद् वेदान्तचिन्तया' जब तक मर न जाओ तब तक वेदान्तचिंतन करो अतः चिंतन छोड़ना कैसे उचित मानें? जो वेद के एक हिस्से को देखता है दूसरे को नहीं देखता, उसे ऐसे भ्रम होते हैं। एक मुसलमान कभी नमाज नहीं पढ़ता था। एक बार मौलवी उसे समझाने लगे कि कम से कम शुक्रवार को तो पढ़ लिया कर। उसने कहा कि कुरान में लिखा है कि नमाज मत पढ़! मौलवी ने पूछा 'ऐसा कहाँ लिखा है?' उसने दूसरे दिन कुरान लाकर दिखा दिया जहाँ लिखा था 'नमाज मत पढ़'। मौलवी को बड़ा आश्चर्य हुआ, लेकिन उसने पन्ना पलट कर देखा तो आगे लिखा था 'जबकि नापाक हो'। मौलवी ने उससे कहा 'आगे का भी पढ़' उसने कहा—'आगे का आप बाँचो। कुरान की एक बात काफी है, सारी कुरान मैं क्यों बाँचू!' इसी प्रकार के बहुत से लोग होते हैं जो कहीं से गीता का एक श्लोक या उपनिषद् का एक मंत्र याद कर लेंगे और फिर कहीं कोई बात होगी तो कहेंगे 'वेद में यह लिखा है'। उनसे कहो 'उसके आगे भी तो बाँचो', तो कहते हैं, 'वह आप बाँचो'! जैसे कठोपनिषद् में लिखा है कि इस संसार में दो पक्षी हैं। किसी आर्यसमाजी से मिलो तो कहेगा कि वेद में साफ लिखा है कि जीव और ईश्वर अलग-अलग हैं और पेड़ अलग है अतः तुम्हारा अद्वैत नहीं, त्रैतवाद सिद्ध होता है! उनसे कहें कि आगे का मंत्र भी तो देखो जिसमें लिखा है कि जीव-ईश्वर एक हैं। लेकिन आगे का मंत्र नहीं बाँचेंगे। ऐसी बहुत-सी बातें आती हैं जिसमें लोग मनमाना अर्थ करते हैं। 'आसुप्तेरामृतेः कालम्' आदि वाक्यमें 'आमृतेः' का मतलब शरीर से अपने को अलग समझ लेने तक है। अर्थात् जब तक तुम शरीर से आत्मतत्त्व को सर्वथा अलग न समझ लो तब तक वेदान्तचिन्तन ही करना है, यह कहा गया है। उस श्लोक में आगे ही लिखा है 'किंचिन्नावसरं दद्यात् कामादीनां मनागपि' अतः जहाँ काम आदि सम्भव है वहीं के लिये चिंतनविधि है। कामादि को उत्पन्न होने का मौका नहीं देना है। काम आदि की प्रवृत्ति स्थूल-सूक्ष्म देह में अभिमान-पर्यन्त है अतः उनसे तादात्म्यपर्यन्त चिंतन कर्तव्य है, तादात्म्य मिटने पर छोड़ना कर्तव्य है।।४४।।

ऐसा अर्थ करना क्यों ज़रूरी है? क्योंकि शास्त्र में ही (अमृतना. १) लिखा है–

शास्त्राण्यधीत्य मेधावी अभ्यस्य च पुनः पुनः।
परमं ब्रह्म विज्ञाय उल्कावत् तान्यथोत्सृजेत्।।४५।।

मेधावी को चाहिये कि शास्त्रों का अध्ययन कर, बार-बार उनका अभ्यास (आवर्तन) कर परब्रह्म का अनुभव पाये, फिर शास्त्रों को वैसे ही छोड़ दे जैसे देखने का कार्य हो चुकने के बाद मशाल छोड़ दी जाती है।

ग्रन्थार्थ को ग्रहण या धारण करने की सामर्थ्य को मेधा कहते हैं। जो ग्रन्थ तुम पढ़े हो वह ग्रन्थ तुम्हें याद रहना चाहिए। कोई बच्चा ग्यारहवीं कक्षा में पढ़ रहा है। हमारे पास आता है तो हम उससे नौंवी-दसवीं कक्षा का कोई प्रश्न पूछते हैं। कहता है 'इसका जवाब नौंवी कक्षा में पढ़ा तो था लेकिन अब याद नहीं है।' नौंवी पास कर ली लेकिन याद नहीं है तो क्या पास किया! जहाँ मेधा शक्ति नहीं होती वहाँ आगे-आगे का पढ़ते जाते हैं, पीछे-पीछे का भूलते जाते हैं। शास्त्र ऐसे मेधारहित लोगों के लिये नहीं है। मेधावी जो याद कर लेता है उसे हमेशा याद रहता है, भूलता नहीं है। इसी प्रकार प्रक्रियाओं में एक-एक कदम होता है। पिछला कदम स्थिर हो गया तभी अगला कदम कारगर होगा। जो मेधावी न हो, उसे तो बार-बार आगे-पीछे का पढ़ते ही रहना पड़ेगा! अगला कदम लेने पर पुनः पिछले की शंकाओं में उलझता रहेगा। मेधावी शास्त्रों का अध्ययन करके आत्मज्ञान को प्राप्त कर ले इसलिये कई जगह कहा गया है कि मेधावी को सकृच्छ्रवणमात्र से अर्थात् एक बार महावाक्य को सुनते ही तत्त्वनिष्ठा हो जाती है। जो ऐसा याद रखने वाला नहीं है, वह बार-बार पढ़े, बार-बार श्रवण-मनन का ही अभ्यास करे। इसलिये श्वेतकेतु को उपदेश देते हुए उसके पिता ने नौ बार तत्त्वमसि कहा है। यदि पिछली सारी बातें उपस्थित हैं, तत् और त्वं पदार्थों का शोधन हाथ में रखे आँवले की तरह स्पष्ट है, तो तत्त्वमसि सुनने के साथ ही तुम्हारी निष्ठा हो जाती है। अगर ऐसा नहीं है, तो बार-बार श्रवण-मनन ही करे। दोनों हालात में करना तब तक है जब तक 'मैं ही ब्रह्म हूँ, ब्रह्म मैं ही हूँ' ऐसा अपरोक्ष साक्षात्कार न हो जाये।

'मैं ब्रह्म ही हूँ' इतना-मात्र अनुभव मनुष्य को यह संदेह करा देता है कि ब्रह्म बहुत बड़ा है और मैं उसमें एक बिन्दु की तरह हूँ। मैं ब्रह्म से अतिरिक्त कुछ नहीं हूँ, किन्तु ब्रह्म तो बहुत बड़ा है। इसलिये 'मैं ब्रह्म ही हूँ' इतना ही नहीं, 'ब्रह्म मैं ही हूँ' अर्थात् ब्रह्म और मुझ प्रत्यगात्मा में अणुमात्र भी भेद नहीं है, दोनों सर्वथा एक ही हैं। विज्ञान अर्थात् साक्षात् अनुभव करके शास्त्र-प्रयोजन पूरा हो चुका यह निर्णय कर लेना चाहिये। रात्रि में चलते हो तो आजकल हाथ में 'टॉर्च' ले लेते हो, पुराने जमाने में उल्का अर्थात् मशाल जलाकर चलते थे। रास्ते चलने के लिये मशाल की ज़रूरत है। पर जब गन्तव्य घर आदि पहुँच जाते हैं तब मशाल को बाहर छोड़कर जाना पड़ता है। जैसे मशाल को बाहर ही रख देना पड़ता है, इसी प्रकार जैसे ही अपना और ब्रह्म के अभेद का ज्ञान हुआ, वैसे ही वे जितनी प्रक्रियायें हैं, सब त्याज्य हैं। यदि प्रक्रियाओं

को याद ही करते जाओगे तो वे तुम्हारे अद्वय ज्ञान में बाधा ही डालेंगी क्योंकि प्रक्रियायें द्वैत मानकर बनी हैं। द्वैत है जिसे निवृत्त करना है तभी प्रक्रिया चाहिये। अद्वैत निश्चित हो जाने पर इसलिये उन सबको छोड़ना पड़ता है। वस्तुदृष्टि से सारी प्रक्रियायें ग़लत हैं, क्योंकि मायिक हैं। जैसे मशाल रास्ते चलने के लिये ज़रूरी है, घर में ले जाने के लिये नहीं, इसी प्रकार शास्त्र का अध्ययन रास्ते चलने के लिये अर्थात् विज्ञान प्राप्त करने के लिये है, जब अनुभव में पहुँच गये तो उसे सर्वथा छोड़ देना उचित है।

कहाँ उत्सर्जन करना या छोड़ना है? वैदिक यज्ञ में बारहसिंगा हरिण के सिर से निकले हुए सींग को पास रखने को कहा है। यज्ञ में आहुति आदि दोगे, गर्मी का मौसम हो तो पसीना आयेगा, खाज होगी। यज्ञ के दौरान हाथ से खुजलाना मना है क्योंकि खुजलाने से हाथ में पसीना लगेगा जो अपवित्र पदार्थ है, उसी हाथ से आहुति देनी है। इसलिये हाथ से न खुजलाकर उस सींग से खुजलाने को कहा है। जब यज्ञ पूर्ण हो गया, सामग्री तो सारी समाप्त हो गई, पर उस सींग का क्या करें? शास्त्र ने बताया है कि उसे घर में ले जाकर नहीं रखना है, वरन् गड्ढा खोद कर उसमें डालना चाहिये। नवरात्री में देवी की प्रतिष्ठा करते हैं। मूर्ति की नहीं तो घड़े में स्थापना करते ही हैं। नौ दिन तक उसकी देवीरूप में पूजा होती है। नवरात्री के बाद उस मूर्ति या घट का क्या करें? उस मूर्ति का जल में ले जाकर उत्सर्ग, विसर्जन कर देते हैं। नौ दिन पूजा के लिये मूर्ति ज़रूरी भी है लेकिन पूजा पूरी होने के बाद उसे लेकर नहीं बैठे रहना है, उसे जल में उत्सर्ग करना पड़ेगा। इसी प्रकार जितनी शास्त्रीय प्रक्रियायें हैं वे सारी तब तक अभ्यास करने के लिये हैं जब तक तत्त्वबोध नहीं हो गया। तत्त्वज्ञान होने के बाद उनका उत्सर्ग करो, छोड़ो।

ज्ञान कोई ऐसी चीज़ तो है नहीं कि उसे सींग या मूर्ति की तरह कहीं पानी में फैंकें! इसलिये कहा है कि शिष्य के हृदय में उस ज्ञान को तुम छोड़ दो। जब उन सब प्रक्रियाओं को लेकर शिष्य के सामने सिद्धान्त प्रकट करोगे तब उसे भी तत्त्वज्ञान हो जायेगा। भगवान् भाष्यकार बताते हैं कि प्रायः लोग कहते हैं कि गुरु पारसमणि की तरह है। जैसे पारसमणि लोहे को सोना बना देती है, ऐसे ही गुरु शिष्य को आत्मज्ञानी बना देता है। परन्तु यह दृष्टांत ठीक नहीं है। पारसमणि लोहे को सोना बनाती है, पारस तो नहीं बनाती! चाहे दस मन लोहा पड़ा हो, उससे पारसमणि छुआओ तो वह दस मन सोना बन जायेगा, पारस तो नहीं बनेगा! परन्तु गुरु शिष्य को तत्त्वज्ञान देकर गुरु ही बना देता है, जिस परमात्म-स्वरूप को गुरु ने प्राप्त किया वही शिष्य को प्राप्त करा देता है। विविध प्रक्रियाओं को उसके हृदय में स्थापित करके उस तत्त्वज्ञान का विकास करा देना ही शास्त्रों का उत्सर्ग है। वह भी उन प्रक्रियाओं को आगे किसी शिष्य में स्थापित करके उनको छोड़ देता है। साक्षात्कार के बाद ही उक्त प्रकार से उत्सर्ग करे, ब्रह्मसाक्षात्कार होने तक तो प्रक्रियाओं से ही अभ्यास करे। इसलिये पूर्व श्लोक में (४४) कहा था कि तत्त्व समझ लेने पर द्वैत त्याज्य है। 'हेय' शब्द से लगता है मानो वे चीजें बेकार हों,

इसलिये 'उत्सर्ग' शब्द से बताया कि ब्रह्मसाक्षात्कार होने के बाद अपने लिये शास्त्र बेकार हैं, दूसरे (साधक) के लिये तो लाभकारी हैं ही।।४५।।

समझने और हृदय में स्थिर करने के लिये विचार के विभिन्न प्रकार हैं, अपनी-अपनी बौद्धिक स्थिति के अनुरूप साधक उनका उपयोग करता है। निर्णय पर स्थिरता हो चुकने पर उन प्रकारों का उपयोग न रहने से जहाँ उपयोग हो वहाँ उनका उत्सर्ग बताया। इसमें अमृतनादोपनिषत् (श्लो.१) का संकेत पूर्व श्लोक में देकर ब्रह्मबिन्दूपनिषत् से भी (श्लोक १२) यह प्रमाणित करते हैं–

ग्रन्थमभ्यस्य मेधावी ज्ञानविज्ञानतत्परः।
पलालमिव धान्यार्थी त्यजेद् ग्रन्थमशेषतः।।४६।।

शास्त्र का अर्थ समझने व उसे अनुभव करने में तत्पर मेधावान्, ग्रंथ का अभ्यास कर जैसे धान्य चाहने वाला पुआल छोड़ देता है वैसे, समूचा ग्रन्थ छोड़े।

मेधावी अर्थात् जिसमें ग्रन्थ धारण करने की सामर्थ्य है, उसे पहले ग्रंथ का अभ्यास करना पड़ेगा। अभ्यास कर लिया तो ज्ञानतत्पर होना पड़ेगा अर्थात् बार-बार ब्रह्माकार वृत्ति के संस्कार मन में बिठाने पड़ेंगे। बार-बार ब्रह्माकार वृत्ति को बनाये, जिससे उसके संस्कार दृढ हो जायें। जब संस्कार दृढ हो गये तब केवल उस अनुभव के अन्दर ही स्थिर रहे, फिर संस्कार *बनाने* की जरूरत नहीं है। अतः केवल अनुभवमात्र में ही परायण रहे, स्वरूप में ही स्थिर रहे, वृत्ति की तब कोई ज़रूरत नहीं बचती है। जब ज्ञानपूर्वक विज्ञान में तत्पर रहने की सामर्थ्य है, अर्थात् बिना श्रवण-मनन के ब्रह्माकार वृत्ति बना पाता है, तब ग्रन्थ की ज़रूरत नहीं है और जब अनुभव में स्थित हो गया तब वृत्ति की भी जरूरत नहीं है। इसमें दृष्टान्त दिया कि जिसको भूसी में से चावल निकालना है, जो चावल निकालने के लिये प्रयत्नशील है वह पलाल को फेंककर चावल को रख लेता है। ग्रन्थ पलाल की तरह है। उसके अन्दर जो प्रतिपाद्य विषय है वह धान्य, चावल की जगह है। 'मैं ब्रह्म ही हूँ, ब्रह्म मैं ही हूँ' यही निश्चय सारे श्रवण-मनन का प्रयोजन है। जब यह निश्चय हो गया तब धान्य की प्राप्ति हो गई। जैसे धान्यार्थी पलाल को फैंक देता है वैसे ही अब अशेष ग्रंथ का त्याग कर दे। श्रवण के प्रयोजन वाले और मनन के प्रयोजन वाले ग्रंथों का शिष्य में आधान कर स्वयं ब्रह्मस्वरूप से रहे।।४६।।

बृहदारण्यक (४.४.१२) श्रुति ने भी यही कहा है–

तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः।
नानुध्यायाद् बहूञ्छब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत्।।४७।।

धीर ब्राह्मण उसे ही अनुभव कर 'प्रज्ञा' करे। बहुत शब्दों का अनुध्यान न करे क्योंकि वह वाणीसम्पादित आनन्दक्षयहेतु है।

'अथ ब्राह्मणः' से बृहदारण्यक (३.५) उपनिषद् में कहा है कि जब ज्ञान दृढ हो जाता है तभी कोई वस्तुतः ब्राह्मण होता है। उसके पहले उसको ब्राह्मण वैसे ही कहा जाता है जैसे कोई मेडिकल कॉलेज में भर्ती हो गया तभी लोग उसे डॉक्टर कहने लगते हैं। जबकि डॉक्टर बनेगा तब जब उसे एम.बी.बी.एस. की उपाधि मिल जायेगी। पहले ही उसे कहने लगते हैं क्योंकि डॉक्टर बनने वाला है। इसी प्रकार ब्राह्मण के कर्तव्य बताते हुए कहा है कि ब्राह्मण शरीर की प्राप्ति ब्रह्मनिष्ठा के लिये ही है, क्षुद्र भोगों की प्राप्ति के लिये नहीं है। मनु महाराज कहते हैं 'क्षुद्रकामाय नेष्यते' ब्राह्मण का शरीर इसलिये मिला है कि तुम ब्रह्मनिष्ठा को प्राप्त करो, क्षुद्र कामनाओं की पूर्ति के लिये नहीं मिला है। क्षुद्र का अर्थ है जो चीज़ तुम्हें मिलती है और हाथ से निकल जाती है। आत्मज्ञान से अतिरिक्त सारी चीज़ें तुम्हारे स्थूल सूक्ष्म शरीरों को ही प्राप्त हो सकती हैं, इसलिये उनकी कामना क्षुद्र की कामना है। क्षुद्र कामनाएँ छोड़ने वाले को ही साधन से जब ब्रह्मनिष्ठा की प्राप्ति होगी तब वह वस्तुतः ब्राह्मण होगा। उससे पहले इसलिये कहलाता है कि उस रास्ते चल रहा है।

ब्रह्मनिष्ठा कैसे प्राप्त होती है? धीर होने से ब्रह्मनिष्ठा की प्राप्ति होती है। धीर शब्द के दो अर्थ हैं—एक, जब कोई किसी काम को धीरजपूर्वक करता है तब उसे धीर या धैर्यवाला कहते हैं। दूसरा, 'धी' बुद्धि को कहते हैं। जब बुद्धि से बार-बार श्रवण-मनन करते हैं तब ब्रह्मनिष्ठा की प्राप्ति होती है। यह एक-दो या पाँच-दस दिनों का काम नहीं है। भगवान् गीता में कहते हैं 'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते' बहुत से जन्मों तक जब अभ्यास करता रहता है तब अंतिम जन्म में परमात्म-तत्त्व के ज्ञान की प्राप्ति होती है। जब ज्ञान प्राप्त हो जाता है तब परमात्मा में लीन हो जाता है, परमात्मरूप हो जाता है। 'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।' अनेक जन्मों तक साधना करके वह सिद्ध होता है। अतः इस मार्ग में धैर्य की बड़ी ज़रूरत है। असफलता का बहुत बड़ा कारण यह है कि लोगों में धैर्य नहीं है। लोग तुरन्त फल चाहते हैं। एक बार बन्दरों ने निर्णय किया कि 'रोज़-रोज़ चोरी करके खाते हैं, इसलिये हमें खेती करनी चाहिये।' बन्दर नकल करने वाला होता ही है। उन्होंने देख रखा था कि कैसे बीज बोया जाता है। वे कहीं से गेहूँ चुरा लाये और उन्हें बो भी दिया। अब हर घण्टे-आधे घण्टे में उसे निकाल कर देखने लगे कि गेहूँ लगा या नहीं। ऐसे गेहूँ को क्या फलना है! हमने ऐसे मनुष्यों को देखा है जो दही के लिये दूध में जामन लगा कर रखते हैं लेकिन घण्टे-दो घण्टे में उसे हिलाकर देखते हैं कि दही जमा या नहीं। यह भी बंदर की तरह का आचरण है। ऐसे कभी दही नहीं जमेगा।

इसी प्रकार लोग वेदान्त की साधना में बजाय इसके कि दीर्घ काल तक बार-बार श्रवण मनन करते रहें, थोड़ा-सा श्रवण-मनन करके सोचते हैं 'और करने से क्या फायदा'! जब उससे विरत होंगे तब कोई कामना उद्बुद्ध होगी ही। उसे पूरा कर फिर थोड़ा श्रवण-मनन में लगते हैं लेकिन बार-बार सोचते रहते हैं कि उसका क्या फल हुआ। कई लोग कहते भी हैं 'बीस साल से श्रवण कर रहे हैं, लेकिन अभी भी दुःख तो होता ही है'। इसीलिये भगवान् ने कहा कि जन्म

भर करना पड़े और चाहे कई जन्मों में करना पड़े तो भी अधीर मत होवो। बार-बार मत सोचो कि ज्ञान का क्या फल हुआ, क्योंकि कोई फल नहीं हुआ इस विपरीत संस्कार के कारण कभी निष्ठा बनेगी ही नहीं। निरन्तर अभ्यास करते-करते अपने-आप ही अनुभव होने लगता है, खोद-खोद कर देखने की जरूरत नहीं है! कोई बच्चा सोने जा रहा था तो माँ से कहा 'नींद में मुझे पेशाब लगे तो जगा देना।' माँ ने कहा 'तू चिन्ता मत कर, जब तुझे पेशाब लगेगा तो तू अपने आप जाग जायेगा, जगाने की ज़रूरत नहीं पड़ेगी'। इसी प्रकार लोग सोचते हैं कि ज्ञान हुआ या नहीं—कैसे पता लगेगा? कोई पता लगाने की ज़रूरत नहीं है। जब ज्ञान होगा तब तुम्हारा अनुभव अपने-आप ही वैसा हो जायेगा। भोजन करते हैं तो पेट भरता है। पेट भरने का पता किसी दूसरे के कहने से या हमने कितना खाया इसे जानने से थोड़े ही लगता है। पेट भर गया यह अपने आप पता लगता है। हर कौर में कुछ-न-कुछ भरता अवश्य है लेकिन काफी भरने से पहले पता नहीं लगेगा कि भरा या नहीं। इसी प्रकार निरन्तर श्रवण-मनन में लगे रहो, ज्ञान पुष्ट होगा तो अपने आप पता लग जायेगा। इसलिये इस मार्ग पर चलने वाले में धैर्य होना चाहिये। धैर्य से बुद्धि में रमण करना है, अर्थात् बार-बार ब्रह्माकार वृत्ति को बनाने की जो प्रक्रियायें हैं उन्हें प्रयोग में लाते जाना है। उस आत्मतत्त्व का ही बार-बार श्रवण-मनन करते रहना है। सब कुछ ब्रह्मस्वरूप है, इसे जानते हो तो सब कुछ जानते हुए ब्रह्म को ही जान रहे हो। ये साधन तो हैं परन्तु ये सब जानना सचमुच में ब्रह्मज्ञान नहीं है। ये सब ब्रह्म हैं, पर इनको जानना ब्रह्मज्ञान नहीं है। 'ये सब नहीं हैं, मैं ही ब्रह्म हूँ' यह ब्रह्मज्ञान है। प्रत्यगात्मा के अतिरिक्त बाकी सारी चीजें छोड़नी हैं। प्रत्यगात्मरूप से व्यापक को समझना ही ब्रह्मज्ञान है।

जब उसका अनुभव हो जाये तब उस प्रज्ञा में ही स्थित रहो। अगर यहाँ 'प्रज्ञा' का मतलब ब्रह्माकार वृत्ति बनाना है तब 'विज्ञाय' में लक्षणा करनी पड़ेगी। भिन्न-भिन्न आचार्यों ने दोनों तरह से अभिप्राय कहा है। अगर विज्ञाय का मतलब 'शास्त्र दृष्टि से जानकर' यह करें तो प्रज्ञा का मतलब होगा बार-बार वृत्ति को बनाना। अगर 'विज्ञाय' अर्थात् साक्षात् अनुभव हो गया है तब 'प्रज्ञा' का अर्थ उसमें स्थिर रहना ही है जो स्वभाव से होगा, करना नहीं पड़ेगा। अगर 'कुर्वीत' का 'कुछ करना' अर्थ करते हैं तो 'विज्ञाय' का मतलब शास्त्र-दृष्टि से निश्चय करके प्रज्ञा अर्थात् ब्रह्माकार वृत्ति को तब तक बनाये जब तक तत्त्व में स्थिर न हो जाये।

उसके बाद 'बहून् शब्दान्' अर्थात् बहुत्व-प्रतिपादक, अनेकता का प्रतिपादन करने वाले जो शब्द हैं उनका विवेचन छोड़ देना चाहिये। जैसे कहा जाता है कि परमात्मा न मूर्त है, न अमूर्त है। मूर्त और अमूर्त दोनों शब्द बहुत-सी चीजों का प्रतिपादन करने वाले हैं। इसी प्रकार पंचकोश, तीन अवस्थायें आदि जितने विचार हैं ये सब बहुत्व का प्रतिपादन करने वाले शब्दों के द्वारा ही उस एक का प्रतिपादन करते हैं। जब तक उस एक तक नहीं पहुँचे तब तक ही इन शब्दों की ज़रूरत है। जैसे चिट्ठी आई कि पाँच किलो चावल, एक किलो दाल, एक छटाँक नमक-मिर्च, छटाँक भर घी—यह सारी सामग्री लेकर आना। जाकर जब सौदा खरीद लिया, उसके बाद चिट्ठी को फैंक देते हैं क्योंकि उसकी अब ज़रूरत नहीं है, तभी तक ज़रूरत थी जब

तक सामग्री ली नहीं। इसी प्रकार जब मृत्यु का अतिक्रमण हो गया अर्थात् समझ में आ गया कि मृत्यु का अपने साथ न कभी संबंध रहा है, न है और न हो सकता है तव शव्द व्यर्थ हो गये। इस प्रकार के निश्चय पर पहुँचने के लिये ही शव्दों की जरूरत थी क्योंकि शास्त्रीय शव्दों से ही यह निश्चय होगा। जब निश्चय हो गया तब ग्रन्थों का, बहुत्ववाचक शव्दों का कोई प्रयोजन नहीं रहा, इनके अध्ययन, चिन्तन या ध्यान करने की ज़रूरत नहीं बची। भिन्न-भिन्न सोपानों के अनुसार पहले शब्दों को याद करने की ज़रूरत नहीं रहेगी। फिर ब्रह्माकार वृत्ति बनाने की भी ज़रूरत नहीं रहेगी, जब अर्थ में स्थित हो गये तो व्यवहार व्यर्थ हो जाता है, उसका कोई प्रयोजन नहीं रहता।।४७।।

मुण्डकोपनिषत् (२.२.५), कठोपनिषद् (३.१३) आदि के संग्रह से भी यही प्रमाणित करते हैं—

तमेवैकं विजानीथ ह्यन्या वाचो विमुञ्चथ।
यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञ इत्याद्याः श्रुतयः स्फुटाः।।४८।।

'उसी एक को जानो, बाकी बातें छोड़ो', 'प्राज्ञ को चाहिये कि वाक् को मन में छोड़े' इत्यादि श्रुतिवचन स्पष्टतः (ज्ञान के बाद शास्त्रीय जगत् को भी हेय बताते हैं)।

'तम्' अर्थात् प्रत्यगात्मा का जो स्वरूप है; 'एव' अर्थात् जितनी भी उसकी उपाधियाँ उन सबको हटाकर शुद्ध परमात्म-स्वरूप सजातीय, विजातीय, स्वगत—तीनों भेदों से रहित एक ही है, ऐसा उसका विज्ञान अर्थात् अनुभव या साक्षात्कार करो। उससे अन्य किसी भी चीज़ का प्रतिपादन करने वाले जो वाक्य हैं उन्हें छोड़ो। अद्वितीय के ग्राहक वाक्यों से अन्य वचनों से तो अवश्य मुक्त हो जाओ। मुण्डक में श्रुति में कहा है 'अमृतस्यैष सेतुः' यह अमृत का सेतु है। कठ उपनिषद् है 'यच्छेद् वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद् यच्छेज्ज्ञानआत्मनि। ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत् तद् यच्छेच्छान्त आत्मनि।' (३.१३)। जो प्राज्ञ है अर्थात् जिसने प्रज्ञा प्राप्त कर ली कि 'मैं ब्रह्म ही हूँ' वह वाणी को मन में लीन कर दे। फिर उसे शब्दों की ज़रूरत नहीं है। पहले किसी चीज़ को जानने के लिये शब्दों की जरूरत होती है। जब अर्थ समझ लिया तब शब्द व्यर्थ हो जाते हैं। वाणी का मन में लीन होना अर्थात् वाणी का अर्थ हमारे मन में रूढ हो गया। फिर उस मन को ज्ञानरूप आत्मा के अन्दर लीन कर दे, समष्टि बुद्धि में लीन कर दे। तदनन्तर वृत्तिहीन होकर जो अपनी शुद्ध अनुभवस्वरूप स्थिति है, केवल उसी में स्थित हो जाये। इस प्रकार की श्रुतियाँ स्पष्टरूप से इस बात को कहती हैं कि सारा ही द्वैत हेय है।

शास्त्र में कहा कि आत्मा का दर्शन करो, उपनिषदों का श्रवण, मनन युक्ति से करो; निश्चय करने के बाद सब साधन भी छोड़ दो। शास्त्रीय द्वैत भी निरुपयोग हो चुकने पर त्यागने लायक ही है। अन्य धर्म तो कहते हैं कि ईश्वर को मानो और हम कहते हैं कि ईश्वर को जानो। वह तुम्हारे अन्दर बैठा हुआ है, इसलिये उसे जानते हुए भी तुम उसके वास्तविक स्वभाव को नहीं जानते। 'मैं जानने वाला हूँ' तो जानते हैं किन्तु जिस ज्ञान से यह अहंकारात्मिका वृत्ति भी

बनी है उसे नहीं जानते। अन्य वादी कहते हैं कि जानने के साधन को तुम्हें हमेशा पकड़े रहना पड़ेगा, वह चाहे मसीहा या प्रॉफेट के रूप में हो। एकमात्र वेद ही कहता है 'यत्र वेदा अवेदा भवन्ति'! जब तुम जहाँ पहुँचने चले थे वहाँ पहुँच गये, तब पहुँचाने वाला वेद भी 'अवेद' हो जाता है क्योंकि ज्ञान उत्पन्न करने के बाद जानने का साधन व्यर्थ हो जाता है। संसार में कोई दूसरा धर्म यह कहने की हिम्मत नहीं करता कि वहाँ पहुँचो जहाँ तुम्हें कोई सहारा न चाहिये रहे।।४८।।

शास्त्रीय द्वैत बताया। अब अशास्त्रीय कहते हैं–

अशास्त्रीयमपि द्वैतं तीव्रं मन्दमिति द्विधा।
कामक्रोधादिकं तीव्रं मनोराज्यं तथेतरत्।।४९।।

तीव्र और मन्द भेद से अशास्त्रीय द्वैत दो तरह का है। कामना, क्रोध आदि तीव्र द्वैत है, मनोराज्य मन्द द्वैत है।

शास्त्रीय और अशास्त्रीय दो प्रकार के द्वैत बताये थे। शास्त्र के द्वारा सूचित शास्त्रीय द्वैत श्रवण-मनन आदि हो गया। दूसरा अशास्त्रीय द्वैत है। वह दो प्रकार का है—तीव्र और मन्द। काम, क्रोध आदि तीव्र हैं। काम, क्रोध आदि वे हैं जो अपने संस्कारमात्र से तुम्हें प्रवृत्त करते हैं। दूसरा है मनोराज्य। वह भी अशास्त्रीय द्वैत है किंतु मन्द है। मन से चीज़ों को सोचते रहते हो, इसे मनोराज्य कहते हैं। काम, क्रोध आदि को तीव्र इसलिये कहते हैं कि जब उन का वेग आता है तब तुम कुछ अन्य सोच ही नहीं सकते। कामना मन में आ गई तो उसे रोकना तुम्हारे लिये सम्भव नहीं रहता है। क्रोध तो उससे भी आगे की कड़ी है इसलिये उसको रोकना और भी असम्भव है। कामना को ही साधारण आदमी नहीं रोक पाता। तुम्हें निश्चित पता है, डॉक्टर ने कहा है कि तुम्हारा शक्कर का रोग बहुत बढ़ा हुआ है, चीनी मत खाओ। लेकिन सामने बढ़िया दाल का सीरा आ गया, उस समय भी 'उसे नहीं खाना चाहिये' यह वृत्ति बनती है फिर भी सोचते हो कि 'थोड़ा तो मुँह में डाल लें'; अपने को नहीं रोक पाते। जब कामना ही रोकनी मुश्किल है तो क्रोध का कहना ही क्या! 'आदि' से मोह, मद, मात्सर्य आदि समझ लेना। लेकिन जब सामने दाल का सीरा नहीं है, केवल मन में सोच रहे हो कि 'दाल का सीरा खायें तो बहुत अच्छा हो', वह मनोराज्य है। उसमें मन्दता है। इसलिये उसे रोका जा सकता है। मनु ने कहा है 'काम जानामि ते मूलं संकल्पात् प्रभविष्यसि'। 'हे कामना! मैंने तेरा मूल जान लिया है। तू संकल्प से पैदा होती है। मैं संकल्प नहीं करूँगा, तभी तू नष्ट होगी।' मनोराज्य कामनादि की मन्द अवस्था है। भगवान् ने भी गीता में कहा है 'ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते। संगात्संजायते कामः कामात् क्रोधोभिजायते।' पहले विषयों का ध्यान होगा। मनोराज्य में विषय संमुख आयेंगे, तब उन पदार्थों के प्रति आसक्ति बढ़ेगी। अंग्रेजी में कहावत है 'आउट ऑफ साइट, आउट ऑफ माइण्ड' कि यदि कोई चीज़ लम्बे समय तक दृष्टि से दूर रहती है तो उसकी याद नहीं आती। जर्मनी पहुँचे हुए छह साल हो गये तो दाल का सीरा याद भी नहीं आता,

वापिस भारत आ गये और दाल का सीरा सामने आया तब तो फिर मन में आता है कि खा ही लें। पहले विषय-चिन्तन करने के बाद उसके प्रति संग होता है 'यह मिले तो ठीक है'। तब कामना उत्पन्न होती है कि 'अमुक दुकान में बहुत बढ़िया सीरा बनता है, वहाँ जाकर खायें'। इस प्रकार दो तरह का अशास्त्रीय द्वैत बताया।।४६।।

शास्त्रीय की तरह यह उपादेय न होकर हेय है इसे स्पष्ट करते हैं–

उभयं तत्त्वबोधात् प्राङ्निवार्यं बोधसिद्धये।
शमः समाहितत्वं च साधनेषु श्रुतं यतः।।५०।।

ज्ञान उत्पन्न हो सके इसके लिये सत्य को समझने से पहले ही दोनों अशास्त्रीय द्वैतों का निवारण करना आवश्यक है। ज्ञान-साधनों में क्योंकि शान्ति और एकाग्रता की गणना वेद में है (इसलिये उनके विरोधी कामना और मनोराज्य दूर करना उचित है)।

जब तक तत्त्व का बोध न हो जाये, तत्त्व समझ में नहीं आये, तब तक तत्त्वज्ञान हो जाये–इसके लिये तीव्र और मंद दोनों अशास्त्रीय द्वैत का निवारण करना पड़ता है। साधनावस्था में ही काम क्रोध आदि का भी निवारण करो और मनोराज्य का भी निवारण करो। दोनों का निवारण क्यों करना है? क्योंकि ज्ञान के साधनों में इनसे विरुद्ध दोनों बातों को गिनाया गया है : काम क्रोध आदि जो तीव्र अशास्त्रीय द्वैत है उसे हटाने का साधन शम है। मनोराज्य को हटाने का साधन समाधि का अभ्यास है जिसे यहाँ 'समाहितत्व' कहा है। समाधि के अभ्यास से मनोराज्य को हटाओ। समाधि का अभ्यास करोगे तभी मनोराज्य नहीं बनेगा। शम और समाहितत्व के द्वारा तीव्र और मंद दोनों प्रकार के अशास्त्रीय द्वैत को अर्थात् काम-क्रोधादि और मनोराज्य को हटाने के लिये श्रुति ने कहा है। तत्त्वज्ञान के पहले दोनों को हटाना ज़रूरी है क्योंकि जो ज्ञान के साधन हैं वे इनके रहते संभव नहीं।।५०।।

'पहले हेय है' कहने से शंका होती है कि फिर बोध के बाद काम, क्रोधादि हो तो क्या हर्ज़ा है, जब ज्ञान सिद्ध हो ही गया? इसके समाधान में कहते हैं–

बोधादूर्ध्वं च तद्धेयं जीवन्मुक्तिप्रसिद्धये।
कामादिक्लेशबन्धेन युक्तस्य न हि मुक्तता।।५१।।

ज्ञान के बाद भी अशास्त्रीय द्वैत त्याज्य है ताकि जीवन्मुक्ति बनी रहे। कामना आदि क्लेशों के बन्धन से बंधा रहते मुक्त नहीं है।

ज्ञान की प्राप्ति हो जाना अर्थात् निश्चय होना कि मैं ब्रह्म ही हूँ। यह निश्चय होने पर भी अभी मन ख़त्म हुआ नहीं है। यह तो निश्चित है कि जिसको तत्त्वज्ञान हो गया उसकी विदेह मुक्ति हो जायेगी क्योंकि ज्ञान सारे संचित कर्मों को नष्ट कर देगा, आगामी कर्म बनेंगे नहीं, प्रारब्ध जब तक बाकी है तब तक भोगना ही पड़ेगा। किंतु कामनादि नष्ट न हुए तो जीवनकाल में बंधनानुभव ही रहेगा, मोक्षानुभव नहीं होगा। जीते हुए मुक्ति का जो विलक्षण रसास्वादन है

वह कामनादि हटाने पर ही प्रकट होता है। शास्त्रकारों ने कहा है कि नित्यमुक्त आत्मा क्यों मनुष्य के शरीर में आया है? जीवन्मुक्ति का विलक्षण आनन्द लेने के लिये ही आया है। जीवन्मुक्ति के विलक्षण आनन्द की सिद्धि के लिये शरीर, मन आदि बने रहें, सारे कार्य करते रहें, परन्तु 'मैं' मुक्त रहे—यह स्थिति जीते हुए ही मुक्ति है। इसमें किसी प्रकार का दुःख होता ही नहीं। जीवन्मुक्ति सिद्ध हो जाये इसलिये तत्त्वज्ञान के बाद भी अशास्त्रीय तीव्र और मन्द दोनों द्वैतों को छोड़ देना है। तत्त्वज्ञान की सिद्धि के लिये छोड़ना साधनरूप में है और तत्त्वज्ञान के बाद इन्हें जीवन्मुक्ति के आनन्द की प्राप्ति के लिये छोड़ना है। भगवान् भाष्यकार ने इसे बहुत स्पष्ट किया है कि शम आदि साधन ज्ञानी में स्वभाव से रहते हैं, अज्ञानी में प्रयत्न से रहते हैं।

ऐसे समझ लेना जैसे पुराने ज़माने में हम लोग ढैया आदि सब पहाड़े याद करते थे तो झट हिसाब कर लेते थे। आजकल वैसे याद नहीं करते तो जोड़-गुणा आदि करके हिसाब निकालते हैं। स्मरणशील को क्षणभर लगता है, आधुनिक ढंग वाले को समय लगता है। यंत्र से हिसाब करने वाला पराधीन बना रहता है। इसी प्रकार यदि साधनावस्था में कामादि नियंत्रित कर तत्त्वज्ञान पा लिया तो बाद में प्रयासपूर्वक भले ही अपनी असंगता समझ आये लेकिन एकाएक नहीं, जबकि जिसने कामना आदि का उन्मूलन ही कर लिया उसे प्रारब्ध से वृत्ति बनने के साथ ही अपनी निर्विकारता भी लगातार भासती रहती है। अतः साधनों को ब्रह्मज्ञान में स्वाभाविक हो चुकना चाहिये ऐसा आचार्य ने समझाया। उससे बगैर प्रयास के आत्मा का स्वरूपभूत आनन्द बना रहता है। साधक काफ़ी प्रयास से जिस निर्विकार स्थिति पर टिक पाता है वह सिद्ध के लिये हमेशा अनायास हो यही जीवन्मुक्ति का उपाय है। कामना से जैसे विद्वान् विचलित नहीं होता वैसे मनोराज्य से भी नहीं अतः दोनों अशास्त्रीय द्वैत छोड़े रहता है। 'प्रारब्ध से ही मिलता है' आदि विचार विद्वान् को नहीं करना पड़ता वरन् उसका वह अनुभव रहता है। अतः 'प्रारब्ध अमुक ढंग का फल दे' ऐसा उसका भाव नहीं बनता। जो सामने आये उससे निष्प्रभावित हो वह अनुभव करता है, उसमें किसी तरह उलझता नहीं। ज्ञान के बाद जिसने कामना आदि नियंत्रित नहीं किये वह भी अज्ञानी की तरह अशान्त तो नहीं होता लेकिन नित्य-निरन्तर शांत भी नहीं रहता। साधनदशा की तरह ज्ञान के बाद भी इन अशास्त्रीय द्वैतों को हटाने पर ही जीवन्मुक्ति संभव है। अन्यथा कामना आदि क्लेशों का बन्धन बना रहने से मुक्ति ही नहीं है!

भगवान् पतञ्जलि अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश इन पाँचों का नाम क्लेश बताते हैं। अविद्या होने पर 'मैं' की भावना आती है। 'मैं' एक वृत्ति है, वह मेरा स्वरूप नहीं हो सकती। अज्ञान के कारण उस वृत्ति को हम अपना स्वरूप देखते हैं, हम समझते हैं कि 'यही मैं हूँ'। बच्चा काँच में अपने को ही देखता है, सोचता है कि इसमें कोई दूसरा बच्चा है उसे आवाज़ देता है—'आओ, खेलें।' उसे क्या आना है! बच्चा रोने लगता है। माँ पूछती है—'क्यों रो रहा है?' कहता है कि 'यह मेरे साथ खेलने नहीं आता।' जैसे दर्पण में जो चेहरा दीख रहा

है वह चेहरा वहाँ है नहीं, भ्रम के कारण वैसा प्रतीत हो जाता है, उसी प्रकार मैं-वृत्ति के अन्दर प्रत्यगात्मा की छाया को देखकर हम समझते हैं कि यही मैं हूँ। वस्तुतः वह मैं नहीं हूँ, मैं तो बिम्ब है जो उसमें प्रतिबिम्बित हुआ प्रतीत होता है।

अविद्या के कारण यह अस्मिता होती है। जैसे ही मैं को अपना स्वरूप माना वैसे ही अंतःकरण हावी हो जाता है। अंतःकरण के अन्दर संस्कार पड़े हुए हैं, उन संस्कारों के कारण मैं-वृत्ति के अन्दर राग, द्वेष आदि होंगे ही। जैसे संस्कार होंगे वैसे ही राग-द्वेष भी प्रकट होंगे। किसी ने फूलों की माला पहनाई तो मन में होगा कि 'बड़ा अच्छा आदमी है, भक्त है'। किसी ने जूतों की माला पहना दी तो द्वेष होगा कि 'यह महादुष्ट है, महानास्तिक लगता है।' यह सब इसलिये होता है कि अपने में अस्मिता बैठी है जिसके कारण शरीर के साथ तादात्म्य होकर शरीर के साथ किया व्यवहार अपने साथ किया लगता है। अगर किसी दूसरे को जूतों की माला पहनायी हो तो जैसे हमारे मन में होता है कि *उसका* अपमान हुआ वैसे अपने शरीर से हुए व्यवहार के बारे में नहीं हो पाता।

अज्ञान के कारण अस्मिता, अस्मिता के कारण राग, द्वेष और तब अभिनिवेश होता है कि इस शरीर को छोड़कर मैं कभी नहीं रहूँ, यह शरीर हमेशा मेरे पास ही रहे। ये पाँचों क्लेश हैं। बीज तो अविद्या है। अज्ञान है तब आगे सारा खेल चलता है। यदि ये कामादि क्लेश बन्धन हैं तो इन से जो युक्त है वह मुक्त नहीं है। निश्चय जानो कि तब तक अविद्या का बीज अभी नष्ट नहीं हुआ है। जीवन्मुक्ति की जब तक सिद्धि न हो जाये तब तक मनोराज्य को भी छोड़ना है, काम क्रोध आदि को तो छोड़ना ही है। शास्त्रीय द्वैत तो निरुपयोग होने से हेय है, अशास्त्रीय इसलिये हेय है कि जीवन्मुक्ति में रुकावट डालता है।। ५१।।

प्रश्न होता है कि तत्त्वज्ञान से विदेह मुक्ति निश्चित हो गयी तो जीवन्मुक्ति न होने से क्या हानि? वैसे भी जीवन्मुक्ति प्रतीतिमात्रसिद्ध दशा है अतः 'आपाततः' ही मोक्ष है; वास्तविक नहीं है, प्रारब्ध नामक उपाधि से प्रयुक्त है और औपाधिक कभी सत्य नहीं होता। इसका उत्तर समझाते हैं कि मुमुक्षु वही है जो कैसा भी दुःख न सहना चाहे। जिसे सांसारिक क्लेश हेय नहीं लगते वह तो तत्त्वज्ञान का भी अधिकारी नहीं, उसे विदेह भी मोक्ष नहीं मिलेगा। जो यहीं मुक्त हो चुका वही प्रारब्ध-समाप्ति पर मुक्त हो सकेगा–

जीवन्मुक्तिरियं मा भूज्जन्माभावे त्वहं कृती।
तर्हि जन्मापि तेऽस्त्वेव स्वर्गमात्रात् कृती भवान्।।५२।।

(अगर कहो कि) यह जीवन्मुक्ति भले ही न हो, आगे जन्म न होने से ही मैं कृतार्थ हूँ; तो (सच्चाई समझ लो–) तुम्हारा जन्म भी अवश्य होगा क्योंकि तुम केवल स्वर्ग से कृतार्थ हो!

वैराग्य के दो रूप हैं–एक, दुःखजन्य वैराग्य होता है और दूसरा विचारजन्य वैराग्य होता है। 'मुझे दुःख नहीं चाहिए, सुख ही चाहिए' इस तरह दुःख का कभी अनुभव न हो– इतने मात्र को ही जो चाहता है, उसे दुःखजन्य वैराग्य है। 'संसारमेव निस्सारं दृष्ट्वा सारदिदृक्षया' 'चाहे

जितनी विषय-सुख की प्राप्ति हो जाये वह सब निस्सार ही है' यह समझकर जो सार ही पाना चाहता है उसे विचारजन्य वैराग्य है। विचारजन्य वैराग्य नित्य-अनित्य का, सत्य-असत्य का विचार करने से आता है। इससे प्रतिकूलता-अनुकूलता दोनों ही एक जैसी निस्सार प्रतीत होती हैं। प्रायः प्रतिकूल अनुभव से बचने के लिए मनुष्य परमात्मा की तरफ जाता है। प्रतिकूल अनुभव न हो, अनुकूल अनुभव होता रहे तो कोई हर्ज़ा महसूस नहीं होता। प्रतिकूल अनुभव कुछ तो देखे जाते हैं जैसे रोग, धन का नाश इत्यादि। कुछ प्रतिकूल अनुभव देखे तो नहीं जाते, परन्तु सुने जाते हैं। 'यहाँ से मरकर जाने पर बड़ी भारी पीप से भरी हुई वैतरणी नदी आती है जिसे पार करना पड़ता है, यमराज के भयंकर दूत यातना देते हुए ले जाते हैं' इत्यादि दुःख हमारे देखे हुए नहीं परन्तु सुने हुए हैं। 'प्रतिकूल अनुभव कहीं न हो, यहाँ अनुकूल अनुभव बना रहे'—यह उनकी दृष्टि है जिन्हें दुःखजन्य वैराग्य है। विचारजन्य वैराग्य वाला जानता है कि अनुकूल-वेदन भी वस्तुतः निस्तत्त्व है, उसके लिए भी विषयों के साथ ही सम्पर्क होता है जो जीवन का प्रयोजन नहीं। जिसको यह विचारजन्य वैराग्य है वही मोक्ष का अधिकारी है, दूसरा मोक्ष का अधिकारी नहीं है।

'जीवन्मुक्ति भले ही न हो' कहने वाले साधक का अभिप्राय है कि जीते हुए मुक्ति का अनुभव नहीं होगा, इतना ही कामना-मनोराज्य आदि न छोड़ने से दोष है किंतु ज्ञान हो जाने के बाद विदेहमोक्ष निश्चित ही है। काम, क्रोध आदि और मनोराज्य के कारण यहाँ, जीते हुए, मोक्ष का अनुभव नहीं होगा तो न होवे, विदेह कैवल्य सुनिश्चित है यही पर्याप्त है। अच्छा सुखमय जीवन बीत रहा है, थोड़ा-बहुत कभी इसमें कुछ बुखार या सिर दर्द आदि दुःख हो गया तो कोई बात नहीं है। मरकर तो मोक्ष हो ही जायेगा, फिर दुःख होगा नहीं।—इस प्रकार की बात वही कहता है जो दुःखजन्य वैराग्य वाला है। इस जन्म के बाद आगे शरीर न मिले, इतने मात्र से ही उसे कृतकृत्यता है। किंतु आचार्य सावधान करते हैं कि यदि ऐसा तुम सोचते हो तो तुम्हें ज्ञान की योग्यता ही नहीं मिली, विवेक-वैराग्य से ही वंचित हो। यदि कोई तुम्हें कह दे 'आगे तुम हमेशा सुखी रहोगे' तो तुम वही चुन लोगे क्योंकि तुम यही चाहते हो, तुम मुक्ति के अधिकारी नहीं हो। तुम्हें दुःख से ही बचने की इच्छा है, जन्म से नहीं। स्वर्ग में सुखमय जन्म मिले तो भी कृतकृत्यता ही समझोगे। फिर तो तुम स्वर्ग जाकर ही सुखी हो जाओ, मोक्ष के अधिकारी नहीं हो। मोक्ष का अधिकारी वह होता है जो चाहे जितना सुख संसार में हो, निश्चय जाने कि है वह निस्सार ही। निस्सारता का मूल कारण है मायिक होना। जिस प्रकार बाज़ीगर तुम्हें हज़ार-हज़ार के नोटों की गड्डी दे या बाज़ीगर तुमको सिर-दर्द दे, दोनों ही मायिक होने से निस्सार हैं। न उन नोटों की गड्डी से कोई लाभ है और न उसके दिए हुए सिरदर्द से कोई नुकसान है। इसी प्रकार आगे के जन्म सर्वथा तुम्हारे अनुकूल और सुख देने वाले हों तो भी व्यर्थ हैं। केवल सुखार्थी मुमुक्षु नहीं, दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति भी चाहने वाला, परमार्थ सत् को पाना चाहने वाला, असत्य से प्रसन्न न होने वाला ही मुमुक्षु है।। ५२।।

स्वर्ग से कृतार्थता न मानने में हेतु दिखाते हुए कामनादि अशास्त्रीय द्वैत की हेयता स्थापित करते हैं—

क्षयातिशयदोषेण स्वर्गो हेयो यदा तदा।
स्वयं दोषतमात्माऽयं कामादिः किं न हीयते।।५३।।

अगर स्वर्ग इसलिए त्यागने योग्य मानो कि घटता (समाप्त होता) है एवं जितना हमें मिले उससे अधिक दूसरे को मिलता है, तो सर्वाधिक दोषरूप ये कामना आदि क्यों नहीं त्यागते?

यदि तुम यह कहते हो कि 'मैं स्वर्ग नहीं चाहता क्योंकि 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' पुण्य घटने पर वापिस आना पड़ता है', तो स्वर्ग की तरह कामादि भी ऐसे ही हैं। स्वर्ग नित्य निरंतर सुख नहीं दे सकता इसलिए जो स्वर्ग नहीं चाहता वह कामना आदि कैसे चाहेगा जो सदा सुखद नहीं? विषय और इन्द्रिय का संयोग ही अविवेकी को दुःख देता हो ऐसा नहीं है, वह प्रतिकूल होता है तब दुःख देता है। इसी प्रकार जब स्वर्ग से नीचे आना पड़ेगा गिरना पड़ेगा, तब दुःख होगा, इसलिए वह स्वर्ग नहीं चाहता। ऐसा सोचने वाले का मतलब है कि जिस चीज़ के अन्दर दोष हो, वह नहीं चाहता। उसे कहते हैं—विचार करो कि कामना आदि और मनोराज्य—ये खुद ही 'दोषतम' हैं, अत्यंत अधिक दोष वाले हैं। कण-कण और क्षण-क्षण में रहने वाला मैं, किसी एक उपाधि के परिच्छेद की इच्छा करूँ, इससे बड़ा दोष और क्या होगा! यह वैसी ही बात है कि जैसे अरबों रुपयों का मालिक टट्टी-पेशाब में पड़े हुए दो पैसे का इच्छुक होकर यह सोचे कि हाथ खराब होंगे तो धो लेंगे, क्या हर्ज़ा है! इस प्रकार से यह विचार है कि विषय और इन्द्रियों के संयोग से सुख तो मिल जायेगा, ये मायिक या मिथ्या हों इसमें क्या हर्ज़ा है! काम-क्रोध और मनोराज्य स्वयम् अत्यधिक दोषरूप हैं, उनसे क्यों नहीं बचना चाहते? विषयेन्द्रिय-संयोग हो ही नहीं—यह क्यों नहीं चाहते ? जैसे स्वर्ग से गिरना पड़ता है वैसे तुम अपने व्यापकभाव को छोड़कर अत्यंत हीन उपाधि, जो केवल तुम्हारी इन्द्रियों को तृप्त कर सकती है उसके लिए इच्छा कर रहे हो, यह कितना बड़ा दोष है। तुम जीवन्मुक्ति इसलिए नहीं चाहते कि ऐहिक भोगों की प्राप्ति होती रहे अतः अविवेकपूर्ण रागादि से ग्रस्त हो। यह बात केवल काल्पनिक नहीं है। कई लोग कहते हैं कि 'जन्म-मरण का चक्र छूट जाये, यहाँ इन्द्रियों की प्रवृत्ति से विषयसंयोग भले ही हो, कोई हर्ज़ा नहीं है'। ऐसी भावना तभी होगी जब विषयों के प्रति कामना है अतः अपने मन के अनुसार न होने पर क्रोध उत्पन्न होगा। ये सब दोष तुम्हारे व्यापकभाव को खंडित करने वाले हैं अतः दोषतम हैं।।५३।।

इह लोक के उपयोगी कामना आदि यदि बने रहे तो जो हानि संभव है उसे स्पष्ट करते हैं—

तत्त्वं बुद्ध्वापि कामादीन् निःशेषं न जहासि चेत्।
यथेष्टाचरणं ते स्यात् कर्मशास्त्रातिलङ्घिनः।।५४।।

'तत्त्व समझ चुका' मानकर यदि कामनादि को सर्वथा नहीं छोड़ते हो तो क्योंकि कर्म-शास्त्र का उल्लंघन स्वाभाविक होगा इसलिए तुमसे मनमर्ज़ी का आचरण हुआ करेगा।

श्रवण करके जिसने इस बात को समझ लिया कि यह सारा संसार ब्रह्म में वैसे ही कल्पित है जैसे रस्सी में सर्प कल्पित है, अर्थात् इसके मिथ्यात्व का निश्चय कर लिया है वह भी यदि इसे नहीं छोड़ना चाहता तो यह एक आश्चर्य है। पुराणों में एक कहानी आती है : एक आदमी ने राजा से कहा 'मेरी पत्नी खो गई है, उसको आप ढूँढवा दीजिये।' राजा ने कहा 'मैं ढूँढने के लिए कोशिश करता हूँ। पहले तुम अपनी पत्नी का रंग-रूप आदि हुलिया बताओ'। उसने बताना शुरू किया 'मेरी पत्नी कोयले के रंग जैसी है, उसके दो दाँत बाहर को निकले हुए होठों पर टिके रहते हैं। उसके होठ इतने मोटे है मानो हाथी के होठ हों। कान बिलकुल सूपड़े की तरह हैं। वह बोलती है तो ऐसा लगता है मानो गधा रेंग रहा हो। गुस्सा इतना भयंकर करती है कि छोटी-सी बात पर लकड़ी लेकर पीछे दौड़ती है, गालियाँ देना मामूली बात है। राजन्! यह मैं कोई उसकी बुराई नहीं कर रहा हूँ, वह मेरी प्रिय पत्नी है। आपने पहचान पूछी है, इसलिए बता रहा हूँ। उसकी निन्दा नहीं कर रहा हूँ।' इन सब बातों को सुनकर राजा कहने लगा कि 'वह गई तो जाने दो, तुम्हारे लिए कोई दूसरी औरत ढूँढ देता हूँ।' उसने डाँट कर कहा—'खबरदार राजन्! ऐसी बात नहीं करना। मैं अपनी पत्नी से अन्य किसी स्त्री पर कुदृष्टि नहीं करता हूँ।'

ब्रह्मज्ञान 'उत्' है, वह बना रहे यह 'उत्-तर' है तथा हिले ही नहीं यह 'उत्-तम' है। इसके लिए पहले उपनिषद् आदि सच्छास्त्रों का गहन विचार चाहिये। विचार अर्थात् शास्त्र में वि-चरण करना, विशेषतः घूमना। पुनः पुनः उपक्रमादि लिङ्गों के अनुसार तात्पर्य-अवधारण का नाम विचार है। उपनिषदों का अभिप्राय स्पष्ट करने के लिए ही ब्रह्मसूत्र आदि अन्य भी अनेक सहायक ग्रंथ हैं, उन पर भी चिन्तन आवश्यक है तभी शास्त्र का विचार पर्याप्त होगा। जैसे रोग-निवारणार्थ औषध का ज्ञान चिकित्सा-विज्ञान के विचार से ही संभव है—भले ही रोगी स्वयं करे या जानकार वैद्य करे तथा रोगी उसके निर्देश का पालन करे—वैसे मुमुक्षु या गुरु पर श्रद्धापूर्वक साधना करे या स्वयं विचार करे—ये ही विकल्प हैं। भूखा कमज़ोर हाजमे वाला है तो खिचड़ी खाये या हाजमा मज़बूत करे तभी खीर-पूड़ी पाकर भूख मिटा पायेगा, वैसे या गुरु के विचार पर श्रद्धा रखे या खुद विचार करे तभी साधक मोक्ष पायेगा। स्वयं विचार में असमर्थ हो तथा गुरु पर श्रद्धा करे नहीं तो साधना सम्भव नहीं। जगत् नहीं है—ऐसा अनुभव आवश्यक है, चाहे गुरुवाक्य से हो चाहे शास्त्र-विचार से। विचार भी 'अलम्' अर्थात् पर्याप्त चाहिये, अतिदृढ अप्रकम्प्य निश्चय-पर्यन्त विचार के बिना प्रत्यक्ष-उपलब्ध द्वैत का निषेध हृदयंगत नहीं होता। राम जी ने अकेली माण्डूक्य को भी मुमुक्षु के लिए पर्याप्त बताया है, उसी के भलीभाँति विचार से मोक्ष संभव है। उतने से सन्तोष न हो तो दस उपनिषदें पढ़े, एक सौ आठ पढ़े, सारा वेद पढ़े, सूत्रादि सहायक ग्रंथ पढ़े; जैसे हो वैसे निर्णय पर पहुँचे कि द्वैत है ही नहीं, एकमात्र सच्चिदानन्द है। समझने के बाद उसकी वासना दृढ बनाने के लिए आपस में उसी का कथनादि करे। साथियों से, शिष्यों से अद्वैत की ही चर्चा करने से न केवल उन्हें इसे ग्रहण कराया जाता

है वरन् उनकी विभिन्न शंकाओं के निवारण के प्रयास से स्वयं भी निःसन्देहता आती है एवं ज्ञानका संस्कार पुष्ट होता है। जैसे न कम न अधिक पानी में धीमी आँच पर चावल पकाते हैं वैसे शास्त्र की समझ धीरे-धीरे अपनी समझ बनानी पड़ती है। अधिक पानी में उबालकर पानी फैंक दें तो चावल जैसे शक्तिहीन हो जाता है वैसे स्वयं के अनुभव में न उतरा शास्त्रज्ञान निस्तेज रहता है। जैसे माँड जिसे मिलेगी वह ताकत पायेगा, माँड-निकला चावल खाने वाला कमज़ोर रह जायेगा वैसे स्वानुभव में न उतरा ज्ञान दूसरों को भले ही लाभ दे किंतु खुद के लिए व्यर्थ है। अतः शनैः शनैः अपनी शास्त्रप्रज्ञा को विकसित करना ही हितकर है। प्रारंभ में शास्त्र का या गुरु का ज्ञान ग्रहण होता है पर उसे 'मेरा ज्ञान' बनाने पर्यन्त विचार कर्त्तव्य है।

ठीक इसी प्रकार से जो कहता है 'मुझे जीवन्मुक्ति नहीं चाहिये' और यह भी कहता है 'संसार बड़ा दुःखमय है, मिथ्या है, इसमें कोई तत्त्व नहीं है, फिर भी इसमें सुख है तो इष्ट ही', वह वस्तुतः मिथ्यात्वदर्शी नहीं। चाहे जितनी बुराइयाँ हो, हमें पत्नी तो यह संसार ही चाहिये। संसार में दृष्ट सुख तभी आयेगा, जब विषय-कामना होगी। संसार-सुख चाहने वाला इसीलिए कामना आदि छोड़ना नहीं चाहता। 'निःशेषं कामादीन्' इसलिये कहा कि इस रास्ते चला है तो शास्त्रविरुद्ध कामादि को छोड़ चुका है। अन्यथा मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति ही नहीं होगी। परन्तु कामना हो ही नहीं—ऐसा वह नहीं चाहता। जिन शास्त्रविरुद्ध कामनाओं को छोड़ा है वह इसीलिए कि उनसे पाप होकर दुःख होगा। जान लिया कि आत्मा को तो पाप लगता नहीं है। इस तरह, जिस कारण से ग़लत आचरण छोड़ा था वह समाप्त हो गया क्योंकि इस बात को जान लिया कि कर्मों से कभी दुःख तो होना ही नहीं है तब फिर कर्मशास्त्र के बन्धन में क्यों रहेंगे? शास्त्र का उल्लंघन करेंगे ही, जो मर्ज़ी सो आचरण करेंगे। इसलिए उपनिषदों में इस बात को कहा है—तत्त्व को जो ठीक प्रकार से समझ नहीं पाता अथवा कुछ बातों को ठीक समझता है और बाकी बातों को ग़लत समझता है, उसे यदि कहा 'तू ब्रह्मस्वरूप है, पाप-पुण्य तो केवल मन की कल्पना है' इत्यादि; तो वह यथेष्ट आचरण करने लगेगा क्योंकि समझेगा कि 'ब्रह्मज्ञान हो गया, इसलिए अब मेरा कुछ नहीं बिगड़ेगा,' इस तरह उसे नरक की ओर मानो भेज दिया। 'आत्मा एक शुद्ध है, मेरा स्वरूप है', इस रूप से जानता है परन्तु जिस समय अहंकारात्मिका वृत्ति बनती है उस समय में वृत्तिरूप ही मैं हूँ—ऐसा निश्चय करता है। केवल परोक्ष रूप से जानता है कि मैं 'शुद्ध-स्वरूप है,' अनुभव तो अशुद्ध रूप का करता है। अशुद्ध रूप का अनुभव करते हुए ही गुरु, शास्त्र के उपदेश से जान-मात्र लिया कि वास्तविक स्वरूप से शुद्ध हूँ लेकिन इतने से अध्यास तो निवृत्त होता नहीं है।

अध्यास निवृत्त नहीं होने से जो चीज़ें शरीर और मन को सुख देती हैं उनके प्रति अनुकूल बुद्धि हो जाती है। कह देते हैं कि 'यह तो शरीर-इन्द्रियों का धर्म है', परन्तु अनुभवस्तर पर मैं का सम्पर्क ही रहता है। ऐसा व्यक्ति जब अनुकूल वेदन होता है, सुख का अनुभव होता है, तब तो यथेष्ट आचरण कर लेता है, परन्तु जब दुःख आता है तब 'गुणा गुणेषु वर्तन्ते' का भाव नहीं रह पाता! सुख के समय तो लगता है कि 'भोग कर लिया तो क्या हर्ज़ा है'। परन्तु दुःख आने

पर घबराहट ही होती है। जहाँ अपरोक्ष ज्ञान की दृढता होगी वहाँ न सुखकाल में वह अपने को सुखी समझ पायेगा और शरीर मन के दुःख भोगने पर भी उसे किंचित् भी दुःख नहीं होगा क्योंकि अपनी ब्रह्मरूपता का कभी भी, क्षणमात्र को भी लोप नहीं होता। अज्ञ, अर्धप्रबुद्ध कहनेभर का ज्ञानी है, उसे वास्तव में ज्ञान हुआ नहीं अतः कर्म तो नष्ट होंगे नहीं इसलिए ज्ञानी होने के भ्रम में पाप करने के कारण बड़े नरकों की तरफ चला जायेगा। तात्पर्य है कि न केवल शास्त्रीय द्वैत वरन् अशास्त्रीय द्वैत भी तत्त्वज्ञ द्वारा त्यागने के योग्य है, इसके प्रति आकर्षण इसी का चिह्न है कि अभी तत्त्वज्ञान नहीं हुआ।। ५४।।

यदि कोई मोक्ष का मतलब स्वच्छन्दता समझे, यथेष्ट आचरण की छूट चाहे, तो उसे सुरेश्वराचार्य के नैष्कर्म्यसिद्धि (४.६२) के वचन से समझाते हैं—

बुद्धाद्वैतसतत्त्वस्य यथेष्टाचरणं यदि।
शुनां तत्त्वदृशां चैव को भेदोऽशुचिभक्षणे।।५५।।

वास्तविक अद्वैत समझ चुकों में यदि यथेष्टाचार हो तो कुत्तों और तत्त्ववेत्ताओं में क्या अन्तर होगा जब दोनों ही अशुद्ध वस्तु खाने में तत्पर होंगे?

'सिवाय मुझ आत्मब्रह्म के और कुछ नहीं है' ऐसे अद्वैतरूपी अपनी वास्तविकता को जिसने जान लिया, उसे फल यह हुआ कि शास्त्रीय आचार छोड़ा, तो लाभ नहीं हानि ही है। शास्त्रीय नियम न मानने की स्वतंत्रता कुत्तों को स्वतः ही है, वह पाना साधना का प्रयोजन नहीं हो सकता। लोकसिद्ध सुख न छोड़ने के पीछे हेतु अपने भोक्तृत्व को सत्य समझना ही है अतः इसे अज्ञान का चिह्न समझ लेना चाहिए।

परलोक के दुःख के भय से असद्-आचार से दूर रहा जाता है। जिसे ज्ञानी होने का भ्रम है वह मानता है कि आत्मा जन्मातीत होने से परलोक नहीं जाना पड़ेगा। इह लोक में भोक्तृत्व सत्य मानने से वह शास्त्र का उल्लंघन कर लेगा अतः पाप का भागी होकर नरक ही जायेगा। वर्तमान भोग सत्य लगते भावी भोग मिथ्या समझना अविवेकपूर्ण है। जिसे अभी ही भोग मिथ्या नहीं प्रतीत होगा उसे भविष्य में कर्मफल भोगना ही पड़ेगा। ऐसे व्यक्ति से वही बेहतर है जो स्वयं को कर्त्ता जानकर शास्त्र का अनुसरण करता रहता है। मन-मर्जी के आचार की छूट चाहना अविवेक का लक्षण है, मुमुक्षा का नहीं। अनेक लोग अत्यंत घृणित मल आदि का भक्षण कर लेते हैं पर इससे वे तत्त्वज्ञ नहीं सिद्ध होते। वस्तुतः ऐसा क्यों नहीं हो पाता है? कोई पूछे कि सचमुच ही किसी में ज्ञान हो तो वह शास्त्रोल्लंघन क्यों नहीं कर सकता है? इसका उत्तर भगवान् सुरेश्वराचार्य ने अगले श्लोक में स्पष्ट किया है कि पाप कर्म अज्ञान से होता है। तत्त्वज्ञान की साधना के प्रारंभ में ही व्यक्ति पाप छोड़ चुकता है। मन शुद्ध होने पर उसका अज्ञान मिट जाता है। न दुराचार का कारण अज्ञान रहा, न दुराचार के संस्कार रहे तो ज्ञानी में पाप कैसे उपलब्ध होंगे? शक्कर का रोगी जब समझ लेता है कि शक्कर खाने से उसका रोग बढ़ता है तब वह शक्कर खा नहीं सकता। जिसे निश्चय नहीं वही परहेज न करे यह सम्भव है।

ग़लत काम करने का मूल कारण अज्ञान ही है। अज्ञान से तुमको ग़लत के अन्दर अच्छे का भ्रम हो जाता है। जो चीज़ जैसी नहीं है, उसको वैसा समझ लेते हो यही भ्रम है। शास्त्र-उल्लंघन को इष्टोपाय समझना भ्रम है जिससे व्यक्ति पाप करता है। मल, मूत्र आदि अशुद्ध वस्तु में भी उपादेयता की भ्रान्ति हो जाये तो व्यक्ति उन्हें खा-पी लेता है। अज्ञान केवल पाप का ही कारण नहीं है, कर्ममात्र का कारण है। शरीर से लेकर अहंकार पर्यन्त यह सब मैं नहीं हूँ। फिर भी मैं-बुद्धि है इसीलिए हमसे सारे कर्म होते हैं। अज्ञान की निवृत्ति होने पर कोई कर्म हो सके यह संभव नहीं। 'यत्र धर्मोऽपि नेष्यते', उस स्थिति में धर्म भी किया जाए यह संभव नहीं तो अधर्म हो सकेगा इसे कैसे माना जाये? साधारण विचारशील भी पाप को करने लायक नहीं समझता, पाप से दूर रहता है तो तत्त्वज्ञान होने पर व्यक्ति पाप के लिए प्रवृत्त होगा—यह व्यर्थ की शंका है। तत्त्वज्ञान तो धर्म का कार्य है, प्रभाव है। जब तत्त्वबोध हो गया तब पाप-प्रवृत्ति नहीं ही होगी। पहले अधर्म को छोड़ा, धर्म में गए, फिर धर्म से आगे गए शम, दम आदि में। फिर उससे भी आगे आत्मज्ञान में पहुँचे। इतना आगे गए हुए फिर पाप तक कैसे पहुँचेंगे? अगर कोई पहुँचता है तो निश्चय है कि अभी ज्ञान हुआ ही नहीं है। जिस प्रकार बहुत बड़े लेखक व्यास, वाल्मीकि, माघ, भारवि आदि के ग्रन्थों में हमें यदि कोई प्रयोग सामान्य व्याकरण के विरुद्ध मिलता है तो कहते हैं कि 'यह ग़लती नहीं है, आर्ष प्रयोग है' अर्थात् वह प्रयोग अब नहीं चलता है परन्तु उन्होंने तो ठीक ही लिखा है। परन्तु यदि तुम्हारा बच्चा वैसा लिखकर लायेगा तो उसे समझाकर कहेंगे कि वह गलत है और ठीक प्रयोग क्या है। जो व्यक्ति एक लाख श्लोक बिलकुल ठीक लिखता है उसके प्रयोग प्रतीत ग़लत होने पर भी ठीक हैं जबकि जो ग़लतियों की भरमार करे उसके लेख में प्रामाणिकता नहीं मानी जाती। जिसका अज्ञान हट गया, उसने पहले अधर्म को धर्म से छोड़ा; फिर धर्म का अतिक्रमण करके शम, दम आदि में गया; फिर शम, दम आदि का भी अतिक्रमण करके अपने स्वरूप में पहुँच गया। अब वह वापिस अधर्म में कैसे चला जायेगा!।।५५।।

अविद्या स्वतः तो दुःख देती नहीं। अन्यथा गहरी नींद में भी दुःख ही होता। अविद्या के द्वारा होने वाले राग-द्वेष ही स्फुट दुःख देने वाले हैं। यदि राग-द्वेष की निवृत्ति नहीं हुई है तो क्लेश-निवृत्ति नहीं है। चूँकि अज्ञान से मनुष्य मनमाना आचरण करता है इसलिए मनमाना आचरण तो पशुवत् आचरण है जिसकी आशा उससे नहीं जिसकी अविद्या निवृत्त हो चुकी है। इतना ही नहीं—

बोधात् पुरा मनोदोषमात्रात् क्लिश्नास्यथाऽधुना।
अशेषलोकनिन्दा चेत्यहो ते बोधवैभवम्।।५६।।

ज्ञान से पूर्व केवल अपने मन के दोषों के कारण क्लेश का अनुभव कर रहे हो, ज्ञान के बाद अब सब लोगों द्वारा की जाती निन्दा का क्लेश और जुड़ गया—ऐसी तुम्हारी ज्ञान की महत्ता आश्चर्यकारी है।

जब तक तुम्हें ऐसा अभिमान नहीं हुआ कि ज्ञान हो गया है तब तो तुम्हारे मन के दोषों से ही क्लेश होता है। कुत्ते के सदृश आचरण क्यों करते हो? क्योंकि तुमने समझ लिया कि अब तो ज्ञान हो गया है, मनमाना आचरण किया जा सकता है। इस समझ से पहले तुम्हारे मन में दोष आते थे तो तुम्हें क्लेश होता था कि 'अभी तक मेरे ये दोष हटे क्यों नहीं।' मन में आता था परन्तु पाप के डर से, नरक जाने के डर से उन दोषों को रोक लेते थे क्योंकि मन में दुःख होता था कि 'काम क्रोध मुझे सता रहे हैं'। उस स्थिति में लोगों के द्वारा निन्दित नहीं होते थे। तुम्हारे मन में चाहे जितने काम क्रोध हों, दुनिया के लोग तो तब देखेंगे जब उसके अनुसार बाहर क्रिया करो। जब ग़लत काम देखेंगे तो निन्दा भी करेंगे। 'अथ', ज्ञानाभिमान के बाद ग़लत काम करने पर सोचोगे कि 'ऐसा करूँगा तो नरक नहीं जाना पड़ेगा क्योंकि आत्मा तो असंग है।' 'अधुना' अब भी राग-द्वेष तो होंगे जिनसे मन में क्लेश होगा ही परन्तु साथ में ग़लत आचरण से सारी दुनिया तुम्हारे ऊपर थू-थू भी करेगी। मनोदोषों का क्लेश रहा ही, सब लोगों द्वारा की जाती निन्दा और जुड़ गई! भगवान् ने अर्जुन से भी ऐसा ही कहा था कि तू दुर्योधनादि पर दया करके युद्ध छोड़ रहा है, यह बात कोई नहीं समझेगा, 'डरकर भाग गया' यही निन्दा सब करेंगे। जिस आदमी की एक बार लोक में प्रशंसा होती है, सब लोग उसे अच्छा समझते हैं। फिर किसी कारण से उसकी अपकीर्ति हो जाये तो वह उसे मरण से भी ज़्यादा दुःखदायी होती है। इसलिए भगवान् ने उसे दोनों विकल्प कहे कि यदि जनक आदि की तरह ज्ञानी है तो अकर्तृ-आत्मबोध के द्वारा लोकसंग्रह के लिए कर्म कर और अगर ऐसा नहीं है तो क्षत्रिय कुल में उत्पन्न हुआ अपने को क्षत्रिय समझता है इसलिए कर्म कर। यही बात यहाँ कह रहे हैं कि साधकावस्था में बाह्य सदाचार से 'संभावित' अर्थात् आदर पाये व्यक्ति को सिद्धावस्था में असद्-आचारनिमित्तक निन्दा का पात्र नहीं बनना चाहिए क्योंकि वह असह्य कष्ट का ही हेतु होगा। यह एक प्रकार से उसकी हँसी उड़ा रहे हैं जो मान रहा है कि बोध का महत्त्व है कि विद्वान् पाप कर सकता है। जिसको लोक में कहते हैं कि 'चौबे गये छब्बे बनने दूबे बनकर घर को आये' वैसे यदि पापप्रवृत्ति होने लगी तो ज्ञान के बजाये अज्ञान की ही गहनता में वृद्धि का चिह्न होगा। किंच मानस क्लेश से अतिरिक्त निंदा-दुःख का बढ़ना भी अनिष्ट ही है।।५६।।

विड्वराहादितुल्यत्वं मा कांक्षीस्तत्त्वविद् भवान्।
सर्वधीदोषसंत्यागाल्लोकैः पूज्यस्व देववत्।।५७।।

जो स्वयं को तत्त्वज्ञ समझ रहे हैं ऐसे आप विष्ठाभक्षी सुअर आदि की समानता मत पाना चाहिए वरन् बुद्धि के सारे दोष छोड़कर संसार में लोगों द्वारा देवता की तरह पूजे जाइये।

शास्त्र बताता है कि बहुत जन्मों के सात्त्विक आचार-विचार के फलस्वरूप अतिशुद्ध मन वाला व्यक्ति परमेश्वर को समझता है। ऐसा बनकर उस सर्वोत्कर्ष के अनुरूप रहने में तो बुद्धिमानी है, न कि अतिनिकृष्ट तुच्छ भोगों के आकर्षण से पशुतुल्य बनने में। अनियंत्रित आचार न केवल व्यक्ति वरन् उसकी विद्या की भी निंदा का हेतु बनता है। 'सुअर की तरह जो

मर्ज़ी सो खा सकूँ' ऐसी इच्छा मुमुक्षु में संभव नहीं। टट्टी खाने वाले सुअर को बहुत गंदा प्राणी मानते हैं। आचार्य प्रष्टा से कहते हैं 'वैसा मत बनना चाहो, उसकी जगह जो भी तुम्हारी बुद्धि के दोष काम, क्रोधादि हैं उन्हें भलीभाँति छोड़ दो और सब लोगों के द्वारा देवता की तरह पूज्य बनो।' ज्ञानी की पूजा सबसे उत्कृष्ट मानी गई है। सदाचारी रहे तो लोकदृष्टि में भी उस पूजा के हकदार हो जाओगे। तुम्हारे काम, क्रोधादि को देखकर तो सारे लोग तुम्हारी निन्दा करेंगे और सदाचारी रह गये तो सारे लोग तुम्हारी पूजा करेंगे। 'तत्त्वविद् भवान्' इस दृष्टि से नहीं कह रहे कि उपहास कर रहे हों। सामान्य नियम हम लोगों का है कि किसी की मान्यता को भंग करने से कोई फ़ायदा नहीं है, बल्कि वह वहाँ से आगे कैसे जाये इसका प्रयत्न करना चाहिए। यद्यपि जो ज्ञानोत्तर अशास्त्रीय द्वैत छोड़ना नहीं चाह रहा वह तत्त्वज्ञ नहीं वरन् अविवेकी मूर्ख ही है तथापि वेदान्ताचार्य किसी को हतोत्साह न कर प्रोत्साहित ही करते हैं अतः उसे सदाचार की ही प्रेरणा दे रहे हैं। जब उत्कृष्ट साधन करके उसका दोष हट जायेगा तब अपने आप समझ लेगा कि 'पहले मैं बेवकूफी से अपने आप को ज्ञानी समझ रहा था'। अधिकार-दृष्टि से क्रम समझकर अधिकारी-भेद स्वीकारना सनातन धर्म की एक विशेषता है। जो जहाँ है उसको वहीं से आगे ले जाने का उपाय सनातन धर्म बताता है।।५७।।

धीदोषों का त्याग कैसे होगा? इसका उपाय भी बता देते हैं—

काम्यादिदोषदृष्ट्याद्याः कामादित्यागहेतवः।
प्रसिद्धा मोक्षशास्त्रेषु तानन्विष्य सुखी भव।।५८।।

कमनीय विषय आदि के दोष देखना आदि कारण हैं जिनसे कामनादि छूटते हैं। मोक्ष-शास्त्रों में ये उपाय प्रसिद्ध हैं, उन्हें खोजकर सुखी रहो।

काम्य अर्थात् जिस चीज़ की कामना की जाती है, कामना का विषय स्त्री, पुत्र, धन आदि। 'आदि' अर्थात् जिस चीज़ के प्रति द्वेष किया जाता है उसके भी दोष समझना। राग और द्वेष के विषयों के प्रति अनादर विकसित करना आवश्यक है। जितने राग-द्वेष के विषय हैं वे सारे अनित्य हैं, उनमें यह एक बहुत बड़ा दोष है। किसी चीज़ के प्रति द्वेष होता है तो भाव रहता है कि यह चीज़ कब हटे, कैसे नष्ट हो जाये, किस प्रकार इसे नष्ट करूँ, इत्यादि। उस समय यह सोच लो 'यह जो दुःख आया है यह हमेशा रहने वाला नहीं है, खुद ही चला जायेगा। इसलिए मैं बेकार क्यों दुःखी हो रहा हूँ?' इसी प्रकार जब कोई राग का विषय अपनी तरफ आकृष्ट करे और उसकी प्राप्ति नहीं हो तो परेशान होते हो कि 'कैसे मिलेगा, कैसे मिलेगा'। तब सोचो कि 'जब विषय मिलेगा तब भी हमेशा रहने वाला नहीं है, चूँकि अनित्य है'। इसी प्रकार सातिशयता दोष भी है। हम जिस चीज की कामना करते हैं वह मिल जायेगी तो उससे भी बहुत ज्यादा प्राप्त किए हुए लोग रहेंगे। जो संसार के सबसे ज़्यादा धनी दस लोग होते हैं उनमें से कोई भी दस साल से ज़्यादा उस दस की सूची में नहीं रहते, प्रायः पाँच-चार साल में ही पिछड़ने लग जाते हैं। 'अधिक हो जाये' इसलिए और ज्यादा अपने उद्योग इत्यादि को बढ़ाते

हैं और जब अपनी सम्भाल से ज़्यादा हो जाता है तो पहले वाले धन को भी ले बैठता है, पहले वाला भी हाथ से निकल जाता है। सिकन्दर एक रात घूम रहा था। उसके सैनिकों ने उससे पूछा 'आप क्या चाहते हैं, सब जगह तो आप जीतते चले जा रहे हैं?' उसने कहा—'क्या बताऊँ! मेरी आँख खुली तो तारों को देखा। सोचा कि अभी तो मैंने सारी पृथ्वी ही नहीं जीती, उम्र तो बहुत कम है, इन तारों को कब जीत पाऊँगा?' पुराने लोग कहते थे 'हर सेर को सवा सेर मिलता है' सातिशय होने से विषय सुख का कारण नहीं हो पाता, 'हाय! मेरे पास ज़्यादा क्यों नहीं?' यह दुःख बना रहता है। इसी प्रकार दुःख भी सातिशय होता है, दूसरे हमसे ज़्यादा दुःखी मिलते हैं। इस सातिशयता के कारण मेरा दुःखी होना बेकार है क्योंकि मुझसे भी ज़्यादा दुःखी लोग हैं। इस प्रकार दोषों का विचार करो। यह विचार मनुष्य के राग, द्वेष, काम, क्रोधादि को त्यागने में कारण बन जाता है। स्वयं विचार करके ये दोष उपस्थित नहीं होते। इसलिए मोक्षविषयक शास्त्रों में इन्हें विस्तार से समझाया है।

मोक्षशास्त्र जैसे योगवासिष्ठ में विस्तार से एक-एक चीज़ की निन्दा को पढ़ते हैं तो वही दोषों का त्याग करने में कारण बन जाता है। इसी प्रकार शांति पर्व, सूतसंहिता आदि में भी कई जगह विषयदोषों का वर्णन मिलता है। बार-बार उनका विचार करके, अपने मन में उन्हें घटाकर के उन दोषों के कारण कामनादि से निवृत्त होकर सुखी हो जाओ। दोष-दृष्टि तभी कर लेनी चाहिए जब कामना आदि तीव्र नहीं हुए। प्रारंभ में विचार कर सकते हैं, तीव्रता आने पर विचार करना अत्यन्त कठिन हो जायेगा। उत्तम पक्ष है कि काम-क्रोध उत्पन्न हो, राग-द्वेष उत्पन्न हो उसके पहले विषय-दोषों का, कामनादि के दोषों का विचार कर लेना चाहिए। हमेशा इन के दोषों का विचार करते रहोगे तो काम-क्रोधादि आ ही नहीं पायेंगे। आने के बाद रोकने की अपेक्षा पहले ही विचार कर लेना चाहिए। उपचार करने की अपेक्षा रोकथाम कर लेना बेहतर है। शरीर में रोग का प्रतिरोध करने की क्षमता उत्पन्न कर ली जाये तो रोगाणु का आक्रमण होते ही शरीर उसका पराभव कर देता है जिससे रोग हो नहीं पाता। इसी प्रकार विषयों और कामना आदि के दोषों का विचार करते रहोगे तो किसी भी विषय के प्रति आकर्षण आदि तुम्हारे में हो ही नहीं पायेगा, संभावना के साथ ही वह कट जायेगा। किसी स्त्री को देखते ही यदि तुमको उसकी वास्तविकता याद आ जाये कि 'यह तो कंकालमात्र है', तो तुम्हारे अन्दर उसके प्रति कामवासना उत्पन्न ही नहीं हो पायेगी। सुखी होने का यह अचूक उपाय है कि विषयों में दोषदर्शन करते रहो।।५८।।

कामना आदि की तरह मनोराज्य भी हेय बताते हैं—

त्यज्यतामेष कामादिर्मनोराज्ये तु का क्षतिः।
अशेषदोषबीजत्वात् क्षतिर्भगवतेरिता।।५९।।

(यह न कहना कि) ये कामना आदि भले ही छोड़े जायें, मनोराज्य में क्या नुकसान है, क्योंकि भगवान् ने सारे दोषों का बीज होने से मनोराज्य में नुकसान बताया है।

कामना आदि से यथेष्ट प्रवृत्ति होने पर लोकनिन्दा दुःखहेतु है यह सरलता से स्वीकार हो जाता है किंतु मनोराज्य अन्यों से छिपा रहता है, निन्दा का हेतु बनता नहीं तो उसे हेय क्यों माने?—यह प्रश्न उठता है। क्रिया की पापरूपता मानने वाले भी मानस दुर्विचार को पाप नहीं मानकर मन से काल्पनिक यथेष्टाचार कर सुखी होना चाहते हैं। अज्ञानी को विषयभोग की तरह विषयचिन्तन से भी सुख होता है। संस्कृत साहित्य में 'सोमशर्मा के पिता' की कथा प्रसिद्ध है जिसने भीख में मिले सत्तू के आधार पर कल्पना से महल खड़ा कर लिया फिर काल्पनिक पत्नी को लात मारने लगा तो सत्तू ही नाली में गिरा बैठा! हिन्दी में शेख चिल्ली के किस्से प्रसिद्ध हैं। किसी को मुँह पर जवाब न दे पायें तो अकेले में बैठकर उससे काल्पनिक वार्तालाप से लोग सुखी हो लेते हैं। मन में तादात्म्य अध्यास रहते मन को सुखी करने का प्रयास उचित लगता है अतः मनोराज्य का समर्थन वादी की ओर से संगत है। मन से मैं-बुद्धि जल्दी नहीं हटती। दृढ तत्त्वज्ञान के बिना यह अध्यास नहीं मिटता। अध्यास रहते विषयचिंतन के बिना जीवन नीरस प्रतीत होता है। आचार्य भगवान् श्रीकृष्ण के वचनानुसार समझा रहे हैं कि मनोराज्य इसलिए त्याज्य है कि काम-क्रोध आदि सारे दोषों का वह बीज है। मन से अपने अभेद को और दृढ बनाने में मनोराज्य सहायक बनता है न कि मिटाने में। जब तक मन को अपना रूप समझोगे तब तक अशेष दोषों का जो बीज अविद्या-अध्यास है वह रहेगा।।५९।।

यह बात स्वयं श्रीकृष्ण ने कही है कि सारे दोषों का बीज विषयचिंतन है। गीता का श्लोक (२.६२) सुनाते हैं—

ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते।।६०।।

विषयचिन्तन करने वाले व्यक्ति को उनसे संग (आसक्ति) होता है। संग से कामना और उससे क्रोध उत्पन्न होता है।

विषयों का ध्यान ही मनोराज्य है। मनुष्य मनोराज्य बनाता है अर्थात् अन्दर ही अन्दर विषयों का चिन्तन करता है तो उन विषयों के बारे में यह भावना बन जाती है कि 'ये सुख का कारण हैं'। इससे उनमें आसक्ति हो जाती है। इसका साक्षात् दृष्टांत देखना हो तो वर्तमान विज्ञापनों का युग है। सारे विज्ञापन तुम्हें कोई चीज़ देते नहीं, तुम विषयों का ध्यान करो इसके लिए बार-बार उन्हें तुम्हारे सामने लाते हैं। जिस चीज़ का अपने लिए कोई उपयोग भी नहीं है उसका चिंतन विज्ञापन देखकर करने लगते हैं। विचार नहीं करते कि इतना लम्बा समय इन चीज़ों के बिना बीत गया, अब इन्हें बटोरने का क्या लाभ! विज्ञापन देख कर सोचते हैं कि एक बार प्रयोग करके तो देखें। इस तरह स्पष्ट है कि विषयध्यान से आसक्तिपूर्वक विषयकामना उत्पन्न होती है। जिसे अपने सुख का कारण समझोगे उसकी कामना उत्पन्न हो जायेगी, ऐसी इच्छा उत्पन्न होगी कि 'इसको प्राप्त करने के लिए मैं कुछ करूँ'। तुम उपाय करने चले और उसमें कोई रुकावट आई तो कामना पूरी न होने से क्रोध होगा। कामनापूर्ति में जो रुकावट डाले

उसके प्रति क्रोध उत्पन्न हो जाता है। माँ-बाप के प्रति भी क्रोध हो जाता है कि 'ये विघ्न डालते हैं,' पति के प्रति क्रोध हो जाता है कि 'मेरी हर बात को 'ना' कर देते हैं'। 'माता-पिता आदि हितैषी हैं, मेरा नुकसान नहीं होने देकर मेरा लाभ कर रहे हैं' ऐसा विवेकपूर्ण विचार न आकर क्रोध ही होता है। आगे भगवान् ने कहा है कि क्रोध आने पर सही-ग़लत का कुछ ध्यान नहीं रहता। पूज्यों को भी अपमान-सूचक शब्द बोल देता है। भगवान् के प्रति भी क्रोध आने पर उनके बारे में, उनकी आराधना करने-कराने वालों के बारे में अनर्गल बातें कह दी जाती हैं। क्रोध से सम्मोह, उससे स्मृतिभ्रंश होता है। वेद अपौरुषेय अतः निर्दोष प्रमाण है—इस बारे में दीर्घ काल से बनाये संस्कारों का भ्रंश हो जाता है, वेद में अप्रामाण्य प्रतीत होने लगता है। जो संस्कार गुरुजनों ने डाले थे, वे सब सम्मोह में हट जाते हैं, सारी स्मृति नष्ट हो जाती है। स्मृति नष्ट हुई तो जो कुछ पढ़ा है कि 'जगत् का रूप असत्य है, एकमात्र ब्रह्म सत्य है, वह प्रत्यगात्मरूप है,' यह सारा ज्ञान कर्पूर की तरह उड़ जाता है! 'जगत् सर्वथा असत्य है, मैं ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ नहीं हूँ'—यह निश्चय जहाँ डाँवाडोल हुआ वहीं जन्म-मरण के चक्र में पड़ जाते हैं। भगवान् ने सबका बीज विषयध्यान को बतांया है। इस प्रकार मनोराज्य ही सब दोषों का बीज है। यह ठीक है कि मनोराज्य खुद दुःख नहीं देता लेकिन सारे दुःखों का बीज यही है।।६०।।

विषयों के प्रति आकर्षण मोक्षशास्त्र आदि में बताये हुए तरीके से विचार करें तो हट जायेगा। मनोराज्य कैसे हटेगा? भगवान् ने गीता में कहा है कि मन को रोकना बहुत कठिन है, इसमें कोई संशय नहीं है। यह ऐसे चलता है जैसे जमीन पर यदि पारा गिर जाये और उस पर अंगुली लगाओ तो इधर से उधर दौड़ता है, पकड़ में ही नहीं आता! अतः मन पर विजय कैसे पायें? इसका उपाय बताते हैं—

शक्यं जेतुं मनोराज्यं निर्विकल्पसमाधितः।
सुसम्पादः क्रमात् सोऽपि सविकल्पसमाधिना।।६१।।

निर्विकल्प समाधि से मनोराज्य पर जीत हासिल हो सकती है। निर्विकल्प समाधि भी सविकल्प समाधि के अभ्यास से क्रमशः आराम से सम्पन्न की जा सकती है।

मनोराज्य को जीता जा सकता है। मन की चंचल अवस्था में उस का निग्रह कठिन है, परन्तु जब मन निर्विकल्प तत्त्व में समाहित हो जाता है तब मनोराज्य पर जीत हो चुकती है। दृश्य और द्रष्टा दोनों विकल्पों से रहित जहाँ केवल दर्शनमात्र ही है, ज्ञाता-ज्ञेय से रहित ज्ञानमात्र ही है, उसमें समाहित हो जाता है तो चूँकि वहाँ दृश्य-द्रष्टा, ज्ञाता-ज्ञेय आदि का भेद है ही नहीं इसलिए मन कैसे चलायमान हो सकता है! कोई चीज चलायमान तो तभी होगी जब इधर-उधर कोई जगह हो। एक डिब्बी के अन्दर तुम पारा डाल दो, कितना भी उस पारे को दबाओ, वह इधर-उधर जा ही नहीं सकता क्योंकि डिब्बी में चारों तरफ दीवार बनी हुई है, कहीं जाने की जगह नहीं है। इसी प्रकार जहाँ दृश्य-द्रष्टा का भेद नहीं है वहाँ मन चलकर कहाँ जाये?

जब तक निर्विकल्प समाधि नहीं होती तब तक मनोराज्य बनता है। निर्विकल्प समाधि कैसे हो? निर्विकल्प समाधि सविकल्प समाधि के द्वारा सुसम्पादित होती है। निर्विकल्प समाधि में तो सारे द्वैत की निवृत्ति है। सविकल्प समाधि में द्वैत उपस्थित होने पर उसका बाध करके अद्वैतसिद्धि की युक्तियों का, वैदिक वाक्यों का बार-बार विचार होगा, श्रवण-मनन करने पड़ेंगे। मन चिन्तन के द्वारा राज्य बनाता है। जब तुम्हारा चिंतन निरन्तर अद्वैत के बारे में होगा तब धीरे-धीरे अद्वैत के संस्कार ही दृढ होंगे तो उसी में राज्य कायम होगा। अभी जैसे संस्कारवश सांसारिक कल्पनाओं के मनोराज्य बनते हैं इसी प्रकार जब दीर्घकाल तक श्रवण-मनन हो जाते हैं तब मनोराज्य भी इन्हीं चीज़ों का बनता है कि अद्वैतसिद्धि में क्या लिखा है, लघुचंद्रिकाकार ने इसमें क्या परिष्कार किया है, भाष्यकार ने इस विषय में क्या कहा है, इत्यादि। यह सब भी मनोराज्य ही हैं, परन्तु ऐसे मनोराज्य बनाते-बनाते अंत में निर्विकल्प में स्थिति हो जाती है। प्राचीन शास्त्रकारों ने इतना अधिक हम लोगों को दिया है कि जन्म-भर विचार करते रह सकते हैं। शास्त्रानुसारी विकल्पोंवाली सविकल्प समाधि के सहारे ही निर्विकल्प अवस्था प्राप्त हो सकती है। सरल प्रक्रियाओं से, सुबोध ग्रंथों से प्रारंभ कर धीरे-धीरे गंभीर, सूक्ष्म विचारों पर एकाग्र होते जाने पर अन्त में, परम सूक्ष्मतम तत्त्व पर ही चित्त स्थिर हो जाता है। यह एकाएक नहीं हो सकता इसलिए 'क्रमात्' कहा। प्रारंभ में कठिन प्रक्रिया या ग्रंथ का सहारा लेने पर तो मन अधिक व्यग्र हो जायेगा अतः स्थूलारुन्धतिन्याय से ही यह संपन्न करना चाहिए। धीरे-धीरे अपने शास्त्रीय मनोराज्य को इतना बढ़ा लो कि सविकल्प समाधि निरन्तर चलती रहे। उसके नतीजे से निर्विकल्प समाधि भी हो जायेगी। तब वह मनोराज्य भी ख़त्म हो जायेंगे।।६१।।

मनोराज्य पर विजय पाने के लिये समाधि का विधान किया किन्तु वही एकमात्र उपाय नहीं, समझदार श्रद्धालु के लिए अन्य उपाय बताते हैं—

बुद्धतत्त्वेन धीदोषशून्येनैकान्तवासिना।
दीर्घं प्रणवमुच्चार्य मनोराज्यं विजीयते।।६२।।

ब्रह्मतत्त्व समझ चुका जो कामनादि से त्रस्त न होने वाला एकान्तवासी साधक वह प्रणवका दीर्घ उच्चारण कर मनोराज्य को जीत पाता है।

मनोराज्य पर कैसे विजय होती है? मनोराज्य को जीतने का एक तरीका पूर्व श्लोक में बताया था जिसमें श्रवण-मनन की वासनाओं की पुष्टि से शास्त्रनियंत्रित मनोराज्य द्वारा उससे छुटकारा मिलता है। जो विद्वान् हैं, उनके लिए बार-बार शास्त्रचिन्तन सरल है। जो ऐसा विद्वान् नहीं है, वह मनोराज्य को कैसे जीते? पहली बात कही कि मनोराज्य को वही जीत सकता है जिसने तत्त्व को ठीक प्रकार से समझ लिया है। एकमात्र अधिष्ठान परब्रह्म परमात्मा है, बाकी सारे विषय, सारा जगत् उसमें माया के कारण बिना हुए ही प्रतीत होता है, वह ब्रह्म आत्मरूप है—जिसने ऐसा नहीं जाना है वह तो मनोराज्य को विजय कर ही नहीं सकता। जिस प्रकार काँच में चीज़ें दीखती हैं, होती नहीं हैं, इसी प्रकार मन के दर्पण में चीज़ें दीखती हैं लेकिन होती

नहीं हैं। प्रतीत होने के लिए कहीं-न-कहीं चीज़ होना जरूरी नहीं है, उस चीज़ के संस्कार होना पर्याप्त है। इसलिए शास्त्रकारों ने कहा है कि जो अत्यंत असत् पदार्थ हैं उनकी प्रतीति भी शब्द से हो जाती है। जैसे मनुष्य के सींग कभी होते नहीं परन्तु फिर भी 'मनुष्य का सींग' यह शब्द उच्चारण करते ही प्रतीति हो जाती है, फिर चाहे अगले क्षण ही हम उसे काट दें। यह नहीं समझना कि केवल शब्द से ही प्रतीति होती है; वर्तमान काल में बहुत से लोग व्यंग्य चित्र बनाते हैं; शैतान को सींगों वाला आदमी-सा आँककर प्रकट करते हैं जिससे वैसी कहानियाँ लोग समझ ही लेते हैं। न केवल शब्द से ही असत् पदार्थ का व्यवहार होता है वरन् चित्र से भी उसकी प्रतीति हो ही जाती है। जब तक यह निश्चय न हो जाये कि 'मन में पदार्थ दीख रहा है, परन्तु है नहीं', तब तक मनोराज्य को विजय नहीं कर सकते। इस पर भी एक शंका और आती है कि संस्कारमात्र से ही कुछ प्रतीत होगा तो हमें हमारे संस्कार से प्रतीत होगा। सामने एक ही दीवार है, सौ आदमी खड़े हैं तो सबको ही वह दीवार प्रतीत होती है। प्रतीति मन में हो रही है परन्तु जिसकी प्रतीति हो रही है वह केवल हमारे संस्कारों के कारण नहीं है क्योंकि अनेकों को उसका भान है। इस शंका का जवाब इस अध्याय में दे दिया कि दीवार कहीं है नहीं, केवल ईश्वर अपनी माया से उसे प्रतीत करा रहा है। ईश्वर की माया शक्ति ऐसी है कि अनेक लोगों को वस्तुओं की प्रतीति करा देती है। दीवार सौ-पचास आदमियों को दीख जाती है, आकाश सभी प्राणियों को एक जैसा दीख जाता है। प्रतीति का कारण ईश्वर की मायारूप सृष्टि है, वास्तविक चीज़ें नहीं हैं। द्वैतविवेक के द्वारा यह निर्णीत हो जाता है कि यह संसार प्रतीत होता है परन्तु है नहीं। जो चीज़ नहीं होती उसके बारे में सोचना छोड़ा जा सकता है, इसलिए मनोराज्य समाप्त करने के लिए यह विचार ज़रूरी है। जिसमें यह संसार दीख रहा है वह ब्रह्म है और वही प्रत्यगात्मस्वरूप से विद्यमान है। इस प्रकार का जिसको दृढ ज्ञान हो गया है वही मनोराज्य को जीत सकता है। यहाँ 'जीतने' का मतलब है उसे विनिवृत्त कर देना, हटा देना।

बुद्धतत्त्व होने पर भी नहीं हटता, क्योंकि धीदोषशून्य होने की भी आवश्यकता है। बुद्धि के काम, क्रोधादि दोषों को पहले कहे हुए तरीके से हटा देना पड़ता है। सत्यत्वबुद्धि न होने पर भी जब तक जिस चीज़ के विषय में कामना होती है, तब तक उसका चिंतन होता रहता है। जैसे चलचित्र में जो देखते हो, तुम्हें निश्चित पता है कि वह कोई चीज़ वहाँ नहीं है, केवल छाया ही है। दूरदर्शन के कार्यक्रम देखने की प्रवृत्ति इसलिए है कि जिस चीज़ को दिखाते हैं वह तुम्हें प्रिय लगती है, तुम्हारी कामना का विषय है, भले ही तुम्हें पता है कि असत्य है। इसलिए पहले दीर्घकाल तक दोषदृष्टि के द्वारा काम, क्रोधादि को हटाना पड़ता है। जिस चीज़ की कामना नहीं रह जायेगी उस चीज़ को वास्तविक समझोगे, तब भी उसके बारे में विचार होता है, जैसे हमारी कामना नहीं कि हम मर जायें, परन्तु एक दिन ज़रूर मरना पड़ेगा इसलिए मरने के बारे में विचार आता है। मृत्यु के प्रति कोई क्रोध भी नहीं है क्योंकि वह निश्चित परिणाम है। चीज़ निश्चित है तो राग-द्वेष का विषय न होने पर भी हमारे सिर पर आयेगी। तुम्हारी सुनने की कोई इच्छा न होने पर भी रात में ढोल बजेंगे तो नींद खुलेगी। जिस चीज़ के प्रति तुम्हें राग-द्वेष होंगे

ही नहीं तथा उसे असत्य भी जानोगे, उसके प्रति तुम्हारी प्रवृत्ति नहीं होगी। धीदोपशून्यता उसकी प्रवृत्ति को अवरुद्ध कर देती है, जो पहले मिथ्यात्व-निश्चय कर चुका है।

लेकिन कितने ही धीदोषशून्य हो, नौ रातें लगातार रोज 'गरबे' के बाजे बजते रहें तो मिथ्या जानने पर भी असुविधा ही होगी! उसे दूर करने का कोई प्रयास इष्ट लगेगा। इसलिए कहा कि एकान्तवासी भी होना चाहिये। गाँव, शहर से दूर जाकर, जहाँ अकारण इस प्रकार के विक्षेप नहीं होते हों, वहाँ रहे। बुद्धत्व और बुद्धिदोष से रहित होने से वैसे स्थान का सेवन तुम्हारे मनोराज्य को हटाने में सहायता देगा। जहाँ तक हो सके एकांत में ही वास करे। भीड-भड़ाके में रहकर मनोराज्य को जीतना सम्भव नहीं होता। पहला कार्य है कि तत्त्व के विषय में निश्चित ज्ञान हो, दूसरा, काम-क्रोधादि से रहित हो और तीसरा, एकांतवास करे। एकांत देश में बैठो तो भी मन के संस्कार उदित होंगे ही! इसलिए वहाँ दीर्घप्रणव का उच्चारण करे। सोलह मात्रा, बत्तीस, चौंसठ या एक सौ अट्ठाइस मात्रा का प्रणव दीर्घ कहलाता है। धीरे-धीरे मात्रा बढ़ाते हुए उच्चारण करे। दीर्घ प्रणव के उच्चारण से विशेष प्रकार के स्पन्द पैदा होते हैं जो तुम्हारे स्नायुमण्डल को शांत करते हैं। प्रणव में जो अकार, उकार, मकार और नाद हैं ये क्रमशः जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था को बताते हुए अंत में तुरीय में लीन हो जाते हैं। इस प्रकार का दीर्घ प्रणव का उच्चारण धीरे-धीरे मन के अन्दर बैठे हुए वासना-जाल को हटाता चला जाता है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति के साक्षिरूप से जो तुरीय है, वह जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति के समाप्त होने पर भी एक जैसा बना रहता है जैसे अकार, उकार, मकार के शेष हो जाने पर भी दीर्घप्रणव ध्वनि (नाद) बनी रहती है। इस अभ्यास से मनोराज्य पर विजय हो जाती है। ओंकार के प्रयोग से जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति के अधिष्ठानरूप की ही प्रतीति रह जाती है बाकी सारा मनोराज्य निवृत्त हो जाता है। मनोराज्य वासनाओं से, संस्कारों से होते हैं। जब हम ओंकार के संस्कारों का प्रवेश मन में करा लेते हैं तब दूसरे मनोराज्य नहीं आ पाते। यही मनोराज्य को निवृत्त करने का साधन है। ज्ञान अज्ञान को तो निवृत्त कर देता है परन्तु अज्ञान के संस्कारों को निवृत्त करने के लिए यहाँ साधन बताये—विषयों में दोषदर्शन, एकांतवास, दीर्घप्रणव का उच्चारण। इन साधनों से ही अज्ञान के संस्कारों की निवृत्ति हो जाती है।।६२।।

मनोराज्य पर विजय प्राप्त करने का प्रभाव बताते हैं—

जिते तस्मिन् वृत्तिशून्यं मनस्तिष्ठति मूकवत्।
एतत्पदं वसिष्ठेन रामाय बहुधेरितम्।।६३।।

मनोराज्य जीता जाने पर मन गूँगे की तरह वृत्तिरहित रहता है। श्रीराम को यह दशा वसिष्ठ जी ने कई तरह समझायी है।

जब मनोराज्य जीत लिया जाता है अर्थात् जब मनोराज्य हट जाता है तब मन वृत्तिशून्य हो जाता है। मन का व्यापार वृत्ति बनाना है, मनोराज्य वृत्तिरूप ही है, मनोराज्य हट जाता है अर्थात् वृत्तिशून्यता हो जाती है। मन तो रहता है परन्तु वृत्तिज्ञान नहीं रहते हैं। ऐसे मन में शुद्ध

ब्रह्म का प्रतिबिम्ब तो पड़ता ही रहेगा। वहाँ ब्रह्माकार वृत्ति नहीं है, बुद्धि ही ब्रह्मरूप से प्रतीत होती है। गूँगा वाणी के व्यापारों से रहित होकर रहता है। उससे वाणी का कोई व्यवहार नहीं होता। इसी प्रकार इस साधक के भी मन से कोई व्यवहार नहीं होता। मूक दृष्टांत इसलिए है कि मौन तो अन्य लोग भी रह सकते हैं। व्यक्त वाणी का प्रयोग नहीं करेंगे, लेकिन मन में शब्दों का प्रवाह चलेगा ही। इसलिए हम लोग सर्वथा शब्दव्यवहार से शून्य नहीं होते हैं। परन्तु जो बहरा होने से गूँगा होता है, उसने कभी शब्द सुना ही नहीं है, अतः कभी शब्द बोला भी नहीं, शब्द का कोई व्यवहार किया ही नहीं है। वह शब्द-व्यवहार से सर्वथा रहित होता है। इसी प्रकार मन किसी भी संस्कार से रहित होने पर किसी भी वृत्ति से रहित हो जाता है। हमारा मन प्रायः किसी-न-किसी वृत्ति वाला ही रहता है। चाहे भगवान् का ध्यान करें, मन स्थिर तो हो जाता है, किंतु भगवान् के उसी आकार की वृत्ति रह जाती है, वृत्तिशून्य तो नहीं रहता। अतः सविकल्प अवस्था तो समझ में आती है, परन्तु मन निर्विकल्प कैसे होगा? महर्षि वसिष्ठ ने भगवान् राम को उपदेश द्वारा यह समझाया है। 'एतत् पदं' इस स्थिति को प्राप्त करने के साधन बताये हैं। यह पुरुषार्थ-साध्य है। स्वतः नहीं होता पर प्रयास से होता भी है। विष्णु का जो परम पद कहा जाता है वह यही है। इस विष्णुपद का आत्मज्ञानी ही अपरोक्ष साक्षात्कार करते हैं। मन की वृत्तिशून्य अवस्था प्राप्त करने के योग्य है, ऐसा वसिष्ठजी ने अनेक प्रकार से श्री राम को कहा है।।६३।।

उनके दो वाक्यों का यहाँ उदाहरण देते हैं—

दृश्यं नास्तीति बोधेन मनसो दृश्यमार्जनम्।
सम्पन्नं चेत्तदुत्पन्ना परा निर्वाणनिर्वृतिः।।६४।।

'दृश्य है ही नहीं' इस ज्ञान के द्वारा मन से दृश्य को यदि मिटा दें तो समझ लेना चाहिए कि परम मोक्षरूप आनन्द उपलब्ध हो गया। (योगवा.वैरा.३.६)

श्लोक ६२ में 'बुद्धतत्त्वं' कहा था, वसिष्ठ जी ने उसका स्वरूप बता दिया कि जिसे पता है कि दृश्य न था, न है और न होगा। 'नास्ति' में 'अस्ति' पद केवल वर्तमान का निषेध नहीं करता वरन् होनेमात्र का निषेध करता है कि न कभी दृश्य था, न है और न कभी रहेगा। श्रुति कहती है 'नेह नानास्ति किंचन' द्वैत कहीं है ही नहीं। 'इह' अर्थात् प्रत्यगात्मा के अन्दर कभी द्वैत है ही नहीं। इस प्रकार अद्वय प्रत्यगात्मा से अभिन्न जो ब्रह्म है उसके सिवाय और कुछ भी नहीं है इस ज्ञान से दृश्यरूप मल को मनरूप दर्पण से मानो पोंछ दिया है। जैसे ज़मीन पर झाड़ू लगाने से सफ़ाई हो जाती है वैसे उक्त ज्ञान से मन की वासनाएँ साफ हो जाती हैं। जैसे झाड़ू देकर सारी धूल बाहर फैंक दी जाती है, वैसे यहाँ मन का मैल कहीं बाहर फैंकते नहीं हैं! जो चीज़ है ही नहीं उसे बाहर फैंकने का मतलब केवल यही होता है कि उसके न होने का पता लगा लेना। जैसे रस्सी से साँप भगा देने का मतलब होता है कि प्रकाश डालकर रस्सी का साक्षात्कार कर लेना इसी प्रकार अद्वितीय साक्षात्कार ही दृश्य का मार्जन है। मन में ही दृश्य

दीख रहा है, इसलिए अंतःकरण में ही निश्चय करना है कि वह नहीं है। मन से अतिरिक्त कभी कहीं दृश्य नहीं दीखता है; जाग्रत् एवं स्वप्न में मन है तभी दृश्य है, सुषुप्ति में मन नहीं है तो दृश्य भी नहीं है। अतः दृश्य तब तक है जब तक मन है। मन से दृश्य के मार्जन का मतलब इतना ही है कि दृश्य का सर्वथा त्रैकालिक अत्यंताभाव समझ लेना। यह दृश्य-निवारण धीरे-धीरे होता है। जैसे साफ करने के बाद भी कमरे में धूल आ जाती है तो पुनः सफाई करनी पड़ती है। इसी प्रकार जब-जब दीर्घप्रणव की वासना कमज़ोर होकर प्राचीन वासनायें प्रभावी होंगी तब फिर दृश्य की प्रतीति करायेंगी। जैसे ही प्रतीति करायें वैसे ही फिर 'दृश्यं नास्ति' यह झाड़ू लगा दो कि दृश्य नहीं है। ऐसा तब तक करो जब तक फिर कभी दृश्य सामने आये ही नहीं। 'चेत्' अर्थात् यदि के द्वारा बताया कि यह सम्पन्न होना बड़ा कठिन है। यदि हो जाये तो यही 'परा' अर्थात् जिससे और ज़्यादा कुछ नहीं है ऐसी अंतिम स्थिति है। इसे निर्वाण स्थिति कहते हैं। 'वाण' नाम दुःख का है। निर्वाण अर्थात् दुःख-निवृत्ति। तब संसार की सर्वथा निवृत्ति हो जाती है। यह जो परम निर्वाण की निष्पत्ति, उत्पत्ति है, उसके आगे और कुछ नहीं है। यह वही अवस्था है जिसे वसिष्ठजी सप्तम भूमिका कहते हैं क्योंकि फिर दृश्य की कभी भी प्रतीति नहीं है।।६४।।

उक्त स्थिति के बारे में और भी (योगवा.स्थिति.५७.२८) बताते हैं–

विचारितमलं शास्त्रं चिरमुद्ग्राहितं मिथः।
सन्त्यक्तवासनान्मौनादृते नास्त्युत्तमं पदम्।।६५।।

शास्त्र का पर्याप्त विचार कर एवं दीर्घकाल तक उसे परस्पर समझाकर निश्चय होता है कि सारी वासनाओं का भली भाँति त्यागरूप मौन से बेहतर कोई पद (स्थिति, पुरुषार्थ) नहीं है।

शास्त्र का श्रवण, मनन आदि सारा प्रथम तीन भूमिकाओं में सम्पन्न कर लिया जाता है। चतुर्थ भूमिका का प्रारंभ शास्त्र-ज्ञान के साथ होता है। 'चिरम् उद्ग्राहितं' चतुर्थ और पंचम भूमिकाओं को बताता है। चतुर्थ भूमिका के अन्दर सतीर्थ्यों और वादियों के साथ ज़्यादा विचार करते हैं। पंचम भूमिका में उतनी प्रवृत्ति नहीं रहती, परन्तु शिष्यों को ज्ञान कराता है। सच्छिष्य को देखकर गुरु उसे तत्त्वनिष्ठा कराता है। प्रतिपक्षी, तो अपने मत का आग्रही है, उसे समझाने में उसके पक्ष के दोषों का भी उद्भावन आवश्यक है। पंचम भूमिका में वैसा विचार रुचिकर नहीं होता। शिष्य केवल तत्त्व ग्रहण करने को उत्सुक है अतः समझाने में तत्त्वमात्र का चिन्तन अपेक्षित रहता है जिसमें विद्वान् को रुचि होती है। चतुर्थ भूमिका में अलं-बुद्धि तक पहुँच गया फिर वह जब दृढ होकर पंचम भूमिका में प्रविष्ट हो जाता है तब उसकी सत्-शिष्य को उपदेश देने की ही प्रवृत्ति रह जाती है। उसके बाद वासनाओं का भली प्रकार से परित्याग किया जाता है। जितनी काम आदि की वासनायें हैं वे सारी की सारी भली प्रकार से छूट जायें, उनका कुछ भी लेश न रहे इसका प्रयास होता है। यह सविकल्प समाधि की स्थिति षष्ठ भूमिका है। इसमें काम-क्रोधादि सारी वासनायें छूट जाती हैं। फिर 'मौनात्' सप्तम भूमिका में पहुँचकर मन कुछ

भी वृत्ति नहीं बनाता। मुँह के अन्दर पानी डाल दो तो उसे पीने की वृत्ति भी नहीं बनती! छठी भूमिका तक अपनी ओर से प्रवृत्ति धीरे-धीरे छूट जाती है, परन्तु कोई दूसरा मुँह में डाल दे तो निगलने की प्रवृत्ति रहती है। सप्तम भूमिका में मन की उतनी वृत्ति भी नहीं बनती, केवल स्वरूप में ही स्थिति रहती है। इसके आगे फिर और कोई पुरुषार्थ नहीं है। यहीं तक पहुँचना है, जब मन सर्वथा वृत्तिशून्य रहे। श्लोक ६४-६५ दोनों वसिष्ठजी के वाक्य हैं। भूमिकाओं का क्रम मूलतः वसिष्ठ जी ने समझाया है।

साधक दो प्रकार के होते हैं। एक, जिनका प्रारब्ध न्यून होता है। प्रारब्ध-न्यूनता के कारण वे लोग सप्तम भूमिका में आरूढ हो जाते हैं। दूसरे वे साधक हैं जिनका प्रारब्ध अधिक होता है। उनको इन सातों भूमिकाओं की प्राप्ति नहीं होती क्योंकि प्रारब्ध शेष है। वे ही विभिन्न प्रकार के लोकसंग्रह, ग्रंथरचना आदि में प्रवृत्त किये जाते हैं। तत्त्वप्रतिष्ठा के लिए परमेश्वर उनका प्रयोग कर लेते हैं।।६५।।

अभ्यासी ने चित्त वृत्तिहीन बना भी लिया पर प्रारब्धवेग यदि विक्षेप उपस्थित करे तो क्या किया जाये यह समझाते हैं–

विक्षिप्यते कदाचिद्धीः कर्मणा भोगदायिना।
पुनः समाहिता सा स्यात्तदैवाभ्यासपाटवात्।।६६।।

भोगप्रद कर्म से कभी बुद्धि विक्षिप्त हो तो अभ्यास-कुशलता से उसे तभी समाहित बनाया जाये।

जिसे उत्तम पद की दृढ प्राप्ति हो गई वह सप्तम भूमिका में आरूढ हो चुका। जिसे इस पद की पूर्ण प्राप्ति नहीं हुई उसे इस श्लोक में बताते हैं कि वह और अभ्यास करे। यह श्लोक वसिष्ठ जी का नहीं है। अभ्यासी साधक के चित्त में प्रायः विक्षेप नहीं होता। अपनी तरफ से उसमें काम, क्रोध, मनोराज्य नहीं होते हैं। परन्तु कभी भोगदायी कर्म उपस्थित होते हैं तो मन में भेददृष्टि भी आ जाती है। यहाँ द्वैत की प्रतीति ही विक्षेप है। जैसे हम सुख-दुःख आदि से विचलित होते हैं वैसा विक्षेप तत्त्वज्ञ को संभव नहीं। अतः 'कदाचित्' कहा। भोग-मात्र से जो विक्षेप, भेदानुभूति, उसे वह झट से मिटा देता है। हम कामना-मनोराज्यादि से भी विक्षिप्त रहते हैं, कर्म (प्रारब्ध) से भी। विद्वान् केवल भोगप्रद कर्म (प्रारब्ध) से ही द्वैतदृष्टि वाला बनता है, कामना-मनोराज्य आदि से नहीं। शरीरनिर्वाह के लिए शौच, भोजन आदि हो या शिष्य को उपदेश हो, यत्किञ्चित् द्वैतबुद्धि अनिवार्य है। यद्यपि विद्वान् उस भेद को सत्य नहीं समझता तथापि जो भेदभान होता है वही उसके लिए विक्षेप है। अनुपस्थित का उसे कोई विचार नहीं आता। सामने रखी थाली से अन्य कुछ भोजन के बारे में वह नहीं सोचता, उपस्थित शिष्य के अज्ञाननिवारण से अतिरिक्त उसके भी बारे में कुछ नहीं सोचता। स्वयमू अद्वैतस्थिति में रहने के अभ्यास की पटुता से वह ऐसे विक्षेप को पुनः समाधि से उपशांत कर लेता है। हम लोग भोगमात्र के अलावा द्वैत को महत्त्व देकर उसके चिन्तन में बह जाते हैं, विद्वान् यों बहता नहीं

यह उसकी पटुता, प्रौढता, कुशलता है। दीर्घ अभ्यास से उसमें यह चतुराई आ जाती है कि विक्षेप होते ही उसी समय उसे काट देता है। इस प्रकार सार है कि अभ्यास की दृढता ही चाहिए, अन्य उपाय नहीं है।।६६।।

'नेह नानास्ति किंचन' इत्यादि वाक्यों से, 'ब्रह्म से अतिरिक्त जगत् है ही नहीं' इस समझरूप झाड़ू से जब मन से दृश्यरूप मल हटा दिया जाता है तब सारे दुःखों की आत्यंतिक निवृत्ति हो जाती है। दुःख द्वैत से ही है, श्रुति भी कहती है 'द्वितीयाद्वै भयं भवति' सारे भय अर्थात् दुःख का कारण दूसरा (द्वैत) ही है। जिसने द्वैत का सर्वथा उन्मूलन कर दिया उसकी महिमा बताते हैं–

विक्षेपो यस्य नास्त्यस्य ब्रह्मवित्त्वं न मन्यते।
ब्रह्मैवायमिति प्राहुर्मुनयः पारदर्शिनः।।६७।।

जिसे सर्वथा विक्षेप होता ही नहीं उसे ब्रह्मज्ञ नहीं माना जाता क्योंकि वेदान्त के मर्मज्ञ मुनि कहते हैं कि वह ब्रह्म ही है!

जिसके मन से दृश्य का मार्जन हो चुका उसको चित्त में कभी भी विक्षेप नहीं होता। चित्त हमेशा ही विक्षेप से रहित है तो ब्रह्मस्वरूपता नहीं हटती। कोई-न-कोई दूसरी वृत्ति बने, विक्षेप हो, तभी ब्रह्मस्वरूप से हिलकर ब्रह्मवेत्ता-रूप आता है। या दृश्य विक्षेप लाता है या अहंकार विक्षेप लाता है। दो ही अनात्म-प्रतीतियाँ हैं–युष्मत् और अस्मत्, मैं और मैं से भिन्न। जिसे भिन्न की प्रतीति नहीं होती वह अभिन्न ब्रह्म ही है। 'मैं ब्रह्म हूँ' इत्याकारक वृत्ति से अविद्या नष्ट होती है। 'मैं ब्रह्म हूँ' जानने से अविद्या नष्ट होने पर इस वृत्ति का उपयोग बचता नहीं। यद्यपि दर्पण में मुख दीखता है तथापि जिसका पता चलता है वह तो ग्रीवा पर स्थित है, देख चुकने पर प्रतिबिम्ब कायम नहीं रखना पड़ता। ऐसे ही अहम्ब्रह्माकार वृत्ति में परमेश्वरभाव का दर्शन होता है परन्तु वृत्ति तो ब्रह्म नहीं! अतः दर्शन के बाद वृत्ति चाहिये नहीं। बिना मैं-वृत्ति बनाये 'मैं ब्रह्म को जानने वाला' प्रतीति होगी नहीं अतः 'मैं ब्रह्म-वेत्ता' यह अभिमान नहीं रहेगा। अतः जैसे दर्पण में देखने के बाद ग्रीवास्थ ही मुख बचता है वैसे ब्रह्मदर्शन के बाद ब्रह्म ही रहता है, 'ब्रह्मज्ञ' कहलाने जैसा कोई नहीं रह जाता। भगवान् भाष्यकार ने भी कहा है 'ब्रह्मैव न ब्रह्मवित्'। उपनिषत् कहती ही है 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति'। जब वचन का प्रयोग कर रहे हैं तब अहं की उपस्थिति अवश्य है। अहं की उपस्थिति रहते हुए 'मैं ब्रह्मज्ञानी हूँ' यह बात तो कही जा सकती है लेकिन 'मैं ब्रह्म हूँ' यह नहीं कहा जा सकता। इसीलिए 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि वाक्यों में केवल लक्षणा से ही ज्ञान माना है। दोनों ही पदों से भाग-त्याग लक्षणा के द्वारा ही अखण्ड कहा जाता है। 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा उसका सीधा अर्थ नहीं है। 'मैं' के अर्थ में दो हिस्से हैं, उनमें वृत्तिवाला, उपाधिवाला हिस्सा छोड़कर चेतन वाला हिस्सा लेकर उसे, ब्रह्म का भी चेतन वाला ही हिस्सा कहा जा रहा है। अतः महावाक्यों में लक्षणा आवश्यक हो जाती है। किसने कहा है? 'मुनयः पारदर्शिनः' उन संन्यासियों ने कहा है जिन्होंने इस संसार समुद्र के पार जो शुद्ध तत्त्व है, उसका साक्षात्कार कर लिया है। कहने वाले पारदर्शी लोग हैं अतः 'अयम्' (यह)

से वे साक्षी चेतन को ही कहते हैं न कि अहंकार को। 'मुनयः मननशीलाः' मननशील विचारवान् ही अवाच्य तत्त्व को शब्द से प्रकट कर पाते हैं, अन्यथा या ग़लत बोलेंगे या बोल ही नहीं पायेंगे॥६७॥

इस बारे में भी महर्षि वसिष्ठ ने जो कहा है वह बताते हैं–

दर्शनादर्शने हित्वा स्वयं केवलरूपतः।
यस्तिष्ठति स तु ब्रह्मन् ब्रह्म न ब्रह्मवित् स्वयं।।६८।।

हे ब्राह्मणदेव! 'ब्रह्म को जानता हूँ' एवं 'ब्रह्म को नहीं जानता' ये दोनों व्यवहार छोड़कर स्वयम् अद्वितीय चेतनमात्र रूप से जो रहता है वह स्वयं ब्रह्म है न कि (ब्रह्मेतर कोई) ब्रह्मवेत्ता।

वसिष्ठ जी वहाँ बैठे हुए ब्राह्मणोत्तम को सम्बोधित कर कहते हैं–हे ब्रह्मन्! 'ब्रह्म को मैं देखता हूँ' और 'ब्रह्म को मैं नहीं देखता हूँ'–ये दोनों ही अभिमान विद्वान् के छूट जाते हैं। ठीक जैसा केनोपनिषद् में कहा है–'यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः' जिसने ब्रह्म को 'मैंने जान लिया' इस प्रकार से नहीं जाना उसने तो जान लिया। यह बात विरुद्ध लगती है परन्तु विरुद्ध नहीं है। जाना हमेशा उसे जाता है जो अपने से भिन्न हो। ब्रह्म भिन्न है नहीं अतः जो समझता है कि 'मैंने ब्रह्म को नहीं जाना' उसने जान लिया और जो भेदेन जानकर समझता है कि 'मैंने ब्रह्म *को* जान लिया', उसने नहीं जाना। स्वयं कोई स्वयं को नहीं जान सकता। सूर्य सूर्य को प्रकाशित नहीं कर सकता, क्योंकि सूर्य प्रकाशरूप है। सूर्य प्रकाशरूप है इसलिए उसे न दूसरा प्रकाश प्रकाशित कर सकता है और न सूर्य स्वयं अपने को प्रकाशित कर सकता है। ऐसा कहने से लगता हैं कि क्या सूर्य अप्रकाशित है? सूर्य अप्रकाशित भी नहीं है! ठीक इसी प्रकार से मैं स्वयं ब्रह्म हूँ, अतः मैं ब्रह्म को जान नहीं सकता और फिर भी ब्रह्म मुझे अज्ञात नहीं है। विदित-अविदित, ज्ञात और अज्ञात दोनों से भिन्न है क्योंकि ज्ञान और अज्ञान दोनों अज्ञान के ही रूप हैं। घड़े को 'घड़ा है' जानते हैं किन्तु नाम-रूप कभी 'है' नहीं हो सकते! इसलिए जो जानते हैं वह सब अज्ञान का ही कार्य है। 'नहीं जानना' यह अज्ञान और भेदेन जानना भी अज्ञान का कार्य होने से अज्ञान है, जैसे सोने का कार्य गहना सोना ही है।

इसलिए ज्ञान और अज्ञान दोनों को छोड़कर अर्थात् दोनों ही व्यवहार जिसके छूट गये हैं, वह अद्वितीय चेतन ही है। सारे व्यवहारों को छोड़कर रहने वाला केवल है। व्यवहार या कारण अज्ञान से कर सकते हो या कार्य अज्ञान से कर सकते हो। कारण अज्ञान से व्यवहार करने वाला ईश्वर है, वह कारण अज्ञान को चलाता है। कार्य अज्ञान को चलानेवाला जीव है। अज्ञान से ही अंतःकरण आदि सारी उपाधियाँ उत्पन्न हुई हैं। इसलिये भगवान् सुरेश्वराचार्य ने कहा है 'कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः' कारण उपाधिवाला ईश्वर और कार्य उपाधिवाला जीव है। इन दोनों उपाधियों को जिसने छोड़ दिया वह स्वयं केवलरूप है सजातीय, विजातीय, स्वगत सारे भेदों से रहित, देश, काल, वस्तु सबसे अपरिच्छिन्न केवल अर्थात् अकेला ही है। केवलत्व ही उसका निरूपण है, और किसी भी प्रकार से उसको निरूपित नहीं कर सकते। सामान्य

व्यवहार में आकाश का निरूपण किस रूप से करते हो? सिवाय इसके कि 'पेटी में और कुछ नहीं है,' और कोई तरीका आकाश को बताने का नहीं है। इसी प्रकार जो-जो द्वैत भेद प्राप्त है, वह सारा 'नहीं नहीं' यों मना करना ही केवल को बताने का ढंग है। 'नेति नेति' का मतलब यह नहीं है कि कुछ नहीं बचा! जैसे आकाश से सारा व्यवहार, सारे नाम-रूप उत्पन्न होते हैं अतः आकाश को 'कुछ नहीं' तो नहीं कहा जा सकता, इसी प्रकार जिस ब्रह्म से सारा जगत् उत्पन्न होता है वह 'कुछ नहीं' तो कहा नहीं जा सकता, परन्तु 'कुछ' है इसका निषेध ज़रूर किया जा सकता है।

जो केवलरूप से ही रहता है वह ब्रह्मस्वरूप ही है, उसको ब्रह्मवेत्ता भी नहीं कह सकते क्योंकि वह स्वयं ब्रह्म ही है। अज्ञान का त्रैकालिक अभाव उसमें स्वरूप से रहने के कारण 'मैं अज्ञान में था, मेरा अज्ञान हट गया' इत्यादि कोई भी व्यवहार उसमें संभव नहीं है। ब्रह्म का अज्ञान जिसको प्रतीत है वह जीव अज्ञान के कारण अज्ञान में ही है। ब्रह्म में तो तीनों काल में जीवरूपता है ही नहीं! जिस प्रकार जब तक दर्पणों में देखते हैं तब तक जिसे बिम्ब कहते हैं वही जैसे ही काँच हट गये वैसे ही मुखस्वरूप ही रह जाता है। जब तक दर्पण में न पड़े तब तक प्रतिबिम्ब नहीं होने से मुख बिम्ब भी नहीं बन सकता! इसी तरह किसी उपाधि से ही ब्रह्मज्ञता का व्यवहार है, निरुपाधि तो अद्वितीय चेतन ही है। जो जीव था, वह ब्रह्म हो गया—ऐसा नहीं है। ब्रह्म तो ब्रह्म ही रहा, जीवत्व की भ्रांति मिट गयी, केवल इतना ही है।।६८।।

द्वैतविवेक का उपसंहार करते हैं—

जीवन्मुक्तेः परा काष्ठा जीवद्वैतविवर्जनात्।
लभ्यतेऽसावतोऽत्रेदमीशद्वैताद् विवेचितम्।।६९।।

।। इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यभारतीतीर्थविद्यारण्यमुनिवर्यकृतपञ्चदश्यां
द्वैतविवेकः समाप्तः।।४।।

जीवन्मुक्ति की चरम सीमा जीवद्वैत (मनोमय प्रपंच) के परित्याग से मिलती है इसलिए ईश्वरसृष्ट द्वैत से अलग कर जीवद्वैत को समझाया।

तुम जिस द्वैत को देखते हो, उस द्वैत को ही तुम्हें हटाना है। हम लोग हमेशा इस भ्रम में रहते हैं कि 'बाह्य संसार है इसलिए हमें दीख रहा है'। परन्तु सच्ची बात यह है कि हमें दीख रहा है इसलिए बाह्य संसार है! बहुत पुरानी कथा है : कलकत्ते के अन्दर हुगली नदी में कोई डूब रहा था तो ज़ोर-ज़ोर से चिल्ला रहा था 'दुनिया डूब रही है'। मल्लाहों ने उसे बाहर निकाला। उससे पूछा 'तुम कैसे कह रहे थे कि दुनिया डूब रही है?' उसने कहा कि 'मैं बच गया तो संसार बच गया, मैं डूबा तो जग डूबा।' संसार की स्थिति होती है जब हम उसे जानें। चाहे परोक्षरूप से, चाहे अपरोक्षरूप से जानें, परन्तु जिस चीज़ को हम जानेंगे उसी को हम सिद्ध कर

सकते हैं। अतः बंधन का कारण हमारा मानस द्वैत ही है। मानस द्वैत से हटकर कोई दूसरा द्वैत है नहीं। आचार्य मधुसूदन कहते हैं कि दृष्टि-सृष्टिवाद ही उस स्थिति को बताता है। जब तक उस स्थिति में नहीं पहुँचते हैं तब तक के लिए बाकी सब विचार हैं। 'मैं ब्रह्मज्ञानी हूँ' इस अभिमान समेत सारा का सारा अज्ञान का कार्य, जीव का द्वैत है। 'मैं बद्ध हूँ, मैं ब्राह्मण, मैं क्षत्रिय हूँ' यहाँ से लेकर 'मैं ब्रह्म हूँ' पर्यन्त जीवद्वैत है अर्थात् जीव द्वारा सृष्ट द्वैत है। कुछ द्वैत द्वैत को हटाने वाले होते हैं और कुछ उसे दृढ करते हैं। जैसे हमारे कपड़े में मिट्टी का दाग़ लग गया। उसको हटाने के लिए साबुन की बट्टी से एक दाग़ और लगा देते हैं। साबुन का भी दाग़ ही लगता है। साबुन लगा कर बिना धोये सुखाकर कपड़ा पहनो तो वह गंदा ही दीखेगा। साबुन अगर दाग़ है तो लगाना ही क्यों? साबुन दाग़ है इसमें संदेह नहीं, परन्तु वह ऐसा है जो मिट्टी के दाग़ को हटाकर अंत में खुद भी हट जाता है। इसी प्रकार जितने उपदेश आदि व्यवहार हैं, वे भी सारे जीवद्वैत ही हैं। श्रवण-मननरूप द्वैत अब तक हमने जिस द्वैत को बनाया उसे साफ कर देता है। यह जो ब्रह्मस्वरूप की प्राप्ति, जीवन्मुक्ति की अंतिम अवस्था अर्थात् सप्तम भूमिका है वह सारे द्वैत को हटाने से प्राप्त हो जाती है। इसे समझने के लिए ईश्वर के द्वैत से जीवद्वैत को अलग किया। सारी उपनिषदें कहती हैं कि परमेश्वर ने आकाश, वायु, मनुष्य, पशु, पेड़, अन्न, वीर्य आदि सब उत्पन्न किया। यह सब ईश्वर-द्वैत है। ये जितनी चीजें कही गई हैं, ये बन्धन का कारण नहीं हैं। ये बन्धन का कारण तभी होती हैं जब जीवद्वैत से सम्बद्ध हों। अतः जब जीवद्वैत का विवर्जन कर दिया जाता है तब ईश्वरद्वैत कैसे हटेगा—यह सोचने की कोई ज़रूरत नहीं है, क्योंकि वह मायिक ही है। शंका होती है कि परमेश्वर ने जिन आकाश आदि की सृष्टि की, ये तो रहेंगे ही। यदि जीवद्वैत से सम्बन्ध टूट जाये तो इनका रहना कोई दुःख नहीं देता। बंधन का कारण जीवद्वैत बनता है। बन्धन अवस्था के अन्दर ही आकाशादि के अन्दर 'अस्ति' है-बुद्धि होती है। स्वरूप से यह मायिक होने के कारण उसमें अस्ति या नास्ति बुद्धि का कोई प्रयोजन ही नहीं है। द्वैत बंधन का कारण कैसे है—यह समझाने के लिए दोनों द्वैतों का विवेचन किया गया है।।६९।।

इस तरह द्वैतविवेक प्रकरण पूर्ण हुआ।

पञ्चम

महावाक्यविवेक प्रकरण

प्रायः विद्यारण्य स्वामी की शैली है कि किसी एक प्रधान वाक्य को आधार बनाकर विचार प्रवृत्त करते हैं, परन्तु प्रकृत प्रकरण में चारों महावाक्यों का विचार करेंगे। इस तरह यह पंचदशीका 'समन्वय अध्याय' है। चार वेद हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। अनेक कर्म, उपासनायें ऐसी हैं जो मिलती-जुलती हैं लेकिन ऋग्वेद में और प्रकार से, यजुर्वेद में और प्रकार से, सामवेद में और प्रकार से, अथर्ववेद में किसी अन्य प्रकार से उन्हें कहा है। सबमें अलग-अलग प्रकार से कहा गया तो प्रश्न होता है कि कौन-सा प्रकार अपनायें? हमारी परम्परा है कि जिस वेद का ग्रहण, अध्ययन अपनी कुलपरम्परा में चला आया है उसका ही अनुसरण करना उचित है। यह चिन्ता करने की जरूरत नहीं कि हम यजुर्वेदी हैं किन्तु सामवेद में तरीका अच्छा है! अपनी-अपनी वैदिक शाखा के अनुसार ही सब लोग करें। फल में कोई भेद नहीं। जैसे एक वाक्य कहता है कि जिस समय सूर्य हो उस समय यज्ञ करो और दूसरा कहता है कि जिस समय सूर्य न हो, उस समय यज्ञ करो। अत्यंत विरुद्ध बातें हैं। जिस वेद में आया है कि सूर्य के रहते करो, उस शाखा वाले प्रशंसा करते हैं कि सूर्य की साक्षी में ही कर्म होना चाहिए अन्यथा वह कर्म व्यर्थ हो जाता है। और जो वेद कहता है कि सूर्य उदय न हो तब कर्म करो अथवा सूर्य की मौजूदगी न हो तब करो, उस शाखा वाला कहता है कि जिस समय ध्रुव उदित है उस समय किया हुआ कर्म ध्रुव की तरह स्थिर हो जाता है, काम सिद्ध हो जाता है! आधुनिक व्यक्ति की समस्या होती है कि दोनों में से ठीक कौन-सी बात है? ठीक उसके लिए वही है जो जिसकी कुल-परम्परा से चला आ रहा है। अतः दूसरे को उसकी नकल नहीं करनी है। यह सनातन धर्म की आधारभूत मान्यता है कि अपनी परम्परा अपने लिए श्रेष्ठ है। लोग अपने-अपने मोहल्ले में, अपनी-अपनी जाति को देखकर वही काम करते थे जो होता चला आ रहा है। कभी कदाचित् कोई दूसरा देखने में आता था तो समझ लेते थे कि दूसरों की परम्परा है। आजकल दिल्ली में एक ही मोहल्ले में चले जाओ तो पड़ोस में ही यजुर्वेदी, सामवेदी दोनों रहते हैं, यहाँ तक कि ईसाई, मुसलमान भी सब पड़ोस में ही रहते हैं, सब एक ही मकान में रहते हैं। कलकत्ते में मारवाड़ियों ने कुछ मकान बनाये, उन्होंने नियम रखा था कि मकान केवल हिन्दू को दें जिससे परम्परायें गड़बड़ न हों। उनके बच्चों को धन की जरूरत पड़ी तो लेने वाला चाहे मुसलमान हो, पैसा ज़्यादा मिला तो उसी को मकान बेच दिया! ऐसे मकानों में ऊपर के तल्ले

में अग्निहोत्री ब्राह्मण रह रहा होगा, उसके नीचे के तल्ले में गोमांस खाने वाला मुसलमान रह रहा होगा! वहीं माँस पकायेगा तो ऊपर ब्राह्मण के नाक में दुर्गन्ध पहुँचेगी ही। महाराज जी हमेशा कहा करते थे कि जहाँ होटल हो उसके पास से भी गुजरना नहीं चाहिए क्योंकि वह तो श्मशान भूमि है। श्मशान भूमि उसे कहते हैं कि जहाँ माँस पके, श्मशान का जहाँ तक धुँआ जाता हो वहाँ तक का चावल भी नहीं खाना चाहिए। आधुनिक काल में इस प्रकार सब रहने लगे तो परम्पराओं की नकल होने लगी। यह प्रश्न होने लगा कि 'अमुक ऐसा कर सकते हैं तो मैं क्यों नहीं कर सकता?' सनातन धर्म का जो आधार है कि अपने-अपने कुलधर्म का पालन करो, वह गड़बड़ा गया।

वेदान्त का सिद्धांत इसमें कर्म-उपासना के सिद्धान्त से बिलकुल अलग है। वेदान्त-सिद्धांत यह कहता है कि सत्य एक ही होता है 'नहि वस्तुनि विकल्पः सम्भवति।' जो चीज़ जैसी है वैसी ही रहती है। ब्रह्म एक तत्त्व है जो न करने की चीज़, न उपासना की चीज़ है। कर्म और उपासना में तो तुम्हारी कुल-परम्परा विभिन्न हो सकती है परन्तु वस्तु एकरूप होती है। वेदांत कहता है कि ठीक तो लोक में कोई भी चीज़ नहीं है! भगवान् गौडपाद आचार्य कहते हैं—झगड़ा तब होता है जब द्वैत को सत्य समझ लेते हैं। सारा झगड़ा, सारा 'करना' द्वैत में ही होता है। ध्यान भी द्वैत में ही होता है। कर्म उपासना दोनों जिस द्वैत में ही हो सकते हैं वह द्वैत वास्तव में है ही नहीं। इसलिए सारे द्वैत एक जैसे गलत हैं। किसको ठीक कहें और किसको गलत कहें, जब सारे ही गलत हैं। यदि द्वैत में यह पूछते हैं कि 'यह ठीक है या वह ठीक है?' तो वेदांती कहेगा कि सच्ची बात यह है कि 'तच्च द्वैतं न विद्यते' वस्तु एक है, द्वैत है नहीं। भगवान् वेदव्यास ने कहा 'तत्तु समन्वयात्' ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद की उपनिषदें सब एक ही तत्त्व को कहती हैं। तत्त्वविचार करते समय, चाहे हम ऋग्वेदी हों, चाहे यजुर्वेदी, सामवेदी या अथर्ववेदी हों, सभी शाखाओं का विचार करके एक तत्त्व का निर्णय करना आवश्यक है। उसमें यह नहीं कह सकते कि सामवेद का तत्त्व ऐसा है और ऋग्वेद का तत्त्व कुछ और है।

अतः चारों वेदों में से चार महावाक्य छाँटे गये जिनके अन्दर जीव-ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन किया गया है। इस महावाक्य-प्रकरण के अन्दर चारों महावाक्यों का विचार आयेगा। जहाँ-जहाँ जीव-ईश्वर की एकता का प्रतिपादन होता है वे सब महावाक्य कहे जाते हैं। उनमें से चार महावाक्यों को प्रधान माना जाता है, जिनका प्रधानरूप से उपदेश और विचार किया जाता है। चार की संख्या में वाक्यों को सीमित नहीं समझना, परन्तु चार का विचार इसलिए किया जाता है कि वेद चार हैं और एक वेद का एक महावाक्य निर्णीत किया गया है। सबसे प्रथम ऋग्वेद है। यहाँ क्रम में पहले का मतलब समय की दृष्टि से पहले नहीं समझ लेना। लोग समझते हैं कि ऋग्वेद सामवेद से पहले हुआ होगा। ऐसा नहीं है, क्योंकि वेद तो इकट्ठा एक ही साथ है। ऐसा नहीं कि यह वेद पहले और वह वेद पीछे। समय की दृष्टि से ऐसा

पूर्व-अपरभाव नहीं है। जब कोई बात कहेंगे तो किसी क्रम से ही कही जाती है। गीता में भी कह देते हैं कि 'यह पहले आ गया, वह बाद में आया'; गीता तो सारी एक-साथ ही है! गीता में फिर भी भगवान् के बोलने के क्रम की कल्पना कर सकते हैं, परन्तु नित्य वेद में तो वह कल्पना भी संभव नहीं है। ऋग्वेद के आरण्यक का नाम ऐतरेय आरण्यक है। वहीं 'प्रज्ञानं ब्रह्म' यह महावाक्य आया है। प्रज्ञानं ब्रह्म में दो शब्द हैं एक, प्रज्ञान और दूसरा, ब्रह्म। स्वयं श्रुति ने ही प्रज्ञान का अर्थ किया है–

येनेक्षते शृणोतीदं जिघ्रति व्याकरोति च।
स्वाद्वस्वादू विजानाति तत् प्रज्ञानमुदीरितम्।।१।।

जिससे पुरुष इदम्बुद्धिगम्य संसार को देखता, सुनता, सूँघता, बोलता, स्वादिष्ट-बेस्वाद पहचानता है वह 'प्रज्ञान' कहा गया है।

आँख के द्वारा देखने का मतलब है कि आँख के द्वारा बाहर गया हुआ अंतःकरण चीज़ की वृत्ति बनाता है। इसीका नाम 'देखना' है। केवल आँख से कुछ नहीं देखा जाता। इसमें प्रसिद्ध दृष्टांत शकुन्तला का है ही। शकुन्तला आँख खोलकर बैठी हुई थी, कान भी खोल कर बैठी थी; कान में कोई रूई तो नहीं ठूस रखी थी, आँख के आगे भी कोई पर्दा नहीं लगा रखा था। दुर्वासा आकर कहते रहे कि 'मैं आया हूँ', लेकिन उसने न सुना और न देखा क्योंकि उसका मन कहीं और था, दुष्यंत का ही चिन्तन कर रहा था। उसकी आँखें खुली हुई थीं, कान भी खुले हुए थे, परन्तु मन चूँकि अन्यत्र था इसलिए न उन्हें देखा और न उनके शब्द सुने। कोई पूछ सकता है कि फिर कहते क्यों हैं कि आँख से ही देखते हैं? यद्यपि आँख के द्वारा बाहर गई हुई अंतःकरण की वृत्ति पदार्थ तक जा कर तदाकार बनती है, तथापि चूँकि आँख से गई इसलिए आँख को देखने वाला कह दिया जाता है। अंतःकरण या मन तो एक ही है। आँख से भी मन जाता है, कान से भी नाक से भी मन जाता है। परन्तु कान से गया हुआ मन 'देखता' नहीं, आँख से गया हुआ मन 'सुनता' नहीं। मन ज्ञानमात्र के प्रति साधारण कारण है और आँख इत्यादि इन्द्रियाँ विशेष कारण हैं। इसलिए 'आँख से देखते हैं' ऐसा कहा जाता है। आँख के द्वारा अंतःकरण बाहर जाकर घट आदि से संबद्ध हो तदाकार को ग्रहण करता है तब घट ज्ञान के योग्य बनता है अर्थात् उसका ज्ञान हो सकता है।

ऐसा क्यों नहीं मान सकते कि उसी से ज्ञान होगा? क्योंकि मन और आँख खुद जड हैं, घड़ा भी जड है; जड मिलकर चेतन ज्ञान कहाँ से आ जायेगा! इसलिए इन सबसे भिन्न चैतन्यरूप ब्रह्म का जब प्रतिबिम्ब पड़ता है तभी कुछ जाना जाता है। ऐसे समझ लो : तुम्हारे पास एक बहुत बढ़िया लकड़ी है। उसी लकड़ी को जाकर तुम धूप में रखो तो लकड़ी दीखती है, परन्तु उसमें सूर्य नहीं दिखाई देता है। फिर तुम उस लकड़ी के ऊपर बढ़िया चमकदार पॉलिश कर दो तो सूर्य उसी में प्रतिबिम्ब रूप से चमचमाता दीख जाता है। चमचमाता सूर्य

किस पर दीख रहा है? उसी लकड़ी में दीखा पहले जिस लकड़ी में नहीं दीखा था। दीखा लकड़ी में ही परन्तु तेल या पॉलिश चुपड़ने से वह इस योग्य हो गयी कि सूर्य उसमें दीख जाये। ठीक इसी प्रकार, घड़ा दीखने के योग्य नहीं है। जब अंतःकरण की वृत्ति आँख के द्वारा उसके ऊपर जाकर छा जाती है जिससे वह घड़ा ज्ञान के प्रतिबिम्ब को लेने में समर्थ होता है, तब घटज्ञान होता है। इसी को शास्त्रीय भाषा में वृत्ति-व्याप्ति और फलव्याप्ति कहते हैं। लकड़ी पर तेल चुपड़ने की जगह घड़े को मन की वृत्ति से चुपड़ना वृत्तिव्याप्ति है और सूर्य का प्रतिबिम्व पड़ने की जगह फलव्याप्ति है। इस प्रकार, अंतःकरणवृत्ति से उपहित जो चैतन्य है उससे जब दर्शन योग्य हो जाते हैं तब रूपादि दीखते हैं, रूपादि का ज्ञान होता है।

इसी प्रकार सभी इन्द्रियों में समझ लेना। 'इदं शृणोति'—अर्थात् शब्द-समूह को सुनता है। अंतःकरण की वृत्ति कान से जायेगी, शब्द के ऊपर चमक पैदा कर देगी, उसके अन्दर ज्ञान का प्रतिबिम्ब पड़कर 'शब्द को मैंने सुना या जाना' ऐसा ज्ञान होगा। इसी प्रकार 'येनेदं जिघ्रति' जिससे यह सूँघता है। घ्राण (नाक) द्वारा गई हुई अंतःकरण की वृत्ति गंध के ऊपर जा बैठेगी तब गन्धज्ञान प्रतिबिम्बित रूप से होगा। इसी प्रकार 'व्याकरोति च' वाणी-इन्द्रिय से अवच्छिन्न होकर वह शब्दसमूह को व्यक्त करेगा, प्रकट करेगा। 'स्वादु अस्वादु विजानाति' यह स्वादिष्ट है, यह अस्वादिष्ट है—यों भेद भी पता चलता है। यहाँ जो 'च'कार कहा है वह बाकी के संग्रह के लिए है जो यहाँ नहीं कहे हैं। यहाँ रूप, रस, गन्ध और शब्द—ये चार कहे हैं, स्पर्श नहीं कहा है, उसका 'च'कार से संग्रह हो जाता है। इसी प्रकार यहाँ वाक् का प्रयोग बताया है; पाणि, पाद, पायु, उपस्थ इन अनुक्तों को चकार से समझ लेना। सारी ही इन्द्रियों से अंतःकरणवृत्ति-भेद के द्वारा ही चैतन्य अवच्छिन्न होता है, तब चीज़ों का ज्ञान होता है। जिसके द्वारा यह सब होता है उस चैतन्य को प्रज्ञान कहा जाता है।।१।।

'प्रज्ञानं ब्रह्म' इस महावाक्य में 'प्रज्ञान' का तात्पर्य बता दिया। अब 'ब्रह्म' का अर्थ बताते हैं—

चतुर्मुखेन्द्रदेवेषु मनुष्याश्वगवादिषु।
चैतन्यमेकं ब्रह्मातः प्रज्ञानं ब्रह्म मय्यपि।।२।।

चार मुँह वाले ब्रह्मा, देवराज इन्द्र, अन्य देवताओं में, मनुष्य-घोड़ा-गाय आदि में जो एक चैतन्य है, वह ब्रह्म है। (क्योंकि सर्वत्र है) इसलिए मुझमें भी प्रज्ञान ब्रह्म ही है।

सृष्टि का आदिकर्त्ता ब्रह्मा के रूप में है। इन्द्र, देवताओं के राजा हैं। सभी देवता उत्तम उपाधि वाले हैं। चतुर्मुख सबसे उत्तम, इन्द्र उनसे घटकर, बाकी देवता उनसे घटकर हैं। फिर मनुष्य, जो शास्त्राधिकारी हैं। और घोड़ा, गाय आदि अधम उपाधि वाले हैं। ये सब देह धारण करने वाले हैं। आदि-पद से आकाश आदि महाभूत, जड जगत् समझ लेना चाहिए। इन सबकी उत्पत्ति, स्थिति, लय का कारण जो चैतन्य वह एक ही ब्रह्म है। उपनिषत् में 'एष ब्रह्मैष इन्द्रः'

(ऐ.उ.३ख.१.३) इत्यादि से प्रारम्भ कर अंत में कहा 'प्रज्ञा प्रतिष्ठा' अर्थात् इन सबमें एक ही चैतन्य है, भेद सारे उपाधियों के हैं। सबमें रहने वाला चैतन्य एक है। सब प्राणियों और जड वस्तुओं के अन्दर जो मौजूद प्रज्ञान है, वही मुझमें अर्थात् जीवरूप जो 'मैं' द्रष्टा, जानने वाला, उसमें भी है। क्योंकि चैतन्य एक है, इसलिए वही ब्रह्म है। इस प्रकार ऋग्वेद के महावाक्य 'प्रज्ञानं ब्रह्म' का विचार हुआ।।२।।

अब यजुर्वेद का जो महावाक्य 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृ.१.४.१०) है, उसे बताते हैं–

परिपूर्णः परात्मास्मिन् देहे विद्याधिकारिणि।
बुद्धेः साक्षितया स्थित्वा स्फुरन्नहमितीर्यते।।३।।

विद्या में अधिकार रखने वाले इस शरीर में बुद्धि के साक्षिरूप से स्थित होकर प्रकाशमान अपरिच्छिन्न परमात्मा 'अहम्' (मैं) इस शब्द से कहा गया है।

पहले जीव का रूप बताते हैं। जीव का अनुभव तो मैं है, कि 'मैं जीव हूँ।' वह मैं वस्तुतः परिपूर्ण है अर्थात् त्रिविधपरिच्छेदशून्य है। न उसमें देश के कारण, न काल के कारण और न वस्तु के कारण ही किसी प्रकार का विच्छेद है, रुकावट है। चूँकि वह सर्वत्र परिपूर्ण है इसलिए यह जो विवेक वैराग्य वाला श्रवण मनन किया हुआ विद्या में अधिकारी है, जिसमें यह विद्या प्रकाशित हो सकती है, उस शरीर में भी वही परिपूर्ण परमात्मा है। जो परमात्मा सर्वत्र व्यापक है वही, यह जो ज्ञान का अधिकारी है, उसमें भी किस रूप में है? बुद्धि के साक्षिरूप से स्फुरित होता है। साक्षी यहाँ 'अहं' कहा जा रहा है। बुद्धि के साथ स्थित, वह प्रतिबिम्ब-रूपसे उपाधि वाला है और साक्षिरूपसे वही ब्रह्म है। 'बुद्धेः साक्षितया' में बुद्धि से सारे ही सूक्ष्मशरीर ले लेने चाहिए। द्रष्टा होकर बुद्धि के विकारों से वह अपने को विकार वाला समझता है, परन्तु साक्षिरूप से वह अविकारी है।।३।।

'अहं ब्रह्मास्मि' में ब्रह्म-शब्द का अर्थ बताते हुए वाक्यार्थ समझाते हैं–

स्वतः पूर्णः परात्माऽत्र ब्रह्मशब्देन वर्णितः।
अस्मीत्यैक्यपरामर्शस्तेन ब्रह्म भवाम्यहम्।।४।।

स्वभाव से ही अपरिच्छिन्न परमात्मा इस महावाक्य में ब्रह्म-शब्द से लक्षित है। 'अस्मि' ('हूँ')–शब्द से अहं और ब्रह्म की एकता बतायी है। इस तरह तात्पर्य है कि मैं ब्रह्म हूँ।

'अत्र' इस वाक्य में जो स्वतः अर्थात् स्वरूप से ही पूर्ण है, किसी कारण से नहीं, उस पूर्ण चेतन को ब्रह्म-शब्द से कहा है। उसकी परिपूर्णता तभी संगत हो सकती है जब वह अभिन्न निमित्तोपादान कारण हो अर्थात् सारे संसार को बनाने वाला और बनने वाला वही है, तभी परिपूर्ण है। 'अस्मि' (हिन्दी में 'हूँ') यह पद एकता को बताता है। यह जो अभेद का कथन है

उससे 'मैं ब्रह्म हूँ' यह फलितार्थ आ गया। इसलिए बुद्धि का जो साक्षी है वही परमात्मा है, ब्रह्म है। ब्रह्म कौन? जो सर्वत्र व्यापक है, परिच्छेद से रहित है, इसलिए वही इन सब चीज़ों का एकमात्र कारण है।।४।।

अब तीसरे सामवेद के महावाक्य 'तत्त्वमसि' को बताते हैं। छांदोग्य उपनिषत् के छठे अध्याय में नौ बार इसका उपदेश दिया है–

एकमेवाद्वितीयं सन्नामरूपविवर्जितम्।
सृष्टेःपुराऽधुनाप्यस्य तादृक्त्वं तदितीर्यते।।५।।

सृष्टि से पहले नाम-रूप से रहित जो एक ही अद्वितीय सत् था वह अब भी वैसा ही है यह 'तत्' शब्द से कहा जा रहा है।

'तत्त्वमसि' में पहला शब्द तत् है। तत्पद का लक्ष्यार्थ है 'एकमेवाद्वितीयं', त्रिविध परिच्छेद से रहित अर्थात् कोई देश ऐसा नहीं, कोई काल और कोई वस्तु ऐसी नहीं जिसमें वह नहीं। उसके कारण ही ये सारे देश, काल, वस्तु हैं। सृष्टि के पहले, जब तक नाम और रूप की सृष्टि नहीं हुई तब तक वह नाम-रूप से रहित है। जैसे जो आदमी बाल-बच्चे वाला लग रहा है वही विवाह के पहले बाल-बच्चों से रहित था क्योंकि बाल-बच्चे उसने पैदा किये। इसी प्रकार सब नाम-रूपों के प्रकट होने के पहले कारण सत् नाम-रूप से रहित था। जो नाम-रूप से रहित सत् था वह सृष्टि होने के बाद भी, इस समय में भी, विचारदृष्टि से वैसा ही है। जब तक चित्र उस पर नहीं डाला गया तब तक जो केवल सिनेमा का पर्दा था, जैसे ही फिल्म देखना बन्द करते हो वह फिर पर्दा ही रह जाता है। इसलिए तुम्हें पता है कि जब यह फिल्म दीख रही थी तब भी सचमुच में रहा तो वह पर्दा ही। इसी प्रकार ब्रह्म अपने स्वरूपभूत पर्दे पर अपनी शक्ति से अनंतकोटि ब्रह्माण्ड दिखा देता है परन्तु जब दिखाता है उस समय भी वह रहता वैसा का वैसा ही है। उसी को तत् पद से कहा गया।।५।।

उसी महावाक्य के 'त्वं' और 'असि' पदों का अभिप्राय बताते हैं–

श्रोतुर्देहेन्द्रियातीतं वस्त्वत्र त्वं-पदेरितम्।
एकता ग्राह्यतेऽसीति तदैक्यमनुभूयताम्।।६।।

श्रोता के देह-इंद्रिय से परे उनका साक्षिरूप वस्तु यहाँ 'त्वम्' शब्द से कहा है। तत् और त्वम् की एकता 'असि' से समझायी है। इन दोनों के अभेद का अनुभव मुमुक्षु करें।

अत्र अर्थात् तत्त्वमसि महावाक्य में श्रवण आदि अनुष्ठान के द्वारा महावाक्य के अर्थ को ठीक प्रकार से समझने वाला देह-इन्द्रियों से रहित आत्मा त्वम्-अर्थ है। देह अर्थात् स्थूल शरीर और इन्द्रियाँ अर्थात् सूक्ष्म शरीर, इनसे वह रहित है। स्थूल-सूक्ष्म दोनों शरीरों से वह अतीत है,

इन सबसे परे है। इन सब उपाधियों वाला नहीं है अतः 'वस्तु' अर्थात् 'सत्' है। अर्थात् देह से उपलक्षित जो चेतन है उसे त्वं पद से कहा।

'असि' पद दोनों की एकता को बताता है। जैसे 'अहं ब्रह्मास्मि' में 'अस्मि' पद से दोनों की एकता को कहा वैसे ही इसमें 'असि' पद से दोनों की एकता को बताया। चूँकि यह वाक्य एकता का ग्रहण करवाता है इसलिए शिष्य से कहते हैं कि उस एकता को ग्रहण करो। तत् त्वं की एकता का ग्रहण कर्तव्य है क्योंकि यह श्रुति प्रमाण से सिद्ध है। जो सृष्टि से पहले अद्वितीय था वह इस समय भी वैसा ही है और इस शरीर के रहते हुए ही इससे अतीत है। इस प्रकार, तत्त्वमसि का विचार कर लिया।। ६।।

ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद के महावाक्यों का विचार करने के बाद अब अथर्ववेद के 'अयमात्मा ब्रह्म' महावाक्य का अर्थ बताते हैं–

स्वप्रकाशापरोक्षत्वमयमित्युक्तितो मतम्।
अहङ्कारादिदेहान्तात् प्रत्यगात्मेति गीयते।।७।।

'अयम्' ('यह') इस कथन से स्वप्रकाश अपरोक्षता समझी जाती है। 'आत्मा' शब्द से अहंकार से देहपर्यन्त सबकी अपेक्षा प्रत्यग्भूत वस्तु कही गयी है।

'अयमात्मा ब्रह्म' (माण्डू.२) अथर्ववेद का महावाक्य है। अयम् अर्थात् 'यह'। 'यह' कहने का मतलब है जो तुम्हारे सामने सर्वथा प्रकट है। सर्वथा क्या प्रकट है? जो चीज़ स्वप्रकाश होते हुए अपरोक्ष है उसे (अयं) से कह रहे हैं। स्वप्रकाश अपरोक्ष मैं जीव ही हूँ। क्योंकि मैं जीव अपने आप को साक्षात् जानता हूँ, इसलिए अपरोक्ष हूँ। मैं अपने आपको किसी दूसरे से जानता नहीं हूँ; न कोई दूसरा मुझे जान सकता है और न मैं खुद अपने *को* जानता हूँ। अर्थात् ज्ञान का न आश्रय मैं हूँ और न ज्ञान का विषय मैं हूँ। यह बात 'अयं' पद से कही। अहंकार से लेकर शरीर पर्यन्त जो 'मैं' समझे जाते हैं उन सबकी अपेक्षा प्रत्यग्भूत वस्तु ही आत्मा है। सूक्ष्मतम 'मैं' अहंकारात्मिका वृत्ति है और सबसे स्थूल देह-पर्यन्त है। इन सबका प्रकाशक जो चेतन है इसी को प्रत्यगात्मा कहते हैं। वह प्रत्यगात्मा सबका अधिष्ठान होने के कारण साक्षिरूप से मौजूद है।।७।।

बचे 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ बताते हैं–

दृश्यमानस्य सर्वस्य जगतस्तत्त्वमीर्यते।
ब्रह्मशब्देन तद् ब्रह्म स्वप्रकाशात्मरूपकम्।।८।।

।। इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यविद्यारण्यमुनिवर्यकृत-पञ्चदश्यां महावाक्यविवेकः समाप्तः।।५।।

ज्ञेय सारे जगत् का अधिष्ठान 'ब्रह्म' शब्द से कहा गया है। वह ब्रह्म स्वप्रकाश आत्मस्वरूप है।

जैसे बाह्य सारा जगत् दृश्यमान है वैसे ही शरीर से लेकर अहं-पर्यन्त सब दृश्यमान ही हैं, सभी अनुभव में आते हैं। 'दृश्य' कहकर सूचित है कि जो दृश्य होता है वह मिथ्या होता है, इसलिए सारा नाम-रूपात्मक जगत् और शरीर से लेकर अहं-पर्यन्त सारा मिथ्या है। 'तत्त्वं' अर्थात् उसका वास्तविक स्वरूप। मिथ्या का वास्तविक रूप अधिष्ठान हुआ करता है। नाम-रूप का बाध हो जाने पर जो बच जाता है वही पारमार्थिक सच्चिदानन्द है। उसी को 'अयमात्मा ब्रह्म' में ब्रह्म पद से कहा गया है। इस लक्षण वाला जो ब्रह्म है वह स्वप्रकाश है। जैसे वह स्वप्रकाश है वैसे ही प्रत्यगात्मा भी स्वप्रकाशरूप है। दोनों ही स्वप्रकाश होने से एक ही हैं।।८।।

इस प्रकार एक-एक महावाक्य पर दो-दो श्लोक कहकर, आठ श्लोकों में चारों महावाक्यों का अर्थ बताकर 'महावाक्यविवेक' प्रकरण पूरा कर दिया।